जिन धर्मामृत

-लेखिका-
प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी

ISBN 978-93-87891-10-4

जिन धर्मामृत

–मंगल आशीर्वाद–

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–लेखिका–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी

चैत्र कृ. नवमी, भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती के अवसर पर
ऋषभदेवपुरम्-मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र पर विराजमान शारदे माँ गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा
घोषित ''भगवान ऋषभदेव विश्वशांति वर्ष (मार्च 2018-2019)'' के अन्तर्गत
प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी के 30वें आर्यिका दीक्षा दिवस के शुभ अवसर पर प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

फोन नं.- (01233) 280184, 280994

Website : www.jambudweep.org, www.encyclopediaofjainism.com
E-mail : jambudweeptirth@gmail.com Facebook : jaintirthjambudweep

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2544	मूल्य
500 प्रतियाँ	श्रावण शु. ग्यारस, 21 अगस्त 2018	200/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

(दो बार डी.लिट्. की मानद् उपाधि से विभूषित)

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: निर्देशक एवं सम्पादक :–

स्वस्तिश्री कर्मयोगी पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी

–: प्रबंध सम्पादक :–

बाल ब्र. डॉ. जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना आदि की विषय-सूची

१.	पीठाधीश की कलम से	६
२.	प्रबंध सम्पादकीय	७
३.	गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का मंगल आशीर्वाद	८
२.	प्रस्तावना	९
४.	पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का जीवन परिचय	१५
५.	प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी का परिचय	२१
५.	दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का संक्षिप्त परिचय	२६
६.	वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के सहयोगियों की सूची	२७

ग्रंथ विषय सूची

मंगलाचरण (णमोकार महामंत्र)		१
अध्याय १ — श्रावक धर्म		२
	(१) मानव मात्र के लिए कल्याणकारी अष्टमूलगुण	२
	(२) श्रावक की षड् आवश्यक क्रियाएँ	७
	(३) श्रावक के षोडश संस्कार	१३
	(४) जैन विवाह विधि	१९
	(५) गर्भपात-माँ की ममता पर कुठाराघात	२४
	(६) क्या आप मंदिर जाते हैं ?	२९
अध्याय २ — अहिंसा एवं शाकाहार		३२
	(१) अहिंसा एवं शाकाहार-भारतीय संस्कृति का आधार	३२
	(२) विश्वशांति प्रदाता-अहिंसा एवं सदाचार	३७
	(३) अहिंसा धर्म सर्वोपरि धर्म है	४०
	(४) शाकाहार के नाम पर मांसाहार-वास्तविक तथ्य	४३
	(५) क्या अण्डा भी शाकाहारी हो सकता है ?	४६
	(६) भूकम्प एक प्राकृतिक आपदा, इसे रोका जा सकता है	५०
	(७) अहिंसक बनने के लिए कम से कम इतना अवश्य करें	५३

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
अध्याय ३ — जैनधर्म		५५
	(१) जैनधर्म की प्राचीनता	५५
	(२) जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त	६०
	(३) धर्म एवं दर्शन	६५
	(४) णमोकार मंत्र	७१
	(५) णमोकार महामंत्र का माहात्म्य	८३
अध्याय ४ — सूतक-पातक		८९
	(१) सूतक-पातक का निर्णय आगम की साक्षी से	८९
	(२) सूतक-पातक क्या है ?	९२
	(३) रजस्वला स्त्री का अशौच	९४
	(४) मासिक धर्म के समय स्त्रियाँ कैसे रहें !	९८
अध्याय ५ — जैन साहित्य		१०३
	(१) जैन साहित्य का इतिहास	१०३
	(२) आगम पाठ एवं किसी की साहित्यिक कृतियों में संशोधन उचित नहीं है	११२
अध्याय ६ — तीर्थंकर जीवन दर्शन		११७
	(१) भगवान ऋषभदेव एवं उनके सर्वोदयी सिद्धान्त	११७
	(२) भगवान पार्श्वनाथ का जीवन दर्शन (हिन्दी-अंग्रेजी)	१२०
	(३) भगवान महावीर संक्षिप्त जीवन दर्शन (हिन्दी-अंग्रेजी)	१२९
	(४) सत्य अहिंसा के अवतार-कुण्डलपुर के राजकुमार	१४०
	(५) तीर्थंकर का जन्माभिषेक मुनियों द्वारा भी दर्शनीय है	१४३
	(६) दिगम्बर जैन परम्परानुसार तीर्थंकर भगवान चातुर्मास नहीं करते	१४६
	(७) नवदेवताओं में पंचपरमेष्ठी भी देवता हैं	१४९
अध्याय ७ — दिगम्बर जैन तीर्थ एवं जिनमंदिर		१५३
	(१) दिगम्बर जैन तीर्थ एवं मंदिर संस्कृति की धरोहर हैं	१५३
	(२) वर्तमान अयोध्या	१६०
	(३) भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञान भूमि अहिच्छत्र	१६३
	(४) भगवान पार्श्वनाथ निर्वाणभूमि सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र	१७१
	(५) सम्मेदशिखर वंदना	१७६
	(६) शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर महिमा	१७९
	(७) भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर-एक वास्तविक तथ्य	१८६

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
अध्याय ८	**—जैन पर्व**	१९४
अध्याय ९	**—जैनेश्वरी दीक्षा—शास्त्रीय विश्लेषण**	२०२
	(१) दीक्षा का महत्त्व	२०२
	(२) ब्राह्मी-सुन्दरी ने दीक्षा क्यों ग्रहण की थी ?	२०६
अध्याय १०	**—दिगम्बर जैन साधु-साध्वी चर्या—एक अनुचिंतन**	२०८
	(१) आगम के दर्पण में साधुओं की सामायिक-प्रतिक्रमण क्रिया	२०८
	(२) दि. जैन मुनि/आर्यिकाओं की वंदना विनय के संदर्भ में कतिपय आगम प्रमाण	२११
	(३) दि. जैन मुनि-आर्यिकाओं की आहारचर्या से संबंधित कतिपय प्रमुख विषय	२२१
अध्याय ११	**—ध्यान साधना—आत्मावलोकन का हेतु**	२२४
	(१) ध्यान कैसे करें	२२४
	(२) कौन करते हैं उत्तम ध्यान	२३७
	(३) ध्यान करने वाला ध्याता कैसा होता है ?	२३९
	(४) ध्यानी मुनि के साम्य भाव से जन्मजात विरोधी प्राणी भी शांत हो जाते हैं	२४१
	(५) मिथ्यादृष्टि के ध्यानसिद्धि संभव नहीं है	२४३
अध्याय १२	**—समयसार-एक अध्ययन**	२४६
	(१) समयसार के अनुसार गृहस्थ भी परस्पर में आचार्यत्व करते हैं	२४६
	(२) निश्चयनय व्यवहार के द्वारा ही कथनीय है	२४९
	(३) यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति गुरू बिना संभव नहीं है	२५२
	(४) व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है	२५४
	(५) समयसार में मुनियों को रत्नत्रय धारण की प्रेरणा	२५६
	(६) समयसार में अज्ञानी को सम्बोधन	२५८
	(७) समयसार भी आत्मा के साथ कर्म का संबंध मानता है	२६०
	(८) आगम के दर्पण में व्यवहारनय	२६२
अध्याय १३	**—वास्तु शिल्प**	२६४
अध्याय १४	**—सम्यक्त्व उत्पत्ति के कारण**	२७१
अध्याय १५	**—परमात्म प्रकाश—एक दृष्टि में**	२७४
अध्याय १६	**—षट्खण्डागम-सिद्धान्त चिंतामणि टीका—एक दिव्य उपहार**	२८३
अध्याय १७	**—आओ जानें! तेरहद्वीप रचना में क्या-क्या है ?**	३३३
अध्याय १८	**—कुलदेवता के संदर्भ में**	३३८
अध्याय १९	**—आओ समझें नवग्रह के बारे में**	३४१

पीठाधीश की कलम से.....

ऊँ नमः मंगलं कुर्यात्, ह्रीं नमश्चापि मंगलं।
मोक्षबीजं महामंत्रं, अर्हं नमः सुमंगलम्।।

"स्वाध्यायः परमं तपः" आचार्यों ने स्वाध्याय को परम तप कहा है। श्रावक के छह आवश्यक कर्त्तव्यों में स्वाध्याय एक आवश्यक कर्तव्य है। ध्यान और अध्ययन साधु के आवश्यक कर्तव्य हैं। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है, सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, कर्मों का क्षय होता है, पुण्य का आस्रव और कर्मों की निर्जरा होती है। चिन्तामणि रत्न के समान ग्रंथ का स्वाध्याय इच्छित फल को प्रदान करता है। ज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु संसार में नहीं है। यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य में लिखा है—

ज्ञानं पूज्यं तपोहीनं, ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्।
यत्र द्वयं स देवः स्याद्, द्विहीनो गणपूरणः।।

अर्थात् जिसके तप न हो और मात्र विशिष्ट ज्ञान ही हो तो वह भी पूज्य है। जिसके (विशिष्ट) ज्ञान न हो, केवल तप या चारित्र ही हो, तो वह भी पूज्य है और जिस व्यक्ति में (विशिष्ट) ज्ञान व तप दोनों हों, उसे तो साक्षात् देव ही समझना चाहिए तथा ज्ञान और तप दोनों से रहित व्यक्ति केवल गणपूरण-संख्यापूर्ति वाला होता है।

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी, राष्ट्रगौरव, युगप्रवर्तिका, श्रुतप्रकाशिका, तीर्थोद्धारिका, दो विश्वविद्यालयों द्वारा डी. लिट् की मानद उपाधि से अलंकृत, न्यायप्रभाकर, आगमनिष्ठ, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, सिद्धान्तचक्रेश्वरी परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने स्वाध्याय के द्वारा चारों अनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान अर्जित करके बाल, युवा, वृद्ध, विद्वान सभी की योग्यतानुसार बालविकास से लेकर अष्टसहस्री, नियमसार, समयसार, षट्खण्डागम जैसे ग्रंथों का लेखन, सृजन किया है। भगवान महावीर के शासन में पूज्य माताजी सर्वप्रथम ऐसी महान आर्यिका हैं, जिन्होंने इतने विपुल साहित्य का निर्माण किया है और उसी क्रम में उनकी सुयोग्य शिष्या परम पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चन्दनामती माताजी ने गुरु के पदचिन्हों पर चलते हुए उनकी सतत प्रेरणा से अनेक जीवनोपयोगी अमूल्य कृतियों की रचना की है जिसमें से उनकी नूतन कृति "जिनधर्मामृत" भी स्वयं में अनूठी है जिसमें वर्तमान के अनेक विषयों की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ विभिन्न शास्त्रीय विषय वर्णित किए गये हैं।

इसे पढ़कर सभी भव्य जीव अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ करेंगे और आगम के ज्ञान से अपने ज्ञान को वृद्धिंगत करेंगे ऐसा विश्वास है।

वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला इसी तरह से सत्साहित्य का, महान ग्रंथों का प्रकाशन कर, जिनधर्म की प्रभावना में अग्रसर हो तथा मुझे भी एक दिन पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति हो यही भगवान से प्रार्थना है। आप सभी भव्यात्मा जीव इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर अपने जीवन को समुन्नत बनावें तथा पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चन्दनामती माताजी इसी प्रकार अपनी अनमोल कृतियों से हमें लाभान्वित करते हुए स्वस्थ एवं चिरायु रहकर हम सभी का मार्गदर्शन करती रहें यही जिनेन्द्र भगवान से मंगल प्रार्थना है।

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्ति श्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी

प्रबंध सम्पादकीय.....

–डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप

कषायपाहुड़ ग्रंथ की 'जयधवला' टीका में श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है–

णाणं पयासओ तवो सोहओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि समाजोए, मोक्खो जिणसासणे भणिदं।।

अर्थात् ज्ञान स्व–पर प्रकाशक होता है, तप से आत्मतत्त्व का शोधन होता है तथा संयम से आत्मा की रक्षा होती है एवं इन तीनों के संयोग–एकीकरण से प्राप्त अवस्था को जिनशासन में मोक्ष की संज्ञा प्रदान की गई है।

ज्ञान के साथ जब तप और संयम को धारण किया जाता है तब शीघ्र ही मोक्षपद की प्राप्ति होती है और ज्ञान प्राप्ति में सबसे बड़ा निमित्त शास्त्रों का स्वाध्याय करना है, जिससे ज्ञान प्राप्ति के साथ–साथ अशुभ कर्मों की निर्जरा होकर पुण्य का आस्रव होता है। वर्तमान बीसवीं–इक्कीसवीं शताब्दी गौरवशाली है जिसे इस कलिकाल में भी बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के तीन बार दर्शन कर अनुभव ज्ञान प्राप्त करने वाली, उनके प्रथम पट्टाचार्य चारित्रचूड़ामणि आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से दीक्षित, इस सदी की प्रथम बाल ब्रह्मचारिणी गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसी महान साध्वी का गौरवमयी वरदहस्त प्राप्त हुआ है। स्वयं में बेजोड़, अनुपम व्यक्तित्व–कृतित्व की धनी पूज्यनीया माताजी ने ज्ञान के क्षेत्र में ध्वज लहराते हुए ४०० महानतम ग्रंथों की रचना की, जिसके माध्यम से आज बाल, वृद्ध, युवा, मनीषी विद्वान्, श्रावक–श्राविकाएं तक जैनागम के गूढ़ ज्ञान को मात्र समझ ही नही रहे हैं अपितु अपने अन्तस् में उतारकर अपनी आत्मा का कल्याण कर रहे हैं।

उसी शृँखला में उन शारदास्वरूपा पूज्यनीया माताजी की प्रथम आर्यिका शिष्या, गुरुभक्ति का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने वाली, मर्यादा शिष्योत्तमा प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने भी गुरुप्रेरणा से अब तक २०० सारभूत, अनुपम कृतियों की रचना की है, जिसमें से उनकी यह कृति 'जिन धर्मामृत' ग्रंथ भी है जिसमें अनेक विषयों का समावेश होकर यह अनूठा ग्रंथ आपके हाथों में आ रहा है। वस्तुतः स्वाध्याय से ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है व आत्मा की विशुद्धि होती है।

बंधुओं! जैसे अमृत की एक बूंद भी गुणकारी है उसी प्रकार सद्ग्रन्थ का स्वाध्याय जीवन को महान बनाने में सहायक है तथा जिस प्रकार लकड़ी के अंदर विद्यमान अग्नि भी बिना जलाए प्रगट नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान का दीपक जो हमारे भीतर ही विद्यमान है वह भी स्वाध्याय के बिना प्रदीप्त नहीं होता है अतः अंतरंग दीप को प्रज्ज्वलित करने हेतु शास्त्र स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए और अपने श्रुतज्ञान को वृद्धिंगत करना चाहिए, यही इस ग्रंथ के स्वाध्याय की महिमा है।

भारतगौरव, दिव्यशक्ति, परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का मंगल आशीर्वाद

विनीतः सुगुणग्राही, गुर्वाज्ञा प्रतिपालकः।
सारसंग्राहको भव्यः, सम्यग्दृष्टिः सुशिष्यकः।।

अर्थात् जो विनीत हो, उत्तम गुणों को ग्रहण करने वाला हो, गुरु आज्ञा का पालक हो, सार को ग्रहण करने वाला हो, भव्य एवं सम्यग्दृष्टि हो वह उत्तम शिष्य है।

जैनागम के चारों अनुयोगों का स्वाध्याय करते हुए मैंने गुरुआज्ञा तत्पर, विनयवान शिष्यों के कई एक उदाहरण पढ़े हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ऐसे उत्तम शिष्यों की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि गुरुसान्निध्य में रहकर थोड़ी सी योग्यता के आ जाने पर शिष्य प्रायः अपना अस्तित्व स्वयं स्थापित करने में व नाम, ख्याति, पूजा में लग जाते हैं परन्तु आज के युग में मेरी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती शिष्यवर्ग के लिए एक उदाहरण हैं, आदर्श हैं जिन्होंने लगभग ४९ वर्षों से मेरे सान्निध्य में रहकर जैनागम का तलस्पर्शी ज्ञान तो प्राप्त किया ही है, सदैव ख्याति, लाभ, पूजा से दूर रहकर गुरुआज्ञा को सर्वोपरि माना है और मेरी हर एक भावना को मूर्त रूप प्रदान करने में अपना अहर्निश योगदान दिया है।

उन्होंने मेरी प्रेरणा से बनने वाले तीर्थ निर्माण, जीर्णोद्धार, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय महोत्सव, सेमिनार, संगोष्ठी आदि की सफलतापूर्ण सम्पन्नता में तो अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ही है, समय-समय पर मेरे कथनानुसार आगमोक्त लेखनी चलाकर अनेक लघु एवं वृहद् ग्रंथों का लेखन भी किया है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का इन्हें ज्ञान है और अपनी अद्भुत मेधाशक्ति और ज्ञान के तीव्र क्षयोपशम से वह अत्यन्त सरल, सरस एवं समयोचित रचना कुछ ही समय में कर देती हैं, जो कि इनका विशेष गुण है।

संघस्थ शिष्यवर्ग एवं आगत श्रद्धालुओं को वात्सल्यमयी शिक्षा व दिशानिर्देश देते हुए और अनेक महत्वपूर्ण योजनाओं में विशेष सहभागिता देते हुए भी सतत कार्यशील रहने की क्षमता भी सभी के लिए विशेष अनुकरणीय है। उनके द्वारा लिखित ग्रंथों में से यह 'जिनधर्मामृत' ग्रंथ भी जैनागम के अनेक विषयों व वर्तमान युग में जीवन में आने वाली अनेक विकृतियों को दूर करने के लिए उपयोगी है, जिसका स्वाध्याय जिज्ञासु प्राणी को उचित दिशा प्रदान करेगा।

वे इसी प्रकार स्वस्थ रहकर अपनी लेखनी एवं अपने उज्ज्वल कार्यकलापों से जिनशासन को गौरवान्वित करती रहें, चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की बगिया को और अधिक पुष्पित-पल्लवित करती रहें और जिनागम का ज्ञान आधुनिक पीढ़ी को इसी प्रकार आधुनिक शैली में प्रदान करती रहें, यही उनके लिए मेरा वात्सल्यमयी मंगल आशीर्वाद है।

प्रस्तावना

-ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

प्राचीन पूर्वाचार्यों में प्रसिद्ध आचार्य श्री उमास्वामी ने अपने उमास्वामी श्रावकाचार ग्रंथ में श्रावकों की छह आवश्यक क्रियाओं के बारे में बताते हुए कहा है–

देवपूजादि षट्कर्मनिरतः कुलसत्तमः।
आद्यषट्कर्मनिर्मुक्तः श्रावकः परमो भवेत्।।९४।।

अर्थात् जो पुरुष देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छहों कर्मों के करने में तल्लीन रहता है, जिसका कुल उत्तम है और जो देवपूजा आदि कर्मों से ही चूल्हा, उखली, चक्की, बुहारी, परण्डा, घर की मरम्मत और घर के नित्य होने वाले पापों को नष्ट करता है वही उत्तम श्रावक कहलाता है। उसमें भी स्वाध्याय को परम तप कहा है। इस स्वाध्याय की महिमा को बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं—

स्वाध्यायः पंचधा प्रोक्तो लोकानां ज्ञानदायकः।
वाचना पृच्छनाम्नायोनुप्रेक्षा धर्मदेशना।।१९८।।

अर्थात् स्वाध्याय भव्य जीवों को ज्ञानदान देने वाला है। वह स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेश के भेद से पांच प्रकार का कहा गया है।

मात्र इस ग्रंथ में ही नहीं अपितु पूर्वाचार्य प्रणीत अनेकों ग्रंथों में स्वाध्याय की महिमा अतिशायि रूप में वर्णित है। यह सब तो शास्त्रीय बाते हैं किन्तु इस बीसवीं–इक्कीसवीं शताब्दी में भी अगर हम दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि इस युग की साक्षात् सरस्वतीस्वरूपा, इस युग की विशल्या सम जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने भी अपनी बाल्यावस्था में अपनी माता मोहिनी की प्रेरणा से "पद्मनन्दि पंचविंशतिका" नामक वैराग्यवर्धक ग्रंथ का स्वाध्याय कर वैराग्य भाव को प्राप्त होकर इस बीसवीं शताब्दी में कुमारी कन्याओं के लिए त्याग का मार्ग प्रशस्त किया, जबकि किसी कुमारी कन्या ने दीक्षा नहीं ली थी। उसी स्वाध्याय का ही प्रतिफल है कि आज जैनशासन को परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसी महान साध्वी रूपी अनमोल हीरा प्राप्त हुआ है जिसकी चमक ने सभी जैन जगत को विश्व के सम्मुख और अधिक ज्योतिर्मय बना दिया है।

आज भी पूज्य माताजी स्वयं तो स्वाध्याय करती ही हैं, अपने शिष्यवर्ग एवं आगत श्रावकों को भी सतत स्वाध्याय हेतु प्रेरित करती हैं। पूज्यनीय माताजी की लेखनी से अब तक ४०० ग्रंथों का सृजन हो चुका है। उनका सदैव यही कहना रहता है कि जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य है अतएव प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए। उनकी ही सतत प्रेरणा प्राप्त कर उनकी सुयोग्य शिष्या, मर्यादा शिष्योत्तमा, परम पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चन्दनामती माताजी ने भी अब तक हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में आगमोक्त दो सौ सारभूत कृतियों की रचना की है तथा समय-समय पर अनेक शास्त्रोक्त विषयों को लेखों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, उन्हीं आगमोक्त एवं वर्तमान युग के परिवेश में घटित, अनेक विषयों से सम्बन्धित लेखों से समन्वित उनकी यह अमूल्य कृति "जिन धर्मामृत" है जिसमें वर्णित विषयों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) श्रावक धर्म—आचार्य श्री कुन्दकुन्द आदि अनेक आचार्यों ने अपने ग्रंथों में **श्रावक धर्म** का विस्तृत विवेचन किया है किन्तु आज का श्रावक अज्ञानतावश अपने मार्ग से भटक रहा है, ऐसे समय में श्रावक के लिए क्या पालन करने योग्य है ? **श्रावक के मूलगुण क्या हैं**, इनके पालन से क्या फल मिलता है ? **श्रावक की षट्आवश्यक**

क्रियाएँ कौन-कौन सी हैं ? बालक-बालिकाओं को सुसंस्कारित करने के लिए किन **१६ संस्कारों** को करने की आवश्यकता है ? विवाह विधि में **जैन विवाह विधि** किस प्रकार सम्पन्न की जाती है, इत्यादि बातों का आगमोक्त सुन्दर विवेचन है, पुनः **''गर्भपात माँ की ममता पर कुठाराघात''** नामक आलेख पाठकों को चिंतन करने पर विवश करता है कि क्या नारी के लिए ऐसा करना उचित है ? क्या यह ममता पर कलंक नहीं है ? हृदयस्पर्शी इस सजीव चित्रण के पश्चात् श्रावकों को **देवदर्शन की विधि** बताई गई है।

(२) अहिंसा एवं शाकाहार — बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी में इस भारतदेश में आ रही विकृतियों को इसके अन्तर्गत वर्णित आलेखों में पूज्य माताजी ने दर्शाकर जनसाधारण को सचेत किया है कि अगर किसी देश में हिंसा का बोलबाला रहा तो देश में भूकंप, बाढ़, दुर्घटना, प्रलय आदि अनेक प्राकृतिक आपदाएं अवश्य ही आएंगी अतएव देशवासियों को अहिंसा को अपनाना ही होगा। द्वितीय आलेख में **अहिंसा एवं सदाचार से ही विश्व में शांति की स्थापना संभव है**, इस बात का दिग्दर्शन है। तृतीय आलेख में अत्यन्त सरल भाषा में एक हृदयस्पर्शी उदाहरणपूर्वक **अहिंसा धर्म की महिमा** और हिंसा के ताण्डव नृत्य को बताते हुए पूज्य माताजी ने पाठ्य पुस्तकों में शाकाहारी-मांसाहारी खाद्य सामग्री को एक साथ दिखाए जाने-पढ़ाए जाने, उसे शाकाहारी बताने एवं बालकों में प्रारंभ से ही गलत संस्कार डालने पर चिंता व्यक्त की है तथा इसे अलग-अलग करके पढ़ाए जाने की प्रेरणा देते हुए अपनी भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने का आह्वान किया है। **''शाकाहार के नाम पर मांसाहार''** आलेख में वर्तमान पीढ़ी के लोगों में बाजार में बने जंक फूड, अशुद्ध मसाले, आइसक्रीम, पिज्जा, बर्गर के खाने की आदत को छोड़ने की प्रेरणा देते हुए उसकी अशुद्धता का चित्रण है। आज प्रतिदिन कहीं न कहीं विनाशकारी भूकंप आते ही रहते हैं, कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे नगर बर्बाद हो जाते हैं, यह एक प्राकृतिक आपदा है जो मूक पशुओं के कत्ल आदि के कारण आती है, इसे किस प्रकार रोका जा सकता है यह बात आगे के आलेख में बताई है। **अहिंसक सामग्री** जिसे हम दैनिक जीवन में प्रयुक्त कर मांसाहार सेवन के पाप से बच सकते हैं, इसका सुन्दर चित्रण आगे के आलेख में है।

(३) जैनधर्म — 'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' जो कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ले वह जिन कहलाते हैं और 'जिनो देवता यस्य इति जैनः' उन जिनेन्द्र भगवान के उपासक जैन कहलाते हैं और उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म ही जैनधर्म है। वर्तमान में हुण्डावसर्पिणी कालदोषवश जैनधर्म के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गयी हैं जबकि प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी जैनधर्म प्राकृतिक व अनादि है। इसके अन्तर्गत साहित्य, पुरातत्त्व व अन्य धर्मों के आधार पर सर्वप्रथम **जैनधर्म की प्राचीनता** का दिग्दर्शन कराया गया है और प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण भी किया गया है। **जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्तों** पर प्रकाश डालते हुए पूज्य माताजी ने बताया है कि इसके सिद्धान्त सभी के लिए हितकारी हैं। **धर्म और दर्शन** की व्याख्या करते हुए जैनधर्म और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है और धर्म का स्वरूप परिभाषित किया गया है।

अनादिनिधन णमोकार महामंत्र के बारे में बताते हुए माताजी ने णमोकार मंत्र के विभिन्न नाम, माहात्म्य, विशेषता, पंचपरमेष्ठी के मूलगुण, पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त रूप आदि विषयों पर प्रकाश डाला है पुनः **णमोकार मंत्र की महिमा का पद्यानुवाद** देकर भक्तों को पंचपरमेष्ठी की भक्ति का एक सुन्दर माध्यम प्रदान किया है।

(४) सूतक-पातक — सूतक-पातक क्या है ? इसको पालन करने की विधि, सूतक किन्हें नहीं लगता है ? इत्यादि विषयों को आर्षग्रंथानुसार बताते हुए **रजस्वला स्त्री के अशौच** के बारे में बताया है कि प्रत्येक माह स्त्रियों के होने वाले रजःस्राव में क्या-क्या करने योग्य है और क्या नहीं ? साथ ही यह भी बताया है कि इसका पालन नहीं करने पर इहलोक और परलोक में क्या हानि है ? **मासिक धर्म के समय स्त्रियाँ कैसे रहें ?** आगमानुसार इस बात को माताजी ने स्पष्ट किया है।

(५) जैन साहित्य — साहित्य के प्रमुख समृद्ध केन्द्र भारतदेश में अन्य साहित्य के साथ-साथ जैन साहित्य का विशाल योगदान रहा है। उसी **दिगम्बर जैन साहित्य का इतिहास** "गागर में सागर" के समान पूज्य माताजी द्वारा लिखित आलेख में है।

"**आगम पाठ में एवं किसी की साहित्यिक कृतियों में संशोधन उचित नहीं है**" उक्त आलेख में संशोधन से होने वाली हानियों के बारे में बताया गया है। वस्तुतः आज के प्राणी को किसी प्रकार का भी भय नहीं रह गया है, प्राचीन पूर्वाचार्यों में पापभीरुता थी, वे कहते थे कि किसी भी आचार्य के द्वारा लिखित कृति को संशोधित करने का हमें किंचित् भी अधिकार नहीं है, सत्य-असत्य का निर्णय केवलीगम्य है, उसमें संशोधन करना उपयुक्त नहीं है किन्तु आज दुराग्रहता बढ़ती ही जा रही है। इस आलेख के माध्यम से आगे ऐसा करने वालों को चिन्तन करने की प्रेरणा मिलती है।

(६) तीर्थंकर जीवन दर्शन — जैनागम के अनुसार प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के चक्र में चौबीस तीर्थंकर भगवान इस धरा पर जन्म लेकर भव्यात्मा जीवों को कल्याण का मार्ग बताते हुए स्वयं सिद्धावस्था की प्राप्ति करते हैं। वर्तमान चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी हुए हैं, जिनमें से प्रथम तीर्थंकर **भगवान ऋषभदेव एवं उनके सर्वोदयी सिद्धान्त** का सर्वप्रथम वर्णन है, पुनः तेईसवें तीर्थंकर **भगवान पार्श्वनाथ का १० भवों का जीवनदर्शन** हिन्दी-अंग्रेजी मिश्रित संक्षिप्त, सरल भाषा शैली में रोमांचकतापूर्वक सुन्दरतम ढंग से वर्णित किया गया है। वर्तमान में इंग्लिश मीडियम से शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चों के लिए भी यह आलेख अत्यन्त उपयोगी और शिक्षास्पद है।

अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जन्म से पावन कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार आज जन-जन की श्रद्धा का केन्द्र है, उन तीर्थंकर प्रभु का हिन्दी-अंग्रेजी परिचय "**भगवान महावीर संक्षिप्त जीवन दर्शन**" में वर्णित है। पूज्य माताजी हिन्दी, संस्कृत, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा की भी सिद्धहस्त लेखिका हैं। "**सत्य अहिंसा के अवतार-कुण्डलपुर के राजकुमार**" नामक आलेख में संसार को सत्य-अहिंसा रूप शाश्वत मूल्यों का उत्कृष्ट पथ प्रदर्शित करने वाले इस युग के तीर्थंकर भगवन्तों की परम्परा के अंतिम तीर्थंकर का शास्त्रोक्त परिचय है जिसे जैन-जैनेतर सभी में प्रचारित-प्रसारित करने की वर्तमान में महती आवश्यकता है। "**तीर्थंकर का जन्माभिषेक मुनियों द्वारा भी दर्शनीय है**" इस आलेख को महापुराण ग्रंथानुसार दर्शाया गया है। "**दिगम्बर जैन परम्परानुसार तीर्थंकर चातुर्मास नहीं करते**" वह एक ऐसी दिव्य विभूति हैं जिनकी तुलना वर्तमान जैन साधु-साध्वियों से नहीं की जा सकती है। जब चारणऋद्धिधारी मुनिगण चातुर्मास नहीं करते, जिनकल्पी मुनि चातुर्मास नहीं करते तो तीर्थंकर भगवान के चातुर्मास का तो प्रश्न ही नहीं उठता है, वास्तव में यह भ्रामक बातें श्वेताम्बर परम्परानुसार हैं, जिसे सभी को जानना है। "**नवदेवता में पंचपरमेष्ठी भी देवता हैं**" जैनशासन में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिनचैत्यालय ये नवदेवता माने गये हैं, इन्हें नवदेवता क्यों कहा गया ? इसका समाधान विभिन्न ग्रंथों के उद्धरण से यहाँ दिया गया है।

(७) दिगम्बर जैन तीर्थ एवं जिनमंदिर — दिगम्बर जैन तीर्थ एवं मंदिर संस्कृति की धरोहर हैं। संसार समुद्र से पार लगाने वाले तीर्थों की शृँखला में तीन प्रकार के तीर्थ माने हैं — तीर्थक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र एवं अतिशय क्षेत्र। इन तीनों ही प्रकार के तीर्थों का इसमें अत्यन्त सुन्दर, हृदयग्राही एवं सरल वर्णन है जिसे आदिपुराण, पद्मपुराण, वसुनंदि श्रावकाचार आदि के माध्यम से बताया है। "**वर्तमान अयोध्या**" नामक आलेख में अयोध्या तीर्थ की वर्तमान अवस्थिति दशाई गई है। **भगवान पार्श्वनाथ की केवलज्ञान भूमि अहिच्छत्र तीर्थ** नामक आलेख में वहाँ जाने की अवस्थिति, उस स्थल के केवलज्ञान भूमि बनने की कथा, पुरातत्त्व, इतिहास तथा वर्तमान स्थित का सुन्दर चित्रण है।

जैनागम में जहाँ अयोध्या तीर्थ को तीर्थंकरों की शाश्वत जन्मभूमि माना है वहीं सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र शाश्वत निर्वाणभूमि कहलाती है, उसी **सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र का परिचय** आगे दिया गया है। पुनः घर बैठे शाश्वत सिद्धक्षेत्र की यात्रा करवाने वाली अत्यन्त सुन्दर सम्मेदशिखर वंदना है। सम्मेदशिखर वंदना में नये वस्त्र पहनकर क्यों जाते हैं, इसकी यात्रा का क्या फल है ? इत्यादि विषयों को शास्त्रोक्त विधि से **''शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर महिमा''** नामक आलेख में बताया है। **भगवान महावीर जन्मभूमि के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों के निराकरण** हेतु अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लिखित आलेख वर्तमान शोधार्थियों एवं भगवान महावीर के जीवन से अपरिचित व्यक्ति के लिए नींव के पत्थर के समान है।

(८) जैन पर्व — अनादिनिधन सोलहकारण पर्व वर्ष में तीन बार आता है, इन सोलहकारण भावनाओं को भाने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, इसमें भी दर्शनविशुद्धि भावना मूल — जड़ है, इसके बिना सभी भावनाएं अधूरी हैं। उसकी महिमा को **''सोलहकारण पर्व''** नामक आलेख में पूज्य माताजी ने वर्णित किया है, पुनः **रत्नत्रय पर्व, क्षमावणी पर्व, आष्टान्हिका पर्व, अक्षय तृतीया पर्व, महावीर जयंती, वीरशासन जयंती** का इसमें संक्षिप्त वर्णन है। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, जैन समाज में **श्रुतपंचमी** के नाम से मनाई जाती है, **उस पर्व का क्या महत्त्व है** ? उसका प्रादुर्भाव कब से हुआ ? उसका वर्णन है, **दीपावली पर्व कब से चला, वीर निर्वाण सम्वत्** कब से चला तथा **रक्षाबंधन पर्व** कब से मनाया जाता है, इत्यादि विषयों का इसमें सुन्दर समावेश है।

(९) जैनेश्वरी दीक्षा का शास्त्रीय विश्लेषण — जैनधर्म के अनुसार संसार, शरीर, भोगों से विरक्त जीव के २८ मूलगुण अथवा ग्यारह प्रतिमा रूप सकल संयम या देशसंयम ग्रहण करने का नाम दीक्षा है। उसी के महत्त्व को सर्वप्रथम बताते हुए पूज्य माताजी ने वर्तमान की सर्वप्राचीन दीक्षित साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की तपस्या के बारे में बताया है पुनश्च **''ब्राह्मी-सुन्दरी ने दीक्षा क्यों ग्रहण की थी ?''** इस आलेख में भगवान ऋषभदेव की ब्राह्मी-सुन्दरी पुत्रियों के बारे में जो किंवदन्ती चली आ रही है कि उनके पिता को अपने दामाद के आगे सिर झुकाना पड़ता इसीलिए उन्होंने दीक्षा ली उसका निराकरण आदिपुराण ग्रंथानुसार किया है क्योंकि तीर्थंकर भगवान किसी को नमस्कार नहीं करते और ब्राह्मी-सुन्दरी ने अपने वैराग्य भाव से ही दीक्षा ग्रहण की थी न कि अन्य किसी कारण से।

(१०) दिगम्बर जैन साधु-साध्वी चर्या — एक अनुचिंतन — जैनेश्वरी दीक्षा लेने के बाद दिगम्बर जैन साधु-साध्वी अपनी दैनिक चर्या में दो बार प्रतिक्रमण और तीन बार सामायिक करते हैं, उसे ही अनगार धर्मामृत के आधार से **''आगम के दर्पण में साधुओं की सामायिक-प्रतिक्रमण क्रिया''** नामक आलेख में बताया गया है।

दिगम्बर जैन मुनि-आर्यिकाएं परम पूज्य हैं, उनकी चर्या के बारे में संशय करने का अधिकार श्रावक को किंचित् मात्र नहीं है। उनकी वंदना/विनय किस प्रकार करना चाहिए, इत्यादि बातों का समावेश **''दिगम्बर जैन मुनि-आर्यिकाओं की वंदना/विनय के संदर्भ में कतिपय आगम प्रमाण''** नामक सारभूत आलेख में वर्णित है। चूँकि वर्तमान का मनुष्य आगम ज्ञान से अनभिज्ञ, हठाग्रही एवं मिथ्या धारणाएं रखने वाला है अतः आगम के परिप्रेक्ष्य में ही उसे सही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। **''दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों की आहारचर्या से संबंधित कतिपय प्रमुख विषय''** में बताया गया है कि जैन साधु की एषणा समिति के अन्तर्गत आहारचर्या का विशेष महत्व है जो कि नवधाभक्तिपूर्वक श्रावकों द्वारा दिया जाता है और साधु ४६ दोष और ३२ अन्तरायों को टालकर इसे लेते हैं।

(११) ध्यानसाधना — एकाग्रचिन्ता रूप निरोध का होना ध्यान है, उस ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद हैं। इन चारों ध्यानों में प्रारंभ के दो ध्यान अशुभ और अन्तिम दो शुभ हैं। उन शुभ ध्यानों में धर्मध्यान के अन्तर्गत ज्ञानार्णव ग्रंथ के अनुसार **ध्यान का विस्तृत एवं अत्यन्त सरल वर्णन** है।

आगे के आलेख **''कौन करते हैं उत्तम ध्यान'' ''ध्यान करने वाला ध्याता कैसा होता है'' ''ध्यानी मुनि के साम्य भाव से जन्मजात विरोधी प्राणी भी शांत हो जाते हैं''** तथा **''मिथ्यादृष्टि के ध्यानसिद्धि संभव नहीं है''** में उमास्वामी श्रावकाचार व ज्ञानार्णव ग्रंथ के अनुसार ध्यान, ध्याता, ध्यानी मुनि के साम्य भाव आदि का वर्णन पूज्य माताजी ने किया है।

(१२) समयसार-एक अध्ययन — आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी कृत आत्मा के स्वरूप को बताने वाले ग्रंथ समयसार के विभिन्न विषयों में से ८ बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है, **गृहस्थों के कौन सा गुणस्थान है और वे कौन सा ध्यान कर सकते हैं ? बिना व्यवहारनय के निश्चयनय संभव नहीं है, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति गुरु के पादमूल में ही संभव है, निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु व्यवहारनय का अवलम्बन लेना आवश्यक है, दिगम्बर मुनिराज व्यवहार क्रियाओं के पश्चात् निश्चय में लीन होकर शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं और श्रावक इनकी भावना करें तथा अपने पद के योग्य अणुव्रतादि लेकर भेद रत्नत्रयधारी मुनियों की उपासना करते हुए गार्हस्थ जीवन को सफल करें, जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न समझने की प्रक्रिया, पुद्गल और जीव का अनादिकालीन संबंध, आत्मा और कर्मों का दूध और पानी के समान एकमेक संबंध होना तथा व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर संयम, तप आदि पुरुषार्थ के द्वारा इसे जीव से अलग करके शुद्ध निश्चयनय को प्राप्त करना,** इत्यादि विषयों पर छोटे-छोटे लेखों के माध्यम से प्रकाश डालकर निश्चयाभाषी कतिपय मूढात्माओं को चिंतन करने पर मानो विवश कर दिया गया है।

(१३) वास्तु शिल्प — मंदिर, मकान, दुकान, फैक्ट्री आदि के निर्माण में वास्तु शिल्प का अत्यधिक महत्व है। प्रस्तुत आलेख में वास्तु विद्या की सम्पूर्ण व्याख्या वर्णित करते हुए आगम के परिप्रेक्ष्य में इसकी महत्ता, इसके सही होने पर लाभ और इसके अभाव में हानि का शिक्षास्पद वर्णन है।

(१४) सम्यक्त्व उत्पत्ति के कारण — संसार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सबसे दुर्लभ है, वह हमें किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, उसका आगमोक्त सुन्दर वर्णन इस आलेख में है।

(१५) परमात्मप्रकाश-एक दृष्टि में — आचार्यश्री योगीन्द्रदेव द्वारा रचित परमात्म प्रकाश ग्रंथ एक आध्यात्मिक ग्रंथ होने के साथ-साथ ज्ञानपिपासुओं के लिए स्वाध्याय योग्य विशेष ग्रंथ है। उसी ग्रंथ के अंशों को लेकर पूज्य माताजी ने उसका किंचित् सार प्रस्तुत किया है, जो कि विशेष पठनीय है।

(१६) षट्खण्डागम-सिद्धान्तचिंतामणि टीका — एक दिव्य उपहार — जैनागम के सर्वोच्च सिद्धान्त ग्रंथ षट्खण्डागम की १६ पुस्तकों पर साक्षात् सरस्वतीस्वरूपा परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने स्वतंत्र संस्कृत टीका ''सिद्धान्तचिंतामणि'' को लिखकर एक दुरुह कार्य को सुगम कर जैन जगत पर महान उपकार किया है और विद्वत्वर्ग द्वारा प्राप्त ''सिद्धान्त चक्रेश्वरी'' पदवी को सार्थक कर दिया है। वस्तुतः पूज्य माताजी जैन जगत का वह कोहिनूर हीरा हैं, जिसकी दिव्य प्रभा से सारा जैनशासन विश्व के पटल पर अपनी विशेष आभा बिखेर रहा है। उस ग्रंथ की १६ पुस्तकों का संक्षिप्त सार राई में पर्वत के समान सिद्धान्त ज्ञान को समझने के उत्सुक जिज्ञासु विज्ञजनों के लिए लिखकर पूज्य माताजी ने जैन समाज पर अत्यन्त उपकार किया है।

(१७) आओ जानें! तेरहद्वीप रचना में क्या-क्या है ? — जैन भूगोल का दिग्दर्शन कराने वाली जिस तेरहद्वीप रचना का वर्णन आगम ग्रंथों — जम्बूद्वीपपण्णत्ति, त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में है उसे दिव्यशक्ति, भारतगौरव, पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने ''धरती का स्वर्ग'' कहे जाने वाले जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर तीर्थ पर साकार कर दिया जिसके माध्यम से हम सम्पूर्ण सृष्टि के बारे में जान सकते हैं, उस तेरहद्वीप रचना में कहाँ, क्या, कैसा है ? इसका

शास्त्रीय वर्णन पूज्य चंदनामती माताजी ने इसमें प्रस्तुत किया है।

(१८) कुलदेवता के संदर्भ में — हुण्डावसर्पिणी कालदोषवश ही समय-समय पर समाज में अनेक विसंगतियाँ व्याप्त हो जाती हैं जिनका निराकरण पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों के अनुसार हमारे आगमनिष्ठ गुरुजन ही प्रदान कर सकते हैं, भारत के महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में प्रचलित कुलदेवता के संदर्भ में जो भ्रामकता फैल गई है, उस मिथ्यात्व के निराकरण हेतु माताजी ने लघु किन्तु सटीक आगमोक्त बात जनता के समक्ष प्रस्तुत की है, जिसे अनुपालन कर हठ को छोड़कर श्रावकों को पूर्ण सम्यग्दृष्टि बनना चाहिए।

(१९) आओ समझें नवग्रह के बारे में — प्रत्येक सांसारिक प्राणी के साथ नवग्रहों का चक्र जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त चलता है जिसे लोग अपनी जन्मपत्री आदि के माध्यम से ज्योतिषी से प्राप्त करते हैं। ग्रह उच्च स्थान पर होने पर शुभ एवं निम्न स्थान पर रहने पर अशुभ फल से प्राणी व्याकुलित हो जाता है उसके आगमोक्त उपाय को बताते हुए पूज्य माताजी ने इस पर विस्तृत प्रकाश डाला है। साथ ही नवग्रहशांतिकारक लघु एवं वृहद् मंत्र भी दिए हैं।

इस प्रकार नाना विषयों से समन्वित यह कृति स्वयं में अनूठी और बेजोड़ है। परम पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी ने अपनी गुरू के समान ही जैनागम का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर ऐसे अनूठे विषयों को हम सभी के सम्मुख रखा है जिसके लिए हमें बड़े-बड़े शास्त्रों का आलोढन करना पड़ता। वस्तुतः ऐसी दिव्य महान आत्माएँ इस भूतल पर कभी-कभी जन्म लेती हैं और जब भी जन्म लेती हैं, अपने जन्म से न जाने कितने प्राणियों का उद्धार कर देती हैं। सदैव पूज्य माताजी की छाया बनकर उनकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य कर साहित्यिक, निर्माणात्मक, सृजनात्मक आदि प्रत्येक कार्य में अहर्निश सहयोग प्रदान कर उसे मूर्त रूप देने वाली, गुरुभक्ति का अनुपमेय उदाहरण, ममता-वात्सल्य की सागर, वर्तमान शिष्यों के लिए प्रेरणापुंज, अनुशासन प्रिय, ओजस्वी प्रखर वक्ता, अर्थ गाम्भीर्य से परिपूर्ण लेखनी से दो सौ कृतियों की प्रदात्री, आर्ष परम्परा हेतु समर्पित एवं सजग व्यक्तित्व, प्रज्ञाश्रमणी, मर्यादा शिष्योत्तमा एवं पी. एच. डी. की मानद उपाधि से अलंकृत पूज्य माताजी के गुणों को गाना नन्हें हाथों से समुद्र की गहराई और पर्वत की ऊंचाई मापने जैसा है। शास्त्रों में गुरु को अकारण बन्धु कहा है। वास्तव में भव्य प्राणियों को मोहजाल से छुड़ाने के लिए गुरू की देशना ही कार्यकारी है। गुरु के द्वारा प्रदत्त एक अक्षर भी महाशांति का देने वाला तथा जन्म-मरण का नाशक बन जाता है। यह हम सबका परम सौभाग्य ही है जो हमें इस कलिकाल में गुरूदेशना की प्राप्ति हो रही है इसलिए सदैव गुरु सानिध्य की भावना रखनी चाहिए और गुरुमुख से निकली वाणी का सदैव स्मरण रखना चाहिए, उनके द्वारा रचित ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिए क्योंकि शास्त्र स्वाध्याय कभी व्यर्थ नहीं जाता है जिसके बारे में कहा गया है—

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तं उवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आहवदि।।

अर्थात् जो प्राणी विनयपूर्वक श्रुत/शास्त्र को पढ़ता है वह पढ़ा गया श्रुत यदि प्रमाद से कभी विस्मृत भी हो जावे तो अगले भव में वह कभी न कभी उपलब्ध हो जाता है तथा केवलज्ञान की प्राप्ति कराने में भी स्वाध्याय कारण बन जाता है।

इसी क्रम में यह ग्रंथ भी भव्यात्मा जीवों के कल्याण में निमित्तभूत बने और इस महत्त्वपूर्ण कृति की प्रदात्री परमपूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चन्दनामती माताजी स्वस्थ एवं चिरायु होकर इस धरा पर जयवन्त रहें। उनके द्वारा लिखित ऐसी अमूल्य कृतियों से भव्य प्राणी अपनी आत्मा का उत्थान करें और सिद्धशिला की प्राप्ति तक ऐसे महान गुरु की छत्रछाया, वात्सल्यमयी सम्बोधन और संसार संतति का छेदन करने वाली नारी जीवन की सर्वोत्कृष्ट पदवी आर्यिका दीक्षा रूप रत्नत्रय से एक दिन मेरा भी जीवन सुवासित होवे, यही वीरप्रभू से प्रार्थना है।

108 फुट विशालकाय भगवान ऋषभदेव प्रतिमा निर्माण की प्रेरणास्रोत

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी : एक आदर्श व्यक्तित्व

-जीवन प्रकाश जैन (प्रबंध सम्पादक)

किसी भी परिस्थिति को बदलने के लिए विचारों में नई ऊर्जा एवं क्रांति की आवश्यकता होती है। इस शृँखला में इस बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी में सर्वप्रथम युग के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज का जन्म भारत की धरती पर हुआ और उन्होंने जैनधर्म एवं संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन और विकास हेतु समाज के मध्य ऐसे विचारों को प्रवाहित किया, जिसके बल पर जैनधर्म का दिगम्बरत्व अपना धर्म संरक्षण प्राप्त करके आगम परख बन सका। उन महामुनि की सूझ-बूझ और चिंतन अद्‌भुत होने के साथ दूरगामी शुभ संकेतों को प्रदर्शित करता था, यही कारण रहा कि उनके विचारों ने समाज को अत्यन्त प्रभावित करके अपने अनुरूप नई गति प्रदान की, जिसका परिणाम यह रहा कि साधु समाज हो या श्रावक समाज हो, सभी के जीवनवृत्त को प्राचीन जैनधर्म, संस्कृति के आधार पर नई रेखाओं ने अभिसिंचित किया और प्राचीन परम्परा, मान्यता व संस्कृति जीवन्त हो गई, ऐसे महापुरुष यथा-कदा जन्म लेते हैं, जिनके आश्रय से देश और समाज को नई दिशा प्राप्त होती है और विकास का क्रम आसमान को छूता है।

जैन समाज का यह अत्यन्त सौभाग्य रहा कि इसी बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी के संक्रमण काल में एक और महान आत्मा का जन्म इस धरती पर हुआ और उन्होंने जैन, संस्कृति के उत्थान हेतु सारे देश में अद्‌भुत अलख जगाकर श्रावकों को अपने कर्तव्यों से परिचित कराया, विस्मृत होते प्राचीन तीर्थों की स्मृति को पुर्नस्थापित किया और कठिन परिश्रम के साथ अपनी लेखनी से पुष्पदंत और भूतबली जैसे महान आचार्यों का युग दिखाने का भी सत्प्रयास किया। वे महान आत्मा हैं- ''युगप्रवर्तिका, चारित्रचन्द्रिका, सिद्धान्तचक्रेश्वरी, गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी''। पूज्य माताजी ने अपने जीवन काल में जो भी लक्ष्य बनाया, उन लक्ष्यों ने न सिर्फ उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को समाज के बीच स्थापित किया, अपितु समस्त श्रावक समाज व संस्कृति को भी इस सदी के बहुमूल्य लाभ प्राप्त हुए। साथ ही पूज्य माताजी के जीवन में अप्रत्याशितरूप से कुछ घटनाएँ भी ऐसी हुईं, जिनके कारण समाज को सदैव महान गौरव और स्वर्णिम इतिहास देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। ये अप्रत्याशित घटनाएँ कुछ इस प्रकार हैं-

(१) जन्म एवं वैराग्य की तिथियों का अद्‌भुत संयोग-

अपनी जन्मतिथि 'शरदपूर्णिमा' के दिन ही पूज्य माताजी ने सन् १९५२ में वैराग्य का पथ अपनाकर समस्त गृहबंधन आदि का त्याग किया और आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत तथा सप्तम प्रतिमा के व्रत स्वीकार करके उन्होंने अपने मनुष्य जीवन को सार्थक कर लिया। देवयोग से यह संयोग अनायास ही बन गया, क्योंकि पूज्य माताजी स्वयं भी नहीं जानती थीं कि उनकी जन्मतिथि भी शरदपूर्णिमा ही है। इस संयोग की बात उनकी माँ ने व्रत लेने के उपरांत स्वयं ही बताई।

(२) उत्कृष्ट वैराग्य भावना-

बाराबंकी (उ.प्र.) में सन् १९५२ में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की केशलोंच सभा के मध्य कु. मैना के रूप में पूज्य माताजी ने स्वयं ही दर्शक दीर्घा में बैठे-बैठे अपना भी केशलोंच प्रारंभ कर दिया और १८ वर्ष की उम्र में ही दीक्षा की ओर कदम बढ़ा दिये। वैराग्य भावनाओं का उत्कृष्ट उदाहरण इस घटना से अधिक और क्या हो सकता है।

(३) प्रथम कुंवारी कन्या का वैराग्य मार्ग में प्रवेश-

इस बीसवीं सदी में गुलामी और आजादी की चल रही लड़ाई जैसे विकट माहौल में पूज्य माताजी द्वारा सर्वप्रथम कुंआरी कन्या के रूप में अल्पायु में ही मोक्षमार्ग पर कदम बढ़ाने का इतिहास भी उनकी उत्कृष्ट वैराग्य भावनाओं के

फलस्वरूप स्वर्णाक्षरित हो गया। पुनः यहीं से अन्य कुंआरी कन्याओं के लिए भी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो सका।

(४) ज्ञान का अद्भुत क्षयोपशम-

लौकिक शिक्षा अर्थात् जैन स्कूल में मात्र प्राइमरी कक्षा तक अध्ययन किया लेकिन ज्ञान के उत्कृष्ट क्षयोपशम के आधार पर हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, मराठी जैसी भाषाओं पर अधिकार प्राप्त करके जैनधर्म के अनेकशः कठिन से कठिन दुरूह ग्रंथों का स्वयं अध्ययन किया और निष्णातरूप से आद्योपांत ग्रंथों के मर्म को समझकर अपने शिष्य-शिष्याओं तथा अनेक मुनि-आर्यिकाओं को भी गुरु आदेश के अनुसार गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, कातंत्र रूपमाला, अष्टसहस्री, नियमसार, समयसार, पंचास्तिकाय, राजवार्तिक, मूलाचार आदि महान ग्रंथों का अध्यापन भी कराया।

(५) साहित्य सृजिका के रूप में इतिहास की प्रथम आर्यिका माता-

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के उपरांत २६०० वर्षों के अंतराल में पूज्य माताजी एक ऐसी प्रथम महिला साध्वी हैं, जिन्होंने ग्रंथ लेखन का कार्य किया है। अनेक प्राचीन ग्रंथागारों व पाण्डुलिपि भण्डारों में कोई ऐसी पाण्डुलिपि प्राप्त नहीं हो सकी, जिसका लेखन किसी आर्यिका अथवा महिला के द्वारा किया गया हो अपितु प्राचीनकाल के समस्त ग्रंथों, पाण्डुलिपियों में किसी आचार्य अथवा पुरुष विद्वानों द्वारा ही लेखन का इतिहास प्राप्त होता है। ऐसे अनूठे इतिहास को भी पूज्य माताजी द्वारा अनायास ही रचा गया और उन्होंने अपने जीवनकाल में जिनेन्द्र भगवान के १००८ गुणों में अनुराग करते हुए सर्वप्रथम सन् १९५५ म्हसवड़-महाराष्ट्र में जिनसहस्रनाम स्तोत्र की रचना करके अपनी लेखनी का शुभारंभ किया। पुनः इसके पश्चात् उनकी लेखनी से चारों अनुयोगों के अनेकानेक ग्रंथों का सूत्रपात हुआ। इनमें षट्खण्डागम ग्रंथ की १६ पुस्तकों पर संस्कृत भाषा में सिद्धान्तचिंतामणि टीकाओं का लेखन, अष्टसहस्री जैसे अत्यन्त कठिन न्याय ग्रंथ के भाग १-२-३ की भाषा टीका, नियमसार प्राभृत ग्रंथ की संस्कृत-हिन्दी टीका का लेखन, मूलाचार भाग १ व २, ज्ञानामृत, कातंत्र रूपमाला व्याकरण, गोम्मटसार जीवकाण्ड सार, कर्मकाण्ड सार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह आदि अनेक आगम ग्रंथों का लेखन/टीका/अनुवाद/संकलन आदि अत्यन्त सरल भाषा में स्वाध्यायी महानुभावों के लिए प्रदान किया। इसके साथ ही भक्तिमान श्रावकों के लिए इन्द्रध्वज मण्डल विधान, कल्पद्रुम मण्डल विधान, सिद्धचक्र मण्डल विधान, सर्वतोभद्र मण्डल विधान, त्रैलोक्य विधान, तेरहद्वीप विधान, जम्बूद्वीप मण्डल विधान, विश्वशांति महावीर विधान, तीनलोक विधान आदि विधानों की रचना तथा युवा व नव पीढ़ी के लिए बालविकास, जैन बालभारती तथा आटे का मुर्गा, जीवनदान, भरत का भारत, परीक्षा-जैन रामायण, प्रतिज्ञा आदि जैसे उपन्यासों की रचना की। इस प्रकार ऐतिहासिकरूप में उनकी कलम से लगभग ४०० ग्रंथों का सृजन संस्कृति संरक्षण की दिशा में किया गया। इन ग्रंथों की प्रतिवर्ष लाखों-लाख प्रतियाँ प्रकाशित हो रही हैं, जो जैनधर्म की अद्भुत धर्मप्रभावना में महान सहकारी हैं।

(६) कालजयी रचनाओं की प्रदात्री-

कालजयी रचनाओं के रूप में पूज्य माताजी द्वारा लिखित नवदेवता पूजा आज देश के प्रत्येक जैन श्रावक द्वारा प्रतिदिन प्रातःकाल नित्य पूजा में की जाती है। इस पूजा से भक्तों को कितनी उत्कृष्ट भावविशुद्धि प्राप्त होती होगी इसकी कल्पना इसकी प्रसिद्धि से स्वयं की जा सकती है। साथ ही पूज्य माताजी द्वारा कन्नड़ भाषा में रचित "बारह भावना" भी ऐसी ही रचना सिद्ध हुई है, जो विगत अनेक दशकों से प्रत्येक दक्षिण प्रान्तीय जैन कन्नड़भाषियों के कंठ को पवित्र कर रही है और सभी को यह रचना कंठस्थ याद रहती है।

(७) अमर कृति ; १०८ फुट भगवान ऋषभदेव प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा

अपने दुर्लभ व्यक्तित्व के समान ही पूज्य माताजी ने जैन संस्कृति के संरक्षण हेतु एक ऐसी "अमर कृति" के निर्माण

की प्रेरणा समाज को प्रदान की है, जिसका इस संसार में कोई सानी नहीं है। ऋषभगिरि, मांगीतुंगी (नासिक) महा.के पर्वत पर अखण्ड पाषाण शिला में १०८ फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव प्रतिमा का निर्माण आज समूचे विश्व के लिए एक महान आश्चर्य है। जैन समाज ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में "गिनीज वर्ल्ड रिकार्ड-लंदन" के द्वारा इस प्रतिमा को अपने रिकॉर्ड में दर्ज करके यह सिद्ध कर दिया गया है कि विश्व में १०८ फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव प्रतिमा के समान अन्य कोई प्रतिमा नहीं है। आगम प्रमाण के अनुसार यह प्रतिमा १०८ फुट उत्तुंग कही गई है, लेकिन यदि प्रतिमा की प्रशस्ति, कमलासन एवं बालों की ऊँचाई जोड़ी जाये, तो यह प्रतिमा १२१ फुट उत्तुंग निर्मित की गई है। इस वीतराग प्रतिमा के निमित्त से सम्पूर्ण विश्व के पर्यटकों एवं तीर्थयात्रियों को जैनधर्म में निहित अहिंसा का पाठ पढ़ाने हेतु प्रतिमा को "द स्टेचू ऑफ अहिंसा" का नाम दिया गया है। इस तरह यह प्रतिमा सदैव ही "विश्वशांति" हेतु सम्पूर्ण विश्व के राजा व प्रजा को अहिंसा धर्म के पालन हेतु प्रेरित करती रहेगी।

(८) तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास-

पूज्य माताजी ने सदैव अपने जीवन में जो लक्ष्य बनाया है, उसकी सफलता हेतु उन्होंने इतना अधिक प्रयास किया कि उस प्रत्येक लक्ष्य की पूर्ति समाज के लिए स्वर्णमयी बनकर महान उपकारी सिद्ध हो गई। उन्होंने साहित्य लेखन का लक्ष्य बनाया और वर्तमान में उनकी लेखनी से जैन दर्शन व सिद्धान्त के ऐसे अद्भुत लेखन कार्य सम्पन्न हुए, जिनको यह समाज युगों तक भुला नहीं सकता। इसी प्रकार उन्होंने अपने जीवन में तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमियों के विकास का लक्ष्य बनाया और वे इस लक्ष्य में इतनी सफल हुईं कि जिसकी कल्पना करके मानों विश्वास नहीं होता है कि यह केवल एक साध्वी की प्रेरणा का प्रतिफल है। भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरनाथ की जन्मभूमि हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप तीर्थ का निर्माण आज सारे देश में तीर्थों के माथे पर तिलक के समान जगमगाता है और इसे तीर्थशिरोमणि के रूप में समाज पूजती है। जम्बूद्वीप जैसे आदर्श तीर्थ की वृहद् कल्पना को संजोना और योजनाबद्ध तरीके के साथ उसके विकास को पल-पल स्वर्णिम बनाना, यह पूज्य माताजी की दूरदृष्टि, आगमनिष्ठता एवं जैनधर्म में विज्ञान के प्रति विशेष अभिरुचि को प्रदर्शित करता है।

तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास की शृँखला में ही आपकी दृष्टि अयोध्या जैसे शाश्वत तीर्थ पर पड़ी और वर्तमान में भगवान ऋषभदेव आदि ५ तीर्थंकरों की उस जन्मभूमि का नाम राम जन्मभूमि के साथ ही "भगवान ऋषभदेव जन्मभूमि" के नाम से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर गुंजायमान होता है। अयोध्या जी में सन् २०११ से २०१४ तक क्रमशः प्रतिवर्ष भगवान ऋषभदेव जन्मभूमि टोंक, भगवान अनंतनाथ जन्मभूमि टोंक, भगवान अजितनाथ जन्मभूमि टोंक, भगवान अभिनंदननाथ जन्मभूमि टोंक तथा भगवान भरत-बाहुबली जन्मभूमि टोंक पर विशाल जिनमंदिरों का निर्माण एवं पंचकल्याणक किया जाना एवं सुमतिनाथ भगवान की टोंक पर नूतन जिनमंदिर का शिलान्यास होना भी आपके पुण्य प्रताप एवं लक्ष्य सिद्धि का सूचक है।

इसी प्रकार सन् २००२-२००४ में भगवान महावीर स्वामी की जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार के विकास हेतु पूज्य माताजी के मुख से उद्घोष किया जाना, समाज के लिए विशेष जागृति का केन्द्र बना और मात्र २६०० वर्षों में देखते ही देखते जीर्ण-शीर्ण होती वर्तमान शासनपति भगवान महावीर स्वामी की जन्मभूमि का मात्र २२ महीनों में ऐतिहासिक विकास कार्य सम्पन्न हुआ और बिहार सरकार का पर्यटन विभाग भी वहाँ बने नंद्यावर्त महल जैसी प्रतिकृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

इसी शृँखला में वर्तमान में भगवान महावीर स्वामी की प्रथम देशनाभूमि के रूप में विख्यात राजगृही की प्राचीनता को भी पूज्य माताजी ने प्रकाशित करते हुए समाज को यह बताया कि राजगृही तीर्थभूमि को भगवान महावीर स्वामी से

लगभग १२ लाख वर्ष पूर्व हुए २०वें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्मभूमि होने का भी गौरव प्राप्त है। इस विशेष निर्देश के साथ पूज्य माताजी की प्रेरणा पर राजगृही में मुनिसुव्रतनाथ की विशाल प्रतिमा से समन्वित सुन्दर कमलमंदिर भी निर्मापित किया गया।

आपके विशेष सान्निध्य एवं आशीर्वाद में अनेक वर्षों से अड़चनों को प्राप्त हो रही भगवान श्रेयांसनाथ की जन्मभूमि सिंहपुरी-सारनाथ में भी भगवान की विशाल प्रतिमा का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव जनवरी २००५ में सानंद सम्पन्न हुआ और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जन्मभूमि सिंहपुरी-सारनाथ में गौरव के साथ जैनत्व का विकसित दृश्य समाज के बीच उपस्थित हो सका।

आगे सन् २०१० में ९वें तीर्थंकर भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि का विकास कार्य पूज्य माताजी की प्रेरणा पर सम्पन्न हुआ और प्राचीन मंदिर की ऐसी मूलवेदी जिसकी समस्त जिनप्रतिमाएं ही दुर्भाग्यशाली लोगों द्वारा अपहृत कर ली गई हो, ऐसी उस जीर्ण-शीर्णता को प्राप्त जन्मभूमि काकंदी (देवरिया-निकट गोरखपुर) उ.प्र. में ९ फुट उत्तुंग विशाल प्रतिमा की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करके भव्य जिनमंदिर व कीर्तिस्तंभ का निर्माण किया गया।

इस प्रकार नितप्रति ही पूज्य माताजी समाज को तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास की प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं और निकट भविष्य में ही अन्य जन्मभूमियों का विकास भी सम्पन्न होगा, इस बात के लिए हम पूर्ण आशान्वित हैं।

(९) युगादि तीर्थ भूमि पर विकास का कदम-

युगादि तीर्थभूमि, जिसका गुणगान तो परे ही सही, जिसकी तरफ समाज के किसी व्यक्तित्व व साधुओं का ध्यान भी नहीं गया हो, ऐसी युग की प्रथम तीर्थभूमि प्रयाग-इलाहाबाद का विकास कार्य होना निश्चित ही पूज्य माताजी जैसी महान दृष्टि को धारने वाली विरली साधिका ही हो सकती हैं। इस युग के प्रथम तीर्थंकर जिन्होंने इस युग में जैनधर्म का प्रवर्तन किया, ऐसे भगवान श्री ऋषभदेव जी ने प्रयाग-इलाहाबाद में दीक्षा ली थी, प्रयाग में ही उन्होंने युग का प्रथम केशलोंच किया था, प्रयाग में ही उन्हें केवलज्ञान हुआ था, प्रयाग में ही उनका दिव्य समवसरण रचा गया था और प्रयाग में ही उनकी सुपुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी को युग की प्रथम आर्यिका दीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, ऐसी अत्यन्त प्राचीन एवं महान तीर्थभूमि का विकास पूज्य माताजी की प्रेरणा पर सन् २००१ में सम्पन्न हुआ और 'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का निर्माण करके कैलाशपर्वत की भव्य प्रतिकृति, समवसरण जिनमंदिर, भगवान ऋषभदेव दीक्षा मंदिर आदि बनाये गये। पूज्य माताजी के जीवन का यह आदर्श चिंतन समाज में प्रत्येक श्रावक और साधुओं को प्राचीन तीर्थभूमियों की स्थिति और विकास की ओर दृष्टिपात करने के लिए विशेष प्रेरित करता है।

(१०) आर्यिका दीक्षा के ६२ वर्ष पूर्ण करने वाली प्रथम साधिका-

बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में समस्त दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों के मध्य पूज्य माताजी ऐसी प्रथम साध्वी हुईं, जिन्होंने अपने मूल आर्यिका दीक्षा जीवन काल के स्वर्णिम ५० वर्षों को सर्वप्रथम पूरा किया। पूज्य माताजी ने सन् १९३४ में टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र. में जन्म लिया पुनः सन् १९५२ में गृहत्याग करके आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत व सप्तम प्रतिमा के व्रत धारण किए, सन् १९५३ में महावीर (राज.) में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा प्राप्त की और सन् १९५६ में माधोराजपुरा (जयपुरा) राज. में आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से आर्यिका दीक्षा के व्रतों को धारण किया। अतः सन् २००६ में आपकी आर्यिका दीक्षा का स्वर्ण जयंती महोत्सव देश में प्रथम बार विशाल स्तर पर आयोजित हुआ, जिसमें समाज के सभी गणमान्य महानुभावों तथा हजारों-हजार श्रद्धालुओं ने भाग लेकर महान पुण्य अर्जित किया।

इसी शृंखला में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अपनी आर्यिका दीक्षा के ६० वर्ष भी २४ अप्रैल २०१६

को मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र पर परिपूर्ण किए। इस अवसर पर सप्तम पट्टाचार्य श्री अनेकांतसागर जी महाराज के चतुर्विध संघ सानिध्य में पूज्य माताजी का आर्यिका दीक्षा षष्टिपूर्ति समारोह भी मनाया गया।

इस प्रकार से पिच्छिका को धारण करके ६५ वर्ष परिपूर्ण करने वाली वर्तमान की सबसे प्राचीन दीक्षित पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के चरणों में शतशः नमन।

(११) अपनों को सिखाया वैराग्य-

माँ मोहिनी से जन्म लेकर पुनः वैराग्य पथ की ओर स्वयं कदम बढ़ाना और फिर अपने साथ अन्य छोटे भाई-बहनों को भी मोक्षमार्ग के लिए प्रेरित करके उनका प्रवेश वैराग्य पथ पर कराना, इतना ही नहीं स्वयं अपनी जननी माँ को भी पूर्व में दी गई वचनबद्धता के साथ स्वयं केशलोंच करके पूज्य आचार्य श्री धर्मसागर महाराज द्वारा आर्यिका दीक्षा के संस्कारों से संस्कारित कराना आपके जीवन का महत्वपूर्ण आदर्श रहा है।

(१२) प्रत्येक कार्य की हुई सिद्धि और प्रसिद्धी-

पूज्य माताजी के जीवन में बने किसी भी छोटे या बड़े लक्ष्य की सम्पूर्ति इतनी उचित योजना-संयोजना के साथ कार्यकुशलतापूर्वक सम्पन्न हुई कि प्रत्येक लक्ष्य की सिद्धि कार्य से पूर्व ही अवश्यंभावी सिद्ध हो गई और सफलतापूर्वक उनके हर लक्ष्य अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। उदाहरणार्थ-जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति रथ प्रवर्तन, भगवान ऋषभदेव समवरण श्रीविहार रथ प्रवर्तन, भगवान महावीर ज्योति रथ प्रवर्तन, जम्बूद्वीप पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन, अनेक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, चौबीस कल्पद्रुम महामण्डल विधान, विश्वशांति महावीर विधान, विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन, विभिन्न तीर्थों का निर्माण, साहित्य सृजन आदि।

(१३) एक सूत्रीय अनुशासन-

पूज्य माताजी का एक और महत्वपूर्ण आदर्श गुण हैं-अनुशासनप्रियता। उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में शिष्यों को सदा अत्यन्त स्नेह, वात्सल्य देकर उनकी योग्यता का पूर्ण मूल्याकंन किया और अपने अनुशासन की डोर में सभी को बांधे रखा। इसी कारण से पूज्य माताजी का संघ सदैव एकसूत्रीय अनुशासन की डोर में बंधे हुए मोती माला की तरह अपनी आभा को सदा बिखेरता रहा है।

(१४) अद्‌भुत जिनेन्द्रभक्ति-

पूज्य माताजी के हृदय में व्याप्त जिनेन्द्र भक्ति को आज श्रावक और साधु समाज में अत्यन्त आदर्श स्वरूप माना जाता है। उनके परिणामों की उत्कृष्ट भावविशुद्धि एवं मुखमण्डल से निकलता संयम का तेज पग-पग पर पूज्य माताजी की आत्मा में समाहित जिनमंदिर, जिनप्रतिमाओं और गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा एवं समर्पण के संस्कारों को प्रदर्शित करता है। उनकी त्याग, तपस्या, साधना एवं अद्‌भुत जिनेन्द्र भक्ति का यह तेज ही आने वाले समस्त श्रद्धालु भक्तों को आध्यात्मिक एवं लौकिक उन्नति प्रदान करने में विशेष वरदान स्वरूप बन जाता है। निश्चित ही ऐसी उज्ज्वल आत्माओं का दर्शन एवं उनकी सन्निधि हमारी आत्मा से असंख्य कर्मों की निर्जरा में निमित्त बनता होगा।

(१५) कभी कोई दान प्रेरणा नहीं दी-

पूज्य माताजी का यह उत्कृष्ट आदर्श रहा कि उन्होंने अपने जीवन काल में चाहे जितने भी तीर्थों के निर्माण आदि की प्रेरणा प्रदान की, लेकिन कभी समाज के किसी भक्त को स्वयं दान देने के लिए प्रेरित नहीं किया। आपने जम्बूद्वीप निर्माण के प्रारंभ में ही अपने शिष्य ब्र. मोतीचंद जी से लिखित पत्र द्वारा यह नियम कराया था कि 'माताजी! आप केवल हमें रचना के विषय में बताएंगी, लेकिन कभी किसी कार्य की सम्पन्नता के लिए किसी से भी दान के लिए प्रेरणा नहीं देंगी।'

पूज्य माताजी ने पूर्व में ही शिष्यों को कह दिया था कि यदि 'आप लोगों की हिम्मत होवे, तो कार्य को करना, वरना कभी मुझे किसी श्रावक को पैसे के लिए कहने की बात मत कहना'। इस प्रकार यह उनकी त्याग-तपस्या का अद्भुत चमत्कार रहा कि उनके द्वारा सोचे गये प्रत्येक कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुए और कभी उन्हें किसी भक्त से दान हेतु कहने की जरूरत नहीं पड़ी। इस नियम के निर्वहन में अवश्य ही उनके शिष्यगण ब्र. मोतीचंद जी (मोतीसागर जी), ब्र. रवीन्द्र कुमार जी (रवीन्द्रकीर्ति जी) व ब्र. माधुरी जी (आर्यिका चंदनामती माताजी) का महान योगदान रहा और उन्होंने गुरुभक्तिपूर्वक अपने कर्तव्यों का सदैव पालन करते हुए पूज्य माताजी की हर योजना को साकार करने में हर संभव प्रयास करके सफलता प्रदान कराई।

(१६) संघ संचालन में कभी किसी संस्था के धन का उपयोग नहीं होने दिया-

पूज्य माताजी के अनेक नियमों में एक यह भी अखण्ड नियम सदैव संघ द्वारा पालन किया गया कि संस्थान में किसी भी भक्त द्वारा दिये गये दान की राशि का उपयोग संघ के संचालन में कभी नहीं किया गया। पूज्य माताजी के नियमानुसार सदैव किसी न किसी संघ भक्त श्रावकों द्वारा संघ का संचालन किया गया। लेकिन किसी संस्थान की कोई राशि कभी संघ के संचालन में खर्च नहीं की गई। इस नियम के पालन में संघस्थ शिष्यों के साथ ही महान गुरुभक्त श्रावकों का महनीय योगदान रहता है।

(१७) वृहद् दृष्टिकोण-

पूज्य माताजी ने यथाशक्ति अपने धर्मसूर्य का प्रकाश जैन समाज के अतिरिक्त सम्पूर्ण जन समाज में भी फैलाने का उत्तम प्रयास किया और जैन चिंतन धारा से जैनेतर साधु समाज एवं भक्तों को भी प्रभावित करने में वे सफल हुईं। मुख्यरूप से इस दिशा में आपने भारत देश के सबसे बड़े अनुष्ठान के रूप में सम्पन्न होने वाले प्रति १२ वर्षीय महाकुंभ प्रयाग-इलाहाबाद के मेले में सन् २००१ में जैन व जैनेतर संत-महंतों का सम्मानजनक समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया तथा वहाँ विश्व हिन्दू परिषद द्वारा आयोजित की गई नवम धर्म संसद में आपके मुखारविन्द से लाखों श्रद्धालु भक्तों एवं संतों की उपस्थिति में जैनधर्म का उद्घोष गुंजायमान हुआ। इसी प्रकार हरिद्वार के अर्ध महाकुंभ मेले में अपने शिष्यों की उपस्थिति कराकर जैनधर्म की प्रभावना, भगवान ऋषभदेव एवं भगवान राम की जन्मभूमि अयोध्या में अनेक दिग्गज एवं ज्ञानी हिन्दू संतों के साथ जैनधर्म की परिचर्चा एवं प्रभावना व न्यूयार्क (अमेरिका) में विश्व शांति शिखर सम्मेलन में अपने शिष्य ब्र. रवीन्द्र कुमार जी को जैन धर्माचार्य के रूप में भेजकर जैनधर्म के सिद्धान्तों को विश्वव्यापी जन समाज में प्रचारित-प्रसारित करना पूज्य माताजी का सर्वोपरि आदर्श गुण रहा है।

ऐसे अनेक महान आदर्शों को अपने व्यक्तित्व में समाहित करने वाली परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के चरणों में शत-शत नमन के साथ यही मंगल भावना है कि पूज्य माताजी के आदर्श सतत इस धरती पर धर्म की प्रभावना के साथ विश्व शांति, क्षेम, सुभिक्षता, प्रेम, करुणा, मानवता आदि को प्रवर्तित करते रहें। पुनः वंदामि!

महान गुरु की महान शिष्या
परमपूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी

-ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

पथभ्रमित दर-दर भटकते जीव का संबल हो तुम,
अध्यात्म की अनुपम मणी, कलिकाल की नवज्योति तुम।
वैराग्य की उत्कृष्ट स्वामिनि, हो स्वयं इतिहास तुम,
हे माँ चरण तेरे पखारूँ, पदकमल में शत नमन।।

जिस प्रकार समुद्र के भीतर रत्नों की अपार राशि भरी पड़ी है, जिसका लाभ समुद्रतल का स्पर्श कर डुबकी लगाने वालों को ही सुलभतया मिल पाता है, उसी प्रकार इस संसाररूपी समुद्र के भीतर रत्नत्रयरूपी चिंतामणि रत्न विद्यमान हैं। जिसे आत्मसात करने वालों को मोक्षरूपी अक्षय सुख की प्राप्ति सहजता से हो जाती है जिसके गौरव-गरिमामय उदाहरण हमारे तीर्थंकर, बलभद्र आदि महापुरुष तथा उनकी क्रम परम्परा में अनेकों महान आचार्य आदि हैं, जिन्होंने जन्म-जन्मान्तर में संचित महान पुण्य के फलस्वरूप अपने जीवन को रत्नस्वरूप बना लिया और संसार परिभ्रमण को समाप्त कर लिया अथवा शीघ्र करेंगे।

आर्यखण्ड के गौरवशाली भारतदेश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि हमें कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त करने वाले उन भगवन्तों, महापुरुषों के जीवन से परिलक्षित कराती रही है जिनके कारण यह वसुधा सदैव सनाथ है। सन्तरूपी निर्मल प्रवाहमान अविरल धारा में चन्द्रगुप्त, अर्जुन और एकलव्य के समान गुरुभक्त, स्वर्णमयी आभा से संयुत, सृजनात्मक मस्तिष्क से परिपूर्ण परमपूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। चहुँमुखी प्रतिभा से सम्पन्न, महान गुरु की समर्पित शिष्या, अपने वात्सल्यमयी व्यवहार से जनमानस को आकर्षित कर जिनशासन की कीर्तिपताका को फहराते हुए धर्म एवं जिनसंस्कृति की परम्परा को अक्षुण्ण रखने में अपना अतुल्य योगदान देने वाली उन परम विदुषी माताजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर लिखना मानो सूर्य को पकड़ने का दुस्साहस अथवा सागर की गहराई या पर्वत की ऊँचाई मापने सदृश कार्य है किन्तु उन दिव्यप्रभा के स्वर्णिम व्यक्तित्व को यहाँ चन्द शब्दों में प्रस्तुत करने का मेरा प्रयास मात्र है—

जीवन में संस्कारों की पड़ती है अमिट छाप—जैसे पाषाण शिल्पकार द्वारा गढ़कर भगवान, मिट्टी कुम्हार द्वारा संस्कारित हो घड़ा, सकोरा आदि, लोहा लुहार द्वारा तप-पिटकर ताला, चाबी आदि और सोना सुनार के हाथों में तपकर सुन्दर आभूषण का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार कु. माधुरी नामक एक कोमलकाय बालिका पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी एवं अपनी माँ मोहिनी देवी से सुसंस्कारों को प्राप्त कर जैन जगत का अनमोल रत्न बन गईं।

वस्तुतः बच्चों में सन्निहित शुभ संस्कारों के विकास का उत्तरदायित्व माता-पिता के समुचित आचरण एवं संरक्षण पर निर्भर करता है क्योंकि तीक्ष्ण ग्रहणशक्ति से संयुत बाल्यावस्था गीली मिट्टी और नर्म सोने के समान शीघ्र प्रभावित करती है। गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसी अलौकिक रत्नों की प्रसूता माता मोहिनी की पवित्र कुक्षि से १२वीं संतान के रूप में ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या, १८ मई १९५८ की पावन तिथि में जन्मी कन्या

माधुरी माता-पिता के साथ-साथ कुटुम्ब, विद्यालय आदि में सभी की स्नेहपात्र थीं। रानी मदालसा के समान उन पूज्या माता मोहिनी से संस्कारित, लघुवय से ही पुराण ग्रंथों का निरन्तर स्वाध्याय करने वाली उस बालिका ने खेलकूद वाली मात्र ११ वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अपनी विलक्षण मेधाशक्ति द्वारा स्वयं को शास्त्र-स्वाध्याय के चिंतन में लगाकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया।

प्रथम दर्शन ने जीवन को बना दिया कुन्दन—सन् १९६९ में बालहठ के कारण बड़े भाई प्रकाशचंद जी एवं भाभी के साथ जयपुर में मिले प्रथम दर्शन ने इनके जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। जौहरी की भांति रत्नपारखी माताजी ने इनकी तीक्ष्ण बुद्धि और प्राकृत के शुद्ध उच्चारण को देखकर, १२ दिन में गोम्मटसार की ३४ गाथाएं पढ़ाकर उसे कंठाग्र सुनकर उसी समय इस हीरे को जैनागमरूपी हार में जड़ने का विचार कर ऐसा हृदयस्पर्शी उद्बोधन प्रदान किया कि इन्होंने २५ अक्टूबर १९६९, शरदपूर्णिमा तिथि में ५ वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया, पुनः सन् १९७१ में माँ एवं भाई के साथ द्वितीय दर्शन ने इनके जीवन को और भी अद्वितीय बना दिया और इन्होंने १३ वर्ष की अल्पायु में सुगंधदशमी की पवित्र तिथि में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अपने जीवन को सुगंधित कर लिया। कुमारावस्था में गुरुमुख से प्राप्त वह विद्या मानो उनके जीवन मंदिर पर कलशारोहण करने हेतु नींव का पत्थर साबित हुई और त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य व्रत लेकर इन्होंने मात्र यह भावना भाई कि मैं भविष्य में सब संघर्षों को झेलकर निर्विघ्नतया अपने व्रतों का पालन करूँ और वह भावना मूर्तरूप में प्रकट हुई क्योंकि कहा भी है—**अर्हतो प्रसादतो विश्वविघ्नशांतिः सतां भवेत्।**

जन-जन की प्रिय—तीक्ष्ण बुद्धिसम्पन्न कन्या माधुरी ने लौकिक एवं धार्मिक शिक्षण क्षेत्र में अपने मृदुल स्वभाव व अलौकिक प्रतिभाशक्ति से सबका मन जीतते हुए शास्त्री, विद्यावाचस्पति आदि धार्मिक शिक्षाओं को प्राप्त किया। गुरु के कठोर अनुशासन में रहकर गहन अध्ययन से प्राप्त ज्ञान से आगत प्रत्येक शिष्य एवं भक्त सदैव छोटी माताजी के नाम से प्रसिद्ध पूज्य माताजी से लाभान्वित होता है। पूज्य माताजी का सबसे बड़ा अनुकरणीय गुण है—अपनी वात्सल्यपूर्ण वाणी द्वारा सदैव सामंजस्य, प्रेम, मैत्री का संदेश संघस्थ शिष्यों एवं समाज को प्रदान करना, जो सर्वथा अभिवंदनीय है।

ब्रह्मचर्य की दृढ़ प्रतिमा—महापुराण में आचार्यश्री जिनसेन स्वामी ने कहा है—"**पुण्ये प्रसेदुषि नृणां किमिवात्स्यलङ्घाम्।**" यूँ तो संसार में संयमरूपी मणि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है फिर भी महान पुण्यात्माओं को यह संयोग मिलता ही है। कु. माधुरी के पुण्य से उनकी दो बहनें, एक भाई एवं स्वयं माँ त्यागमार्ग को अंगीकार कर चुके थे इसलिए इन्हें इस हेतु ज्यादा श्रम न कर संघ में रहकर अध्ययन का सौभाग्य सहज ही प्राप्त हो गया और लौकिक अध्ययन में हाईस्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के साथ-साथ पूज्य माताजी के आशीर्वाद से इन्होंने कठिन परिश्रमपूर्वक शास्त्री के तीनों खण्डों की परीक्षा मात्र ३ माह की पढ़ाई में करके उत्तीर्ण कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया। साथ ही गृहस्थ धर्म में संलग्न भाई-बहनों द्वारा विवाह हेतु किये गये प्रयासों को दृढ़ता से ठुकराकर गुरु की छत्रछाया में रहकर मोक्षपथ का पथिक बनना स्वीकार किया।

ओजस्वी वाणी—जिसकी आँखों में वात्सल्य हो उसे पूरी दुनिया अच्छी लगती है पर जिसकी वाणी में माधुर्य हो वह सारी दुनिया को अच्छा लगता है। जिह्वा पर सरस्वती का वास होने से संयमपूर्वक बोली गई वाणी सर्वत्र प्रेम, प्रतिष्ठा और सद्भाव को बढ़ाती है। वस्तुतः लोक में वाणी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व में

संत-महापुरुषों की दिखती श्रृँखला वाणी का ही उपकार है। सन्तों की उसी श्रेणी में पूज्य चंदनामती माताजी भी एक ऐसा अनूठा व्यक्तित्व हैं, जिनके मुख से निकली आगमोक्त, समसामयिक ओजस्वी वाणी, प्रभावक व हृदयस्पर्शी मार्मिक उद्बोधन, स्वरचित सुमधुर भजन बाल, वृद्ध, युवा तीनों ही पीढ़ियों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और प्रत्येक श्रोता को जिनसंस्कृति एवं गुरुपरम्परा के प्रति चिंतन एवं हृदयंगम करने को विवश कर देते हैं। पूज्य माताजी के संघ में आगमन से लेकर आज तक आयोजित प्रत्येक शिविर, सेमिनार, संगोष्ठी, प्रतिष्ठा महोत्सव आदि में आपकी वाणी के अमूल्य योगदान से, पूजा विधान में आपकी स्वरलहरी एवं शिविर आदि के माध्यम से आपकी एक अविस्मरणीय छाप जनमानस पर पड़ी है। गुरु अनुकम्पा से छोटी सी उम्र से ही लोगों ने आपका विद्वान्-व्रतिक के रूप में विशेष मूल्यांकन किया है।

आशु कवियित्री—लेखन, गायन, कवित्व प्रतिभा एवं मधुर स्वर के साथ-साथ चतुरनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान होना विरले ही लोगों में पाया जाता है। चहुँमुखी प्रतिभा की धनी पूज्य माताजी में बाल्यावस्था से ही प्राप्त इस मौलिक गुण के कारण तत्काल समयानुसार रचित प्रत्येक काव्य धर्म, दर्शन, इतिहास और अध्यात्म से समन्वित प्रेरणास्पद रहता है। दर्शनीय तन्मयता के साथ रचित इनकी प्रत्येक रचना सरल, सरस, गाम्भीर्यपूर्ण, साहित्यिक सौष्ठव से भरपूर जैन साहित्य की अनमोल निधि है। हिन्दी भाषा के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी भाषा की आप सिद्धहस्त लेखिका हैं। लौकिक अध्ययन के समय लघुवय में ही रचित उपलब्ध कतिपय रचनाएँ इनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय स्वयमेव करवाती हैं।

अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण गद्य लेखन—Our Sacred books are our light-houses erected in the great sea of time. वस्तुतः आत्मोन्नति के मार्ग में सुसाहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्य की विधाओं में गहन चिन्तन-मनन द्वारा अपनी कृतियों से जिनवाणी माँ की सेवा करने वाली पूज्य चंदनामती माताजी का नाम भी युगों-युगों तक चिरस्मरणीय रहेगा क्योंकि काव्य लेखन के साथ गद्यलेखन के क्षेत्र में अपनी सशक्त लेखनी से आपने अविस्मरणीय योगदान दिया है, जिनमें सर्वोपरि है—पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी कृत षट्खण्डागम ग्रंथ की स्वतंत्र संस्कृत टीका "सिद्धान्तचिंतामणि" का हिन्दी अनुवाद। यह कृति ऐतिहासिक धरोहर के साथ-साथ नूतन पीढ़ी के लिए सिद्धान्त ग्रंथ का सार समझने में अनूठी कृति सिद्ध होगी। जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए इनका सृजनात्मक मस्तिष्क धर्मप्रभावना के नये-नये आयामों को यथार्थ रूप देते हुए सदैव पठन-पाठन, लेखन आदि में दत्तचित्त रहता है जिसका प्रतिफल उनके द्वारा रचित २०० लघु एवं वृहत् पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित चतुरनुयोगों का तलस्पर्शी ज्ञान प्रदान करने वाली सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका के सम्पादन में आपका पूर्ण सहयोग रहता है।

वस्तुतः साहित्यिक क्षेत्र में जैनधर्म के विपुल एवं कठिन साहित्य को सरल, परिमार्जित एवं सौष्ठवपूर्ण भाषाशैली में प्रस्तुत कर साहित्य की सेवा हेतु ऐसी गरिमामयी व्यक्तित्व सदैव अभिवंदनीय रहेंगी।

माधुरी से बनीं 'आर्यिका चन्दनामती'—आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने भव्य जीवों के लिए कहा—**परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव** "अर्थात् परोपकार की अपेक्षा स्वोपकार में लगना हितकर है। परोपकार की भावना के विकास हेतु शिक्षा और स्वोपकार हेतु दीक्षा आवश्यक है। बाल्यकाल से वैराग्योन्मुख भव्यात्माओं की संख्या नगण्य ही है। किसी भव्यात्मा के जीवन में दीक्षा का पावन प्रसंग किसी वरदान से कम नहीं है, वह

परम पद की ओर ले जाने वाला असाधारण कदम है, उसी असाधारण कदम को बढ़ाकर ब्र. कु. माधुरी ने दो प्रतिमा, पुनः सात प्रतिमा लेकर पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित प्रत्येक शिक्षात्मक, सृजनात्मक, निर्माणात्मक एवं धर्मप्रभावनात्मक कार्यों में गुरुभक्ति की विशेष भावनानुरूप उन्हें सफलता के साथ उच्च शिखर पर पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पुनः १८ वर्षों तक देव-शास्त्र-गुरु की अकाट्य भक्ति कर आत्मकल्याण के पथ पर सतत आरोहण करते हुए पावन तीर्थ हस्तिनापुर की धरा पर १३ अगस्त १९८९, श्रावण शुक्ला ग्यारस तिथि में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की सुरभित त्यागमयी बगिया को सुवासित करने में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया और मधुरता के साथ-साथ शीतलतापूर्ण गुणों से समाविष्ट ''चंदनामती'' नाम को सार्थक करते हुए अपने दिव्य चन्दनामृत से विश्व को सुवासित कर दिया है।

जन-जन में जगाई नवचेतना — ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की सूक्ति को चरितार्थ करती पूज्य माताजी मात्र बड़े-बड़े उद्योगपति, नेताओं या प्रशासनिक अधिकारियों को ही सम्बोधित नहीं करती हैं वरन् उनकी दृष्टि में तो सभी प्राणी को आत्मकल्याण करने का अधिकार है। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के साथ दीक्षित अवस्था में ३० वर्षों में हुई हजारों किमी. की पदयात्रा के साथ चातुर्मास के मध्य जहाँ लोगों ने आपसे जैनागम का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया है वहीं पदविहार के मध्य अनेकों जैनेतर बंधुओं ने शाकाहार, सदाचार व जीवन निर्माण की प्रेरणा प्राप्त कर व्यसनों के त्याग द्वारा अपने जीवन का उत्थान किया है।

आर्ष परम्परा हेतु समर्पित एवं सजग व्यक्तित्व — ''त एव कीर्तिताः शिष्या, ये गुर्वाज्ञानुवर्तिनः।'' गुरुआज्ञानुवर्ती ही शिष्य कहलाते हैं। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा में सदैव आर्षमार्ग को अपना सर्वस्व मानने वाली सरस्वतीस्वरूपा, गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से प्राप्त आर्षमार्गी ज्ञान को ही अपना प्राण मानकर गुरू परम्परागत स्थापित रीतियों, परम्पराओं के अनुपालन में निमग्न पूज्य चंदनामती माताजी को आने वाले प्रत्येक भक्त, श्रावक व शिष्यादि में गुरु परम्परा के संस्कार डालने में विशेष आल्हाद होता है। आगम, तीर्थंकर जन्मभूमियों, अपनी संस्कृति एवं अन्य तीर्थों के संरक्षण हेतु आप सदैव कटिबद्ध हैं और प्राणप्रण से उसकी रक्षा की शिक्षा सभी को प्रदान करती हैं।

अनुकरणीय आदर्श — आगमोक्त चर्या, चारित्रिक दृढ़ता, कर्त्तव्यनिष्ठता से गुरु की महानता का सहज परिज्ञान कराने वाली अलौकिक प्रतिभाओं से सम्पन्न होते हुए भी निरभिमान, ख्याति, लाभ, पूजा से दूर पूज्य चंदनामती माताजी किंचित् योग्यता प्राप्ति से स्वयं को गुरु से महत्तर समझने वाले, ख्याति-लाभ, पूजा में पड़ने वाले शिष्यों के लिए अनुकरणीय उदाहरण हैं। वे स्वयं गुरुभक्ति के परिपालन में पूर्णतः सजग रहते हुए सदैव संघस्थ शिष्य-शिष्याओं अथवा भक्तों को गुरु अनुशासन एवं समर्पण की अमूल्य शिक्षा प्रदान करती हैं। वस्तुतः सामंजस्य, प्रेम, मैत्री, प्रसन्नता व जीवन के प्रत्येक क्षण के सदुपयोग का सूत्र आपसे प्राप्त कर प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को समुन्नत बना सकता है।

प्रज्ञाश्रमणी, पीएच.डी. आदि अनेक उपाधियों से अलंकृत — वैभव, विनय, विद्या, विवेक, निर्मल यश, बुद्धि और सम्पत्ति आदि गुरुभक्ति से स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। आपकी समर्पण भावना, निःस्वार्थ सेवा एवं योग्यता, प्रखर मेधाशक्ति, गुरु आज्ञा का अनुशासनपूर्वक सतत पालन, निरभिमानता आदि गुणों को देखते हुए पूज्य माताजी ने सन् १९९७ में राजधानी दिल्ली में आयोजित २४ कल्पद्रुममहामण्डल विधान के विराट आयोजन

के समापन अवसर पर आपको "प्रज्ञाश्रमणी" की उपाधि से अलंकृत किया। पुनः समय-समय पर आपको "मर्यादा शिष्योत्तमा" "गुणरत्न", "आर्षमार्गसंरक्षिका", "दिव्यज्योति", "रत्नत्रयपूर्णा", "सद्धर्मप्रभाविका", "आर्यिकारत्न", "धर्मविज्ञान ज्योति पुंज", "कविहृदया" आदि अनेकानेक उपाधियों से अलंकृत किया गया। सन् २०१२ में "तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद (उ.प्र.) द्वारा पीएच.डी. की मानद उपाधि प्रदान की गई परन्तु इन सबसे निर्लिप्त पूज्य माताजी के लिए गुरुप्रदत्त आर्यिका पदवी की प्राप्ति एवं उनका वात्सल्यपूर्ण दिशानिर्देशन ही सर्वोपरि है।

वस्तुतः ऐसे निस्पृही शिष्य विरले ही होते हैं जो प्रतिक्षण जिनसंस्कृति, तीर्थसंरक्षण, जिनवाणी सेवा और गुरुभक्ति में संलग्न रहते हैं, ऐसे शिष्यों का जितना भी गौरव और सम्मान किया जाये कम है।

अमर रहेगी इस धरती पर तेरी गौरव गाथा—ध्येय की सिद्धि सदा एकाग्रता, साहस और समर्पण के साथ कठोर श्रम की ही प्रतिक्रिया है। आज सम्पूर्ण देश में इस बात की प्रसिद्धि है कि पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जिस कार्य को हाथ में लेती हैं, उसकी सम्पूर्णता में रत्नत्रय त्रिवेणी (पू. चंदनामती माताजी, समाधिस्थ पूज्य पीठाधीश क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी महाराज एवं कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी) का विशेष योगदान रहा है। जिन्होंने पूज्य माताजी के सुदृढ़ प्रकाशस्तंभ बनकर गुरु आज्ञा को ही जीवन का ध्येय बनाया है।

इनमें पूज्य चंदनामती मातजी द्वारा दिये गये जीवन निर्माणोपयोगी उपदेशामृत, उनका सामाजिक एवं साहित्यिक अवदान, युवा पीढ़ी को धर्म में लगाने का उत्कट प्रयास, जैन इन्साइक्लोपीडिया के माध्यम से हिन्दी-अंग्रेजी भाषा में जैनधर्म के परचम को देश-विदेश में फहराने की उत्कृष्ट भावना इत्यादि गुणों के कारण यह धरा सदैव उनके चरणारविन्द का प्रक्षालन कर उनकी गौरवगाथा गाती रहेगी।

धूल को चंदन बना दे उस गुरू को नमन—सिद्ध परमेष्ठी तक पहुँचाने वाले अर्हंत देव के समान पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसी शारदास्वरूपा गुरु के सान्निध्य व शिष्यत्व का पुण्यगामी सुयोग प्रदान करने वाली पूज्य श्री चंदनामती माताजी के मेरे जीवन पर अमिट उपकार हैं। भव्य प्राणियों को मोक्षमार्ग में लगाने वाली, उन्नत भविष्य की निर्मात्री, हम जैसी बालिकाओं के लिए आदर्श छवि, प्रेरणास्रोत पूज्य माताजी के शिष्यत्व को प्राप्त कर मेरा जीवन धन्य हो गया। अपने असीम वात्सल्य से इतने बड़े संघ का कुशल संचालन करने वाली, परम सेवाभावी माताजी के चरण सान्निध्य में रहकर किसी भी रिक्तता का अनुभव न होकर अपितु गौरव ही होता है, वे सदैव यही प्रेरणा देती हैं—

Life is a Gift-Accept it,
Life is a Love-Enjoy it,
Life is a Challange-Meet it,
Life is a Straggle-Fight it,
Life is a Tragedy-Face it,
Life is a Duty-Perform it.

अंत में सन्तकाव्य परम्परा में राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त, अपने हित-मित-प्रिय वचनामृत से जनकल्याण में निरत, साधना की उच्चतम सीढ़ियों में सतत आरोहणरत, महानतम गुणों की धारक रत्नत्रयस्वरूपा पूज्य माताजी का वरदहस्त मुक्ति प्राप्ति तक सदैव मुझ पर बना रहे और प्रत्येक भव में सांसारिक विषय भोगों से ऊपर उठकर रत्नत्रयरूपी गंगा में अवगाहन कराने में, जैनेश्वरी दीक्षा की प्राप्ति में, संसार संतति छेदन में सहकारी बने इसी उन्नत भावना के साथ ऐसी गरिमामयी व्यक्तित्व के पावन चरणयुगल में कोटि-कोटिशः नमन।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

—जीवन प्रकाश जैन (प्रबंध सम्पादक)

ईसवी सन् १९७२ में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से स्थापित उक्त संस्था के द्वारा जम्बूद्वीप रचना के निर्माण हेतु मेरठ (उ.प्र.) के ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर में नशिया मार्ग पर जुलाई १९७४ में एक भूमि क्रय की गई, जहाँ सर्वप्रथम २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की अवगाहना प्रमाण सात हाथ (सवा दस फुट) ऊँची खड्गासन प्रतिमा विराजमान करने हेतु फरवरी १९७५ में एक लघुकाय जिनालय का निर्माण किया गया, जो सन् १९९० में एक अनोखे 'कमल मंदिर' के रूप में निर्मित हुआ है। यहाँ विराजमान कल्पवृक्ष भगवान महावीर से यह अतिशय क्षेत्र निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर होता हुआ नित्य नये निर्माणों के द्वारा संसार में अद्वितीय पर्यटन स्थल के रूप में प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रतिमा के दर्शन करके भक्तगण अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

जम्बूद्वीप निर्माण का प्रथम चरण—जुलाई सन् १९७४ में रखी गई नींव के आधार पर जम्बूद्वीप के बीचोंबीच में सर्वप्रथम आगम वर्णित सुमेरुपर्वत (१०१ फुट ऊँचा) का निर्माण अप्रैल सन् १९७९ में एवं सन् १९८५ में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण पूर्ण हुआ। सोलह जिनमंदिरों से समन्वित उस सुमेरुपर्वत के अंदर से निर्मित १३६ सीढ़ियों से चढ़कर श्रद्धालु भक्त समस्त भगवन्तों के दर्शन करके जब सबसे ऊपर पाण्डुकशिला के निकट पहुँचते हैं, तो नीचे जम्बूद्वीप रचना के सभी नदी, पर्वत, मंदिर, उपवन आदि दृश्यों के साथ-साथ हस्तिनापुर के आसपास के सुदूरवर्ती ग्रामों का भी प्राकृतिक सौंदर्य देखकर फूले नहीं समाते हैं।

यात्री सुविधा—हस्तिनापुर तीर्थ में जम्बूद्वीप स्थल के पूरे परिसर में संस्थान द्वारा कार्यालय का सक्रिय संचालन किया जाता है। वहाँ यात्रियों के ठहरने हेतु आधुनिक सुविधायुक्त २०० कमरे, ५० से अधिक डीलक्स फ्लैट एवं अनेकों गेस्ट हाउस (बंगले) बने हुए हैं। इसके साथ ही यहाँ सुन्दर भोजनालय है जहाँ यात्रियों को सुविधापूर्वक शुद्ध भोजन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त २ किमी. दूर हस्तिनापुर सेन्ट्रल टाउन में सरकारी अस्पताल, डाकखाना, बाजार, इंटरकालेज तथा अन्य शिक्षण संस्थाएँ आदि सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

हस्तिनापुर कैसे पहुँचे ?—भारत की राजधानी दिल्ली से ११० किमी. पश्चिमी उत्तरप्रदेश में जिला-मेरठ से ४० किमी. दूर हस्तिनापुर तीर्थ है। राजधानी दिल्ली से हस्तिनापुर के लिए अंतर्राज्यी बस अड्डे अथवा आनंद विहार बस अड्डे से उत्तरप्रदेश रोडवेज तथा डी.टी.सी. बसों की निरंतर सेवा उपलब्ध है। मेरठ से भी प्रति आधे घंटे के अंतराल से जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर पहुँचने हेतु रोडवेज की बसें सुलभता के साथ उपलब्ध रहती हैं। 'जम्बूद्वीप' के नाम से ये बसें चलती हैं जो सीधे जम्बूद्वीप के सामने ही रुकती हैं और जम्बूद्वीप से ही मेरठ, दिल्ली, तिजारा आदि यात्रा हेतु बसें उपलब्ध रहती हैं। दिल्ली और मेरठ के बीच रेल सेवा भी है। देश-विदेश के यात्रीगण हस्तिनापुर पधारकर इस धरती का स्वर्ग मानी जाने वाली 'जम्बूद्वीप रचना' के दर्शन करें और मानसिक शांति का अनुभव करते हुए मनवांछित फल प्राप्त करें, यही मंगलकामना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के सहयोगी

शिरोमणि संरक्षक

१. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खारी बावली, दिल्ली-६।
२. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
३. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-१९, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
४. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
५. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
६. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
७. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-९२।
८. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)।
९. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.।
१०. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली।
११. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई।
१२. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली।
१३. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.।
१४. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
१५. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
१६. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
१७. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-४, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।
१८. श्रीमती आरती जैन ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन 'शीशे वाले', इलाहाबाद (उ.प्र.)
१९. स्व. श्री गीसुलाल जी-आयचुकी सेठी ग्राम मेड़तारोड (नागौर) की स्मृति में द्वारा श्री चम्पालाल, बुद्धराज, शांतिलाल पौत्र राजेन्द्र पपौत्र भव्य सेठी, इचलकरंजी (कोल्हापुर) महा.

परम संरक्षक

१. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
२. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, ७९२ विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
३. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
४. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
५. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
६. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।

७. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
८. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
९. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
१०. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
११. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
१२. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
१३. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
१४. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
१५. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-७।
१६. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
१७. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली।
१८. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
१९. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., अमर चंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)
२०. श्रीमती शशि जैन ध.प. श्री दिनेशचंद जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
२१. स्व. सुशीला देवी-स्व. एडवोकेट जम्मनलाल, संघपति प्रमोद-सौ. सुनीता, कु. अंजली, ऋषभ, मनोज कासलीवाल जैन, औरंगाबाद (महा.)
२२. डॉ. पन्नालाल-सौ. कुमकुमदेवी, संजय-सौ. अंजली, अजय-सौ. रिद्धी, कु. ब्राह्मी पापड़ीवाल, पैठण-औरंगाबाद, विजय-सौ. माधुरी, प्रशान्त-सौ. कोमल, चि. युवम पापड़ीवाल, पैठण-औरंगाबाद (महा.)

प्रकाशन सहयोग

इस ग्रंथ के प्रकाशन में स्व. श्रीमती सरोज जैन की पुण्य स्मृति में उनके पति इंजी. श्री धर्मवीर जैन (सेवानिवृत्त प्रमुख अभियंता-लखनऊ) का सहयोग प्राप्त हुआ है अतः संस्थान द्वारा श्री धर्मवीर जी के मन में व्याप्त ज्ञानप्रभावना और धर्मप्रभावना की भावनाओं का सम्मान करते हुए हम उनके प्रति बहुत-बहुत आभार एवं धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

-सम्पादक

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

अध्याय-1
श्रावक धर्म

(1)
मानवमात्र के कल्याणकारी अष्ट मूलगुण

अष्टमूलगुण
(श्रावक संस्कार)

मूलगुण क्या है?—जिस प्रकार मूल (नींव) के बिना मकान नहीं टिक सकता, मूल (जड़) के बिना वृक्ष नहीं उग सकता, मूल (स्रोत) के बिना नदी, कुएँ, नहर आदि अपना नाम सार्थक नहीं कर सकते, उसी प्रकार मूलगुणों के बिना मनुष्य 'श्रावक' यह संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता।

आधुनिक युग जहाँ अनुसंधानों की गहराइयों तक पहुँच रहा है, वहीं अपनी आत्मा के अनुसंधान में बिल्कुल सुप्त है। जबकि आत्मिक अनुसंधान सर्वप्रथम अपना मूल विषय होना चाहिए। कवियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि हम पर की ओर देखने की बजाय पहले स्व का अवलोकन करें। इसलिए कहा भी है–

'बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलया कोय।
जो घट देखा आपनो, मुझसा बुरा न कोय।।

अधिक नहीं तो कतिपय क्षणों में अपनी ओर दृष्टि डालकर गुण-अवगुणों का चिंतन अवश्य करना चाहिए। जैसे वृक्ष की जड़ जब तक मजबूत नहीं होती, तब तक वह दूसरों को फल प्रदान करने में सक्षम नहीं हो सकता। मकान या मंदिर की नींव जब तक मजबूत नहीं होगी, तब तक वह अपने ऊपर की मंजिलों का भार सहन नहीं कर सकता, वैसे ही मानव भी जब तक अपनी नींव को मजबूत करने हेतु अष्ट-मूलगुणों का पालन नहीं करेगा, तब तक उसका जीवन न तो स्वयं फलीभूत हो सकता है और न ही परिवार, समाज और देश के लिए प्रेरणापात्र बन सकता है।

मानव का जीवन एक आदर्श जीवन कहा जाता है। जिस प्रकार आदर्श—दर्पण में मुँह देखकर व्यक्ति अपने चेहरे के दाग-धब्बों को छुड़ाकर उसे साफ-सुथरा बना लेता है, उसी प्रकार आपका जीवन भी ऐसा स्वच्छ दर्पण हो जिससे हर मानव जीवन जीने की कला सीख सके। इसीलिए कतिपय स्वाभाविक गुणों का पालन हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है जो कि मूलगुण के नाम से जाने जाते हैं।

मूलगुण कितने हैं?—मनुष्यों में दो श्रेणियाँ देखी जाती हैं—

१. गृहस्थ २. साधु

ये दोनों ही अपने कर्तव्यों का सुचारूरूप से पालन करने हेतु मूलगुणों–आवश्यक क्रियाओं को अंगीकार करते हैं। साधु, जो कि पूर्णरूप से सांसारिक क्रियाओं के त्यागी होते हैं, उन्हें २८ मूलगुण पालन करने होते हैं तथा श्रावक, जो गृहस्थाश्रम चलाता है उसे मात्र ८ मूलगुण का पालन करने का आदेश आचार्यों ने दिया है।

श्रावक होने के नाते आपको अपनी ओर झाँककर देखना होगा कि कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा है कि साधुओं के अवगुणों की खोज करते-करते आप अपने मूलगुणों से विरहित हो गए हैं या पश्चिमी सभ्यता ने आपके ऊपर अपना प्रभाव तो नहीं जमा लिया है जिसके कारण बेमालूम अनार्य संस्कृतियाँ आपके नजदीक पदार्पण कर रही हैं।

यूँ तो जन्म लेने के ४५ दिनों बाद प्रत्येक बालक को प्राचीन परम्परानुसार माताएँ मंदिर ले जाती हैं, वहाँ गुरुओं के द्वारा उसके कान में मंत्र सुनाकर उसे अष्टमूलगुण ग्रहण कराए जाते हैं, लेकिन आठ वर्ष तक बालक की अज्ञान अवस्था होती है, अतः तब तक उसके पालन की जिम्मेदारी माता-पिता के ऊपर होती है आठ वर्षों के पश्चात् उन्हें अष्टमूलगुणों के नाम और उसका महत्व बतलाकर बालक को पुनः मूलगुण ग्रहण कराया जाता है।

शास्त्रों में मुख्यरूप से तीन प्रकार के मूलगुणों का वर्णन आता है।

१. पुरुषार्थसिद्धि उपाय में आचार्यश्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—

मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदम्बर फलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।।

अर्थात् मद्य (शराब), मांस (अण्डे, मछली वगैरह), मधु (शहद) ये तीन प्रकार होते हैं जो सर्वथा निंद्य और अधमगति में पहुँचाने वाले ही हैं और इनके सेवन से स्वास्थ्य एवं धन की भी बड़ी मात्रा में बर्बादी होती है।

पाँच उदम्बर फल–बड़, पीपल, पाकर, कठूमर और गूलर इनको खाने में भी त्रस जीवों की हिंसा होती है, अतः ३+५=८ इन आठ वस्तुओं का त्याग करना ही अष्टमूल गुण कहलाता है, जिसे हर व्यक्ति सहज ही ग्रहण कर सकता है।

इन अपवित्र पदार्थों का नाममात्र सुनते ही कोई-कोई भोजन भी छोड़ देते हैं, किन्तु कुसंगति के प्रभाव से आपके जीवन में यदि इनके प्रवेश की संभावना भी हो तो इन्हें आप अपना जीवनशत्रु समझकर शीघ्र इनसे दूर हट जाएँ ताकि आपका जीवन भगवान महावीर और महात्मा गांधी जैसा महान बन सके। इसमें कोई घबराने की बात नहीं होती। आपको यह ध्यान रखना होगा कि मानव ही हैवान बनता है एवं मानव ही भगवान बनता है, केवल अपनी क्रिया-कलापों के बल पर।

तीर्थंकर महावीर भी एक बार कई भव पूर्व भील की पर्याय में जंगल में एक मुनि को दूर से पशु समझकर मारने को उद्यत हो गए, तब उनकी पत्नी ने कहा–इन्हें मत मारो, ये वन देवता हैं। भील उनके चरणों में नतमस्तक हो गया और मुनिराज के द्वारा अष्टमूलगुण का उपदेश सुनकर उसे ग्रहण किया। बस! यहीं से उसके जीवन का उत्थान प्रारंभ हुआ और वह एक दिन तीर्थंकर महावीर बन गया।

इसी प्रकार हे मानव! आप सबकी आत्मा में भगवान बनने की शक्ति विद्यमान है, उसको प्रकट करने में देरी किस काम की?

इतना सरल कार्य "हरड़ लगे ना फिटकरी रंग चोखो आ जाए" आपको न तो इसके पालन में पैसा खर्च

करना है और न ही शारीरिक परिश्रम, किन्तु घर बैठे पुण्य का भण्डार स्वयमेव भर जावेगा तथा इनके सेवन से धन-हानि, यश-हानि, स्वास्थ्य-हानि, धर्म-हानि ये चार हानियाँ अवश्यंभावी हैं।

२. द्वितीय प्रकार के अष्टमूलगुण—

मद्यपलमधुनिशासन, पंचफलीविरतिपंचकाप्तनुतिः।
जीवदयाजलगालन, मिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

पं. श्री आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में ये अष्टमूलगुण भी बताए हैं— १. मद्य २. मांस ३. मधु ४. रात्रि भोजन ५. पंच उदम्बर फल, इन पाँचों का त्याग और ६. जीवदया का पालन ७. जल छानकर पीना एवं ८. पंचपरमेष्ठी को नमस्कार। इसमें रात्रि भोजन में कम से कम अन्न त्याग तो अवश्य करें। पंचपरमेष्ठी नमस्कार में मंदिर जाकर देवदर्शन करना चाहिए। जहाँ मंदिर नहीं है अथवा विशेष अस्वस्थता है तो घर में ही णमोकार मंत्र की माला फेर लेवें। जल छानकर पीने का नियम यदि बाहर न पल सके तो घर में छानकर ही पीना चाहिए।

३. तृतीय प्रकार के अष्टमूलगुण—

आचार्यश्री समंतभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

अर्थात् मद्य, मांस, मधु इन तीन मकारों का त्याग और पाँच अणुव्रतों का पालन तृतीय प्रकार का अष्टमूलगुण है। इसमें पंचाणुव्रतों के पालन से आज व्यक्ति दूर भागते हैं किन्तु यदि आप इनकी वास्तविकता समझ लें तो पायेंगे कि इनका पालन भी अति सरल है। इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है-

१. अहिंसाणुव्रत— संकल्पपूर्वक किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करने वाला मनुष्य अहिंसाणुव्रती कहलाता है।

२. सत्याणुव्रत— स्थूलरूप से झूठ नहीं बोलना सत्याणुव्रत है।

३. अचौर्याणुव्रत— बिना अनुमति लिए दूसरे की वस्तु नहीं लेना अचौर्याणुव्रत है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत— पुरुष के लिए अपनी पत्नी के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियाँ माता-बहन के समान तथा स्त्रियों के लिए अपने पति के सिवाय अन्य समस्त पुरुष पिता और भाई के समान होते हैं। इसी प्रकार का शीलव्रत पालन करना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

५. परिग्रहपरिमाण अणुव्रत— आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह का रखना परिग्रहप्रमाण अणुव्रत कहलाता है। मनुष्य की इच्छाएँ असीमित हैं किन्तु उन्हें अधिक से अधिक सीमा में भी सीमित कर लेना अणुव्रत हो जाता है। जैसे-आप अपनी इच्छानुसार अधिक से अधिक परिग्रह रखें। सोना, चाँदी, नगद, मकान, भूमि आदि कितनी ही सम्पत्ति अपने नाम से रखें, किन्तु तीन लोक के अनन्त परिग्रह के पाप से छूटने हेतु ये सीमाएँ आवश्यक होती हैं।

इन पंच अणुव्रत पालन करने वालों के लिए आचार्यश्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं-

पंचाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणाः दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते।।

अर्थात् इन पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं जहाँ पर अवधिज्ञान, अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियाँ तथा दिव्य वैक्रियिकशरीर प्राप्त करते हैं।

धर्मप्राण भारत देश के नागरिक होने के नाते आप स्वाभाविकरूप में उपर्युक्त ३ प्रकार के मूलगुणों में से किसी न किसी का पालन अवश्य करते होंगे। यदि आपको स्मरण नहीं है तो इस पावन प्रसंग का लाभ उठाकर जीवन को सदाचारी बनाएँ।

सदाचार और शाकाहार को प्रत्येक सम्प्रदाय में मान्यता प्रदान की गई है, स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी कहा है—

"जो लोग माँस भक्षण करते हैं तथा शराब पीते हैं, उनके वीर्यादि धातु दुर्गन्ध से दूषित हो जाते हैं।"

सिक्ख सम्प्रदाय में "बार मास माँस महल्ला" नामक ग्रंथ में पृ. १४० पर कहा है—

जो रत्त लगे कापड़े, जामा होवे पलीत।
जो रत्त पीवे मानुषा, तिन क्यों निर्मल चित्त।।

अर्थात् कपड़े पर खून लगने से वह कपड़ा अपवित्र हो जाता है तो हे मनुष्य! यदि तू अपवित्र रक्त पी जायेगा तो तेरा चित्त निर्मल कैसे रह सकता है?

इसी प्रकार "नानक प्रकाश" नामक ग्रंथ में (पूर्वार्ध अध्याय ५५) वर्णन आता है कि गुरु नानक को एक बार कोई व्यक्ति आमिष भोजन परोसकर स्वागत करने लगा तो गुरु नानक उसका आतिथ्य स्वीकार न करते हुए उसे समझाते हैं—

"हम तुम्हारे यहाँ भोजन नहीं कर सकते क्योंकि तुम सभी जीवों को दुख देते हो। सबसे पहले तुम माँस खाना छोड़ दो, जिस कारण तुम्हारा जीवन नष्ट हो रहा है। तापसी प्रवृत्ति छोड़कर सुख देने वाली प्रभु की भक्ति करो।

इस्लाम धर्म में भी कई स्थानों पर मांसाहार को सदैव पाप बताया है। जैसे-कुरान, मजीद-"सूरा हज जिकर हज" अर्थात् "अल्ला ताला को तुम्हारी कुर्बानियों-गोश्त और खून से कोई वास्ता नहीं, केवल विश्वास की जरूरत है।

पारसी धर्म भी मांसाहार का घोर विरोध करता है। यथा—

अवस्ता भाषा में (इजस्ने-२३वें हाय)—

मजदाओ अकामरोद इओगे ओशमेरदान।
ओरु आखश आरे बती जीओ तुम।।

अर्थात् जो पशु-पक्षियों को मारने तथा खाने का हुक्म देते हैं, उनको खुदा ने मारने की आज्ञा दी है।

महाभारत में मांसाहार का निषेध किया है।

जैसे— **न हि माँसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते।**
हत्त्वा जन्तुं ततो मांसंतस्माद्दोषोऽस्तुभक्षणे।।

अर्थात् माँस तृण में से, काष्ठा में से या पत्थर में से पैदा नहीं होता, माँस तो जन्तु को मारकर ही पैदा किया जाता है अतः माँस भक्षण में महादोष माना गया है।

मनुस्मृति में भी कहा है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयो।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खारकश्चेति घातकाः।।

इसका अर्थ यह है कि माँस खाने की अनुमति देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, मोल लेने और बेचने वाला, लाने वाला और खाने वाला, ये सभी घातक होते हैं।

जैनधर्म में तो मांसाहार का बड़ी ही दृढ़तापूर्वक प्रतिषेध किया ही गया है। अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रंथों में पाया जाता है। जीवन में सदैव यह चिंतन करना चाहिए कि "जिस तरह हम सुख से जीना चाहते हैं और दुःख से बचना चाहते हैं' उसी तरह संसार के सभी छोटे-बड़े प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। हम सभी एक-दूसरे को कष्ट न देकर सुख पहुँचाने का ही प्रयत्न करें' इसी पवित्र भावना का नाम 'अहिंसा' है। भगवान महावीर के शब्दों में यही "जिओ और जीने दो" का सिद्धान्त है।

इन्हीं सब धार्मिक मान्यताओं में पले हुए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी कहा है-"चाहे कुछ भी हो, धर्म हमें अण्डे अथवा माँस खाने की आज्ञा कभी नहीं देता है।"

एक कवि की पंक्तियाँ भी उपर्युक्त समस्त अभिप्रायों की पुष्टि करती हैं—

है भला तेरा इसी में, मांस खाना छोड़ दे।
इस मुबारक पेट में, कबरें बनाना छोड़ दे।।

मानवमात्र को अष्टमूलगुणों का स्मरण दिलाने हेतु समय-समय पर "अष्टमूलगुण प्रदर्शनी" का भी समायोजन करना चाहिए। इस परमपुनीत एवं लघुकाय नियम का पालन कर जीवन को समुन्नत बनाएँ, यही मंगलभावना है।

अनमेल संबंध

रागी बहुत हैं, वैरागी भी कुछ हैं, जग के इस समन्दर में, देखो तो सब तुच्छ हैं।
भावों का खेल है, जड़-चेतन का मेल है, दिख रहा दुनिया में सब कुछ अनमेल है।

(2)

श्रावक की षट् आवश्यक क्रियाएँ

जो पुरुष[१] देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्कर्मों के करने में तल्लीन रहता है, जिसका कुल उत्तम है, वह चूली, उखली, चक्की, बुहारी आदि गृहस्थ की नित्य षट् आरंभ क्रियाओं से होने वाले पाप से मुक्त हो जाता है तथा वही उत्तम श्रावक कहलाता है।

जो भव्य बिंबाफल के समान वेदी बनवाकर उसमें जौ प्रमाण प्रतिमा विराजमान करता है, वह मुक्ति को समीप कर लेता है।

पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ मुख करके और तिलक लगाकर जिनपूजन करना चाहिए।

शुद्ध[२] जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, आम्ररस, सर्वौषधि और कल्कचूर्ण आदि से भाव भक्तिपूर्वक भगवान जिनेन्द्र का अभिषेक करना चाहिए।

खण्डित वस्त्र, गला हुआ, फटा और मैला वस्त्र पहनकर दान-पूजन, होम और स्वाध्याय नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे खंडित आदि वस्त्रों को पहनकर पूजन करने से उसका फल नहीं मिलता है।

प्रश्न—पुष्प, धूप, दीप, फल आदि सचित्त द्रव्यों से भगवान की पूजा करने से पाप संभव है?

उत्तर—जो जिनपूजा असंख्य भवों के पापों को नष्ट करने में समर्थ है, उस पूजा से क्या यत् किंचित् पूजन के निमित्त से होने वाले सावद्य पाप नष्ट नहीं होंगे? अवश्य हो जायेंगे। हाँ! इतना अवश्य है कि प्रत्येक कार्यों में यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति होनी चाहिए।

'कुटुम्ब पोषण और भोगोपभोग के लिए किया गया आरंभ पाप उत्पन्न करने वाला होता है परन्तु दान, पूजा आदि धर्म कार्यों में किया गया आरंभ पाप बंध के लिए नहीं होता है।'[३]

जो[४] मनुष्य धनिया के पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिन प्रतिमा की स्थापना करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है?

पूजन के समय जिन भगवान के आगे जलधारा को छोड़ने से पापरूपी मैल का क्षालन होता है।

चन्दन के चर्चन से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है।

अक्षतों से पूजा करने वाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है। अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होकर अंत में मोक्ष सुख को पाता है।

---

१. देवपूजादिषट्कर्मनिरतः कुलसत्तमः।
आद्यषट्कर्मनिर्मुक्तः श्रावकः परमो भवेत्।। ९४।। उमास्वामी श्रावका. पृ. ३५

२. शुद्धतोयेक्षुसर्पिर्भिर्दुग्धदध्याम्रजैः रसैः।
सर्वौषधिभिरुच्चूर्णैर्भावात् संस्नापयेज्जिनम्।।१३४।। उमा. श्राव. पृ. ५३

३. उमास्वामी श्रावकाचार, पृ. ५७। ४. वसुनन्दिश्रावकाचार, पृ. १४५।

पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुख वाला, पुष्पों की सुन्दर मालाओं से समर्चित देह वाला कामदेव होता है।

नैवेद्य के चढ़ाने से शक्तिमान, कान्ति और तेज से सम्पन्न, अति सुन्दर होता है।

दीपों से पूजा करने वाला मनुष्य, केवलज्ञानरूपी प्रदीप के तेज से समस्त जीवादि तत्त्वों के रहस्य को प्रकाशित करने वाला केवली होता है।

धूप से पूजा करने वाला मनुष्य त्रैलोक्यव्यापी यश वाला होता है।

फलों से पूजा करने वाला परम निर्वाणरूप फल को प्राप्त कर लेता है।

जिनमंदिर में घण्टा समर्पण करने से घण्टाओं के शब्दों से व्याप्त श्रेष्ठ सुरविमानों में जन्म लेता है।

मंदिर में छत्र प्रदान करने से पृथ्वी को एकछत्र भोगता है।

चमरों के प्रदान से उस पर चमर ढोरे जाते हैं।

जिन भगवान का अभिषेक करने से मनुष्य सुदर्शनमेरु पर क्षीरसागर के जल से इन्द्रों द्वारा अभिषेक को प्राप्त करता है।

जिनमंदिर में विजय पताकाओं के देने से सर्वत्र विजयी षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती होता है।

अधिक कहने से क्या ? जिन पूजन के फल से संसार के सभी अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं और परम्परा से मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार से संक्षेप में 'देवपूजा' नाम की आवश्यक क्रिया का वर्णन हुआ।

गुरु की उपासना

"अपने[1] मनोवांछित पदार्थ सिद्ध करने के लिए तथा इस लोकसंबंधी समस्त संशयरूप अंधकार का नाश करने के लिए एवं परलोक में सुख प्राप्त करने के लिए गुरु की सेवा सदा करते रहना चाहिए।"

उत्तम, मध्यम, जघन्य कैसे ही मनुष्य हों परन्तु बिना गुरु के वे मनुष्य नहीं कहलाते, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सर्वोत्कृष्ट गुरु की सेवा अवश्य करते रहना चाहिए।

"गुरु[2] भक्तिरूपी संयम से श्रावक घोर संसार समुद्र को पार कर लेते हैं और अष्ट कर्मों का छेदन कर देते हैं पुनः जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाते हैं।"

स्वाध्याय

स्वाध्याय भव्य जीवों को ज्ञान देने वाला है, उसके पाँच भेद हैं—वाचना—पढ़ना-पढ़ाना। पृच्छना—प्रश्न करना। अनुप्रेक्षा—पढ़े हुए का बार-बार चिंतवन करना। आम्नाय—शुद्ध पाठ रटना और धर्मोपदेश—धर्म का उपदेश देना।

---

1. 'गुरुसेवा विधातव्या मनोवांछितसिद्धये।
संशयध्वांतनाशार्थमिहामुत्र सुखाय च'।।183।। उमा.श्रा.पृ. 71।
2. 'गुरुभक्तिसंजमेण य तरंति संसारसायरं घोरं।
छिण्णंति अट्ठकम्मं जम्मणमरणं ण पावेंति'।।

संयम

इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण करना और जीवदया पालना संयम है। संयम के दो भेद हैं—इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम।

पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग करना और मन को वश में रखना इन्द्रिय संयम है। पाँच स्थावर और त्रसकाय ऐसे षट्काय के जीवों की दया पालना प्राणिसंयम है।

तप

कर्म निर्जरा के लिए किया गया तपश्चरण 'तप' कहलाता है। तप के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप के छह भेद हैं—**अनशन**—उपवास करना, **अवमौदर्य**—भूख से कम खाना, **व्रत्तपरिसंख्यान**—घर, गली अथवा अन्य पदार्थों का नियम करके आहार ग्रहण करना, **रसपरित्याग**—घी, दूध आदि रसों में एक, दो या सभी रसों का त्याग करना।

विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थान में या गुरु के सानिध्य में शयन आसन करना।

कायक्लेश—कुक्कुट आसन, पद्मासन, खड्गासन, प्रतिमायोग आदि से ध्यान करना।

अभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—

प्रायश्चित्त—व्रत आदि में दोष लग जाने से गुरु से उसका दण्ड लेना। **विनय**—रत्नत्रयधारकों की विनय करना, **वैयावृत्य**—आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि व्रतीजनों की सेवा करना, **स्वाध्याय**—शास्त्रों का पठन-पाठन आदि करना, **व्युत्सर्ग**—पापों के कारणरूप उपधि—परिग्रह का त्याग करना, **ध्यान**—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि प्रकार से ध्यान करना।

इन बारह प्रकार के तपों का एकदेशरूप से शक्ति के अनुसार श्रावकों को भी अनुष्ठान करना चाहिए। मुख्यतया इसका अनुष्ठान मुनियों में ही होता है।

दान

स्वपर के अनुग्रह के लिए धन का त्याग करना दान है।

दान के चार भेद हैं—आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान, अभयदान।

उत्तम आदि पात्रों में इन चारों दानों को देना उत्तम दान है।

इस प्रकार से जो गृहस्थ श्रावक नित्यप्रति षट् आवश्यक क्रियाओं को आदरपूर्वक करता है, वह चक्की, उखली, चूल्ही, बुहारी और जल भरना, गृहारम्भ के इन पाँच पापों से और द्रव्य कमाना इस छठे पाप से अर्थात् षट् आरंभजनित पापों से छूट जाता है।

इस तरह उमास्वामी श्रावकाचार के अनुसार इन छट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन किया है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी रयणसार[1] में कहते हैं कि—

---

1. दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं बिणा तहा सोवि।।11।।

सुपात्र को चार प्रकार का दान देना और श्री देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करना श्रावकधर्म में श्रावक के ये दो कर्त्तव्य प्रमुख हैं, इन दो कर्त्तव्यों के बिना श्रावक नहीं हो सकता है, वैसे ही मुनियों के कर्त्तव्यों में ध्यान और अध्ययन ये दो कर्त्तव्य मुख्य हैं, इन दो कार्यों के बिना मुनि, मुनि नहीं हो सकता है।

पूजा के फल से यह मनुष्य तीनों लोकों में पूज्य हो जाता है और सुपात्र दान के फल से तीनों लोकों में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है।

भोजन — आहारदान देने मात्र से ही श्रावक धन्य कहलाता है तथा पंचाश्चर्य को प्राप्त होता हुआ देवताओं से पूज्य होता है।[१] एकमात्र जिनलिंग को देखकर आहार दान देना चाहिए, उस समय पात्र-अपात्र की परीक्षा करने से क्या प्रयोजन ?

"जो भव्यजीव मुनीश्वरों के आहारदान के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।"[२]

"इस भरतक्षेत्र के अवसर्पिणी के पंचम काल में श्री मुनीश्वरों को प्रमाद रहित धर्मध्यान होता है, ऐसा जिनवचन है, जो नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।"[३]

"आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद को और लौकान्तिक पद को प्राप्त कर लेते हैं पुनः वहाँ से च्युत होकर मोक्ष चले जाते हैं अर्थात् एक भवावतारी हो जाते हैं।"[४]

'श्रीदेवसेन' विरचित भावसंग्रह में पंचम गुणस्थान के प्रकरण में शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हुए सामायिक व्रत का वर्णन किया है कि —

"तीनों[५] कालों में अरहन्त भगवान की स्तुति करना, पर्व में प्रोषधोपवास करना, अतिथियों को दान देना और मरण के अंत में सल्लेखना ग्रहण करना।"

श्री वामदेव विरचित भावसंग्रह में पंचम गुणस्थान का वर्णन करते हुए व्रत प्रतिमा के लक्षण में शिक्षाव्रत में प्रथम सामायिक विधि का वर्णन निम्न प्रकार से किया है —

"प्रतिदिन[६] तीनों कालों में श्रावक जिनपूजापूर्वक सामायिक करें" क्योंकि —

---

1. दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
   पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण।।15।। रयणसार।
2. जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
   संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं।।22।।
3. भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
   तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।76।।
4. अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
   लोयंत्तिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।77।। मोक्षपाहुड़ पृ. 275।
5. देवे थुवइ वियाले पव्वे सुपोसहोवासं।
   अतिहीणं संविभागे मरणंते कुणइ सल्लिहणं।।355।। भाव सं. पृ. 81।
6. सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये जिनं प्रति।
   श्रावको हि जिनेन्द्रस्य जिनपूजा पुरःसरम् ।।463।। भाव सं. वामदेवि. पृ. 195।

"जिनपूजा[1] के बिना सभी सामायिक क्रियाएँ दूर ही हैं अर्थात् नहीं हो सकती हैं।" उसी का संक्षिप्त वर्णन—

प्रातःकाल उठकर शौच, आचमनपूर्वक प्रभातिक विधि करें। शुद्ध जल से स्नान कर मंत्र-स्नान (मंत्रपूर्वक संध्या-वंदन विधि) और व्रत स्नान ऐसे तीन स्नान करें, धुले हुए वस्त्र पहनकर जिनमंदिर में जाकर निःसहि मंत्र का उच्चारण करते हुए प्रवेश करें और ईर्यापथ शुद्धि करके जिनेन्द्र भगवान का स्तवन करें पुनः बैठकर सकलीकरण विधि करें।

पूजा-पात्र, पूजा-द्रव्य आदि को शुद्ध करके पंचामृत अभिषेक पाठ में कही गई विधि के अनुसार जिनेन्द्र भगवान का विधिवत् पंचामृत अभिषेक करें पुनः अष्टद्रव्य से पूजा करके अर्घ्य प्रदान करके शांतिधारा करें और पुष्पांजलि क्षेपण करें। पूजन में अष्टद्रव्य से अर्चन और अर्घ्य के बाद शांतिधारा, पुष्पांजलि करना[2] चाहिए जो कि शास्त्रोक्त है—

पुनः अपनी रुचिपूर्वक एक-दो या कई पूजन करके पंचनमस्कार मंत्र द्वारा १०८ पुष्पों से या लवंगों से जाप्य करें। सिद्धचक्र यंत्र आदि यंत्रों की पूजा, जाप्य आदि करके चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति बोलकर शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति करें और विसर्जन विधि करें। अनन्तर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त या जितना अवकाश है, उतने काल तक स्वस्थचित्त से अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करें।

अनन्तर श्रुतपूजा, गुरुपूजा करके आर्यिका और ऐलक आदि की विधिवत् पूजा करें।

इस प्रकार से श्रावक की सामायिक विधि है। विशेष—संहिता शास्त्रों में और प्रतिष्ठाशास्त्रों में भी यही विधि नित्य पूजनविधि में कही गई है। मतलब यह है कि यदि श्रावक इस विधि के अनुसार पूजन करता है तो सामायिक विधि उसी में सम्मिलित होने से उसकी सामायिक विधि भी वही कहलाती है। "जम्बूद्वीप पूजांजलि[3]" नाम की जिनवाणी में 'पूजामुखविधि' और 'पूजाअन्त्यविधि' में विधि करने का स्पष्टीकरण है। श्रावक को पूजनविधि के प्रारंभ में ईर्यापथ शुद्धि और सिद्धभक्ति करना चाहिए। अनन्तर विधिवत् पंचामृत अभिषेक और अष्टद्रव्य से पूजन करके चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करना चाहिए यही विधि श्री पूज्यपाद स्वामीकृत पंचामृताभिषेक पाठ में भी पाई जाती है।

अतिथिसंविभाग व्रत में भी दान का वर्णन करते हुए बताया है—

पात्र, दातार, दानविधि, दातव्य—देने योग्य पदार्थ और दान का फल ये पाँच अधिकार होते हैं।

पात्र के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। रत्नत्रयधारी निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं, ग्यारह प्रतिमा में से कोई भी प्रतिमाधारी श्रावक मध्यम पात्र हैं एवं अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं।

जप, तप आदि से सहित किन्तु सम्यक्त्व से रहित कुपात्र हैं एवं सम्यक्त्व, शील तथा व्रतों से रहित जीव अपात्र हैं।

दातारों के गुण—श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति, ये सात गुण हैं।

---

1. "जिनपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।" भावसंग्रह, वामदेवकृत पृ. 195। 2. अर्घ्य के बाद शांतिधारा और पुष्पांजलि करने की प्रथा दक्षिण में सर्वत्र है, उत्तर में प्रायः कम है। 3. वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित 'जम्बूद्वीप पूजांजलि' पुस्तक मंगाकर देखना चाहिए।

दानविधि—प्रतिग्रह—पड़गाहन करना, उच्च स्थान देना, पाद-प्रक्षालन करना, पूजा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन की शुद्धि कहना, ये नवधा भक्ति कहलाती है। इस नवधाभक्ति के हुए बिना उत्तम साधु आहार नहीं करते हैं।

दातव्य वस्तु—आहार, औषधि, शास्त्र और अभयदान ये दोनों योग्य हैं।

दान का फल—"सम्यग्दृष्टि[1] के द्वारा पात्रों में दिया गया दान स्वर्ग, मोक्ष फल को प्रदान करता है। कुपात्र में दिया गया दान फल रहित है एवं अपात्र में दिया गया दान अत्यन्त दुःख को देने वाला है।"

गृहस्थ धर्म को धारण करने वाले पुरुष का लक्षण—"न्यायपूर्वक[2] धन कमाने वाला, गुणों से गुरु—माता-पिता का सम्मान एवं गुरुओं की, मुनियों की पूजा करने वाला, सत्य वचन बोलने वाला, परस्पर विरोध रहित धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों को सेवन करने वाला, तीन पुरुषार्थ के योग्य, स्त्री, ग्राम और घर जिसके हैं, ऐसा लज्जाशील, शास्त्रोक्त योग्य आहार तथा विहार करने वाला, आर्य पुरुषों की संगति करने वाला, बुद्धिमान, दूसरों द्वारा किये हुए उपकार को मानने वाला, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, धर्मविधि को सुनने वाला, दयालु और पापों से भयभीत पुरुष ही गृहस्थ धर्म को धारण करने के लिए योग्य है।

भक्ति मार्ग सबके लिए श्रेयस्कर है

जस्सतियं धम्मपहं णिगच्छे तस्संतियं वेणयियं पउंजे।
काएण वाचा मणसा विणिच्च्य सक्कारए तं सिर पंचमेण।।

जिनके पास मैंने धर्म को प्राप्त किया है उनके निकट मैं विनय का प्रयोग करता हूँ। मन-वचन-काय से शिर झुकाकर पंचांग नमस्कारपूर्वक मैं (गौतम स्वामी) उन वर्धमान स्वामी का सत्कार (नमस्कार) करता हूँ।

और तभी वे श्रावक के लिए कहते हैं कि–

जिणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामायियं तं खु।।

जिनागम, जिनधर्म, जिनप्रतिमा, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और जिनमंदिर इन नवों की (नवदेवताओं की) जो नित्य ही त्रिकाल में वंदना करता है, उसके यह सामायिक प्रतिमा नाम का व्रत होता है।

–श्री गौतम स्वामी

1. वसुनन्दि श्रावकाचार।
2. "न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।।11।। सागारधर्मामृत, पृ. 20।

(3)

श्रावक के षोडश संस्कार

जैसे खान में से निकला स्वर्ण पाषाण योग्य निमित्त पाकर मूल्यवान बन जाता है और ईंट, चूना, सीमेंट आदि वस्तुएँ कारीगर के संयोग से सुन्दर महल के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं उसी प्रकार मानव पर्याय में गर्भ में आते ही बालक-बालिकाएँ उपयोगी संस्कार मिल जावें तो योग्य बन सकते हैं।

प्रथम तो माता-पिता के रज-वीर्य से बनने वाला पिण्ड, जहाँ जीव आता है, उस पर माता-पिता के जीवन का प्रभाव पड़ता है। गर्भाधान के पश्चात् माता के सद्विचार, आचार एवं आहार-विहार के प्रभाव से बालक की शक्तियाँ दृढ़ होती हैं। जैसे कच्चे गेहूँ और चने को सूर्य की धूप-पानी आदि पका देते हैं उसी प्रकार अपने बालक-बालिकाओं को सुसंस्कारित करने के लिए उचित निमित्त (संस्कार विधि) की आवश्यकता है।

माता के गर्भ में उत्पन्न होने के पश्चात् और गर्भ में आने के पूर्व संस्कारों का जो महत्व है तथा जिनसे जीवन निर्माण होता है, वे संस्कार सोलह प्रकार के होते हैं, अतः इन्हें षोडश संस्कार के नाम से जाना जाता है।

बिना साफ की गई भूमि में जिस प्रकार बीज फलीभूत नहीं होता, उसी प्रकार यह जीवित शरीर, विधिपूर्वक संस्कारों के बिना संयम, व्रत और शुभाचरण का पात्र नहीं होता।

गर्भ में आने वाले बालक को उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों की दृढ़ता और कमजोरी माता द्वारा प्राप्त होती है। माता के मन, वचन, काय की क्रिया का असर संतान के ऊपर पड़ता है, अतः माता को विवेकशील और धर्मात्मा होना चाहिए।

संतान के पूर्वोपार्जित कर्म, उसके निर्माण में अन्तरंग निमित्त हैं और बाह्य निमित्त अन्य सामग्री होती है। जैसे माता के आहार का अंश गर्भस्थित संतान को प्राप्त होता है, जिससे उसके शरीर को पोषण मिलता है साथ ही उसके विचारों व क्रियाओं का उस पर असर होता है, अतः बच्चों को सुयोग्य बनाने के लिए योग्य माताओं के समान शास्त्रानुसार धार्मिक संस्कारों की आवश्यकता है। ये संस्कार वैज्ञानिक दृष्टि से भी द्रव्य परमाणु की शक्ति की अपेक्षा से बच्चों के मन, वचन और शरीर के भीतर अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

१. प्रथम गर्भाधान संस्कार—विवाह केवल विषयाभिलाषा से ही नहीं, अपितु पुत्रोत्पत्ति एवं गार्हस्थ्य जीवन में परस्पर सहयोग द्वारा सदाचरण, लोकसेवा तथा आत्मोन्नति के उद्देश्य से किया जाता है।

स्त्री को मासिक धर्म के तीन दिन एकान्त में बिना किसी को स्पर्श किये व्यतीत करना चाहिए। वह चौथे दिन स्नान कर घर के भोजन आदि विशेष कार्यों को न करते हुए णमोकार मंत्र का मानसिक चिन्तवन करती रहे और साधारण कामकाज में भाग लेती रहे। पाँचवें दिन शुद्ध होकर मंदिर में जाकर जिनेन्द्र दर्शन, पूजन, स्वाध्याय आदि करे। इस प्रकार उसे व्यवहार दृष्टि से ३ दिन और धर्म की दृष्टि से चार दिन की अशुद्धि पालनी चाहिए।

गर्भाधान के पूर्व संस्कार विधि में विनायक यंत्रपूजा व हवन में गृहस्थाचार्य निम्नलिखित विशिष्ट मंत्रों से आहुति देते हुए पति-पत्नी पर आशीर्वादरूप में पीले चावल क्षेपण करें—

"सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव।" पश्चात् पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ, समाधि भक्ति व समापन पाठ पढ़कर पूजा पूर्ण करें। अन्त में सौभाग्यवती स्त्रियों से आशीर्वाद ग्रहण करें।

२. द्वितीय प्रीति संस्कार—गर्भ के दिन से तीसरे माह में गर्भाधान क्रिया के अनुसार विनायक यंत्र पूजा, ११२ आहुतियों से हवन, पुण्याहवाचन, शान्तिपाठ, समाधि पाठ, क्षमापान करके हवन के नीचे लिखे खास मंत्रों की आहुति देवें और पति-पत्नी पर पुष्पक्षेपण करें।

"त्रैलोक्यनाथो भव, त्रिकालज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव', इसी समय "ॐ कंठ व्हः पः असि आ उसा गर्भार्भकं प्रमोदेन परिरक्षत स्वाहा' यह मंत्र तीन बार पढ़कर गर्भवती पर पति द्वारा जलसेचन करावें।

३. तृतीय सुप्रीति संस्कार—गर्भाधान के पाँचवें माह में यह सुप्रीति या पुँसवन क्रिया श्रवण, रोहिणी, पुष्य नक्षत्र, रवि, मंगल, गुरु, शुक्रवार, २, ३, ५, ७, १०, ११, १२, १३ तिथि के मुहूर्त में करें। इसमें पूर्ववत् पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करके निम्न प्रकार खास मंत्रों से आहुति व पुष्पों से आशीर्वाद देवें।

'अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेक कल्याणभागी भव, निष्क्रांति कल्याणभागी भव, आर्हन्त्य कल्याणभागी भव, परमनिर्वाण कल्याणभागीभव'। इसी समय पति, पत्नी के सिर की माँग में सिंदूर और १०८ जौ के दानों की पहले से तैयार कराई गई माला 'ॐ झं वं क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः कान्तागले यवमालां क्षिपामि झौं स्वाहा' मंत्र पढ़कर पत्नी के गले में पहनावें। पत्नी अपनी आँखों में अंजन लगावें।

४. चतुर्थ धृति या सीमंतोन्नयन संस्कार—यह क्रिया सातवें माह में शुभ मुहूर्त मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, मूल, उत्तरात्रय, रोहिणी, रेवती इन में से किसी नक्षत्र में व रवि, मंगल, गुरु इन वारों तथा १, २, ३, ५, ७, १०, ११, १३ इन तिथियों में किसी तिथि में करें। इसका दूसरा नाम खोला भरना है। इसमें पहले के समान पूजा, हवन, पुण्याहवाचन आदि करें। नीचे लिखे खास मंत्रों से आहुति व आशीर्वाद देवें—

सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहस्थदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव।

अनन्तर पुत्र वाली सौभाग्यवती स्त्री द्वारा तेल व सिंदूर में डुबोकर शमी (सोना) वृक्ष की समिधा (सींक) से गर्भिणी पत्नी के केशों की माँग भरी जावे। इसी दिन गोद (खोल) में श्रीफल, मेवा, फल आदि भराकर पति-पत्नी या केवल पत्नी महिलाओं के साथ जिनमंदिर जावें।

५. पंचम मोद संस्कार—यह संस्कार गर्भ के दिन से ९वें माह में किया जाता है। इसमें पूर्ववत् यंत्र पूजा व हवन करें। साथ ही नीचे लिखे खास मंत्रों से आहुति व दम्पत्ति को आशीर्वाद देवें।

सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहस्थकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, युवाराज्यकल्याणभागी भव।

पुण्याहवाचन, शान्ति पाठ आदि के पश्चात् गृहस्थाचार्य पति, पत्नी को णमोकार मंत्र पढ़कर रक्षा सूत्र बाँधें।

नोट—यदि गर्भाधान संस्कार क्रमशः न कर सकें तो ४-५वें संस्कारों के साथ उन संस्कारों के मंत्र व क्रियाएँ इसी समय कर ली जावें। गर्भिणी महिला को प्रतिदिन "ओं ह्रीं अर्हं असिआउसा नमः" इस मंत्र की जाप

कर लेना चाहिए। उसे गर्भ के पाँचवें माह से, अधिक ऊँची जमीन पर चढ़ना नहीं चाहिए। वह वाहन (बैलगाड़ी, अश्व या धक्के वाली गाड़ी) पर न बैठे। तेज औषधि न लेवें, बोझा न ढोवे, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे, सादा भोजन करें। स्वाध्याय में अधिक समय व्यतीत करें। हाथ चक्की से आटा पीसने का अभ्यास रखे। इन संस्कारों को छोड़कर अन्यत्र हवन में शामिल न हो। क्रोधादि कषाय न कर शान्त परिणाम रखे। पति का भी कर्तव्य है कि वह पत्नी को उक्त कार्यों में सहयोग देवें।

६. छठा प्रियोद्भव संस्कार—बालक के जन्म के बाद यह संस्कार किया जाता है। जन्म का १० दिन का सूतक होने से गृहस्थाचार्य या जिनको सूतक न लगे, वे जिनमंदिर में पूजा-विधान करें। हवन में 'दिव्य नेमिविजयाय स्वाहा' परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हंत्यनेमिविजयाय स्वाहा, घातिजयो भव, श्रीआदि देव्यः जातक्रियाः कुर्वन्तु, मन्दराभिषेकार्हो भवतु।' इन मंत्रों से आहुति देवें। पिता आदि भी पुत्र को देखकर यह आशीर्वाद देवें। इस दिन बाजें बजवावें।

नोट—कन्या उत्पन्न होने पर भी पहले बताये समान यथायोग्य संस्कार करें। उसकी उपेक्षा न करें। क्योंकि कन्या रत्न मानी जाती है।

७. सप्तम नामकर्म संस्कार—जन्म के १२, १६ या ३२वें दिन यह संस्कार करें। दस दिन सूतक होने से जिनाभिषेक, पूजा, शास्त्र का स्पर्श नहीं होता। सूतक त्रिलोकसार, मूलाचार आदि प्राचीन ग्रंथों में भी बताया गया है। सूतक वाले के घर में मुनिराज आहार नहीं लेते हैं।

नोट—पुत्र या पुत्री के मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने पर जन्म पत्रिका बनाते समय ज्योतिषी अरिष्ट बताते हैं। जैन विधि से उसकी शान्ति निम्न प्रकार करना चाहिए—

मूल शान्ति—यदि मूल या उसके समान नक्षत्रों में पुत्र-पुत्री हों तो उस नक्षत्र की शांति हेतु निम्नलिखित १०१ माला का घर में कोई व्यक्ति या अन्य किसी के द्वारा जप करा लें। यह विधि जन्म से २८वें दिन जब वही नक्षत्र आता है, तब की जाती है। इस दिन चौंसठ ऋद्धि मण्डल विधान पूजा कर लें। इसके तीन-चार दिन पूर्व से जप कर लें।

जाप्य मंत्र—ॐ ह्रीं अर्हं असि आ उ सा मूल नक्षत्रोत्पन्न पुत्र-पुत्री संबंधी सर्वारिष्ट निवारणं कुरु कुरु स्वाहा।

घर का प्रसूति स्थान ४५ दिन तक अशुद्ध रहता है। ४५वें दिन नवजात शिशु को मंदिर ले जावें। वहाँ जिनेन्द्र प्रतिमा के सामने शिशु की माता अपने शिशु को नीचे सुला दें और गृहस्थाचार्य या अन्य कोई व्यक्ति नव बार णमोकार मंत्र उसके कानों में सुनावें। बालक को उसी समय अष्ट मूलगुण (पाँच उदम्बर और तीन मकार का स्थूलरूप से त्याग) धारण कराकर जैन बनावें। इस त्याग की जिम्मेदारी बालक के विवेकशील होने तक माता-पिता एवं परिवार की रहती है।

यदि कोई दिगम्बर मुनि-आर्यिका आदि गुरुजन विद्यमान हों तो उनके मुखारविंद से णमोकार मंत्र सुनवाएं एवं अष्टमूलगुण भी गुरु से ग्रहण करावें।

नामकरण—"सहस्रनामभागी भव, विजयनामाष्टसहस्रभागी भव, परमनामाष्टसहस्रभागी भव।' इन मंत्रों

से आशीर्वाद दिया जावे। अनेक नाम लिखकर किसी से एक चिट उठवाने से भी नाम का निर्णय हो सकता है।

नाम घोषित करने के समय, ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं अमुक बालकस्य नामकरणं करोमि। अयं आयुरारोग्यैश्वर्यवान् भवतु भवतु झौं झौं असि आ उसा स्वाहा।' मंत्र पढ़ा जावे।

८. अष्टम बहिर्यान संस्कार—यह संस्कार लोक में प्रसिद्ध सूर्य-दर्शन (सूरज का मुहूर्त) के समान है। इसमें जैनेतर जनता सूर्य व कूप पूजा आदि करती है। इस क्रिया को जन्म से लगभग १५ से ४५ दिन के भीतर कर लेते हैं, जबकि २, ३ या चौथे माह में किये जाने का शास्त्र में उल्लेख है। इसके आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रांति भागी भव, यौवराज्य-निष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रांतिभागी भव।' बालक को जिनालय में दर्शन कराते समय 'ॐ नमोऽर्हते भगवते जिनभास्कराय जिनेन्द्र प्रतिमा दर्शने अस्य बालकस्य दीर्घायुष्यं आत्मदर्शनं च भूयात्' यह मंत्र पढ़ें।

९. नवमां निषद्या संस्कार—पाँचवें माह में बालक को बैठाने की क्रिया की जाती है। उस समय पूर्वमुख कर सुखासन में बैठावें। नीचे लिखे आशीर्वादसूचक खास मंत्र पढ़ें—

'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासन भागी भव।'

१०. दशवां अन्नप्राशन संस्कार—जन्म से ७, ८ या नवमें माह में अन्न आहार बालक को कराना चाहिए। इसके पहले अन्न देने से स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। लीवर आदि के रोग इसी के परिणामस्वरूप होते हैं। इसके खास मंत्र ये हैं—

'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।'

११. ग्यारहवाँ पादन्यास अथवा गमन संस्कार—इस गमन विधि का उल्लेख आदिपुराण में नहीं है। परन्तु त्रिवर्णाचारादि संस्कार ग्रंथों में इस संस्कार की पूर्ण विधि पाई जाती है। अतएव इस विधि का लिखना भी परमावश्यक है।

यह संस्कार नवमें महीने में किया जाता है। जिस दिन गमन करने योग्य नक्षत्र वार और योग हो, उसी दिन यह संस्कार करना चाहिए।

प्रथम ही बालक का पिता पहले के समान श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा तथा होम करे। बालक को वस्त्रालंकारों से विभूषित करें। उस मंडप में किनारे-किनारे चारों ओर एक धुला हुआ वस्त्र इस प्रकार बिछावे कि जिसमें वेदी तथा श्रावकादि सज्जनजनों के बैठने का स्थान बीच में आ जाये अर्थात् वेदी और सज्जनों के बैठने का स्थान के चारों ओर परिक्रमारूप से वह वस्त्र बिछावे। यह वस्त्र पूर्व दिशा की ओर से बिछाना प्रारंभ करे और दक्षिण उत्तर पश्चिम की ओर होता हुआ पूर्व दिशा में ही समाप्त करे।

अनन्तर पिता उस बालक के दोनों हाथ पकड़कर अग्निकुण्ड की पूर्व दिशा में उत्तर दिशा की ओर मुख कराकर उस बालक को उस बिछे हुए वस्त्र पर खड़ा करे तथा "ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते महावीराय चतुस्त्रिंशदतिशय-युक्ताय बालकस्य पादन्यासं शिक्षयामि तस्य सौख्यं भवतु भवतु ह्रीं क्ष्वीं स्वाहा' यह मंत्र

पढ़कर उस बालक का दायां पैर आगे बढ़ावे। फिर इसी प्रकार उस बालक के दोनों हाथ पकड़े हुए उसी वस्त्र पर उसे चलाता जाये। पूर्व दिशा समाप्त होने पर दक्षिण की ओर मुड़ जाये। दक्षिण से पश्चिम उत्तर की ओर होता हुआ फिर पूर्व की ओर आ जाये।

इसी प्रकार तीन प्रदक्षिणा करा देवे। ध्यान रहे कि प्रदक्षिणा देते समय अग्निकुण्ड बालक के दायें हाथ की ओर रहेगा।

प्रदक्षिणा दे चुकने पर बालक से श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करावे तथा अग्नि, गुरु और वृद्धजनों को भी नमस्कार करावे।

१२. बारहवाँ वर्षवर्द्धन (व्युष्टि) संस्कार—यह क्रिया बालक के एक वर्ष का होने पर करें। इस दिन मंदिर में पूजा विधान करावें। बालक को मंदिर भेजें। उसका जन्म दिवस मनावें। बालक को इन मंत्रों से आशीर्वाद देवें।

''उपनयन जन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म-वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव।'

१३. तेरहवाँ चौल संस्कार—यह बालक के पाँच वर्ष पूर्ण होने पर होता है। दो-तीन वर्ष में भी यह क्रिया की जा सकती है। कहीं-कहीं ४५ दिन में भी मुण्डन कराने की परंपरा है तथा कुछ परिवारों में १ वर्ष के अंदर ही बच्चे का मुण्डन करा लेते हैं एवं कहीं-कहीं तीर्थों पर ले जाकर भी मुण्डन कराते हैं, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ पर बच्चों के मुण्डन कराने से उनकी विद्या, बुद्धि का खूब विकास होता है। इसके मुहूर्त सोम, बुध, शुक्रवार, २, ३, ५, ७, १०, ११, १३ तिथि, ज्येष्ठा, मृगशिरा, चित्रा, रेवती, हस्त, स्वाति, पुनर्वसु, पुष्य, धनिष्ठा, शतभिषा, अश्विनी नक्षत्र हैं। खास आशीर्वाद मंत्र नीचे लिखे अनुसार हैं—

'उपनयन मुँडभागी भव, निर्ग्रंथमुँडभागी भव, निष्क्रांतिमुँडभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, सुरेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्य केश भागी भव, आर्हन्त्य-केशभागी भव।' केश निकल जाने के बाद चोटी के स्थान पर केशर से स्वस्तिक बनावें। इसी समय कर्णछेदन क्रिया भी करते हैं।

१४. चौदहवाँ लिपि संख्यान संस्कार—यह पाँच वर्ष पूर्ण होने पर घर में या पाठशाला में सोम, बुद्ध, शुक्र, शनिवार, हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, चित्रा, अनुराधा नक्षत्र में तथा २, ३, ५, ६, १०, ११, १२ तिथि के मुहूर्त में करें। जिन मंदिर में या घर पर पूजा के बाद यह क्रिया करें। सर्वप्रथम ''ॐ और ॐ नमः सिद्धेभ्यः'' बालक से पट्टी पर लिखावें और इनका उच्चारण करावें। आशीर्वाद के विशेष मंत्र निम्न प्रकार हैं—

''शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थसंबंधपारगामी भव।' बालक को लिपि पुस्तक दी जावे।

नोट—वर्तमान में ३ वर्ष के बालक पर भी यह संस्कार कराये जाते हैं क्योंकि बच्चों को अब ३ वर्ष की उम्र में स्कूल भेजे जाने की परम्परा हो गई है।

१५. पन्द्रहवाँ उपनयन संस्कार—आठ वर्ष की उम्र के बालकों में यह यज्ञोपवीत संस्कार रवि, सोम, बुध, गुरु, शुक्रवार, हस्त, अश्विनी, पुनर्वसु, पुष्य, उत्तरात्रय, रोहिणी, आश्लेषा, स्वाति, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा,

मूल, रेवती, मृगशिरा, चित्रा, अनुराधा, आर्द्रा, पूर्वात्रय इन वार व नक्षत्रों में करें। रक्षाबंधन के दिन भी सामूहिक रूप में यह क्रिया की जाती है। इसके आशीर्वाद मंत्र इस प्रकार हैं—

'परमनिस्तारकलिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेन्द्रलिंगभागी भव, परमराज्यलिंगभागी भव, परमार्हन्त्यलिंगभागी भव, परमनिर्वाणलिंगभागी भव।'

यज्ञोपवीत पहनने का मंत्र— ॐ नमः परमशांताय शान्तिकराय पवित्रीकृतार्हं रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा।

यज्ञोपवीत का उद्देश्य— अष्टमूलगुण (स्थूल रूप से पाँच पाप का त्याग और मद्य, मांस, मधु का त्याग) अभ्यास रूप में विद्याभ्यास के काल में ग्रहण कर उनके चिन्हरूप में यज्ञोपवीत धारण करना है।

१६. सोलहवाँ व्रतावतरण संस्कार— पहले गुरुकुल (ब्रह्मचर्याश्रम) में विद्यार्थी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्याभ्यास करते थे। विवाह के पूर्व अध्ययन पूर्ण होने तक सादा भोजन और सादगीपूर्ण रहन-सहन व्रत चर्या का उद्देश्य है।

अध्ययन पूर्ण होने पर विद्यार्थी अभ्यासरूप में लिये गये पूर्ण नियम और उनका चिन्ह उतारकर गुरु व माता-पिता की आज्ञा से विवाह के लिए तैयार होता है। उक्त व्रतों में अष्टमूलगुण सदा पालता है क्योंकि यह जैन का चिन्ह है।

श्री ऋषभदेव स्तुतिः

रचयित्री-आर्यिका चन्दनामतिः

—बसन्ततिलका छन्द—

आदीश्वरादिजिनसूर्ययुगादिनाथः, साकेतशासनपतिः पुरुदेवनाथः।
स्वायम्भुवः सकललोकहितंकरो यः, तं नाभिनन्दनजिनं प्रणमामि नित्यं।।१।।
अद्यापि नाम तव देव! जगत्प्रसिद्धः, श्रुत्वा मयापि तव सन्निधमागतो हि।
भक्ताः रमन्त इह भक्तिसुधारसे ते, तं नाभिनन्दनजिनं प्रणमामि नित्यं।।२।।
कालेऽवसर्पिणि तृतीययुगेऽन्तिमे हि, जन्मो बभूव वृषभस्य दिवाकरस्य।
मिथ्यान्धकारहरणाय विभो! समर्थः, तं नाभिनन्दनजिनं प्रणमामि नित्यं।।३।।
सर्वोच्च मूर्तिः प्रभो। तव राजतेऽत्र, भक्ताः लभन्त इह बोधमणिं च दृष्ट्वा।
रत्नत्रयं किल विकासयितुं ममेच्छा, तं नाभिनन्दनजिनं प्रणमामि नित्यं।।४।।
माता तवास्ति जगतीह सुरेन्द्रवंद्या, भो देव! पादयुगले किल सापि नौति।
बुद्ध्या विनापि क्रियते स्तवनं मया च, तं नाभिनन्दनजिनं प्रणमामि नित्यं।।५।।

अनुष्टुप्— **इत्थंभूतां स्तुतिं कृत्वा, नाभेयस्य महात्मनः।**
बोधिं समाधिमिच्छामि, चन्दनामतिरार्यिका।।६।।

(4)

जैन विवाह विधि

विवाह और उसका उद्देश्य—शास्त्र की विधि के अनुसार योग्य उम्र के वर और कन्या का अपनी-अपनी जाति में क्रमशः वाग्दान (सगाई) प्रदान, वरण, पाणिग्रहण होकर अन्त में सप्तपदीपूर्वक विवाह होता है। यह विवाह धर्म की परम्परा को चलाने के लिए, सदाचरण और पुत्र-पुत्री द्वारा कुल की उन्नति के लिए और मन एवं इन्द्रियों के असंयम को रोककर मर्यादापूर्वक इन्द्रिय सुख की इच्छा से किया जाता है क्योंकि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन अल्प शक्ति रखने वाले स्त्री-पुरुषों से नहीं हो सकता इसलिए आचार्यों ने ब्रह्मचर्याणुव्रत में पर-स्त्री त्याग और स्व-स्त्री संतोष का उपदेश दिया है। यह विवाह देव, शास्त्र, गुरु की साक्षी से समाज के समक्ष होता है, जो जीवनपर्यन्त रहता है।

गठजोड़ा—हवन और सप्तपदी पूजा के बाद जीवनपर्यन्त पति-पत्नी बनने वाले दम्पत्ति में परस्पर प्रेमभाव एवं लौकिक और धार्मिक कार्यों में साथ रहने का सूचक ग्रंथिबंधन (गठजोड़ा) किसी सौभाग्यवती (सुहागिनी) स्त्री के द्वारा कराना चाहिए। कन्या की लुगड़ी (साड़ी) के पल्ले में १ सिक्का, १ सुपारी, हल्दी गाँठ, सरसों व पुष्प रखकर उसे बाँध लें और उससे वर के दुपट्टे के पल्ले को बाँध दें।

ग्रंथिबंधन मंत्र—

अस्मिन् जन्मन्येष बन्धोर्द्वयोर्वै, कामे धर्मे वा गृहस्थत्वभाजि।
योगो जातः पंचदेवाग्नि साक्षी, जायापत्त्योरंचलग्रंथिबंधात्।।

पाणिग्रहण—गठजोड़ा के पश्चात् कन्या के पिता कन्या के बाएँ हाथ में और वर के सीधे हाथ में पिसी हुई हल्दी को जल से रकाबी में घोलकर लेपें। लोक में जो पीले हाथ करने की बात कही जाती है यह वही बात है। फिर वर के सीधे हाथ में थोड़ी-सी गली मेंहदी और १ सिक्का रखकर उस पर कन्या का बायाँ हाथ रखकर कन्या का हाथ ऊपर व वर का हाथ नीचे करके वर-कन्या के दोनों हाथ जोड़ दें। इस विधि से कन्या का पिता अपनी कन्या को वर के हाथ में सौंपता है। इसे पाणिग्रहण कहते हैं।

पाणिग्रहण मंत्र—

हारिद्रपंकमवलिप्य सुवासिनीभिर्दत्तं द्वयोर्जनकयोः खलु तौ गृहीत्वा।
वामं करं निजसुताभवमग्रपाणिम्, लिम्पेद्वरस्य च करद्वययोजनार्थं।।

गृहस्थाचार्य प्रत्येक फेरे के बाद नीचे लिखे हुए अर्घ्य क्रमशः चढ़ाते रहें—

१. ॐ ह्रीं सज्जाति परमस्थानाय अर्घ्यम्।
२. ॐ ह्रीं सद्गृहस्थ परमस्थानाय अर्घ्यम्।
३. ॐ ह्रीं पारिव्राज्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।
४. ॐ ह्रीं सुरेन्द्र परमस्थानाय अर्घ्यम्।
५. ॐ ह्रीं साम्राज्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।

६. ॐ ह्रीं आर्हन्त्य परमस्थानाय अर्घ्यम्।

फेरे और सप्तपदी—हथलेवा के बाद वर-कन्या को खड़ा करा के कन्या को आगे और वर को पीछे रखकर वेदी में चवरी के मध्य में यंत्र सहित कटनी और हवन की प्रज्ज्वलित अग्नियुक्त स्थंडिल के चारों ओर छः फेरे दिलवावें। बुन्देलखण्ड के परवार आदि जातियों में वर-वधू का हाथ छुड़वाकर छह फेरे दिलाये जाते हैं। इस समय स्त्रियाँ फेरों के मंगल गीत गावें। वर और कन्या के कपड़ों को संभालते हुए फेरे दिलाना चाहिए। एक-दो समझदार स्त्री और पुरुष दोनों को संभालते रहें। छः फेरों के बाद दोनों अपने पूर्व स्थान पर पहले के समान बैठ जावें। गृहस्थाचार्य निम्न प्रकार सात-सात वचनों (प्रतिज्ञाओं) को क्रम से पहले वर से और फिर कन्या से कहलावें, साथ ही स्वयं उनको सरल भाषा में समझाते जायें।

वर की ओर से कन्या के प्रति ७ वचन—

१. मेरे कुटुम्बी लोगों का यथायोग्य विनय सत्कार करना होगा।

२. मेरी आज्ञा का लोप नहीं करना होगा ताकि घर में अनुशासन बना रहे।

३. कठोर वचन नहीं बोलना होगा क्योंकि इससे चित्त को क्षोभ होकर पारस्परिक द्वेष की संभावना रहती है।

४. सत्पात्रों के घर आने उन्हें आहार आदि प्रदान करने में कलुषित मन नहीं करना होगा।

५. मनुष्यों की भीड़ आदि में जहाँ धक्का आदि लगने की संभावना हो, वहाँ बिना खास कारण के अकेले नहीं जाना होगा।

६. दुराचारी और नशा करने वाले लोगों के घर पर नहीं जाना होगा, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों द्वारा अपने सम्मान में बाधा आने की संभावना है।

७. रात्रि के समय बिना पूछे दूसरों के घर नहीं जाना होगा ताकि लोगों को व्यर्थ ही टीका-टिप्पणी करने का मौका न मिले।

ये सात प्रतिज्ञायें तुम्हें स्वीकार करना चाहिए। इन वचनों में गार्हस्थ्य जीवन को सुखद बनाने की बातों का ही उल्लेख है। इनके पालन से घर में और समाज में पत्नी का स्थान आदरणीय बनेगा।

इन प्रतिज्ञाओं को कन्या अपने मुँह से निःसंकोच होकर कहे और स्वीकार करे।

वधू की ओर से वर के प्रति ७ वचन—

१. मेरे सिवाय अन्य स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री के समान मानना होगा अर्थात् पर-स्त्री सेवन का त्याग और स्व-स्त्री सन्तोष रखना होगा।

२. वेश्या, जो परस्त्री से भिन्न मानी जाती है, उसके सेवन का त्याग करना होगा।

३. लोक द्वारा निन्दनीय और कानून से निषिद्ध द्यूत (जुआ) नहीं खेलना होगा।

४. न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करते हुए वस्त्र आदि से मेरा रक्षण करना होगा।

५. आपने जो अपने वचनों में मुझसे अपनी आज्ञा मानने की प्रतिज्ञा कराई है उस संबंध में, धर्म स्थान में जाने और धर्माचरण करने में रुकावट नहीं डालनी होगी।

६. मेरे संबंध की ओर से घर की कोई बात मुझसे नहीं छिपानी होगी, क्योंकि मैं भी आपकी सच्ची सलाह

देने वाली हूँ। कदाचित् उससे आपको लाभ हो जाये और अपना संकट दूर हो जाये। साथ ही इससे परस्पर विश्वास भी बढ़ेगा।

७. अपने घर की गुप्त बात दूसरे के अर्थात् मित्र आदि के समक्ष प्रकट नहीं करनी होगी। लोगों की मनोवृत्ति प्रायः यह होती है कि वे दूसरे घर की छोटी-सी बात 'तिल का ताड़' की उक्ति के समान बड़ी करके अफवाह फैला देते हैं।

नोट - उक्त वर-वधू की ७-७ प्रतिज्ञाओं को ही आधुनिक भाषा में परिस्थिति को देखकर सम्मिलित रूप से निम्न प्रकार दोनों के लिए सात प्रतिज्ञाएँ प्रचार में आने योग्य हैं।

वर-वधू के लिए महत्वपूर्ण ७ प्रतिज्ञाएँ—

१. जीवनपर्यन्त साथ रहते हुए सहनशील और कर्मवीर बनकर एक-दूसरे के लिए जीवित रहना-जीवन से निराश न होना।

२. दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने और गृहस्थजीवन के निर्माण में भीतर का उत्तरदायित्व नारी को और बाह्य जीवन का उत्तरदायित्व पुरुष पर है।

३. एक-दूसरे के परिवार के सदस्य बनकर सबके स्नेह और आदर के पात्र बनना। विनय, सेवा करना एवं सद्व्यवहार से घर और ससुराल को स्वर्ग बनाना।

४. परस्पर स्नेह, अभिन्नता, आकर्षण, विश्वास बना रहे, इसके उपाय आचरण में लाना। पति के लिए पत्नी सर्वाधिक सुन्दर व प्रिय और पत्नी के लिए पति परमाराध्य रहे।

५. वधू को कुल वधु (सीता, अंजना, सुलोचना आदि के समान) और वर को कुलपुत्र (राम, जयकुमार, सुदर्शन आदि के समान) बनना जिनसे घर का सम्मान, गौरव, प्रतिष्ठा, कीर्ति बनी रहे वैसे काम करना। निर्व्यसनी, शीलवान और विवेकी बनना।

६. जिनेन्द्रदेव, गुरु, शास्त्र की अर्चना एवं साक्षीपूर्वक विवाह सम्पन्न हो रहा है उनमें श्रद्धा बनाये रखें, इससे बुराइयों से बचने में बल मिलता रहे। आत्महित (वीतरागता) की ओर दृष्टि रखें।

७. समाज, जनता और राष्ट्र की सेवा में दोनों परस्पर सहयोग से आगे बढ़ें। विलासिता से बचें।

इन सात प्रतिज्ञाओं को दोनों स्वीकार करें।इनके सिवा और भी कोई खास बात हो तो विवाह के पहले स्पष्ट कर लेना चाहिए। जिससे दाम्पत्य जीवन आजीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो। सच यह है कि अपने साफ और शुद्ध परिणाम से ही संबंध अच्छा रह सकता है।

सप्तपदी के पश्चात् वर को आगे करके सातवाँ फेरा कराया जाये और अपने पहले के स्थान पर जब आवें तब वे पति-पत्नी के रूप में होकर यानि स्त्री-पति के बाँयें ओर पति-स्त्री के दाहिने ओर बैठे। इस अवसर पर स्त्रियाँ मंगलगीत गावें।

उक्त सात फेरे या भाँवर सात परम स्थानों की प्राप्ति के द्योतक हैं। आगमानुसार संसार में (१) सज्जातित्व (२) सद्गृहस्थत्व (३) पारिव्राज्य (४) सुरेन्द्रता (५) साम्राज्य (६) आर्हंत्य और (७) निर्वाण ये सात परम स्थान माने गये हैं।

सातवें फेरे में यह मंत्र बोलें और अर्घ्य चढ़ावें।

'ॐ ह्रीं निर्वाण परमस्थानाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा'

सात फेरे होने पर गृहस्थाचार्य नवदम्पत्ति पर निम्न प्रकार मंत्र द्वारा पुष्प क्षेपण करें—

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवः शान्तिं पुष्टिं च कुरुत कुरुत स्वाहा।

यहाँ पर संक्षेप में गृहस्थ जीवन के महत्व पर उपदेश देकर यथाशक्ति दोनों पक्ष की ओर से मंदिर-तीर्थ आदि के लिए दान की घोषणा कराकर यथास्थान भिजवाने का प्रबंध कर देना चाहिए।

इसके बाद कन्या पक्ष की ओर से वर को तिलकपूर्वक कुछ राशि और श्रीफल भेंटकर गठबंधन छुड़ा देना चाहिए।

विशेष ज्ञातव्य—

१. विवाह के दिन कन्या के रजस्वला हो जाने पर कन्या से पाँचवें दिन पूजन-हवन आदि विवाह की विधि कराना चाहिए। विवाह विधि जहाँ तक संभव हो तो दिन में ही किया जाना चाहिए।

२. नवदेवता पूजन में अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिनालय ये ९ देवता हैं।

३. गुरु पूजा में ऋद्धियों की स्थापना के लिए "ॐ बुद्धिचारण विक्रियौषध-तपोबलरसाक्षीणमहानसचतुःषष्टि ऋद्धिभ्यो नमः" यह मंत्र कागज पर केसर से लिखकर नीचे की कटनी पर रख देना चाहिए।

४. विवाह के मुहूर्त निकालने आदि में और अन्य ग्रहादिदोष को दूर करने के लिए जो पूजा आदि शांति के उपाय ज्योतिषी बताते हैं उनके उपाय जैनशास्त्रानुसार ही करना चाहिए। नवग्रह शांति विधान के अनुसार विवाह के समय जिनेन्द्र पूजा करा देना चाहिए और विशेष करना हो तो नवग्रह शांति विधान का मण्डल मंडवाकर "ॐ ह्रीं अर्हम् अ सि आ उ सा सर्वविघ्न शांतिं कुरु कुरु स्वाहा" इस मंत्र की ग्रह के हिसाब से यथाशक्ति जाप व विवाह के समय आहुति करा देना चाहिए।

नव दम्पत्ति के प्रति— आप दोनों गार्हस्थ जीवन में प्रविष्ट हुए हैं। अपने मानव जीवन को पवित्र और सफल बनाने के लिए ही यह क्षेत्र आपने चुना है। इसको आनन्दपूर्ण और सुखमय बनाना आपके ही ऊपर निर्भर है। यह केवल इन्द्रिय भोग भोगने के लिए नहीं, वरन् संयमपूर्वक सदाचार और शील की साधना के उद्देश्य से आपने अंगीकार किया है। आप दोनों एक-दूसरे के प्रति तो जवाबदार हैं ही, पर स्व-धर्म, स्व-समाज की और स्व-देश की सेवा का दायित्व भी आप पर आ पड़ा है। यह गृहस्थ का भार बहुत बड़ा और अनेक संकटों से युक्त हो सकता है। गृहस्थ अवस्था में आने वाली अनेक आपत्तियों से घबराकर गृह-विरत हो जाने के बहुत उदाहरण मिलेंगे परन्तु हमें आशा है कि आप जीवन की सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होंगे। समस्त कठिनाइयों को सहन करते हुए उत्तरोत्तर प्रगतिपथ पर दृढ़ रहना आपका कर्तव्य होगा।

पुराणों में उल्लिखित जयकुमार-सुलोचना, राम-सीता या अन्य किसी के दाम्पत्य जीवन के आदर्श को आप अपने सामने रखें। हमारी यह शुभकामना है कि उन्हीं के समान भावी पीढ़ी आपका भी उदाहरण अपने समक्ष रखें।

आप दोनों यौवन के वेग में न बहकर अपने कुल के सम्मान का ख्याल रखते हुए गौरवमय यशस्वी जीवन व्यतीत करें। आपका पारस्परिक एवं पारिवारिक-सामाजिक व्यवहार न्याय एवं नैतिकतापूर्ण हो।

पति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को सहयोगिनी मानकर उसे ऊँचा उठाने के साधन सदा जुटाता रहे और पत्नी-पति के हर कार्य को सफल बनाने में पूरा योगदान देती रहे। दोनों भौतिकता में न लुभाकर आध्यात्मिकता के रहस्य को भी समझें, इसी में उन्हें यथार्थ सुख और शांति की प्राप्ति होगी। इसके लिए प्रतिदिन देवदर्शन, गुरुदर्शन, पूजन, सामायिक और स्वाध्याय भी आवश्यक है। हमारी हार्दिक मंगल कामना है कि आपकी यह जोड़ी दीर्घकाल तक अखण्ड बनी रहे।

विवाह के पश्चात्— जो स्त्री-पुरुष विवाह करते हैं, उन्हें गार्हस्थ जीवन के महत्व को समझकर संयम के साथ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को परस्पर अविरोध रूप से सेवन करना चाहिए। अपनी आजीविका के साधन जुटाते हुए न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करना भी गृहस्थ का कर्तव्य है। अर्थ के बिना लोक यात्रा नहीं चल सकती परन्तु अर्थ के पीछे पड़कर धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। जीवन में सदाचार और प्रामाणिकता का बड़ा महत्व है। चाहे युवा, प्रौढ़ या वृद्ध अवस्था कोई भी हो, उसमें इस लोक की सफलता का और परलोक का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जीवन के साथ मरण तो अवश्यंभावी है। मरण अच्छा उसी का होता है जिसका जीवन अच्छा रहा हो। मृत्यु मालूम नहीं कब आ जावे इसलिए हमेशा सावधान रहना चाहिए। जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत करते हुए निराकुलता का भी अनुभव किया जावे, जिससे पापों से बचकर शुभोपयोग का वातावरण उपलब्ध हो सके। विदेश में लोग विवाह करना अच्छा नहीं समझते, बिना विवाह किये वर्षों तक वे अनेक अविवाहित महिलाओं के साथ मित्र के रूप में रहते हैं। बिना विवाह किये पुरुष और महिला के साथ में रहने से वहाँ ब्रह्मचर्य का व्यवहार नहीं निभाया जाता है। संयुक्त परिवार की प्रथा वहाँ नहीं होने से वृद्धावस्था में कोई सहारा नहीं रहता। विवाह करके भी वहाँ तलाक होता रहता है इसलिए भारत के आदर्श का विचार कर यदि ब्रह्मचर्यपूर्वक नहीं रह सकते तो विवाह करके एक पत्नी व्रत पालने में ही सुख और शांति मिलेगी। अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा में कृतज्ञता प्रगट करने का भी कम महत्व नहीं है, क्योंकि भविष्य में हमें भी वृद्ध और रोगी बनकर अपने पुत्रों से अपेक्षा होती है।

व्यक्तिगत जीवन जीने के बजाय समाज और जनता के संपर्क में भी आना चाहिए। अपनी शक्ति अनुसार समाज सेवा और जनता की सेवा करते रहकर यशस्वी बनना चाहिए, ताकि लोग सदैव याद करते रहें।

(5)

गर्भपात — माँ की ममता पर कुठाराघात

जहाँ जैन एवं वैदिक शास्त्रों में सौभाग्यवती पतिव्रता नारी तथा कुमारी कन्याओं को महान् पवित्रता तथा व्यवहारिक मंगल का प्रतीक माना गया है, वहीं वैदिक पुराणों में भी नारी को देवी के रूप में स्वीकार किया गया है। मनुस्मृति में तो यहाँ तक कह दिया है कि—

"एक आचार्य दस अध्यापकों से श्रेष्ठ है, एक पिता सौ आचार्यों से श्रेष्ठ है और एक माता एक हजार पिताओं से श्रेष्ठ है।"

इतनी सारी विशेषताओं से समन्वित एक नारी अब अपनी स्वाभाविक ममता का गला घोंटकर गर्भपात जैसे क्रूर कर्म की ओर आगे बढ़ती है तब उसे वर्तमान युग में क्या संज्ञा प्रदान की जाए ? इसके बारे में आप स्वयं चिंतन करें।

आज विश्व में १० से १५ प्रतिशत विवाहित जोड़े सन्तानहीन हैं। विभिन्न सर्वेक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि सन्तानहीनता की यह व्याधि दिनों-दिन तेजी से बढ़ रही है तथा दूसरी ओर गर्भपात का प्रचलन भी तेजी से बढ़ रहा है जो धर्मप्रधान भारत देश के लिए सबसे अधिक विचारणीय विषय बन गया है।

जैसे-जैसे विज्ञान प्रगति कर रहा है मानव के विचार व व्यवहार पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। मानव मानव का भक्षक कैसे बन सकता है यह तथ्य गर्भपात करवाने की इच्छा से ही स्पष्ट हो जाता है। विभिन्न सरकारी व गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा एकत्रित किये गये आँकड़े इस बढ़ती महामारी का स्पष्ट प्रमाण हैं।

डॉ. हिन्शा द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार पूरे विश्व में करोड़ों गर्भपात प्रतिवर्ष किये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि एक राज्य की आबादी के बराबर मानव संख्या को प्रतिवर्ष मानव द्वारा ही मौत के घाट उतार दिया जाता है। इन करोड़ों गर्भपातों में अत्यन्त घातक किस्म की गैर कानूनी विधियों को काम में लाया जाता है।

एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार विश्व भर में गर्भधारण करने वाली महिलाओं में से २४.३२ प्रतिशत तक महिलाएँ गर्भपात करवाती हैं अर्थात् एक तिहाई जिन्दगियाँ इस संसार में आने से पहले ही अपने ही माता-पिताओं द्वारा मौत के घाट उतार दी जाती हैं। कैसा घिनौना है यह व्यवहार अपनों का अपनों के प्रति, मानव का मानव के प्रति ?

यह गर्भपात की समस्या दिनों-दिन विकराल रूप धारण करती जा रही है। अनेक सर्वेक्षण के द्वारा दिये गये आँकड़े स्पष्ट रूप से यह इंगित करते हैं कि मानवता को खतरा एटमबम से नहीं है बल्कि गर्भपात के इस घिनौने कृत्य से है। मानवता के विनाशक इस पैशाचिक खतरे की तरफ ध्यान देने की आवश्यकता है, जो कि अंदर ही अंदर फैलकर मानव की मूलभूत विशेषताओं प्रेम, वात्सल्य व संरक्षण की भावनाओं को हिंसक प्रवृत्तियों में बदल रहा है।

तथाकथित वैज्ञानिक प्रगति द्वारा कुछ औषधियाँ ऐसी इजाद की गई हैं कि उनका मुँह से सेवन कर स्वयं द्वारा

गर्भ समापन किया जा सकता है। यह सब मानवता, नैतिकता, मर्यादा और पारस्परिक विश्वास के लिए जहर के समान है अतः समय रहते विवेकशील व्यक्तियों को ऐसे कुकृत्य को इस विश्व से समाप्त करने का प्रण करना होगा।

गर्भ हत्या-मानव हत्या

आज विज्ञान ने भली-भांति सिद्ध कर दिया है कि गर्भ का जीव भी एक स्वतंत्र मानव-प्राणी है। गर्भधान के समय ही एक ऐसा भिन्न व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाता है जिसमें अनेक वर्षों तक प्रगति करने की क्षमता होती है। उस व्यक्तित्व की ऊँचाई, बौद्धिक स्तर, चलने-बढ़ने का तरीका, खून की जाति आदि भी तभी निश्चित हो जाते हैं। प्रथम क्षण से ही उसकी विकास यात्रा प्रारंभ हो जाती है। यह उत्तरोत्तर विकास-क्रिया जीव के बिना असंभव है। जड़-पदार्थ से जीवन संभव नहीं।

गर्भ में मानव-जीव का स्वतंत्र विकास क्रम—

प्रथम सप्ताह—गर्भाधान के पहले सप्ताह में माता के गर्भाशय में नया जीव पैदा होकर विकसित होने लगता है।

दूसरा सप्ताह—माता द्वारा ग्रहण किये गये भोजन से नये जीव का पालन-पोषण होने लगता है।

तीसरा सप्ताह—आँखे, रीढ़, मस्तिष्क, फेफड़े, पेट, जिगर, नरवस सिस्टम, आतें, गुर्दे आदि की निर्माण प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। अठारहवें दिन दिल की धड़कन प्रारंभ हो जाती है।

चौथा सप्ताह—सिर बनने लगता है। रीढ़ की पूरी बनावट-सुषुम्ना बनकर पूरी हो जाती है। हाथ-पैर बनने लगते हैं। दिल की धड़कन बराबर जारी।

पाँचवां सप्ताह—छाती और पेट तैयार होकर एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। सिर, आँखें, आँखों पर लैंस और दृष्टिपटल (Retina) आ जाता है। कान बन जाते हैं। हाथों और पैरों पर उंगलियाँ फूटने लगती हैं।

छठा और सातवाँ सप्ताह—बच्चे के शरीर के सब अंग-सिर, चेहरा, मुँह, जीभ आदि बनकर तैयार हो जाते हैं। बच्चे के लिंग का पता लग सकता है। वह अपने अंग हाथ-पाँव हिला सकता है। गुदगुदाने से बच्चे में प्रतिक्रिया होती है।

आठवाँ सप्ताह—बच्चा स्पर्श व दर्द का अनुभव करने लगता है। मुट्ठी बंद कर सकता है। अंगूठा चूस सकता है। तैरने की मुद्रा में हिलता है। जागने व सोने की क्रिया करने लगता है। किसी वस्तु को छुआए जाने पर उससे बचने का प्रयत्न करता है। उसके दिल की धड़कन अल्ट्रासोनिक स्टेथोस्कोप पर सुनी जा सकती है। उसके अंगूठे की छाप वैसी हो जाती है जैसी उसकी ८० वर्ष की उम्र में होगी। मस्तिष्क की लहरों और तरंगों को मापा जा सकता है।

ग्यारहवाँ-बारहवाँ सप्ताह—शरीर के सभी तंत्र चालू। नसों व मांसपेशियों में सामंजस्य स्थापित होता है। उंगलियों पर नाखून उगने लगते हैं। इन तीन महीनों में बच्चे का पूरा गठन हो जाता है, इसके बाद नौ मास तक लगातार बढ़ता रहता है। फिर उसका जन्म होता है।

गर्भ के बच्चे को मारने के ४ तरीके

१. चूषण पद्धति (Vacuum Suction)—पम्पिंग मशीन द्वारा गर्भ के बच्चे के टुकड़े-टुकड़े करके कूड़ा-करकट की तरह बाहर खींच लिया जाता है।

२. फैलाव व निष्कासन विधि (Dilatation & Evacuation)—इसमें गर्भाशय के मुँह को खोलकर गर्भ के बच्चे को चाकू जैसे तेज धार वाले शस्त्र से टुकड़े-टुकड़े करके बाहर फेंक दिया जाता है।

३. जहरीली क्षार वाली पद्धति (Toxic-Salt Method)—एक लम्बी मोटी सुई गर्भाशय में भोंक दी जाती है, उसमें पिचकारी की सहायता से नमक का क्षार वाला जहरीला पानी छोड़ दिया जाता है। चारों ओर से घिरा बालक वह जहरीला पानी निगल जाता है। वह जहर खाए व्यक्ति की तरह तड़फने लगता है और घुट-घुटकर वहीं दम तोड़ देता है। फिर उसे गर्भ से बाहर निकाल लिया जाता है।

४. ऑपरेशन (चीरफाड़ विधि) (Operation Method)—ऑपरेशन विधि द्वारा पेट को चीरकर बच्चे को जिंदा ही बाहर निकाल लिया जाता है, फिर उसे आग में जलाकर मार दिया जाता है या उबलते पानी में डुबोकर मार दिया जाता है।

ज्ञातव्य है कि भारत में प्रतिवर्ष ५० लाख से अधिक गर्भ हत्याएँ हो रही हैं। यह संख्या दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। गर्भहत्या के कारण भारत में प्रतिवर्ष ५ लाख स्त्रियों की मौत हो जाती है। दिन-प्रतिदिन इस संख्या में भारी वृद्धि हो रही है। लाखों स्त्रियाँ जीवन भर गर्भपात के कारण भयंकर पीड़ा सहती हैं। शरीर रोगों का घर बन जाता है। सम्पूर्ण परिवार दुःखी रहता है। घर नरक बन जाता है। गर्भहत्या के कारण प्रायः स्त्रियाँ बाँझ बन जाती हैं, कारण निम्नलिखित हैं—

१. रोग संक्रमण (Infection)—गर्भपात के दौरान गर्भस्थ शिशु के शरीर का कोई कटा-फटा अंग या भाग गर्भाशय में बचा रह जाने के कारण या ऑपरेशन के समय कोई अन्य कमी रह जाने के कारण ट्यूबल इन्फेक्शन हो सकता है और स्त्री बांझ बन जाती है।

२. गर्भाशय में छेद होना (Perforation of the uterus)—गर्भपात के लिए प्रयोग किये गये औजार (Curette) से बच्चेदानी में छेद हो सकता है और परिणामस्वरूप उसे निकालना भी पड़ सकता है और इस तरह स्त्री हमेशा के लिए बांझ बन जाती है।

गर्भ हत्या पर बनी सच्ची फिल्म-Silent Scream में १० सप्ताह की गर्भस्थ बच्ची की मौत की भयानक चीख से सारा विश्व रो उठा—वर्ष १९८४ में 'नेशनल राईट्स टू लाईफ कन्वैन्शन' कनाटसिटी, मिसौरी में हुआ था। इसमें एक प्रतिनिधि Mrs. Sandy Ressal ने Dr. Bernard Nathanson के द्वारा एक Suction Abortion गर्भपात पर बनाई गई अल्ट्रासाउण्ड मूवी का जो विवरण दिया था, उसका संक्षेप मात्र ही यहाँ दिया जाता है। (उन्हीं के शब्दों में)

गर्भ की यह बच्ची अभी १० सप्ताह की थी। काफी चुस्त थी। अपनी माँ की कोख में खेलते, करवट बदलते और अंगूठा चूसते हुए हम उसे देख रहे थे। उसके दिल की धड़कन १२० की साधारण गति से धड़क रही थी। सब कुछ बिल्कुल सामान्य था परन्तु हमें तो गर्भहत्या पर वास्तविक फिल्म बनाने के लिए अब उसकी हत्या

करनी जरूरी थी। अब हम उस बच्ची को माँ के गर्भ से बाहर निकालने के लिए सक्शन पम्प द्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े करने में जुटे।

सक्शन पम्प द्वारा गर्भस्थ बच्ची की हत्या—जैसे ही सक्शन पम्प, उस नन्ही-मुन्नी प्यारी-प्यारी मासूम-गुड़िया सी बच्ची के टुकड़े-टुकड़े करने उस बच्ची की ओर बढ़ा, बच्ची बुरी तरह से डर गई। उसके दिल की धड़कन २०० तक पहुँच गई। वह बच्ची पीड़ा व दर्द के मारे छटपटाती हुई, कराहती हुई, सिकुड़-सिकुड़कर इधर-उधर घूम-घूमकर तड़फती हुई उस औजार से बचने का प्रयत्न करने लगी। आखिर उस बच्ची ने मुँह खोलकर जोर से चीखने का प्रयत्न किया, जिसे Dr. Nathanson द्वारा Silent Scream 'मूक चीख' के नाम से बताया गया है। अन्त में उस पम्प ने अपना काम शुरू कर दिया और उस मासूम बच्ची के हाथ, पैर, पेट, छाती, मुँह तथा सिर आदि के टुकड़े-टुकड़े करके गर्भ से बाहर फेंक दिये। चारों ओर खून ही खून फैल गया। यह दृश्य इतना भयानक, वीभत्स और घृणित था कि यदि कोई गर्भ हत्या करने वाला भी देख ले तो उसके भी दिल के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं और वह कभी भी गर्भहत्या करने का साहस न करे।

इस 'गर्भपात फिल्म' के निर्माता डॉ. नैथान्सन ने जब फिल्म को स्वयं देखा और जैसे ही उस बच्ची के टुकड़े-टुकड़े होते देखे और उस प्यारी बच्ची की दर्द भरी चीत्कार सुनी तो उनके दिल पर उस समय इतना जबर्दस्त वज्रपात हुआ कि वे हमेशा के लिए अपना क्लीनिक छोड़कर तुरंत भाग गए तथा फिर वे कभी वापिस नहीं आए।

१६ सप्ताह तक के भ्रूण में जीव नहीं होता, वह तो सिर्फ माँस का निर्जीव लोथड़ा (पिण्ड) मात्र ही है, यह वैज्ञानिक मान्यता इस फिल्म द्वारा बिल्कुल झूठी साबित हुई। हर गर्भपात में जीव हत्या अनिवार्य रूप से होती ही है।

गर्भपात से पुरुष-स्त्री का अनुपात बिगड़ गया—गर्भ में लड़कियों को ही मारने के कारण अब देश में प्रति हजार पुरुषों के पीछे ९१० स्त्रियों की संख्या रह गई है। हरियाणा में तो १९९१ की जनगणना के अनुसार महिलाओं का अनुपात प्रति हजार ८६५ था। यह संख्या दिन-प्रतिदिन तेजी से घटती जा रही है, परिणामस्वरूप देश भर में अनाचार, व्यभिचार, बलात्कार, वेश्यागमन, बहुपतिप्रथा आदि को बढ़ावा मिलेगा। एड्स जैसी महामारी गंभीररूप से फैलेगी। देश व समाज की बर्बादी निश्चितरूप से हो जायेगी।

अतः नरक का द्वार खोलने वाले इस महापाप से स्वयं को बचाना प्रत्येक श्रावक का पुनीत कर्तव्य है। सभी माता-बहनों को विशेषरूप से यह ध्यान रखना होगा कि हम कभी भी कृत-कारित-अनुमोदना किसी भी प्रकार से इस पाप को प्रश्रय नहीं दें क्योंकि आज का किया पाप निश्चितरूप से आज या कल हम ही को भोगना होगा। पंचेन्द्रिय जीव की संकल्पी हिंसा नरकों में ले जानी वाली है, जिससे हमें बचना ही है। कभी-कभी ऐसे सत्य उदाहरण भी देखे जाते हैं कि जिस गर्भस्थ शिशु को लड़की समझकर गर्भपात कराया जा रहा था और कदाचित् उसकी भ्रूणहत्या किसी कारण से नहीं की गई तो नवमास बाद उसने स्वस्थ पुत्र के रूप में जन्म लिया।

इंदौर एवं इलाहाबाद के किन्हीं संभ्रान्त परिवारों से ये साक्षात् जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं कि अल्ट्रासाउण्ड एवं सोनोग्रॉफी मशीन द्वारा बहू के गर्भ में बालिका भ्रूण जानकर भी घर के सास-ससुर ने भ्रूणहत्या करवाने का

तीव्र विरोध किया अतः भ्रूणहत्या बच गई, पुनः ९ माह पश्चात् बहू ने स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि मशीनों से किये गये निर्णय भी कदाचित् असत्य हो जाते हैं अतः अहिंसाप्रेमियों को मशीनों द्वारा भ्रूण परीक्षण नहीं कराना चाहिए।

जो भी हो, संसार का सुख पुत्र या पुत्री पर नहीं वरन् अपने किये कर्मों के आश्रित है। पापकर्म के उदय से जीवन भर पालन-पोषण किया गया पुत्र भी वृद्धावस्था में दुत्कार देता है और पुण्यकर्म के उदय से परायी हुई बेटी भी तन-मन-धन से सेवा करती है, अतः कर्म सिद्धांत पर अटल विश्वास रखते हुए पुत्र-पुत्री पर समान स्नेह रखें एवं गर्भपात जैसे कुकृत्य को समाज से तिरोहित करने का संकल्प लें।

मुक्तक

भारतीय संस्कृति की माँ पर, गीत अनेकों लिखे गये हैं।
माँ बच्चों की जाँ होती है, ये सूत्र अनेकों दिये गये हैं।।
यहाँ की माँ टच थेरेपी देकर बच्चों को सुलाती हैं।
कानों में ममता व प्यार का, रस घोल के उसे जगाती है।।1।।

उठो लाल! अब आँखें खोलो, पानी लाई हूँ मुँह धो लो।
ऐसा कहकर माँ सुबह सुबह, बच्चे की नर्स बन जाती है।।
बाथरूम से फिर बच्चे को, ताजा करके लाती है।
गरम गरम ब्रेकफास्ट कराकर, उसे स्कूल पहुँचाती है।।2।।

नये नये कपड़े पहनाकर, बच्चे की नजर उतारे माँ।
अपने लाल या गुड़िया को, स्नेह नजर से निहारे माँ।।
बच्चे में संसार है माँ का, बच्चों का संसार है माँ।
माँ बिन है संसार अधूरा, जग में असली प्यार है माँ।।3।।

इसीलिए माँ बनने वाली, बहनों को प्रेरणा है मेरी।
अपनी ममता बच्चे पर बरसाओ ये हैं विरासत तेरी।।
ममता और वात्सल्य के संग कर्तव्य का ध्यान सदा रखना।
भारतीय संस्कृति से ''चन्दनामती'' उन्हें जोड़े रखना।।4।।

(6)

क्या आप मंदिर जाते हैं ?

क्या आप मंदिर जाते हैं ? यदि हाँ, तो मंदिर जाकर किस प्रकार से अपने इष्टदेव का अभिवादन करते हैं ? उनके सामने जाकर क्या पढ़ते हैं ? खाली हाथ जाते हैं या कुछ लेकर जाते हैं ? उन्हें देखकर मन में क्या चिन्तन आता है ? किस विधि से उनकी पूजा, स्तुति, वन्दना अथवा दर्शन करते हैं ? इत्यादि बातों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

यदि आप मंदिर नहीं जाते हैं ? तो जाने का मन बनाइये क्योंकि हर सम्प्रदाय ने अपनी-अपनी श्रद्धा के प्रतीक मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारों का निर्माण किया है। जिसमें क्षण दो क्षण जाकर वे अपने इष्टदेव का स्मरण कर शान्ति का अनुभव करते हैं। आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है—

श्री मुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत्।
आलोकन विहीनस्य, तत्सुखावाप्तयः कुतः।।

अर्थात् अन्तरंग, बहिरंग श्री (लक्ष्मी) को प्राप्त जिनेन्द्र भगवान के मुख का अवलोकन करने से (दर्शन करने से) श्री—लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तथा जो जिनेन्द्र भगवान के मुख का अवलोकन नहीं करते हैं उन्हें उस लक्ष्मी का सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी का सुख उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता है।

आज भी जगह-जगह नये-नये मंदिरों के निर्माण हो रहे हैं तथा पुरातन पुरुषों के द्वारा बनाए गए प्राचीन अनेक मंदिर बने हुए हैं जिनको अतिशय वृद्धिंगत करना प्रत्येक जैन मानव का परम कर्त्तव्य है। तात्पर्य यह है कि मंदिर पावनता के प्रतीक हैं वहां जाने की भावना करने मात्र से अनेक उपवासों का फल प्राप्त होता है। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से तो असंख्य उपवासों का फल मिलता है।

दर्शन कैसे करें ?

२६ जनवरी एवं १५ अगस्त आदि राष्ट्रीय पर्वों पर अपने देश के राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री को सलामी देने के लिए जल, थल आदि सेनाओं के कमान्डर एवं स्कूल के बच्चे आदि सभी महीनों पूर्व से अभ्यास करते हैं तब उनकी सलामी राष्ट्रपति स्वीकार करते हैं। जब एक राष्ट्रपति को सलामी देने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है तब आप स्वयं सोचें कि त्रैलोक्य के अधिपति का अभिवादन करने हेतु भी आपको अभ्यास की आवश्यकता है या नहीं ?

कैसे करें अभ्यास ?

सबसे पहले आप घर से स्नान करके धुले स्वच्छ वस्त्र पहन कर हाथों में चावल तथा फल आदि लेकर शुद्ध मन से मंदिर के मार्ग पर चलें और मंदिर के द्वार पर जाकर पैर धोएं पुनः मंदिर में घुसते हुए निम्न पाठ पढ़ें—

ॐ जय जय जय, निःसही निःसही निःसही, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

पुनः हाथ जोड़कर वेदी के सामने खड़े होकर धीमे सुरीले स्वर में ये पंक्तियाँ बोलें—(शेर छंद)

निःसंग हो हे नाथ आप दर्श को आया।
स्नान त्रय से शुद्ध धौत वस्त्र धराया।।
त्रैलोक्य तिलक जिनभवन की वंदना करूँ।
जिनदेव देव को नमूं सम्पूर्ण सुख भरूं।।१।।

और यह पाठ पढ़कर भक्तिपूर्वक वेदी पर चावल के पाँच पुंज चढ़ावें।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ऐसे पाँचों पद बोलते हुए क्रम से बीच में, ऊपर, दाहिनी ओर, नीचे और बाईं ओर ऐसे पाँच पुंज चढ़ावें। जैसे—

उसके बाद घुटने टेक कर, हाथ जोड़कर, मस्तक भूमि पर लगाकर पंचांग नमस्कार करें और खड़े होकर भगवान की वीतराग मुद्रा का अवलोकन करते हुए भावविह्वल होकर निम्न पाठ पढ़ें—

(शेर छन्द)

हे नाथ आप दर्श करके हर्ष हो रहा।
आनन्द अश्रु झर रहे सब पाप धो रहा।।
जीवन सफल हुआ मैं आज धन्य हो गया।
प्रभु भक्ति से निज सौख्य में निमग्न हो गया।।१।।

जितने हर्षित हृदय से भगवान का दर्शन किया जाएगा, उतना ही अधिक पुण्य बन्ध होगा। दर्शन करते समय कभी आँखों को बन्द नहीं करना चाहिए क्योंकि "दृश" धातु से "दर्शन" शब्द बनता है जिसका अर्थ है देखना। ध्यान करते समय आँखों को बंद किया जाता है और दर्शन के समय अपलक दृष्टि से भगवान को निरखा जाता है जिससे आँखों के रोग तो नष्ट होते ही हैं, भगवान की वीतरागी छवि भी हृदय में अपना प्रभाव अवश्य डालती है।

इस प्रकार जितनी वेदियां मंदिर में हों, उन सबके पास जाकर पांच-पांच पुंज चढ़ाकर घुटने टेककर पंचांग नमस्कार करें और यदि आपके पास समय है तो बैठकर १-२ माला फेर लें, ध्यान का अभ्यास हो तो १०-५ मिनट पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यान करें, शास्त्र का स्वाध्याय करें, पुनः मंदिर से वापस जाते समय अभिषेक का गन्धोदक लेना न भूलें क्योंकि वह गन्धोदक महान पवित्र होता है, जिसे लगाने से शारीरिक व्याधियाँ नष्ट होती हैं। गन्धोदक को मस्तक, ललाट, गले, आँख आदि उत्तमांगों में लगाना चाहिए। उसे लगाते समय निम्न श्लोक बोलना चाहिए—

निर्मल से निर्मल अति, अघनाशक सुखसीर।
वन्दूं जिन अभिषेक कृत, यह गन्धोदक नीर।।

आपके शहर के मंदिर अथवा धर्मशाला में यदि कोई मुनि-आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिका विराजमान हैं तो उनके पास भी जाकर विनयपूर्वक चावल के तीन पुञ्ज चढ़ाकर नमस्कार करना चाहिए। साधु चूंकि रत्नत्रय के पथ पर चल रहे हैं अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र बोलकर उनके समक्ष तीन पुञ्ज चढ़ाए जाते

हैं। हाँ, उनके नमस्कार के शब्दों में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है ! जैसे—मुनिराजों को नमस्कार करते समय नमोस्तु बोला जाता है, आर्यिकाओं को वंदामि बोलकर नमस्कार किया जाता है इसी प्रकार ऐलक, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं को इच्छामि कहकर नमस्कार करना चाहिए।

विधिवत् घुटने टेककर पंचांग नमस्कार करने से अथवा गवासन से बैठकर पंचांग नमस्कार करने से पैर और घुटने सम्बन्धी रोगों में आराम मिलता है तथा पिछले तमाम अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है। कपड़ों की स्वच्छता, उनकी क्रिच खतम न होने पावे अथवा आलस्यवश आज खड़े-खड़े हाथ जोड़कर भगवान का दर्शन करने की परम्परा बड़ी तेजी से हमारी समाज में प्रविष्ट हो गई है किन्तु यह स्वस्थ परम्परा नहीं है। इस नमस्कार से पूरी विनय का पालन नहीं हो पाता है, यही कारण है कि देवदर्शन का जो फल मिलना चाहिए वह नहीं मिल पाता है। जिनेन्द्र प्रभु, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरुओं के दर्शन करके प्रत्येक अंग को धन्य समझना चाहिए। जैसा कि प्राचीन दर्शन पाठ में पढ़ा जाता था—

''अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य, देव! त्वदीय चरणाम्बुजवीक्षणेन।
अद्य त्रिलोक तिलक प्रतिभासते मे, संसारवारिधिरयम् चुलुकप्रमाणम्।।''

इसका हिन्दी पद्यानुवाद करती हुई पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है—

''हे भगवन् ! नेत्रद्वय मेरे, सफल हुए हैं आज अहो।
तव चरणाम्बुज का दर्शन कर, जन्म सफल है आज अहो।।
हे त्रिभुवन के नाथ आपके दर्शन से मालुम होता।
यह संसार जलधि चुल्लू जल सम हो गया अहो ऐसा।।''

अर्थात् इन शब्दाञ्जलियों के माध्यम से भक्त श्रावक अपने जन्म को सफल करता है तथा अपने भव-भव के दुःखों को समाप्त करने की अकाट्य भावना जागृत करता है।

जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन का महत्व

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के दर्शन की भावना करते ही दो उपवास का फल मिल जाता है। चलने की अभिलाषा करते ही तीन उपवास का फल, चलने का आरंभ करते ही चार उपवास का फल, चलते-चलते पाँच उपवास का फल, कुछ दूर चले आने पर बारह उपवास का फल, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पन्द्रह उपवास का फल, मंदिर के शिखर का दर्शन करते ही एक मास के उपवास का फल, मंदिर में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का फल, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का फल, तीन प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से हजार वर्ष के उपवास का फल मिलता है। पुनः जिनप्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवास का फल प्राप्त होता है। यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर और कोई उत्तम पुण्य नहीं है।

—पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 99

अध्याय-2
अहिंसा एवं शाकाहार

(1)

अहिंसा एवं शाकाहार : भारतीय संस्कृति का आधार

हमारी इस शस्यश्यामला भूमि पर आदिकाल से ही मानव ने आदि ब्रह्मा, परमपिता भगवान् ऋषभदेव के द्वारा सिखाई गई जीवनकला के अनुसार अन्न, फल, सब्जी, मेवा आदि खाद्य पदार्थों को खेतों में अपने परिश्रम द्वारा उत्पन्न कर "कृषि" कला का परिचय प्रदान किया है। जिसके आधार पर हम सभी शाकाहारी जीवन जीकर अपनी "भारतीय संस्कृति" पर गौरव करते हुए दुनिया भर की दृष्टि में सदाचारी के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

परन्तु इसे कलियुग का अभिशाप कहा जाए अथवा पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण ? इसे मानवीय अत्याचार कहें अथवा अत्याधुनिक बनने की होड़ में छिपा अमानुषिक व्यवहार ? समझ में नहीं आता कि राम, कृष्ण, महावीर के जिस देश में सदैव दूध की नदियाँ बहती थीं, खेतों में सुगन्धित हरियाली लहराती थी, सड़क के आजू–बाजू वृक्षों पर लगे स्वादिष्ट फल मन को मुग्ध करते थे तथा जहाँ गरीब, अमीर सभी के घर गोधन से समाविष्ट रहते थे, प्रत्येक घरों में दूध की पौष्टिक सुगन्धि महकती थी और बच्चे, बूढ़े सभी मिल–बांटकर काजू, बादाम, मूंगफलियाँ खाते–खाते मनोरंजन करते तथा रामलीलाएँ देखा करते थे किन्तु आज बीसवीं सदी के समापन दौर पर इस उपर्युक्त जीवन प्रक्रिया में बहुत तेजी से विकृति आ रही है। जैसे पशुपालन केन्द्रों के स्थान पर लगभग समस्त राज्यों में अनेक बड़े–बड़े बूचड़खाने खुल गये हैं, जिनसे सतत खून की नदियाँ बहकर धरती माता की छाती कम्पित कर रही हैं। हरे–भरे खेतों की जगह धरती का तमाम–प्रतिशत भाग मुर्गी पालन केन्द्र (पॉल्ट्री फार्म), मत्स्यपालन, सुअरपालन, कछुवा पालन आदि केन्द्रों के रूप में कृषि के नाम को कलंकित कर रहा है जिसके कारण सड़क पर चलते पथिकों को वहाँ से निकलती दुर्गन्ध के कारण नाक बन्द करके द्रुतगति से कदम बढ़ाने पड़ते हैं। यदि भूल से कभी उधर नजर पड़ जाए तो पेड़ों के फलों की जगह अण्डों के दुर्दर्शन होने लगते हैं जो हृदय को दुर्गन्धित घृणा से पूरित कर देता है।

गरीब–अमीर सभी भारतीयों के कुछ प्रतिशत घरों में अब प्रातःकाल से ही गरम–गरम दूध की जगह नशीली चाय और उसके साथ अण्डों से बनी वस्तुएँ—बिस्कुट, केक, पेस्ट्री आदि तथा डायरेक्ट अण्डों का मांसाहारी नाश्ता और भोजन प्रचलित हो गया है जो बालक, वृद्ध सभी के मन और तन को विकृत कर रहा है। इसी प्रकार गाँव–गाँव की चौपालों पर अब सामूहिक रूप से देशी–विदेशी शराबों का दौर तथा जुआ व्यसन का वृद्धिंगत रूप देखने में आने लगा है।

ऐसी न जाने कितनी विकृतियाँ भारतीय समाज में व्याप्त हो गई हैं जो परिवार, समाज एवं देश के पतन का कारण तो हैं ही, भारत को पुनः परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ने की भूमिका भी निभा रही हैं। देश के सम्भ्रान्त वर्ग को इस ओर शीघ्रता से ध्यान देना होगा अन्यथा भारतीयता की रीढ़ टूटते देर नहीं लगेगी और लकवायुक्त मनुष्य की भाँति भारत पुनः दाने-दाने का मोहताज होकर दूसरे देशों की ओर दयनीय मुद्रा से ताकता हुआ नजर आएगा।

भगवान ऋषभदेव के वंशज एवं भारतीय होने के नाते हमें यह अटल विश्वास रखना चाहिए कि पेड़ से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु शाकाहारी और पेट से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुएं मांसाहारी होती हैं। शाकाहारी वस्तु में खून, पीव, मांस, हड्डी आदि का सम्मिश्रण नहीं होता है तथा मांसाहारी वस्तुएं अण्डा, मछली सभी खून, मांस वगैरह का पिण्ड होने से अखाद्य ही कहलाती हैं। इन्हें शाकाहारी कभी भी नहीं कहना चाहिए और न ही ऐसे उत्पत्ति स्थलों को कृषि संज्ञा प्रदान करनी चाहिए।

आधुनिक युग में इन उपर्युक्त हिंसक केन्द्रों एवं राज्य सरकारों के द्वारा जो प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा है तथा विभिन्न बैंकों के द्वारा इन व्यापार केन्द्रों को कृषि के नाम पर ऋण दिये जा रहे हैं वह तीव्र पापबन्ध के कार्य हैं। इन क्रियाकलापों से भारत देश की गरीबी कभी भी मिट नहीं सकती है प्रत्युत उसकी आर्य संस्कृति का विनाश होकर क्रूर म्लेच्छ संस्कृति का विकास होगा।

हम सबके लिए यह अत्यन्त विचारणीय विषय है कि जिस देश में हमेशा आध्यात्मिकता और अहिंसा धर्म का विदेशों में निर्यात होता था, जिसके कारण हमने आजादी प्राप्त की थी उस देश से आज मांस का निर्यात करना अथवा अण्डों को शाकाहार कहकर जनता को स्वतंत्र रूप से मांसाहार की प्रेरणा देना क्या अपनी संस्कृति पर कुठाराघात नहीं है ? धरती माता आखिर इन पशु अत्याचारों को कितना सहन कर सकती है? उस माँ की ममता पर मानव और पशु सभी का समान अधिकार है। यहाँ जब मनुष्य अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके पशुओं पर अत्याचार करने लगा, उनकी गर्दनों पर छुरी चलाने लगा तो धरती माँ काँप उठी और उसने भूकम्प, प्रलय आदि अनेक प्राकृतिक प्रकोपों के द्वारा मनुष्य को दण्ड देने का निर्णय ले लिया अर्थात् इन हिंसात्मक कृत्यों के कारण ही आज जगह-जगह भूकम्प, बाढ़, गैसकाण्ड, रेल दुर्घटना आदि अनेक दुर्घटनाएँ घटित हो रही हैं जिससे मानव विनाश के कगार पर पहुँच गया है।

आधुनिकता की होड़ में निरन्तर आगे बढ़ रहे भारतीय नागरिकों की स्थिति को देखते हुए परम पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री १०५ ज्ञानमती माताजी ने सन् १९९८ से २००१ तक भगवान ऋषभदेव समवसरण रथ का श्रीविहार सारे देश में करवाया। भारत के प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी के करकमलों से इसका प्रवर्तन राजधानी दिल्ली से हुआ जिसने प्रत्येक ग्राम, नगर और शहर में अहिंसा, शाकाहार और पारस्परिक मैत्री का सन्देश प्रदान करता हुआ जन-जन तक आदिपुरुष तीर्थंकर ऋषभदेव का संदेश पहुँचाया।

देश से बाहर मांस का निर्यात करना आर्य संस्कृति के साथ बहुत बड़ा विश्वासघात और नैतिक अपराध है। जैसे कोई नारी अपनी अस्मिता को बेचकर यदि पैसा कमाने का धन्धा करती है तो उसे सभी दुराचारिणी एवं वेश्या के नाम से बुरी नजरों से देखते हैं, उसी प्रकार भारत देश अपनी अस्मितारूप पशुधन को क्रूरतापूर्वक पश्चिमी देशों के हाथों बेचकर क्या अन्य देशों की नजरों में हिंसक क्रूर नहीं बन गया है ? क्योंकि राष्ट्रपति महात्मा गांधी ने भी कहा था कि—

"किसी भी राष्ट्र की महानता और उसकी नैतिक प्रगति का मापदण्ड पशुओं के प्रति उसका व्यवहार है।"

बन्धुओं ! हम जब इतिहास के पन्ने पलट कर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि आजादी प्राप्त होने के बाद देश की पशु सम्पदा का जो बेहिसाब संहार हुआ है उसके लिए भविष्य का इतिहास सत्तारूढ़ों को कभी माफ नहीं करेगा। पुराने सरकारी आंकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत के स्वतन्त्र होने के चार वर्ष बाद तक देश से मांस का निर्यात नहीं हुआ पुनः सन् १९५१ से मांस और चमड़े का निर्यात लघु स्तर पर प्रारम्भ हुआ तो सन् १९६१ से उसमें लगातार वृद्धि हुई। वर्तमान की स्थिति तो यह है कि देश के वैध और अवैध कत्लखानों के द्वारा लगभग करोड़ों पशुओं को मौत के घाट उतारा जाता है। केन्द्रीय पर्यावरण मंत्रालय के द्वारा प्रस्तुत की गई एक रिपोर्ट की भविष्यवाणी है कि—

"कत्ल और निर्यात की रफ्तार यदि यही रहती है तो कुछ ही दिनों में भारत से बकरी या भेड़ का नामोनिशां मिट जाएगा।"

मांस निर्यात से होने वाली भीषण हानियों से देश की जनता को परिचित कराने हेतु डॉ. नेमीचन्द जैन, इन्दौर ने "मांस निर्यात १०० तथ्य" नाम की एक ३२ पृष्ठीय सचित्र पुस्तक लिखकर समाज पर अनन्य उपकार किया है। इस पुस्तक को मंगाकर समस्त अहिंसाप्रेमी समाज को उसका सूक्ष्मता से अवलोकन कर अपने निकटवर्ती ग्राम पंचायत, तहसील, जिला, राज्य एवं केन्द्रीय स्तरीय कार्यवाही करके इस हिंसक व्यापार को रोकने में सहयोग कर पुण्योपार्जन करना चाहिए।

उपर्युक्त पुस्तक में लेखक ने अनेक आँकड़ों की प्रस्तुति के साथ ही बतलाया है कि मांस निर्यात के क्षेत्र में भारत ने तेज प्रगति करके द्वितीय नम्बर प्राप्त कर लिया है। बम्बई का "देवनार कत्लखाना" एशिया का सबसे बड़ा कत्लखाना घोषित किया गया है और उस एक कत्लखाने के द्वारा सन् १९७४ से सन् १९९१ तक ९ लाख १२ हजार छह सौ बत्तीस निरीह पशुओं को मारा गया है, जिनके मांस, खून, हड्डी, सींग, गुर्दे, फेफड़े, कलेजे, जीभ आदि को अलग–अलग निर्यात करके अरबों रुपयों की विदेशी मुद्रा भारत ने प्राप्त की है। इन पशु आंकड़ों को अब तक करोड़ों होने में कोई सन्देह नहीं है। इसी प्रकार पश्चिम बंगाल का "अलकबीर कत्लखाना" प्रति वर्ष ६ लाख भेड़–बकरियों का तथा न जाने कितनी गाय–भैंसों का कत्ल करता है और रुद्रारम (आन्ध्र प्रदेश) स्थित "अलकबीर" २ लाख गाय–भैंसों का प्रतिवर्ष कत्ल करता है। ऐसे हजारों कत्लखाने देश की पशु सम्पदा को समूलचूल नष्ट करने में लगे हैं और केन्द्र तथा राज्य सरकारें उन्हें अंधाधुंध मदद कर रही हैं। ऐसा लगता है कि भारत को शायद देश की धरती और पशु सम्पदा के पूरी तरह उजड़ जाने के बाद कुछ होश आएगा किन्तु तब कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि समय रहते सचेत होने की यह प्रेरणा विशेष ज्ञातव्य है कि—

"जो कुछ करना है सो कर लो सुकृत सुदृढ़ अवस्था में।
इज्जत और सम्पत्ति पास है सुख है कृषी व्यवस्था में।।
कर न सकोगे फिर तुम कुछ भी सब सम्पत्ति लुट जाने पर।
आग लगी कुटिया में फिर क्या होगा कुंआ खुदाने पर।।"

मांस निर्यात के पूर्व आंकड़ों के अनुसार सर्वेक्षण अधिकारियों का अनुमान है कि अब तक हजारों करोड़ रुपये से भी अधिक कीमत का मांस भारत से निर्यात हो चुका है, यदि यह निर्यात समय रहते बन्द नहीं हुआ तो हम अनावृष्टि, जल–दुष्काल और भीषण भूकम्पों का शिकार होते रहेंगे।

भारत जैसे कृषिप्रधान देश में पशुओं को कत्लखानों की ओर हांकना एक अत्यन्त आत्मघाती अर्थव्यवस्था तो है ही, पर्यावरण को प्रदूषित करने में इन कत्लखानों का सबसे बड़ा हाथ है क्योंकि देश के १० कत्लखानों में प्रतिदिन ढाई लाख पशुओं का कत्ल होता है जिनमें ५० हजार गायें होती हैं जिनकी भीषण चीत्कारों से धरती का कण–कण रुदन कर रहा है किन्तु उसके रुदन को सुनने वाला कोई नहीं है। इस विषय में सन्तों का कहना है कि मांस निर्यात हमारी आर्थिक परतन्त्रता के काले युग की शुरुआत है और इस देश से लाल या सफेद किसी भी किस्म के मांस का निर्यात किया जाता है या अपने पशु–पक्षियों को जहाज पर लादते हैं तब असल में समझना चाहिए कि यहाँ का मानव अपनी वसुन्धरा का मांस और समुद्र के लहू का ही निर्यात करता है क्योंकि उसे ज्ञात नहीं है कि हम विदेशी मुद्रा के लोभ–लालच में अपने देश के अर्थतन्त्र पर कहर ही ढा रहे हैं।

यह तो मैंने मांस निर्यात का किंचित मात्र नमूना प्रस्तुत किया है इसके अतिरिक्त न जाने कितनी मछलियाँ, मुर्गियाँ, खरगोश, बन्दर आदि भी निर्यात किये जाते हैं। जब केवल पाकिस्तान और बांग्लादेश को भारत प्रतिवर्ष बीस हजार पशुओं का लुक–छिपकर निर्यात करता है तो अन्य और देशों को मिलाने से यह संख्या शायद लाखों तक पहुँचने में कोई विशेष बात नहीं है।

''मांस निर्यात १०० तथ्य'' नामक पुस्तक ने अत्यन्त दर्दनाक सत्य तथ्यों को देश के सामने उजाकर करके रखा है उसको पढ़ने वाला या तो घबड़ाहटवश पूरी पुस्तक न पढ़ पाकर रोने को विवश हो जाएगा अथवा दिल पर पत्थर रखकर यदि कोई पढ़कर सम्पूर्ण तथ्यों से परिचित हो जाएगा तो मांसाहार क्या उसकी बात भी सुनना पसन्द नहीं करेगा। लेकिन अफसोस है कि ऐसी मार्मिक पुस्तकें तो केवल अहिंसा के पुजारी ही पढ़ रहे हैं, कत्लखानों के प्रबन्धक अथवा कत्ल करने वाले कसाइयों के पास तो उन्हें पढ़ने या देखने की फुर्सत भी नहीं है क्योंकि उन्होंने तो पशुओं को साग–सब्जी की तरह एक खाद्य वस्तु के रूप में ही स्वीकार करके उन्हें मौत के घाट उतारना अपना कर्त्तव्य समझ लिया है।

अफसोस की बात यह है कि अब खुलेआम मांस का खाना, बेचना कोई पाप कार्य न होकर व्यापाररूप से प्रतिष्ठित हो रहे हैं किन्तु ऐसा करने एवं उसमें अनुमति देने वालों को भी भूलना नहीं चाहिए कि ऐसी हिंसक प्रवृत्ति साक्षात् नरक का द्वार खोलने वाली है तथा आपके द्वारा मारे गये ये पशु भी जन्म–जन्मान्तर तक आपसे बदला लिए बिना नहीं रहेंगे। इस विषय में एक सत्य कथानक प्रसिद्ध है—

पंजाब में सरहिन्द नाम का एक कस्बा है। वहां ककैया ईंट से बनी एक हवेली के बाहर ''उर्दू'' में शिलालेख लगा हुआ है जिसके बारे में वहां के निवासी बताते हैं कि ''वहां एक सतना नामक कसाई रहा करता था। जो पशुओं को मारकर गोश्त बेचकर अपनी आजीविका चलाता था।

एक दिन शाम को उसका एक पुराना ग्राहक गोश्त लेने आया तो कसाई ने सोचा कि मेरे पास इस समय गोश्त तो है नहीं किन्तु ग्राहक को वापस करना भी ठीक नहीं है अतः उसने नई तरकीब सोचकर बकरे के पिछले भाग पर कटार मारी तो बकरा हंसने लगा। कसाई के पूछने पर बकरा कहने लगा—अभी तक तो तू मुझे मस्तक से काटता था और मैं भी तुझे आगे से ही काटा करता था लेकिन आज यह नई परम्परा देखकर मैं हंस रहा हूँ। सतना कसाई ने बकरे की यह बात सुनकर उसी दिन से हिंसा का त्याग कर दिया था। यही अमर कहानी इस शिलालेख में लिखी है।

इसके यह तथ्य निकला कि अपने द्वारा सताये जाने वाले प्राणियों की आहें निश्चित रूप से हमें दुःख और अशांति ही प्रदान करती हैं अतः हमें इंसान की शक्ल में रहकर हैवानियत का सर्वथा त्याग करना चाहिए। अन्त में अधिक न कहकर यही कहना है कि देश की कृषि व्यवस्था से मांसाहारी वस्तुओं का शीघ्र निष्कासन करके उसे सच्ची कृषि की कोटि में लाएं और संसार के कोने-कोने में अहिंसा, सत्य, करुणा, दया, मानवता का शुभ सन्देश पहुँचाएँ क्योंकि हिंसा, क्रूरता, कत्ल, हत्या तथा हैवानियत की भारतीय संस्कृति के साथ कोई संगति नहीं है। कत्लखाने भारतीय इतिहास के साथ क्रूर खिलवाड़ और गम्भीर कपट हैं। मांस चाहे लाल हो या सफेद, भारत और उसकी ऋषि एवं कृषि परम्परा के पवित्र ललाट पर कलंक का टीका ही है।

प्रभु कत्लखानों के प्रबन्धकों को सद्बुद्धि दे जिससे भारत की धरती शीघ्र बेगुनाह लहू प्रवाह से मुक्त हो सके।

भजन

तर्ज-काली तेरी चोटी..... **-आर्यिका चन्दनामती**

अहिंसा प्रधान मेरी इण्डिया महान है।
इण्डिया में जन्मे महावीर और राम हैं।
यहाँ की पवित्र माटी बनीं चन्दन, उसे करो सब नमन।। टेक.।।

जहाँ कभी बहती थीं दूध की नदियाँ।
वहाँ अब करुणा की माँग करे दुनिया।।
अत्याचार पशुओं पे होगा कब खतम, उसे करो सब नमन।।1।।

प्रभु महावीर का अमर संदेश है।
लिव एण्ड लेट लिव का दिया उपदेश है।।
मानवों की मानवता की यही पहचान है।
जाने जो पराए को भी निज के समान है।।
तभी अहिंसा का होगा सच्चा पालन, उसे करो सब नमन।।2।।

अहिंसा के द्वारा ही इण्डिया फ्री हुई।
ब्रिटिश गवर्नमेंट की जब इति श्री हुई।।
चाहे हों पुराण या कुरान सभी कहते।
अहिंसा के पावन सूत्र सब में हैं रहते।।
यही मेरे देश की कहानी है पुरानी।
अहिंसक देशप्रेमियों की ये निशानी।।
'चंदनामती' यह देश ऋषियों का चमन, उसे करो सब नमन।।3।।

(2)

विश्वशांति प्रदाता-अहिंसा एवं सदाचार

संसार में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से डरता है। इसी सुख शांति को प्राप्त करने के लिए मानव भी रात-दिन प्रयास करता है, तरह-तरह के उपक्रम करता है पर विश्वधर्म को प्रतिपादित करने वाले संतों ने ऐसी सुख-शांति का यदि कोई मूल आधार माना है तो वह है—अहिंसा और सदाचार अर्थात् जब तक जीवन में मन से, वचन से तथा शरीर से किसी भी प्राणी को दुःख न पहुंचाने की अहिंसक वृत्ति का एवं क्षमा, दया, सहनशीलता आदि गुणों रूप सदाचरण का उदय नहीं होता है तब तक न व्यक्ति के अपने जीवन में शांति आती है और न ही समाज, राष्ट्र एवं विश्व में शांति स्थापित हो सकती है।

युग के प्रारंभ में जबकि मानव भोग प्रधान जीवन जी रहा था और उसकी सारी आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों अर्थात् इच्छित फल प्रदान करने वाले वृक्षों के द्वारा सहज में ही पूरी हो जाती थीं, तब मानव को किसी भी प्रकार के संघर्ष, वैमनस्य इत्यादि का सामना ही नहीं करना पड़ता था, सब ओर स्वयं ही शांति का, सुख का वातावरण था पर धीरे-धीरे काल के प्रभाव से कल्पवृक्षों की शक्ति घटने लगी और जनसमुदाय को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई होने लगी, ऐसे विषम काल में एक महान पुरुष का धरती पर अवतरण हुआ, जिनका नाम था ''भगवान ऋषभदेव''। भारतभूमि की अयोध्या नगरी में पिता 'नाभिराय' एवं माता 'मरुदेवी' से जन्मे ऋषभदेव ही मानवीय संस्कृति के आद्य प्रणेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्हें ही युगादि पुरुष, आदिब्रह्मा, आदिसृष्टा आदि नामों से जाना गया, वैदिक (हिन्दू) ग्रंथों ने उन्हें अष्टम अवतार माना तो मुस्लिम समुदाय ने उन्हें आदम बाबा कहकर पुकारा। वस्तुतः यही थे इस युग में जैनधर्म के प्रथम प्रवर्तक-आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव।

प्रजा की कठिनाइयों को जानकर महाराज ऋषभदेव ने जीवन जीने की कला को सिखाने के लिए षट्क्रियाओं का उपदेश दिया। वे षट् क्रियाएँ थीं—असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प। 'असि' अर्थात् 'अपने रक्षण के लिए युद्ध क्रिया', 'मसि' अर्थात् 'लेखन क्रिया', 'कृषि' अर्थात् 'अपने पुरुषार्थ द्वारा फल, सब्जी, मेवा इत्यादि उत्पन्न करना', 'विद्या' अर्थात् 'विभिन्न प्रकार की कलाओं-विद्याओं का उपार्जन, ''वाणिज्य' अर्थात् 'आर्थिक व्यापार' तथा 'शिल्प' अर्थात् 'ग्रह निर्माण' आदि क्रियाएँ।

भगवान ऋषभदेव ने बहुत ही दूरदर्शितापूर्वक इन छह क्रियाओं का प्रतिपादन किया था, जिसमें एक-दूसरे के प्रति परिपूर्ण अहिंसक वृत्ति रखते हुए सदाचरण रूप व्यवहार करना ही मूल आधार था। ऐसे आदिपुरुष द्वारा उपदेशित क्रियाओं का मूल मर्म संसार को बहुत ही सम्यक् प्रकार से समझना होगा। 'असि' क्रिया में भगवान ने युद्ध का निर्देश तो किया है पर वह 'युद्ध' है अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, न कि बलपूर्वक दूसरे के अधिकार क्षेत्र को छीनने के लिए। इसी प्रकार 'कृषि क्रिया' में अपने शारीरिक श्रम द्वारा शाकाहाररूप अनाज, फल, सब्जी, मेवा एवं अन्य भोज्य पदार्थों को उत्पन्न करके भगवान ने सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जीविकोपार्जन की बात कही थी। विस्तृत रूप से यदि देखा जाये तो इन छह क्रियाओं के आधार को लेकर ही सारे विश्व में हर क्षेत्र में आधुनिक स्तर तक की उन्नति हुई है पर यह काल का ही दोष कहना होगा कि उन मूल क्रियाओं के स्वरूप में अनेक प्रकार

की विसंगतियाँ भी उत्पन्न हो गईं, जिसके कारण सारे विश्व में आज असंतुलन, असुरक्षा, हिंसा, वैमनस्य एवं कटुता की भावनाएँ बहुत रूप में अनुभव की जा रही हैं, देश-देश के बीच युद्ध का माहौल बना हुआ है, विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा भाग गरीबी से अभिशप्त है और पर्यावरण भी नित-प्रति दूषित होता चला जा रहा है।

आज के मानव को एक बार गंभीरतापूर्वक सारी स्थितियों का चिंतन करना होगा और कुछ सिद्धान्तों को सदैव के लिए आत्मसात करना होगा। सन् २००० में यू.एन.ओ. में विश्व भर के धर्माचार्यों द्वारा किया गया 'विश्वशांति शिखर सम्मेलन'' इसी बात का परिचायक है। जिन सिद्धान्तों को सदैव के लिए अपनाना है वे कोई नवीन नहीं हैं वरन् भगवान ऋषभदेव जैसे महापुरुषों द्वारा प्रारंभ से प्रणीत अहिंसा, सहिष्णुता, पारस्परिक मैत्री-सौहार्द, सदाचार से युक्त सद्व्यवहार ही हैं। इनके आधार से ही पूर्व में विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में शांति व समरसता स्थापित हुई है तथा आगे के लिए भी यही पथप्रदर्शक हैं, सही बात तो यही है कि इन सिद्धान्तों से भटक जाने के कारण ही विश्व की स्थिति प्रतिकूलताओं से घिर गई है।

यदि इतिहास उठाकर देखें तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि हिरोशिमा-नाकासाकी पर गिरे बमों से क्या शांति स्थापित हो सकी ? भारत का स्वतंत्रता आंदोलन तो जगप्रसिद्ध है, जलियावाला बाग, अमृतसर में सैकड़ों निर्दोष लोगों पर गोली चलवाकर भी क्या अंततः भारत को पराधीन रखा जा सका, बल्कि अंत में महात्मा गांधी जैसे महापुरुष के अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन इत्यादि के माध्यम से ही असंभव लगने वाला देश की आजादी का लक्ष्य भी संभव सिद्ध हो सका।

युद्ध की विभीषिका में जलते आज के विश्व के लिए भी यदि कोई मलहम है तो वह अहिंसा की भावना से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। सभी देशों के धर्माचार्य यदि यह प्रयास करें कि उनके अनुयायियों में प्राणीमात्र के लिए दुःख न पहुँचाने की अहिंसात्मक भावना व्याप्त हो जाए तो संसार की युद्ध संबंधी आधी से ज्यादा समस्याएँ स्वतः ही सुलझ सकती हैं क्योंकि दूसरे के अधिकार को बलपूर्वक हरण करने की इच्छा से भी न जाने कितनी लड़ाइयाँ विश्व भर में चल रही हैं। जनसमुदाय को यह समझाने की आवश्यकता है कि नरसंहार से, रक्तपात से, युद्ध-विभीषिका से न आज तक किसी को शांति मिली है और न मिल सकती है, युद्ध तो प्यास बुझाने के लिए रेगिस्तान की मृगमरीचिका के समान है जो शांति का छलावा हो सकते हैं, शांति नहीं।

वास्तविकता तो यह है कि आज की धरती पर निरंतर चल रहे नरसंहार, पशुओं पर होने वाले अत्याचार, बूचड़खानों में नितप्रति मरते जीवों के करुण क्रंदन से ही धरती माँ का कलेजा इतना आहत होता जा रहा है कि जिसकी परिणति निरंतर भूकंपों, बाढ़, सूखा, अतिवृष्टि जैसी प्राकृतिक आपदाओं के रूप में सामने आती है। वैज्ञानिक रूप से भी इस तथ्य को पोषित करने वाले प्रमाण मिले हैं।

जब तक इस अहिंसा की भावना को जन-जन के द्वारा महत्व नहीं दिया जायेगा, अपने जीवन में उतारा नहीं जायेगा, तब तक पारस्परिक सामंजस्य स्थापित नहीं होगा और ऐसे मैत्रीपूर्ण सौहार्द भाव के बिना शांति की कल्पना नहीं की जा सकती।

अहिंसा की भावना किसी सदाचारी मानव का प्रमुखतम गुण है, इस गुण के विकसित होने से अन्य नैतिक भावों जैसे करुणा, सहनशीलता, दया, क्षमा, प्रेम आदि भावनाएँ तो स्वतः ही विकसित हो जाती हैं और मानव के सदाचारी बनते ही संसार को स्वर्ग बनते क्या देर लगे ? अतः धर्माचार्यों को ही अपने प्रभाव से अपने अनुयायी भक्तों में इन सब

गुणों को भरने का सद्प्रयास करना होगा और इस प्रकार से विश्वशांति की परिकल्पना को साकार करना होगा।

जहाँ तक गरीबी से अभिशप्तता का प्रश्न है, वहाँ पर आज के आधुनिक युग में अहिंसक कृषि को मुख्य व्यवसाय के रूप में अपनाने का सुझाव इसलिए कार्यकारी है क्योंकि सीमित साधनों के द्वारा जहाँ अपनी आजीविका का प्रश्न हल हो जाता है, वहाँ पर ही पूरे समाज के लिए उपयोगी अन्न के उत्पादन से राष्ट्र की आर्थिक प्रगति भी सुचारू हो सकती है तथा इस स्वावलम्बन से अन्य बहुत सी समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाती हैं।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी एक ऐसी महान दिव्य विभूति हैं कि जो अपने सम्पूर्ण जीवन में अहिंसात्मक एवं वैराग्यमयी चर्या का पालन करके जहाँ भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए 'जिओ और जीने दो' का संदेश प्रदान करती रही हैं वहीं उनके विराट व्यक्तित्व ने विश्व भर में एक कीर्तिमान स्थापित किया है। उन्होंने अपने दीर्घकालीन दीक्षित जीवनकाल में उत्तर भारत के हस्तिनापुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ पर 'जम्बूद्वीप' नामक जैन भूगोल रचना का निर्माण करवाकर देश-विदेश के वैज्ञानिकों को सृष्टि की खोज का एक विषय प्रदान किया है, ४०० ग्रंथों की उन्होंने रचना की है तथा राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन करके विश्वमैत्री का संदेश जन-जन तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की है। वे सदैव कहा करती हैं कि इस भारत भूमि की पवित्र धरा पर जहाँ कि ऋषभदेव, राम, हनुमान, महावीर, बुद्ध एवं गांधी जैसी महान सदाचारी आत्माओं ने जन्म लिया है, उस धरा के धर्माचार्य सदैव अखिल विश्व को उच्चतम नैतिक आदर्शों का समय-समय पर संदेश प्रदान करते रहते हैं।

इन्हीं सद्प्रयासों से जन-जन का जीवन सुख-शांति-समृद्धि एवं अध्यात्म से परिपूरित हो जाये, यही अहिंसा एवं सदाचार का ध्येय है।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-वह शक्ति.....

हे विश्वशांति के उपदेष्टा, श्री शांतिनाथ प्रभु तुम्हें नमन।
हे धर्म अहिंसा के नेता, श्री शांतिनाथ प्रभु तुम्हें नमन।।टेक.।।

उपकार करूँ सारे जग का, यह भाव हृदय में आता है।
दुःखियों को देख हृदय रोता, मन करुणा से भर जाता है।।
दो शक्ति मुझे मैं सब जग का, दुख दूर कर सकूँ कभी स्वयं।
हे विश्वशांति के उपदेष्टा, श्री शांतिनाथ प्रभु तुम्हें नमन।।1।।

भारत इक था गुलजार चमन, हिंसा ने उसको नष्ट किया।
सच्चाई के इस उपवन को, स्वार्थी तत्वों ने भ्रष्ट किया।।
ऐसी शक्ती हो प्रगट सभी में, विश्वशांति से करूँ चमन।
हे विश्वशांति के उपदेष्टा, श्री शांतिनाथ प्रभु तुम्हें नमन।।2।।

भगवान न यदि बन सकूँ तो मैं, इंसान की श्रेणी पा जाऊँ।
यदि साधु नहीं बन सकूँ तो मैं, सज्जन की श्रेणी पा जाऊँ।।
है भाव यही 'चंदनामती', खिल जावे भारत का उपवन।
हे विश्वशांति के उपदेष्टा, श्री शांतिनाथ प्रभु तुम्हें नमन।।3।।

(3)

अहिंसा धर्म सर्वोपरि धर्म है।

एक गाँव में एक झील थी, वहाँ बहुत सारी मछलियाँ निवास करती थीं, उस झील के अंदर अनेक बड़ी मछलियों में से एक मछली को सबकी सेवा करने के कारण रानी मछली बना दिया गया, बहुत दिन तक रानी मछली के रूप में उसने झील का आनन्द लिया। एक दिन उस रानी मछली के मन में समुद्र की रानी बनने का विचार आया, झील के पास से ही समुद्र की ओर रास्ता जाता था। एक दिन वह बिना किसी को बताए वहाँ चली गयी। समुद्र में जाकर जब नीचे की ओर गई तो देखती है कि दो-चार मछलियाँ उसकी ओर भागकर आ रही हैं। रानी मछली उनसे और मछलियों के न दिखने का कारण पूछती है तो समुद्र की मछलियों ने बताया कि यहाँ रहने वाली मछलियाँ मछुवारों के डर से समुद्र के नीचे जाकर बैठ जाती हैं। झील की रानी मछली ने जब समुद्र की रानी बनने का प्रस्ताव रखा तो उन मछलियों ने उसे सुझाव दिया कि अगर आप सुख-शांति से रहना चाहती हैं तो अपनी झील में वापस चली जाइए वर्ना यहाँ तो किसी भी समय आप भी काल के गाल में चली जायेंगी। वह अभी चिन्तन कर ही रही थी कि इतनी देर में उसने देखा कि सारी मछलियों में भगदड़ मच गई है, क्योंकि मछुवारे आ गये थे। उन मछलियों ने रानी मछली से कहा कि अब आपके लिए कोई सहारा नहीं है, रानी मछली घबराकर अपनी प्राणरक्षा करती हुई जल्दी-जल्दी झील में आई और अपनी मछलियों से सारी बात बताकर अपनी भूल स्वीकार की और प्रसन्न होकर रहने लगी।

आज के इस माहौल में इसलिए यह कहानी याद आ गई कि जो भारत देश अपनी आध्यात्मिक संस्कृति एवं अहिंसक नीतियों के कारण सारी दुनिया के अंदर पूजा जाता था, सोने की चिड़िया के रूप में कहा जाता था, वह भारत देश आज दुनिया में अपने नाम को अग्रणी करने के लिए, आर्थिक उपलब्धियों में स्वयं को आगे बढ़ाने के लिए किस तरह से अपनी अहिंसक नीतियों पर कुठाराघात कर रहा है। अगर सरकार यह सीख सकी कि उसी मछली की तरह समुद्र की स्वामिनी बनने के समान विश्व के मानसपटल पर नाम तो हो सकता है लेकिन अगर अपने सिद्धान्तों पर कुठाराघात करके वो नाम हमने पाया तो वह दिन दूर नहीं जब मछलियों को निगलने वाले मछुवारों की भांति, विदेशी पश्चिमी सभ्यता हमारी भारतीय संस्कृति को निगलने के लिए आतुर हो उठेगी। क्या ही अच्छा हो कि अहिंसा को प्रचारित-प्रसारित करने वाले अनेक सेनानी इकट्ठे हो जाएं देश की सरकार को समझाने के लिए, कि आप अपनी झील में ही संतुष्ट रहें, पूरे समुद्र का स्वामी बनने का सपना नहीं देखें, तभी हमारे देश की अस्मिता की रक्षा हो सकती है।

हमारे वक्ता खड़े होते हैं, अहिंसा, सदाचार, शाकाहार के बारे में बोलते हैं, अच्छा लगता है लेकिन मैं सोचती हूँ कि इन अहिंसकों के बीच में अहिंसा की बात करने से फायदा क्या है ? अगर हम बीच बाजार में कहें, अगर हम कत्लखानों के सामने कहें, जो मछलियों के ट्रक जा रहे हैं उनको रोककर उन्हें ले जाने वालों को संदेश दें, अगर वह जो भरे रास्ते में सार्वजनिक स्थान पर पशुओं के गले पर छुरी चला रहे हैं उनको अपनी नीतियों को

समझा सकें तो कितना अच्छा हो, उन लोगों को नहीं समझा पाने के कारण ही दुर्दशा हो रही है।

वर्तमान समय में पाठ्य पुस्तकों में जैनधर्म एवं महावीर के जीवन को विकृत करके दिखाया जा रहा है। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने सन् १९९३ में वह काम हाथ में लिया, उस समय सारे विद्वानों ने, सारे संतों ने साथ दिया तो आज हम उसमें कुछ सफलता प्राप्त कर सके हैं, भगवान ऋषभदेव को उन पाठ्यपुस्तकों में ला सके हैं। ऐसा ही एक विषय है कि इंग्लिश मीडियम के स्कूलों में लोग अपने बच्चों को पढ़ाने में गौरव समझते हैं क्योंकि आगे उनको बच्चों के कैरियर बनाने की जरूरत रहती है। कुछ बच्चों की पुस्तकें मेरे देखने में आयीं, एक पुस्तक है—An Insight Into Social Studies (Part 2), दूसरी है— The Joy of Science, ऐसी अनेक पुस्तकें हैं जिसके अंदर एक पाठ पढ़ाया जाता है Our Needs नाम से, जिसमें भोजन संबंधी जानकारी रहती है। आप सबके भी बच्चे पढ़कर आते हैं और हो सकता है प्रश्न भी करते होंगे कि मम्मी! मुझे अण्डा क्यों नहीं दिया जाता ? क्योंकि आपके घर में अण्डा नहीं आता है, इसलिए आप नहीं देती हैं। हो सकता है कि बच्चा आपको कहता हो कि वह fish हमें क्यों नहीं दी जाती ? इन किताबों के अंदर fish के नाम पर मछली भी दिखाई गई है, मांस का टुकड़ा भी दिखाया गया है, अण्डा भी दिखाया गया है और उन्हीं के साथ दूध दिखाया गया है तथा सेब और लौकी आदि सब्जियाँ भी दिखाई गई हैं। उन बच्चों के कोमल मस्तिष्क के ऊपर यह दबाव डाला जाता है या यूं समझिये कि General way में उन्हें पढ़ाया जाता है कि इन चीजों से आपको शक्ति प्राप्त होगी तो बच्चा समझता है कि जैसे दूध है ऐसे ही अण्डा है, जैसे सेब है ऐसे ही fish है। मैं समझती हूँ कि पशुओं का जो कत्ल हो रहा है वो तो सबके सामने है, लोग समझ रहे हैं कि ये बूचड़खाने हैं, इन पशुओं का मांस खाने के लिए जा रहा है, खून दवाइयों के लिए जा रहा है या चमड़ा इन वस्तुओं को बनाने के लिए जा रहा है लेकिन जो धीरे-धीरे Slow Poison के रूप में आपके घरों के अंदर अण्डा, मांस, मछली, ब्रेड, केक, पेस्ट्री के रूप में, चाकलेट, आइसक्रीम के रूप में प्रवेश कर रहे हैं, उन्हें रोकने की आवश्यकता है। अभी एक मामला सामने आया था कि कोल्डड्रिंक के अंदर किस तरह से जहर दिया जा रहा है, कीटनाशक पदार्थ उसमें डाले जा रहे हैं पर आखिर उन पर लीपापोती करके बताया गया कि वह level के अंदर ही है, जितनी मात्रा उसकी होनी चाहिए बस उतने तक ही सीमित है। इसका मतलब क्या है ? मादकता लाने के लिए डाला तो जाता है अर्थात् आप मरने न पाएं, धीरे-धीरे मरें। प्रेक्टिकल रूप में इन किताबों के अंदर परिवर्तन के लिए मैं कहना चाहती हूँ कि अगर प्राचीनकाल का इतिहास देखा जाए तो यह तो निश्चित है कि सदैव शाकाहारी लोग भी रहे हैं और मांसाहारी भी रहे हैं, लेकिन कम से कम शाकाहार को शाकाहार कहा गया, मांसाहार को मांसाहार कहा गया। विश्वासघात करके अण्डे को शाकाहार कहकर नहीं खिलाया गया। मछली उत्पादन को खेती कहकर लोगों को कभी गुमराह नहीं किया गया। अतः कम से कम अगर इन पुस्तकों के अंदर दिया जाता है, अगर क्रिश्चियन संस्कृति या पश्चिमी सभ्यता घुसाई भी जा रही है तो उसको अलग से बताएं कि यह शाकाहारी चीजे हैं, यह मांसाहारी चीजे हैं। ऐसा पुरुषार्थ यदि पाठ्यपुस्तकों के लेखकों से निवेदन करके किया जाए कि आप शाकाहारी और मांसाहारी वस्तुओं को अलग-अलग रूप से प्रस्तुत करें और क्या ही अच्छा हो कि छोटे-छोटे बच्चों को जो किताबें पढ़ाई जाती हैं उसमें मांसाहारी चीजों को न ही प्रतिपादित किया जाए क्योंकि भारतीय संस्कृति, शाकाहार

की संस्कृति रही है।

भौतिकता की चकाचौंध में, मानव निज को भूल गया है।
दुनिया की झूठी माया और वैभव में ही फूल गया है।
क्षणभंगुर लक्ष्मी की खातिर, मानवता भी आज रो रही।
दुनिया की हर सांसों में, हिंसा अधर्म की बात हो रही।।१।।
वीतराग गुरुओं की वाणी, सुनकर अपनी प्यास बुझाओ।
त्याग और संयम की ज्योती, अपने जीवन में चमकाओ।।
वीतरागता ही प्राणी के, उन्नति की आधारशिला है।
कथनी को करनी में बदलो , शुभ अवसर यह आज मिला है ।।२।।

वास्तव में यह धरती अहिंसा की धरती है, यहाँ अहिंसा का अवतार पहले हुआ, महावीर का अवतार बाद में हुआ और इसलिए महावीर के नारे को हम ज्योतिर्मान करते हैं। हम कहते हैं कि महावीर का अमर संदेश—'जियो और जीने दो'। उसी अहिंसा को अपने हृदय में धारण करते हुए आप सबको अवश्य ही संकल्पपूर्वक अहिंसक भारत के निर्माण में सहयोगी बनना चाहिए तभी आप सच्चे भारतीय कहलाने के अधिकारी होंगे।

भगवान की भक्ति से कर्मों का भी क्षय हो जाता है

भत्तीए जिणवराणं, खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य, विज्जा मंता य सिज्झंति।।13।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत–मूलाचार गाथा-571)

अर्थ–जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्व भवों में संचित कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और आचार्यों के प्रसाद से विद्या तथा मंत्र सिद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ–जिनेन्द्रदेव की भक्ति, पूजा, वंदना, स्तुति आदि पूर्वक उपासना करने से अनंत-अनंत जन्म में संचित अनंतों पाप नष्ट हो जाते हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि दिगम्बर मुनियों की वंदना, भक्ति, स्तुति आदि करने से विद्या मन्त्र आदि तो सिद्ध होते ही हैं, परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति भी हो जाती है। लोक में भी यह नियम है कि बिना गुरु प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि नहीं हो सकती।

(4)

शाकाहार के नाम पर मांसाहार–वास्तविक तथ्य

गर्मी का मौसम आते ही बाजारों में ठंडी वस्तुओं की बहार आ जाती है। ठंडी बोतलें, ठंडी हवा, ठंडी कुल्फी, आइसक्रीम आदि तो बच्चों के ही क्या, बड़ों के लिए भी उपहारस्वरूप है। वस्तु कोई भी बुरी नहीं है किन्तु उसके बनाने का तरीका जानना आज आपके लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

भगवान् महावीर और राम जैसे पावन पुरुषों के जन्म से पवित्र इस भारत देश में भी आज अहिंसक देश–प्रेमियों के साथ विश्वासघात किया जा रहा है। जहाँ सौंदर्य प्रसाधन सामग्रियों में तो काफी दिनों से हिंसक वस्तुओं के मिश्रण की बातें विभिन्न एजेन्सियों द्वारा ज्ञात हो ही रही थीं वहीं अब खाने की अनेक वस्तुओं में तेजी से हिंसात्मक मिश्रण होने लगा है।

वास्तव में अब आपको अपने ही बारे में सोचने को विवश होना पड़ेगा। एक बार आपने शुद्ध वनस्पति घी में चर्बी मिलाने की बात सुनी थी। तब से ५० प्रतिशत शाकाहारियों ने उस घी के स्थान पर शुद्ध रिफाइन्ड तेल को अपनी रसोई में स्थान दिया। बाजार के कुटे–पिसे मसालों में अशुद्ध मिलावट की बात जानकारी में आई, तब से अधिकांश घरों में मिक्सी का उपयोग होने लगा ताकि शुद्ध ताजा मसाला रसोईघर में उपयोग किया जा सके।

आज तो मानव ही मानव का भक्षक हो रहा है। वह अपनी धनपिपासा में लिप्त होकर मानव धर्म को भी लूटने में नहीं हिचकिचाता है। एक बार लखनऊ में एक बड़े आढ़त के व्यापारी की बात सामने आई कि लखनऊ की जो हरी बारीक सौंफ आप बड़े शौक से खाते हैं उसमें भी मिलावट हो रही है।

उस सौंफ को हरे डिस्टेम्पर रंग में रंग कर धड़ल्ले से थोक एवं फुटकर भाव में बेच रहे हैं हमारे अपने बन्धुगण। अब आप स्वयं सोचें कि वह हरी महीन सौंफ आपको कितना लाभ पहुँचाएगी ? यह स्वाभाविक है कि उस सौंफ के उपयोग से पेट एवं गले के अनेक रोग उत्पन्न होंगे और रंग की अशुद्धता से आपको शुद्ध वस्तु भी नहीं मिली अतः धर्म नष्ट होता है।

कुछ समय पूर्व श्रीमती मेनका गाँधी ने चाँदी के वर्क के विषय में कुछ खोजपूर्ण तथ्य समाज के समक्ष प्रस्तुत किये थे। जिनसे शाकाहारी समाज ने वर्क का खाना एवं घरों में लाना तक बन्द कर दिया था। उसी प्रकार से मेनका गाँधी ने एक तथ्य ''आइसक्रीम'' के बारे में भी प्रस्तुत किया। इस तथ्य को पढ़कर आप भी इस अशुद्ध आइसक्रीम का त्याग करना और शाकाहारी, शुद्ध, सदाचारमयी जीवन का निर्माण करना।

आइसक्रीम का वह तथ्य पढ़कर मेरी भावना हुई कि इसका अधिक से अधिक प्रचार जैन समाज में होना चाहिए ताकि अहिंसक जैन समाज इस खानपान से सतर्क रहे और यदि संभव हो तो ऐसी हिंसात्मक वस्तु बनाने एवं बेचने वालों के प्रति कुछ ठोस कदम भी उठाए ताकि कम से कम खाद्य पदार्थों में मिश्रण करने वालों में कुछ अहिंसक भावनाएँ उत्पन्न हो सकें और आपको शुद्ध वस्तुएँ प्राप्त हो सकें।

श्रीमती मेनका गाँधी ने इस तथ्य को इस प्रकार उजागर किया है—

''आइसक्रीम भी शाकाहारी नहीं है।''

पिछले दिनों मैं अपने बेटे के स्कूल गई। वहाँ स्कूल के कैन्टीन को भी देखने गई। कैन्टीन में चिप्स, पिस्ता और आइसक्रीम का ढेर लगा था। छात्र उन्हीं चीजों को खरीदकर खा रहे थे, खूब बिक्री हो रही थी। मैंने तय किया है कि स्कूल के प्रबन्धकों से मैं कैन्टीन में खाने और नाश्ते की वैकल्पिक व्यवस्था के लिए कहूँगी लेकिन इस बीच मैं सभी माता-पिता को आइसक्रीम के बारे में बताना चाहती हूँ क्योंकि आइसक्रीम वह प्यारा इनाम है जो सभी बच्चों को उनके अच्छे आचरण के बदले में दिया जाता है।

परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर या सैर-सपाटे में भी आइसक्रीम का तोहफा बच्चे अपने माता-पिता से सहज ही पा लेते हैं। आइसक्रीम के बारे में जोर देकर कहा जाता है कि यह अकेला ऐसा खाद्य पदार्थ है, जिसमें कच्ची सामग्री के तौर पर हवा रहती है। आपके पैसे का आधा हिस्सा इस हवा की खरीदारी में जाता है। इसमें और क्या होता है ? तीस प्रतिशत बिना उबला और बिना छना पानी होता है। छह प्रतिशत चर्बी और सात से आठ प्रतिशत शक्कर होती है लेकिन इन सभी सामग्रियों को मिलाने से स्वादिष्ट आइसक्रीम कैसे तैयार होती है ?

अगर विशेष तौर से लिखा नहीं गया हो तो यह शाकाहारी नहीं होता, सबसे पहले चर्बी को सख्त करके रबर की तरह लचीला बनाया जाता है ताकि जब हवा भरी जाये तो वह उसमें समा सके। ठंडे कमरे में यह प्रक्रिया चलती है। चरबी की ताजा परत फेनिल बर्फ लगातार उतार कर दूसरे ठंडे कमरे में ले जाया जाता है। वहाँ इन्हें अलग-अलग आकार के पैकेटों में भरा जाता है। इस प्रक्रिया में कुछ आइसक्रीम फर्श पर भी गिरती है। अच्छी मात्रा में जमा हो जाने पर उन्हें एकत्रित किया जाता है। फिर फर्श पर मजदूरों के जूते और बाहर पड़े रहने से उनमें आई बदबू को छिपाने के लिए उनसे चाकलेट (या कोई अन्य तेज गन्ध व स्वाद) वाली आइसक्रीम तैयार की जाती है। चरबी के इस मिश्रण को आइसक्रीम जैसा बनाने के लिए उसमें बहुत कुछ मिलाया जाता है। बहुत कुछ में एक खास किस्म का गोंद भी होता है। यह गोंद जानवरों के अखाद्य अंगों (नाक, पूंछ, थन आदि) को उबालकर बनाया जाता है। चरबी से मिलने पर यह गोंद आइसक्रीम को स्वादिष्ट, चिपचिपा और धीरे-धीरे पिघलने वाली बनाता है। जीभ और तालू के बीच आइसक्रीम इसी गोंद के कारण मजा देता है।

क्या आप आइसक्रीम खाना चाहते हैं ? पहले घरों में इसे शहद और फलों के रस में तैयार किया जाता था। बाद में दूध, अंडा और शक्कर मिलाया गया। इस मांसाहारी मिश्रण को भी लोगों ने अब छोड़ दिया है, अब वे जहर का घोल तैयार करते हैं।

आमतौर पर आइसक्रीम में निम्नलिखित चीजें होती हैं—

१. डिजाइल ग्लूकोज को अंडे के बदले में डाला जाता है। इस रसायन का उपयोग ठंड और दर्दनिवारक दवाओं में होता है।

२. वैनिला की जगह पेपरोनल डाला जाता है। यह ढील मारने के काम में भी आता है।

३. एल्हेहाइड सी १७ से चेरी आइसक्रीम में अनानास का स्वाद लाया जाता है। चमड़े और धागे की सफाई में भी इसका इस्तेमाल होता है। इसके वाष्प से फेफड़े, गुर्दे और दिल की बीमारी होती है।

४. बुट्राडिहाइड बादाम-पिस्ता आइसक्रीम में अनानास का स्वाद लाया जाता है। रबर सीमेन्ट बनाने के काम भी यह आता है।

५. एमिल एसिटेट डालने से केले का स्वाद मिलता है। ऑयल पेन्ट के घोल के तौर पर इसका दूसरा उपयोग भी है।

६. बेंजिल एसिटेट से स्ट्राबरी का स्वाद मिलता है। यह नाइट्रेट घोल है।

इस तरह आप अपने प्यारे-दुलारे बच्चों को तोहफे के रूप में प्रदूषित पानी, आयल पेन्ट, नाइट्रेट का घोल, ढील मारने की दवा और हवा खिलाते हैं।

या तो शर्बत पीजिए और पिलाइए या फिर बिना अण्डा डाले दूध की आइसक्रीम बनाइए या फिर आइसक्रीम मत खाइए। कृपया इस पर अच्छी तरह चिंतन कर इस विषय को हर उस स्कूल में भेजिए जहाँ कैन्टीन में या स्कूल के बाहर आइसक्रीम बेचने की इजाजत दी जाती है। खासकर अगर आप शाकाहारी हैं तो यह काम अवश्य कीजिए।

इस प्रकार से सबसे पहले आप स्वयं अपने बच्चों को आइसक्रीम की अशुद्धि बताएं और उन्हें उसे त्याग करने की प्रेरणा देवें।

भजन

तर्ज-आओ बच्चों तुम्हें.....

आओ बच्चों! तुम्हें बतायें, परिचय प्रभु महावीर का।
हर बच्चे में छिपा हुआ है, तेज प्रभू महावीर सा।।
जय जय वीर प्रभो, बोलो जय महावीर प्रभो.।।टेक.।।

कुण्डलपुर में पितु सिद्धारथ, माँ त्रिशला से जन्म लिया।
अपने शौर्य पराक्रम से, महावीर नाम को धन्य किया।।
वीर बहादुर बनना हो तो, नाम जपो श्रीवीर का।
हर बच्चे में छिपा हुआ है, तेज प्रभू महावीर सा।।
जय जय वीर प्रभो, बोलो जय महावीर प्रभो-2।।1।।

प्यारे बच्चों! तुम्हें देश में, महावीर युग लाना है।
कभी न अण्डा केक पेस्टी, चाकलेट नहिं खाना है।।
दीप जलाओ जन्मदिनों पर, भोजन खाओ खीर का।
हर बच्चे में छिपा हुआ है, तेज प्रभू महावीर सा।।
जय जय वीर प्रभो, बोलो जय महावीर प्रभो-2।।2।।

गणिनी माता ज्ञानमती का, सम्बोधन है तुम सबको।
शाकाहारी बनो बनाओ, तुम बच्चों! हर बालक को।।
बच्चा बच्चा करे "चन्दना", नमन सदा महावीर का।
हर बच्चे में छिपा हुआ है, तेज प्रभू महावीर सा।।
जय जय वीर प्रभो, बोलो जय महावीर प्रभो-2।।3।।

(5)

क्या अण्डा भी शाकाहारी हो सकता है ?

महिलाएँ गृहलक्ष्मी कहलाती हैं, उनके ऊपर पुरुषों के खान-पान का तथा बच्चों के प्रारंभिक संस्कारों का पूर्ण उत्तरदायित्व होता है। अत्यन्त आधुनिक जीवन व्यतीत करने वाली नारियाँ भी पुरुषों की अपेक्षा अधिक मात्रा में शाकाहारी जीवन जीना पसंद करती हैं, क्योंकि उनका हृदय आखिर माँ की ममता का प्रतीक होता है। जो माताएँ स्वयं या अपने बच्चों के लिए शक्ति बढ़ाने हेतु अंडों का सेवन घर में करती हैं उन्हें इन तथ्यों से परिचित होना आवश्यक है—

पिछले कुछ वर्षों से यह बराबर देखने में आ रहा है कि दूरदर्शन, रेडियो और अन्य प्रचार माध्यमों के कारण शाकाहारी परिवार के कुछ व्यक्ति अण्डों का सेवन करने लगे हैं। विशेषकर वे ऐसे अण्डों का सेवन करते हैं जिन्हें शाकाहारी अण्डे के नाम से प्रचार करके लोगों को भ्रमित किया जा रहा है। ऐसे शाकाहारी व्यक्ति इस प्रकार के अण्डों का सेवन करते हुए भी यह समझते हैं कि वे फिर भी शाकाहारी हैं। यहाँ तथाकथित शाकाहारी अण्डे अथवा अहिंसक अण्डे के बारे में अण्डे उत्पादक कम्पनियों ने प्रचार-प्रसार के माध्यम से जो भ्रमजाल फैलाया है उसके बारे में सही वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह बताने का प्रयास किया है कि कोई भी अण्डा शाकाहारी होता ही नहीं है और हो ही नहीं सकता।

दो प्रकार के अण्डे—अण्डे मूलतः दो प्रकार के होते हैं। एक अण्डे वे होते हैं जिनसे बच्चे निकल सकते हैं तथा दूसरे वे अण्डे जिनसे बच्चे नहीं निकल सकते। जिन अण्डों से बच्चे निकल सकते हैं उन्हें निशेचित या "फर्टीलाइज्ड एग्ज" कहते हैं। ऐसे अण्डे मुर्गा और मुर्गी के संसर्ग में आने से होते हैं। दूसरे प्रकार के जो अण्डे होते हैं उन्हें अनिशेचित अण्डे या "इनफर्टीलाइज्ड एग्ज" कहते हैं। ये अण्डे भी दूसरे प्रकार के अण्डे की तरह मुर्गी में से ही पैदा होते हैं। इन अण्डों को अण्डाउत्पादक कम्पनियों ने अपने व्यापारिक लाभ के लिए "शाकाहारी अण्डे" या "अहिंसक अण्डे" नामकरण देकर शाकाहारी परिवारों में एक बड़ा भारी भ्रम फैला दिया है। उनके भ्रम के अनुसार ऐसे अण्डे में जीव नहीं होता जबकि यह सर्वथा निराधार है। आइए, अब हम वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह जानने का प्रयत्न करें कि तथाकथित शाकाहारी अण्डे या अनिशेचित अण्डे कभी भी शाकाहारी नहीं होते।

वैज्ञानिक तथ्य—

(१) अनिशेचित अण्डे किसी भी प्रकार से शाकाहारी नहीं होते क्योंकि वे न तो पेड़ों पर उगते हैं और न किसी पौधे पर, बल्कि वे सब मुर्गी के पेट में से ही उत्पन्न होते हैं। एक वैज्ञानिक प्रयोग के आधार पर यह देखा गया है कि विद्युतधारा के द्वारा अण्डों को आंका जा सकता है। अनिशेचित अण्डे में निशेचित अण्डे की भांति ही यह विद्युतधारा होती है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि निर्जीव वस्तु में कभी भी विद्युत धारा का अंकन नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष के विश्वविख्यात वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु ने पेड़ पौधों से विद्युतधारा का अंकन करके

यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पतियों में भी जीवन होता है। इसी आधार पर यह वैज्ञानिक तथ्य है कि सभी प्रकार के अण्डों में चाहे वे निशेचित हों या अनिशेचित हों उनमें भी जीवन होता है।

(२) किसी भी अनिशेचित अण्डे को निर्जीव मानना सरासर अवैज्ञानिक तथ्य है क्योंकि ऐसे अण्डों को भी निशेचित किया जा सकता है और एक नये जीव की उत्पत्ति के रूप में वे प्रकट हो सकते हैं। एक सर्वमान्य बात जो सभी जानते हैं वह यह है कि संसार में कोई भी निर्जीव वस्तु निशेचित नहीं की जा सकती और न ही उससे किसी जीव की उत्पत्ति हो सकती है लेकिन अनिशेचित अण्डे से कुछ उपकरणों के प्रयोग के द्वारा नए जीव की उत्पत्ति होना संभव है।

(३) अक्सर अनिशेचित अण्डों के बारे में उन्हें शाकाहारी कहने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि ऐसे अण्डे मुर्गी और मुर्गे के संसर्ग में आए बिना ही कृत्रिम तरीकों से उत्पन्न होते हैं लेकिन विज्ञान ने यह साबित कर दिया है कि किसी भी प्राणी के जीवन का आधार मात्र लैंगिक प्रजनन क्रिया ही नहीं है बल्कि अलैंगिक प्रजनन के द्वारा भी जीवन हो सकता है। जैसे अमीबा और अनेक एककोशीय प्राणी बिना निशेचन क्रिया के उत्पन्न होते रहते हैं। इसी प्रकार से टेस्ट ट्यूब बेबी के द्वारा उत्पन्न प्राणी निर्जीव नहीं गिने जा सकते।

(४) अनिशेचित अण्डों का दूसरा हिस्सा शुक्राणु होते हैं जो सूक्ष्मदर्शी यंत्र के द्वारा नीचे चलते फिरते नजर आते हैं। यही शुक्राणु अण्डाशय अर्थात् ओबरीज से चलकर मुर्गी के गर्भाशय अर्थात्-यूट्रेस तक पहुँचते हैं और इन अण्डों में क्रोमोसोम्स की संख्या निशेचन के बाद दुगुनी हो जाती है। तो क्या निशेचित अण्डे निर्जीव कहे जा सकते हैं ?

(५) निशेचित अण्डों की तुलना स्त्रियों में रजःस्राव से की जा सकती है। जिस प्रकार स्त्री के मासिक धर्म में होता है। उसी प्रकार मुर्गी के भी यही धर्म अण्डों के रूप में होता है। यह अण्डा मुर्गी की आन्तरिक गंदगी का परिणाम है। अण्डों के मोटे छोर पर एक वायु क्षेत्र होता है। यह बहुत महत्वपूर्ण है। यह क्षेत्र की दो कवच झिल्लियों को अलग करता है और भ्रूण को श्वांस की सुविधा देते हुए बाहरी दुनिया से जोड़ता है। यह सभी प्रकार के अण्डों में होता है। अण्डों के गर्भ से बाहर आते ही उसमें विदलन (क्लीवेज) शुरू हो जाता है। किसी भी अण्डे की रचना में जब हम उसकी सभी स्थितियों की समीक्षा करते हैं तो यह बात शत प्रतिशत सिद्ध हो जाती है कि वह किसी भी प्रकार का अण्डा हो, वह सजीव या जीवनयुक्त होता है।

(६) "शाकाहार क्रान्ति' के सम्पादक डॉ. नेमीचंद्र ने लिखा है कि सन् १९७१ में मिशीगन यूनिवर्सिटी के अमेरिका के वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया था कि संसार का कोई भी अण्डा निर्जीव नहीं है चाहे वह निशेचित हो या अनिशेचित। इसी प्रकार श्री फिलीप जे. स्कैम्बल ने अपनी विख्यात पुस्तक "पोल्ट्री फीड्स एण्ड न्यूट्रीशन" के पृष्ठ १५ पर साफ लिखा है "अण्डा बहुत नाजुक होता है, यह प्रतिकूल वातावरण के प्रति भी संवेदनशील होता है। वस्तुतः अण्डे की उत्पत्ति बच्चे के सृजन के निमित्त होती है, मनुष्य की खुराक के लिए नहीं। अण्डे में हवा के आने-जाने की नैसर्गिक व्यवस्था है। सफेद खोल के अंदर बने सूक्ष्म छिद्रों में होकर आक्सीजन अंदर आती है और चर्बी की भाप कार्बन डाइआक्साइड को बाहर फेंकती है, जिससे अण्डे का भ्रूण जीवित होकर विकास करता है, यही बात अन्य फर्टीलाइज्ड अण्डों पर भी लागू होती है।

(७) श्वांस लेने की क्रिया जीवन की निशानी है। प्रत्येक अण्डे के ऊपरी भाग पर लगभग १५००० सूक्ष्म छिद्र होते हैं, जिनसे अण्डे का जीव सांस लेता है और जब कोई अण्डा सांस लेना बंद कर देता है तो वह अण्डा सड़ने लगता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह चाहे निशेचित हो या अनिशेचित, उसमें जीव होता है।

(८) चूँकि गर्भ में अण्डे का क्रमिक विकास होता है और अण्डा ज्यों ज्यों बड़ा होता है त्यों त्यों नितम्ब की हड्डियों में जगह बनती जाती है। सजीव अण्डे और निशेचित अण्डों के भीतर का प्रवाह एक-सा होता है। उस अण्डे के पोषण के लिए मुर्गी को मांसाहार करवाना पड़ता है इतना करवाने के बाद मुर्गी जिस अण्डे को जन्म देती है वह अण्डा शाकाहारी नहीं कहलाया जा सकता। अब भारत सरकार की इण्डियन मार्केटिंग स्टेण्डर्डस इंस्टीट्यूट ने यह घोषित कर दिया है कि अण्डा शाकाहारी नहीं है।

क्रूरतापूर्वक अण्डों का उत्पादन—जिन अण्डों को अनिशेचित या शाकाहारी अण्डे कहा जाता है यदि उसके उत्पादन की विधि का प्रचार लोगों में किया जाये और उन्हें ये मालूम हो जाये कि बड़ी क्रूरतापूर्ण प्रणाली के द्वारा ऐसे अण्डों का उत्पादन होता है, तो उनकी समझ में यह आ जायेगा कि ऐसे अण्डे कदापि शाकाहारी नहीं हो सकते। आजकल इस प्रकार के अण्डों का अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए उनका मुर्गी फार्मों में कृत्रिम तरीकों के द्वारा उत्पादन किया जाता है। सबसे पहले मुर्गी फार्मों में मादा बच्चों को अलग-अलग कर दिया जाता है। मादा बच्चों को शीघ्र जवान होने के लिए एक खास खुराक दी जाती है और उन्हें २४ घंटे तेज प्रकाश में रखकर सोने नहीं दिया जाता है, ताकि वे दिन रात खा-खाकर जल्दी ही रजोस्राव करने लगें और अण्डा देने लायक हो जायें। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक जॉन राबिन्स ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक "डाइट फॉर ए न्यू अमेरिका" में इस प्रकार की फैक्ट्रियों में उत्पादित किए हुए पिंजड़ों के बारे में लिखा है कि इन पिंजड़ों में इतनी अधिक मुर्गियाँ भर दी जाती हैं कि वे पंख भी नही फड़फड़ा सकतीं और तंग जगह के कारण वे आपस में चोचें मारती हैं, जख्मी होती हैं, गुस्सा करती हैं और कष्ट भोगती हैं। जब मुर्गी को २४ घण्टे लोहे की सलाख पर बैठना पड़ता है और ऐसी स्थिति में ही एक विशेष प्रकार की मशीन से एक ही रात में लगभग तीन हजार मुर्गियों की चोंच काट दी जाती है और गर्म-गर्म आग से तपते हुए लाल औजारों से मुर्गी के पंख भी काट दिये जाते हैं तो ये जल्दी से अण्डा उत्पन्न करने का तरीका कितना हिंसात्मक है यह समझा जा सकता है।

मुर्गियों को दी जाने वाली खुराक में मछली का चूर्ण तो डालना ही पड़ता है। इतना करने के बाद जब मुर्गी अण्डे को जन्म देती है तो वह अण्डे को सेने के लिए उन तंग पिंजड़ों में भी दौड़ती है पर मुर्गी उस अण्डे तक नहीं पहुँच पाती क्योंकि ऐसे पोल्ट्री फार्म में ढलवे निर्मित पटिए की ऐसी व्यवस्था रहती है कि जिससे अण्डा पैदा होते ही उस पटिये पर से सीधा नीचे खिसक जाता है और इस चालाकी से जनता अनभिज्ञ रहती है। हर बार विफल प्रसूति होने पर मृत बच्चों को जन्म देने वाली किसी औरत से पूछा जाये कि उसकी मानसिक स्थिति क्या होती है? बस ऐसी ही स्थिति उस मुर्गी की होती है। उस मुर्गी को मातृत्व से वंचित रखना कितनी क्रूरता है, यह साधारणतः समझा जा सकता है। चूँकि वह मुर्गी अपना अण्डा नहीं से सकती इसलिए वह अगला अण्डा जल्दी देती है और अधिक से अधिक और जल्दी से जल्दी ज्यादा से ज्यादा अण्डे मिलें इस लालसा से मुर्गी को अण्डे सेने का मौका नहीं दिया जाता और वह जिंदगी भर पिंजरे की कैद में रहती है। चल फिर न सकने के कारण उसकी टांगें बेकार हो जाती हैं। जब उसकी उपयोगिता घट

जाती है तो सभी जानते हैं कि उसे कत्लखाने भेज दिया जाता है। अब हम इससे सहज ही समझ सकते हैं कि ऐसे अण्डों को अहिंसक या शाकाहारी कैसे कहा जा सकता है ।

उपसंहार—इस प्रकार उपरोक्त वैज्ञानिक तथ्यों एवं अनिशेचित अण्डों की क्रूरतापूर्वक उत्पन्न करने की प्रणाली को जानने के पश्चात् विज्ञजन निश्चित रूप से यह समझ गये होंगे कि कोई भी अण्डा शाकाहारी नहीं होता है। चूँकि अनिशेचित सभी प्रकार के अण्डों में जीव होता है इसलिए वह शाकाहारी नहीं होते। अब शाकाहारी परिवारों का यह कर्तव्य है कि वे भारत सरकार से निवेदन करें कि मुर्गी फार्मों के संचालकों को यह दबाव दिया जाये कि ऊपर लिखे हुए जिन क्रूरतापूर्वक तरीकों से वे अनिशेचित अण्डों का उत्पादन करते हैं उनका स्पष्ट विवरण जनता के सामने रखें, ताकि वे यथार्थ स्थिति समझ सकें। आशा है कि अण्डा उत्पादकों के भ्रामक प्रचार से शाकाहारी बच सकेंगे और किसी भी अण्डे को शाकाहारी या अहिंसक नहीं समझेंगे।

संस्कार गीत

तर्ज-माई रे माई.....

-आर्यिका चन्दनामती

मेरे प्यारे भाई बहन! माडर्न भले तुम बनना।
पर अपनी थिंकिंग पावर परिवर्तित कभी न करना।।
धार्मिक संस्कारों में जिओ, भारत की संस्कृति में जिओ।।टेक.।

जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहिं टिक सकता पृथ्वी पर।
वहीं नींव के बिना बना सकता कोई मंजिल सुन्दर।।
वैसे ही संस्कार हीन मानव न कभी तुम बनना।
अपनी थिंकिग पावर को परिवर्तित कभी न करना।।
धार्मिक संस्कारों में जिओ, भारत की संस्कृति में जिओ।।1।।

शाकाहारी भोजन करके मन करूणामय कर लो।
पिज्जा बर्गर चाऊमीन पेस्ट्री को दूर से तज दो।।
हिंसक शैम्पू टूथपेस्ट और बेल्ट यूज न करना।
अपनी थिंकिग पावर को परिवर्तित कभी न करना।।
धार्मिक संस्कारों में जिओ, भारत की संस्कृति में जिओ।।2।।

को एजुकेशन को जॉब के संग वाट्सएप फेसबुक आदी।
टी.वी. फोन कम्प्यूटर इंटरनेट ने की है बरबादी।।
धर्मप्रभावन हेतु ''चन्दनामती'' यूज बस करना।
अपनी थिंकिग पावर को परिवर्तित कभी न करना।।
धार्मिक संस्कारों में जिओ, भारत की संस्कृति में जिओ।।3।।

(6)

भूकम्प एक प्राकृतिक आपदा, इसे रोका जा सकता है

समय–समय पर आए भूकम्पों ने जहाँ जनमानस में दहशत की स्थिति उत्पन्न की है, वहीं मानवता के प्रति कुछ सोचने को भी विवश कर दिया है। इस धरती पर जब भी भूकम्प अथवा कोई वायुयान, रेलगाड़ी आदि की भीषण दुर्घटनाएँ होती हैं तब उन विषयों की सरकारी और गैरसरकारी जाँच–पड़ताल होकर उनके होने के कारण ज्ञात किये जाते हैं। यही भूकम्प के पश्चात् भी होता है कि अनेक वैज्ञानिक अपनी–अपनी खोज के आधार पर यह बतलाते हैं कि भूकम्प क्या है ? ये क्यों आते हैं ? और इनसे भारी जन–धनहानि क्यों होती है ?

उन वैज्ञानिक तथ्यों से तो मात्र यह निष्कर्ष निकला है कि ऊर्जा के तीव्र उत्सर्जन द्वारा उत्पन्न पृथ्वी का कंपन ही भूकम्प है, यह समस्त प्राकृतिक आपदाओं में से सबसे अधम आपदा है जिसकी रोकथाम मानव द्वारा नहीं हो सकती है। ११ अप्रैल १९९९ के "दैनिक जागरण" अखबार की एक रिपोर्ट में श्री ओमप्रकाश तिवारी ने सन् १५५६ से लेकर अब तक विश्व भर में आए भूकंपों के आंकड़े प्रस्तुत किए और यह भी बताया कि कभी–कभी इन भूकम्पों के पूर्व लगाए जाने वाले पूर्वानुमान भी सही निकले हैं। जैसा कि सन् १९७५ में चीन के एक शहर हाइचेंग में भूकम्प का पूर्वानुमान हो जाने से कुछ घंटे पहले शहर खाली करा लिया गया था, जिससे लाखों लोग मरने से बच गए थे लेकिन वहाँ उससे पहले भी कई बार शहर खाली कराया गया था, तब भूकम्प नहीं आया था।

अपनी खोजों के आधार पर कुछ सर्वेक्षणों ने बताया है कि भूकम्पनीयता के अनुसार भारत दशवें स्थान पर आता है। यहाँ १८९७, १९०५, १९३४ एवं १९५० में चार भयंकर भूकम्प आ चुके हैं। इनके अतिरिक्त सन् १९९३ के लातूर और सन् १९९७ के जबलपुर भूकम्पों को अब तक भी महाराष्ट्र एवं मध्य प्रदेश की जनता भुला नहीं पाई है, पुनश्च २९ अप्रैल के भूकम्प ने हिमालय क्षेत्र को दबोचने का प्रयास करके सभी को जीवन की क्षणभंगुरता से परिचित करा दिया था।

भूकम्प के कई वैज्ञानिक कारणों में एक प्रबल कारण और भी है जिसे किसी अन्वेषक ने महत्त्व प्रदान नहीं किया है कि देश में मूक पशुओं की हिंसा के ताण्डव नृत्य ने धरती माता के सुख–चैन को छीनकर उसे कम्पित होकर ज्वालामुखी और बाढ़ आदि के रूप में प्राकृतिक विपत्ति लाने को मजबूर कर दिया है।

जरा तुलना करें एक माँ की व्यथा से—

कुछ वर्ष पूर्व एक घटना घटी कि लखनऊ के निकट एक गांव में रहने वाली एक माँ के पुत्र और पौत्र की कार दुर्घटना में मृत्यु हो गई। यूँ तो उस परिवार के ऊपर इस घटना से मानो विपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा था किन्तु माँ का रोम–रोम उस दिन से इतना प्रकम्पित हो गया कि वह छह माह के अन्दर ही भयंकर रोग से ग्रसित होकर मरण को प्राप्त हो गई।

ऐसी एक नहीं अनेकों घटनाएँ रोज घटित होती हैं जिसमें सन्तानों के वियोग में माताएँ विक्षिप्त, पागल, रोगग्रस्त एवं मरणासन्न तक की स्थिति में आ जाती हैं और इससे विपरीत सुखसम्पन्नता से युक्त परिवार की माताएँ खुश और स्वस्थ अवस्था में देखी जाती हैं।

सन्तान को जन्म देने वाली माता के समान ही धरती को भी ''माता'' की संज्ञा प्राप्त है। जिस भूतल पर हम सभी निवास करते हैं उसे ''भारतमाता'' कहकर पुकारा जाता है और उसी माता के सीने पर प्रतिदिन लाखों बेकसूर पशु–पक्षियों की निर्मम हत्या हो रही है। अब आप तुलना करें एक माँ की ममता से धरती माता के कष्टों की, जो अपने असंख्य निर्दोष पुत्रों की हत्या प्रतिदिन देख रही है। मानसिक पीड़ा से जब उसका रोम–रोम प्रकम्पित हो जाता है तभी वह हिल जाती है और धरती पर भूकम्प–भूचाल आ जाता है जिससे दुष्ट प्रकृति मानव को गम्भीर हानियाँ उठानी पड़ती हैं।

धरती माँ का वही कष्ट वैज्ञानिक पद्धति में भी निमित्त बन जाता है क्योंकि उसकी स्थिरता में भी दुःख की पराकाष्ठा से विचलितपना आता है इसीलिए उसके भीतर दरारें पड़ जाती हैं और भूगर्भ की प्लेटें सरकने के कारण धरती की ऊर्जा भूकम्प के रूप में निकलती है। ये भूकम्प जब ज्वालामुखी का विकराल रूप धारण करके अग्नि उगलते हैं तो समझना चाहिए कि धरती माँ का क्रोध भीषण चीत्कार करता हुआ क्रूरकर्मा मानवों को जलाकर भस्म कर देना चाहता है और महासागरों से उत्पन्न जिन भूकम्पीय तरंगों को भूकम्पी सिंधु के नाम से जाना जाता है वे धरती माँ के दुःखी अश्रु हैं जो रो–रोकर अपनी करुण कथा का बखान करते हैं।

कैसे रोका जा सकता है इन प्राकृतिक आपदाओं को—

कुल मिलाकर जब तक धरती पर हिंसा का ताण्डव नृत्य चलता रहेगा तब तक भूकम्प, ज्वालामुखी फटना तथा बाढ़ आदि की दुर्घटनाओं पर रोक लग पाना अत्यन्त कठिन बात है। इस विषय में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का कहना है कि पूरे देश की धर्मप्रेमी अहिंसक जनता जगह–जगह सामूहिक रूप में विश्वशांति महायज्ञ, शांतिमंत्र, पूजा विधान आदि के कार्यक्रम आयोजित करे ताकि हिंसाप्रेमियों को कुछ सद्बुद्धि प्राप्त हो और धरती के प्राकृतिक उपद्रवों से बचाव हो सके।

प्राचीन कथानकों के अनुसार भी धार्मिक अनुष्ठानों के बल पर अकालमृत्यु वगैरह संकटों पर विजय प्राप्त की जाती थी और वर्तमान युग का भी एक जीवन्त उदाहरण है कि—

२५ अक्टूबर १९९६ का दिन महाराष्ट्र में भीषण तूफान का दिन पूर्वघोषित हुआ था अतः वहाँ की सरकार एवं प्रशासन ने उस दिन मुम्बई में समस्त वाहनों पर रोक लगा दी, सरकारी छुट्टी घोषित कर दी और सभी को अपने–अपने घरों से बाहर निकलने को मना किया। उन दिनों पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी संघ सहित महाराष्ट्र के मांगीतुंगी (जिला–नासिक) सिद्धक्षेत्र में विराजमान थीं, उन्होंने १६ से २६ अक्टूबर तक कल्पद्रुम महापूजा विधान का आयोजन करवाया था, उसमें भक्तों द्वारा किए गए सवा लाख मंत्रों का प्रभाव पूरे महाराष्ट्र प्रदेश में फैला और पूर्वघोषित तूफान अंशमात्र भी नहीं आया।

इसी प्रकार से उपुर्यक्त भविष्यवाणी को भी आप अपने रक्षामंत्रों से पूर्णतया रोक सकते हैं। इसके साथ–

साथ जम्बूद्वीप पूजाञ्जलि नामक जिनवाणी में प्रकाशित आधुनिक कष्टों और संकटों से छुटकारा दिलाने वाली शांतिधारा भी प्रतिदिन मंदिर में की जावे, उसका गन्धोदक घर–घर में छिड़का जाए तो भूकम्प, अग्निकाण्ड, गैसकाण्ड आदि अनेक उपद्रव टल जाएंगे क्योंकि उस शान्तिधारा में वर्तमान की दुर्घटनाओं के निवारण हेतु भगवान से प्रार्थना करके विश्वशांति की भावना भरी हुई है।

भारत की वसुन्धरा पर आज भी जैन, हिन्दू आदि अनेक सम्प्रदाय के तपस्वी सन्त अपनी तपोसाधना में लवलीन हैं। प्राणीमात्र पर करूणा जिनका प्रमुख लक्ष्य है, परोपकार जिनकी वाणी का मुख्य उद्देश्य है, उनकी सत्संग सभाओं में भाग लेकर आप अपना कल्याण करें और अपने एवं उनके अहिंसात्मक क्रियाकलापों से देश की रक्षा का प्रयास करें।

मुक्तक

-आर्यिका चन्दनामती

सुनो बंधुओं! सुबह सुबह तुम, बेड टी को बरबाद मत करो।
आँख खोलते ही भैय्या तुम, सर्वप्रथम अखबार मत पढ़ो।।
सबसे पहले आँख खोलते, ही जिनवर का नाम जपो।
सिद्धों को नमकर अपना, पूरा दिन मंगलमय समझो।।1।।

चाय के हर घूंटों के संग, णमोकार मंत्र का सुमिरन हो।
तब हर घूंट बनेगा अमृत, स्वास्थ्य व घर का मंगल हो।।
सुखी रहूँ मैं सभी सुखी हों, प्रातः से शुभ भाव रहें।
थिंकिग सुबह पॉजिटिव हो, मन में भी नया उत्साह रहे।।2।।

फिर जनरल नॉलेज के लिए, पेपर भी पढ़ो आवश्यक है।
देश के हालातों पर भी, चिन्तन करना आवश्यक है।।
घर से चलो सुरक्षित हो, प्रभु पद केशर से तिलक करो।
रक्षा कवच उसे समझो, घर में भी बड़ों की विनय करो।।3।।

फिर तो देखो बस जीवन का, हर क्षण बसंत बन जाएगा।
तुम सा न सुखी कोई होगा, हर बच्चा हँसे हँसाएगा।।
घर का कण कण मुस्काएगा, हर दुःख स्वयं भग जाएगा।
''चन्दनामती'' तब हर मानव का, जन्म सफल हो जाएगा।।4।।

(7)

अहिंसक बनने के लिए कम से कम इतना अवश्य करें!

१. चमड़े की वस्तुओं का उपयोग न करें।

२. हाथी दाँत से बनी वस्तुओं का इस्तेमाल न करें।

३. नहाने-धोने में उन साबुनों का उपयोग करें, जिनमें चर्बी न हो।

४. रसोई तथा मंदिरों में पानी छानने हेतु एवं अन्य कार्यों में खादी का कपड़ा काम में लें, क्योंकि दूसरे कपड़ों में कलफ की अशुद्धि रहती है।

५. उन दुकानों से कोई सामान न खरीदें, जिसमें अण्डे बेचे जाते हों।

६. टूथपेस्टों का उपयोग न करें अथवा वे टूथपेस्ट ही काम में लें जिन पर 'वीगन' अथवा 'पशु उत्पाद रहित' शब्द अंकित हो।

७. महंगी वाली आइसक्रीम, फ्रूटेला, मिंटोस, रौले, मास्टिकेबिल्स का उपयोग न करें।

८. 'पी एण्ड जी' के उत्पाद काम में न लें।

९. जिलेट ब्लैडों का इस्तेमाल न करें।

१०. कैप्सूल्स न खाएँ। अनिवार्य होने पर अन्दर की औषधि खाएँ, कैप्सूल फेंक दें।

११. लिप्स्टिक, शैम्पूज आदि का भूलकर भी उपयोग न करें।

१२. रोओं से बनी वस्तुएँ न खरीदें और न ही उपहार में दें।

१३. सेंट, डियोडरेंट्स इत्यादि का इस्तेमाल न करें।

१४. जहाँ तक संभव हो चीनी के बर्तन काम में न लें। इनकी जगह काँच अथवा धातु के पात्रों का उपयोग करें।

१५. सरेस का उपयोग न करें।

१६. जिन एलोपैथिक दवाइयों में हीमोग्लोबिन, लिव्हर, पैंक्रियाज आदि का उल्लेख हो, उनका सेवन न करें, क्योंकि ये दवाइयाँ मांसाहारी होती हैं।

अहिंसक सौंदर्य प्रसाधनों का उपयोग करें—

'ब्यूटी विदाउट क्रूएलिटी' पुणे की संस्था द्वारा निम्न प्रसाधन सामग्रियों की सूची बनाई गई है जिसमें केवल वनस्पति पदार्थ ही प्रयुक्त होते हैं तथा जिनके बनाने व जाँचने में किसी भी पशु-पक्षी को कष्ट नहीं दिया जाता है। उन्हीं सामग्रियों को उपयोग में लें।

जैसे-

(ब्रॉण्ड)

१. नेलपॉलिश— लक्मे, टीना

२. पाउडर/फेश पाउडर— सिन्थॉल, फैस्का, गंगा, मार्बल, अहिंसा, नीम, कुटीर, शिकाकाई, क्राउनिंग,

ग्लोरी, मैसूर-चंदन, संसार, चन्द्रिका, मोती, हमाम, जय, ओ.के., रिया, नीको, विजिल

३. **टूथपेस्ट** — प्रॉमिस, बबूल, विक्को वज्रदन्ती

४. **तेल आदि** — कैलेमाइन (लक्मे) अलमैसा, नारियल तेल, आँवला, ब्राह्मी (वैद्यनाथ, झण्डू) चन्दन तेल।

५. **क्रीम** — कोल्ड क्रीम (लक्मे), टियारा, विक्को

६. **परफ्यूम** — शालीमार, लक्मे

७. **शैम्पू** — आर्निका, सन, ब्यूटी (मिस्टी)

८. **आफ्टर शेव लोशन** — कन्सरि, लक्मे, सन

९. **लिप्स्टिक** — लक्मे, टिप्स एण्ड रोज

पानी छानकर पियें

बिना छने हुए पानी की एक बूंद में ३६४५० जीव वैज्ञानिकों ने बताये हैं। ये जीव दिखाई नहीं देते हैं। अनछने पानी को पीने से स्वास्थ्य दूषित होता है, जिससे अनेक रोग हो जाते हैं, इसलिए जल छानकर पीना चाहिए। बिना छना पानी पीने से अनंत जीवों का घात होता है। मोटे कपड़े के दोहरे छन्ने से छानना चाहिए, और छानने की क्रिया के पश्चात् बिलछानी (कपड़े को अलग छने पानी से सावधानी से धोना) पानी में डाल देना चाहिए ताकि छन्ने के ऊपर के जीवों की रक्षा अपने विवेक और सावधानी से हो। कुएँ के पानी की बिलछानी कुँए में छोड़ना चाहिए। इस कार्य के लिए बिलछानी (अनछने पानी) के अशुद्ध पानी की बाल्टी के दोनों छोर में रस्सी बाँध कर कुएँ में छोड़ना चाहिए। छना हुआ पानी ४८ मिनिट तक जीव रहित रहता है। इसके बाद पुनः उसमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं। अतः उसे फिर से छानना चाहिए। छने हुए पानी में लौंग, इलायची आदि डालने से पानी प्रासुक हो जाता है। उसकी मर्यादा ६ घंटे की है। गर्म किये हुए जल की मर्यादा २४ घंटे की होती है। आजकल रेडियो, टी.वी. पर भी हर समय यहीं चेतावनी एवं सलाह दी जाती है कि पानी छानकर पीना चाहिए। पानी छानकर पीने से स्वास्थ्य उत्तम रहता है और धर्म का पालन होता है। कहा जाता है कि रात का रखा हुआ चार गिलास पानी (गर्म किया हुआ प्रासुक जल) सुबह सूर्योदय से पूर्व पीने से कई बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। पानी पीने के ४५ मिनिट तक कुछ न खायें। इसके प्रयोग से ठीक होने वाली बीमारियाँ मधुमेह (डायविटीज), ब्लडप्रेशर, जोड़ों का दर्द, हृदय रोग, बेहोशी, मेनोनजाईटीस, पेशाब की समस्त बीमारियाँ, पथरी, धातुस्राव, गर्भाशय कैंसर, बवासीर, पेट के रोग, मानसिक दुर्बलता, त्वचा पर झुर्रियाँ, लकवा, खाँसी, कफ, दमा, आँखों की बीमारियाँ, प्रदर, एसीडिटी, सूजन, बुखार, फोड़ा-फुन्सी, कील मुँहासे, रक्त की कमी, मोटापन, टी.बी., लीवर के रोग, अनियंत्रित मासिक स्राव, कफ जन्य रोग, गेस्ट्रिक ट्रबल एवं कमर से संबंधित रोग हैं।

इन रोगों को दूर कर अपना शरीर स्वस्थ बनावें और अपने पड़ोसियों को भी इन रोगों से मुक्ति पाने हेतु छना पानी पीने की प्रेरणा प्रदान करें।

अध्याय-3
जैनधर्म

(1)
जैनधर्म की प्राचीनता

प्रवाह की दृष्टि से जैनधर्म अनादि है। समय का चक्र अनादिकाल से अबाधगति से चल रहा है। उसका प्रभुत्व सब पर है। चेतन और अचेतन-सब उससे प्रभावित हैं। धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। धर्म शाश्वत होता है, पर उसकी व्याख्या समय के साथ बदलती रहती है। वर्तमान में जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान ऋषभदेव से माना जाता है। कुछ विद्वान इसे वैदिक धर्म की शाखा, तो कुछ इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानते हैं। पर वर्तमान में हुए शोध-अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की शाखा है। यह एक स्वतंत्र धर्म है।

विश्व के प्राचीनतम धर्मों में जैनधर्म प्राचीनतम धर्म है। पुरातन भारत के पुरातत्त्व तथा इतिहास का पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि जैन विचारधारा प्राचीन काल से ही अनवरत चल रही है। जैनधर्म सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म है। यह किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है। किन्तु यह तो आत्मा के लिए है आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है, आत्मा में प्रतिष्ठित होता है, इसलिए इसे 'आत्म-धर्म' भी कहा जाता है।

जन-जन को सम्यक् सुख एवं शांति का जिसमें पौरुष बताया जाये वह 'जैनधर्म' कहलाता है। यह धर्म अस्तित्व की अपेक्षा से अनादिनिधन अपौरूषेय अर्थात् स्वयंसिद्ध है।

भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जिन्होंनें जैन धर्म की स्थापना नहीं वरन् जैन तीर्थ (धर्म) का प्रवर्तन किया। लोक भाषा में जन-जन तक पहुँचाया। जिसके माध्यम से अगणित भव्यात्माओं ने अक्षय शांति का साम्राज्य प्राप्त किया। भगवान ऋषभदेव से पूर्व अगणित बार २४-२४ तीर्थंकर एक-एक काल में हो चुके हैं, जिन्होंने धर्म ध्वजा को फहराया।

जैनधर्म वैदिक धर्म की शाखा नहीं है, क्योंकि वैदिक मत में वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। विद्वान वेदों को ५००० वर्ष प्राचीन मानते हैं। वेदों में ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि श्रमणों का उल्लेख किया मिलता है। वेदों के पश्चात् उपनिषद, आरण्यक, पुराण आदि में भी इनका वर्णन आता है। यदि इन ग्रंथों की रचना से पूर्व जैनधर्म न होता, भगवान ऋषभदेव न होते, तो उनका उल्लेख इन ग्रंथों में कैसे होता ? इससे ज्ञात होता है कि जैन धर्म वैदिक धर्म से अधिक प्राचीन है।

जैनधर्म बौद्धधर्म की भी शाखा नहीं है अपितु उससे प्राचीन है। जैनधर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर हैं, यह भ्रान्त दृष्टिकोण ही इसे बौद्धधर्म की शाखा मानने का कारण रही है। पर अब इस विषय में हुए शोधों से यह स्पष्ट हो गया कि भगवान महावीर से पूर्व भी जैनधर्म का अस्तित्व था।

डॉ. हर्मन जैकोबी ने अपने ग्रंथ "जैन सूत्रों की प्रस्तावना" में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। आज पार्श्वनाथ जब पूर्णतः ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध हो चुके हैं तब भगवान महावीर से जैनधर्म का शुभारंभ मानना मिथ्या ही है। जैकोबी लिखते हैं "इस बात से अब सब सहमत हैं कि नाथपुत्त जो वर्धमान अथवा महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए, वे बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रंथों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को और दृढ़ करते हैं कि नाथपुत्त से पहले भी निर्ग्रन्थों का जो धर्म आज अर्हत् या जैन नाम से प्रसिद्ध हैं- उसका अस्तित्व था।"

यह सत्य है कि "जैनधर्म" इस शब्द का प्रयोग वेदों में, त्रिपिटकों में और आगमों में देखने को नहीं मिलता, जिसके कारण भी कुछ लोग जैनधर्म को प्राचीन न मानकर अर्वाचीन मानते हैं। प्राचीन साहित्य में "जैनधर्म" का नामोल्लेख न मिलने का कारण यह था कि उस समय तक इसे जैनधर्म के नाम से जाना ही नहीं जाता था। उसके बाद उत्तरवर्ती साहित्य में 'जैन' शब्द व्यापक रूप से प्रचलित हुआ। ऋषभ से लेकर महावीर तक इसके प्राचीनतम नाम हमें जो उपलब्ध होते हैं, वे हैं-श्रमण, निर्ग्रन्थ, आर्हत्, व्रात्य आदि।

जैनधर्म का मुख्य उद्देश्य है-सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य की उपलब्धि में प्राचीन और नवीन का कोई महत्त्व नहीं होता। जिसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार हो सके, उसी का महत्त्व होता है, फिर चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन। पर इतिहास की दृष्टि में प्राचीन और अर्वाचीन का महत्त्व होता है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म प्राग्वैदिक है। जैनधर्म के प्राचीन होने की संपुष्टि हम दो तथ्यों के आधार पर कर सकते हैं-१. साहित्य के आधार पर, २. पुरातत्त्व के आधार पर।

साहित्य के आधार पर-

भारतीय साहित्य में वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। वेदों में तथा उनके पार्श्ववर्ती ग्रंथों में प्रयुक्त शब्द यथा- श्रमण, केशी, व्रात्य, अर्हत्, निर्ग्रन्थ आदि जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

* **श्रमण**—ऋग्वेद में 'वातरशन मुनि' शब्द का प्रयोग मिलता है। ये अर्हत् ऋषभ के ही शिष्य हैं। श्रीमद्भागवत् में ऋषभ को श्रमणों के धर्म का प्रवर्तक बताया गया है। उसके लिए श्रमण, ऋषि, ब्रह्मचारी आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। वातरशन शब्द भी श्रमणों का सूचक है। 'वातरशन ह वा ऋषभः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूतुः' तैत्तिरीयारण्यक और श्रीमद्भागवत् द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है। वहाँ वातरशना मुनियों को श्रमण और ऊर्ध्वमन्थी कहा गया है। जिनसेनाचार्य ने वातरशन शब्द का अर्थ निर्ग्रन्थ (निर्वस्त्र) किया है। श्रमण शब्द का उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद और रामायण आदि में भी होता रहा है।

* **केशी**—ऋग्वेद के जिस प्रकरण में वातरशन मुनि का उल्लेख है, उसी में केशी की स्तुति की गई है-

केश्यग्नि केशी विष केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।।

अर्थात् केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन करता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति (केवलज्ञानी) कहलाता है। यह केशी भगवान ऋषभदेव का वाचक है। उनके केशी होने की परम्परा जैन साहित्य में आज भी उपलब्ध है।

* **व्रात्य**—वैदिक साहित्य में व्रात्य संस्कृति एवं उसके तपस्वियों के उल्लेख आए हैं, जिनका विशेष संबंध श्रमण संस्कृति से होना चाहिए। व्रतों का आचरण करने के कारण वे व्रात्य कहे जाते थे। संहिता काल में व्रात्यों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। ऋग्वेद में व्रात्यों की प्रशंसा में अनेक मंत्रों की रचना की है। व्रात्यों की यह प्रशंसा ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद काल तक प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो स्वतंत्र 'व्रात्य सूक्त' की रचना मिलती है। व्रात्य सूक्त के १५वें काण्ड में २२० मंत्रों द्वारा व्रात्यों की स्तुति की गई है।

ऋषभदेव की स्तुति करते हुए उनके प्रजापति रूप की प्रशंसा इस प्रकार की गई है—"व्रात्य नाम का एक राजा हुआ, उसने राज्य धर्म का प्रारंभ किया। प्रजा, बंधु-बान्धव और प्रजातंत्र सभी का उसी से उदय हुआ। व्रात्य ने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया।

* **अर्हन्**—वातरशन, मुनि आदि के समान ऋग्वेद में जैनों के लिए अर्हन् शब्द का प्रयोग भी हुआ है। जो अर्हत् के उपासक थे वे आर्हत् कहलाते थे। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का बहुत प्रिय शब्द है। वे अपने तीर्थंकरों को वीतराग आत्माओं को अर्हन् कहते हैं। ऋग्वेद में अर्हन् शब्द का प्रयोग श्रमण नेता के लिए ही हुआ है-

अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति।।

ऋग्वेद में प्रयुक्त अर्हन् शब्द से यह प्रमाणित होता है कि श्रमण संस्कृति ऋग्वैदिक काल से पूर्ववर्ती है।

यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि के नामों का उल्लेख है। भागवतपुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभ जैनमत के संस्थापक थे। इस प्रकार साहित्य में उपलब्ध ये साक्ष्य जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

पुरातत्त्व के आधार पर—

पुरातत्त्ववेत्ता भी अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार-प्रसार हुआ, उससे पहले यहाँ जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध एवं समुन्नत थी। प्राग्वैदिक काल का कोई साहित्य नहीं मिलता किन्तु पुरातत्त्व की खोजों और उत्खनन के परिणामस्वरूप कुछ नये तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। सन् १९२२ में और उसके बाद मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी। इन स्थानों पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इन स्थानों पर यद्यपि कोई देवालय-मंदिर नहीं मिले हैं किन्तु वहाँ पाई गई मुहरों, ताम्रपत्रों तथा पत्थर की मूर्तियों से उनके धर्म का पता चलता है।

मोहन-जोदड़ो में कुछ ऐसी मुहरें मिली हैं, जिन पर योगमुद्रा में योगी-मूर्तियाँ अंकित हैं। एक ऐसी मुहर भी प्राप्त हुई, जिसमें एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानलीन हैं। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल है। वृक्ष का एक पत्ता मुख के पास है। योगी के चरणों में एक भक्त करबद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ (बैल) खड़ा है। वृषभ के ऊपर वृक्ष है। नीचे सामने की ओर सात योगी कायोत्सर्ग की मुद्रा में भुजा लटकाये ध्यानमग्न हैं। प्रत्येक के मुख के पास वल्लरी के पत्र लटक रहे हैं।

विद्वान् उक्त मुहर की व्याख्या इस प्रकार करते हैं— भगवान ऋषभदेव कायोत्सर्ग में ध्यानारूढ़ खड़े हैं। कल्पवृक्ष हवा में हिल रहा है और उसका एक पत्ता भगवान के मुख के पास डोल रहा है। उनके सिर पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह त्रिरत्नरूप त्रिशूल है। सम्राट भरत भगवान के चरणों में भक्ति से झुककर आनन्दाश्रुओं से उनके चरण प्रक्षालन कर रहे हैं। उनके पीछे वृषभ लांछन है। नीचे सात मुनि भगवान का अनुसरण करके कायोत्सर्ग की मुद्रा में ध्यानलीन हैं। जो चार हजार व्यक्ति ऋषभदेव के साथ मुनि बने थे, उन्हीं के प्रतीक स्वरूप ये सात मुनि हैं। ये भी कल्पवृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं और उनके मुख के पास भी पत्ता हिल रहा है। इस मुहर की इससे ज्यादा तर्कसंगत व्याख्या कोई दूसरी नहीं हो सकती।

कायोत्सर्ग मुद्रा जैन परम्परा की ही विशेष देन है। मोहन-जोदड़ों की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों की यह विशेषता है कि वे प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं और नग्न हैं। खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की पद्धति जैन परम्परा में बहुत प्रचलित है।

धर्मपरम्पराओं में योगमुद्राओं में भी भेद होता है। पर्यङ्कासन या पद्मासन जैन मूर्तियों की विशेषता है। इसी संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा— प्रभो! आपके पर्यङ्क आसन और नासाग्र दृष्टि वाली योगमुद्रा को भी परतीर्थिक-अन्य मतावलम्बी नहीं सीख पाए हैं तो भला वे और क्या सीखेंगे। प्रोफेसर प्राणनाथ ने मोहन-जोदड़ो की एक मुद्रा पर 'जिनेश्वर' शब्द भी पढ़ा है।

डेल्फी से प्राप्त प्राचीन आर्गिव मूर्ति, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है, ध्यानलीन और उसके दोनों कंधों पर ऋषभ की भांति केश-राशि लटकी हुई है। डॉ. कालिदास नाग ने उसे जैन मूर्ति बतलाया है। वह लगभग दस हजार वर्ष पुरानी है।

मोहन-जोदड़ो से प्राप्त मूर्तियों के सिर पर नाग फण का अंकन है। वह नाग वंश के संबंध का सूचक है। सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्वनाथ के सिर पर सर्पमण्डल का छत्र था।

इस प्रकार मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा आदि में जो ध्यानस्थ प्रतिमाएँ मिली हैं, वे जैन तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष, नाग, ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताएं हैं। खुदाई में प्राप्त ये अवशेष निश्चित रूप से जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

साहित्य और पुरातत्त्व के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है।

वर्तमान में भी उपलब्ध सभी संवत्सरों में वीर निर्वाण संवत् सबसे प्राचीन माना जाता है।

वैदिक पुराणों में जैन धर्म व संतों का विवरण—

विष्णुपुराण- अध्याय १८, ४१-४४

मत्स्यपुराण-अध्याय २४

वैदिक पद्मपुराण-प्रथम सृष्टि खण्ड १३, पृ. ३३

वैदिक पद्मपुराण-अध्याय-१

भारतवर्ष में वैदिक आर्यों के पूर्व काल में प्रजापति (ऋषभदेव) के लिए ज्ञान यज्ञ का प्रचार था। ऋग्वेद व अथर्ववेद इसके समर्थक हैं। ऋग्वेद में भी ऐसे श्रमणों का उल्लेख है।

मुनि को नग्न क्षपणक व शान्तिपर्व में भी (मोक्ष धर्म अ. २६९, श्लोक ६) में सप्तभंगी का उल्लेख है, इसका अर्थ जैन धर्म प्रचलन में था।

विख्यात विद्वान् श्री विनोबा भावे लिखते हैं "जैन विचार निःसंशय प्राचीनकाल से है" (वेद मंत्र ११२, ३३,१०१ के अनुसार)

डॉ. जैकोबी के अनुसार 'इंडो-आर्यन-इतिहास के अत्यन्त आरंभ काल में जैनधर्म का उद्भव हुआ था (Introduction outlines of Jainism, p.p.xxx to xxxiii)

"डॉ. हेनरिच जिमर ने जैनधर्म को आर्यों का पूर्ववर्ती धर्म कहा है। जैनधर्म द्रविड़कालीन है जिसका सिन्धु की उपत्यका में उपलब्ध सामग्री से ज्ञान होता है। (The Philosophies of India p. 217)

श्री विसेन्ट स्मिथ के अनुसार "इस बात के स्पष्ट व अकाट्य प्रमाण हैं कि जैनधर्म प्राचीन है और वह प्रारंभ से भी वर्तमान स्वरूप में था।"

यजुर्वेद में ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमी नामक तीन तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। इनका उल्लेख जैनधर्म के पहले, दूसरे और २२वें तीर्थंकर के रूप में किया गया है। भागवत पुराण भी इस बात की पुष्टि करता है कि जैनधर्म के संस्थापक ऋषभ ही थे।

विश्वशांति का संवाहक प्राचीनतम जैनदर्शन जन-जन का दर्शन बन गया और इसीलिए देश में ही नहीं अपितु विदेशों में भी इनके सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण समादर रहा। इंडोनेशिया में स्थित बोरोबुदूर (नंदीश्वरद्वीप/समवसरण मंदिर), कंबोडिया, थाईलैण्ड में भी जैन पुरातत्त्व के अवशेष प्राप्त हुए हैं। वियतनाम, म्यान्मार (बर्मा), मैक्सिको से प्राप्त पुरातत्त्व अवशेषों से जैन संस्कृति के वहाँ प्रचलित होने के प्रमाण मिले हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों में जैनधर्म—

दिनाँक ५ मार्च २००६ को जैनधर्म को अन्तर्राष्ट्रीय धर्मों के संगठन (IRO) में १०वें धर्म के रूप में मान्यता प्रदान की गई।

अमेरिकी संसद ने दिनाँक २७-१०-२००७ को विधेयक क्र. ७४७ पास किया, जिसमें अमेरिका व विश्व में दीवाली के त्योहार को अन्य धर्मों की तरह जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के उपलक्ष्य में जैनों द्वारा महत्त्व रूप से मनाया जाना, ऐसा माना है।

(2)

जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त

भारत की धरती पर प्राचीनकाल से प्रचलित अनेकानेक धर्मों में प्राचीनतम धर्म के रूप में माना जाने वाला जैनधर्म है, जो विशेष रूप से जितेन्द्रियता पर आधारित है।

जैनधर्म के विषय में कुछ लोगों की धारणा यह है कि यह निरीश्वरवादी और नास्तिक धर्म है तथा इसकी स्थापना ईसा से ५४० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने की है किन्तु इस धर्म के प्राचीन ग्रंथों से विदित होता है कि सृष्टि का कर्ता कोई महासत्ता ईश्वर नहीं है अपितु प्रत्येक जीवात्मा अपने-अपने कर्मों का कर्ता स्वयं होता है। वही जब कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर मोक्ष में चला जाता है तो ईश्वर, भगवान, परमात्मा आदि नामों से जाना जाता है और ऐसा ईश्वर जैन मान्यतानुसार पुनः संसार में कभी जन्म नहीं धारण करता है, प्रत्युत् लोकशिखर पर निर्मित एक सिद्धशिला नामक सर्वसुखसम्पन्न स्थान पर वह सदा-सदा के लिए अनन्तसुख में निमग्न रहता है। ईश्वर के प्रति यही मान्यता उनकी ईश्वरवादिता एवं आस्तिकता समझी जाती है। ईश्वर सृष्टिकर्तृत्व एवं पुनः-पुनः उनके संसार में जन्म धारण करने की बात जैनधर्म में दोषास्पद मानी गई है, अष्टसहस्री नामक ग्रंथ में इस विषयक अतिसुन्दर सामग्री उपलब्ध होती है।

इस प्रकार जैनधर्म जाति के रूप में नहीं बल्कि एक धर्म के रूप में ही भारतदेश की धरती पर कब से चल रहा है यह किसी को पता नहीं है किन्तु समय-समय पर तीर्थंकर महापुरुषों ने जन्म लेकर इस जैनधर्म की सार्वभौमिकता से परिचित कराया है। इस तीर्थंकर परम्परा में वर्तमान जैन इतिहास के अन्दर २४ नाम प्रमुखता से आते हैं—

१. ऋषभदेव (आदिनाथ), २.अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनंदननाथ, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभु, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभु, ९. पुष्पदंतनाथ, १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्यनाथ, १३. विमलनाथ, १४. अनंतनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शांतिनाथ, १७. कुंथुनाथ, १८. अरहनाथ, १९. मल्लिनाथ, २०, मुनिसुव्रतनाथ, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. महावीर स्वामी।

जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्त—उपर्युक्त सभी तीर्थंकर अपने-अपने समय पर धरती पर क्षत्रिय कुल में जन्मे बड़े राजा के रूप में माने गये हैं। एक तीर्थंकर के निर्वाण प्राप्ति के बाद ही दूसरे तीर्थंकर अवतरित होते थे और जब तक दूसरे का जन्म नहीं होता था तब तक पहले वाले तीर्थंकर का ही शासनकाल माना जाता था, क्योंकि उनकी वाणी परम्परा से उनके मुनि शिष्यगण आगे भक्तों तक प्रेषित करते थे।

जैनधर्म ने भगवान बनने के बाद किसी भी जीव के अवतारवाद को पूर्णतः अस्वीकार करते हुए सिद्ध महापुरुषों का संसार में पुनरागमन नहीं माना है।

ये सभी तीर्थंकर मूलतः पाँच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) को धारण कर दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण करते थे पुनः मयूरपंख की पिच्छिका और काष्ठ का कमण्डलु इनकी मुख्य

पहचान मानी जाती थी। दीक्षा के बाद मौन धारण करके ये तपस्या करते थे और कभी–कभी जंगल से नगर में आकर जैन गृहस्थों के घरों में ही जैनविधि अनुसार करपात्र में शुद्ध सात्विक भोजन ग्रहण करते थे। उनको भोजन देने के लिए लोग बड़े भक्तिभाव के साथ अपने–अपने घर के द्वार पर खड़े होकर आदरपूर्वक बोलते थे—

"हे स्वामिन् ! नमोस्तु–नमोस्तु–नमोस्तु, अत्र तिष्ठ–तिष्ठ आहार जल शुद्ध है"

पुनः अपने दरवाजे पर पधारे उन अतिथि महापुरुष को घर के अंदर ले जाकर नवधाभक्तिपूर्वक आहार (भोजन) देकर गृहस्थजन अपने को धन्य समझते थे। जैन पुराणों के अनुसार तो उनके ऐसे आहार के अवसरों पर आकाश से देवता भी रत्न, पुष्प एवं गंधोदक आदि पंचाश्चर्यों की वृष्टि करते थे जिसे पूरा नगर एकत्रित होकर देखता था। आज के कलियुग में नहीं दिखने वाला यह दृश्य कुछ लोग काल्पनिक मानकर उन महान जैन सन्तों को भिक्षुक के रूप में जानने लगते हैं किन्तु परमसत्यता एवं जितेन्द्रियता का पाठ पढ़ाने वाली यह दिगम्बर मुनिचर्या आज भी भारत के विभिन्न भागों में पदविहार करने वाले प्रत्येक दिगम्बर जैन मुनि के भोजन के समय देखी जा सकती है। आज के इस कलियुग में देवता द्वारा रत्नवर्षा आदि तो नहीं होती है किन्तु उनकी भोजन प्रक्रिया से तीर्थंकरों की कठिन चर्या का सहज ही ज्ञान हो सकता है।

इन सभी तीर्थंकरों ने अनादि परम्परानुसार दीक्षा एवं तपस्या के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा प्रमुख रूप से निम्न पांच व्रतों का उपदेश दिया—

१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अचौर्य, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह।

इन पांच व्रतों को पूर्ण रूप से पालन करने वाले दिगम्बर मुनि होते हैं और इन्हें तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी ग्रहण करते हैं इसलिए ये 'महाव्रत' नाम से जाने जाते हैं। इन्हीं पांचों व्रतों का आंशिक रूप में पालन गृहस्थजन करते हैं अतः 'अणुव्रत' संज्ञा से भी इनकी पहचान होती है। आज भी जैन समाज के पुरुष–स्त्रियां अपनी–अपनी श्रद्धा, शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार महाव्रत एवं अणुव्रत को ग्रहण करते हुए अपनी सांसारिक इच्छाओं पर अंकुश लगाते देखे जाते हैं।

इन पांचों महाव्रतों को ग्रहण करने वाले पुरुष आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन श्रेणियों में विभक्त हैं तथा जो स्त्रियां (कुंवारी कन्या, सौभाग्यवती अथवा विधवा) इन महाव्रतों को धारण करती हैं उन्हें दिगम्बर जैन परम्परा में आर्यिका तथा उनकी संघ प्रधान साध्वी को गणिनी की संज्ञा प्राप्त होती है। ये साध्वियाँ एक सफेद साड़ी धारण कर मुनियों के समान ही समाज में अपने संघों के साथ विचरण करती हुई धर्मोपदेश, साहित्य लेखन एवं धार्मिक कार्यकलापों की प्रेरणा प्रदान करती हैं।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भद्रबाहु मुनिराज के समय से दो भागों में विभाजित जैन समाज दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नाय में से दिगम्बर आम्नाय के ग्रंथों में पांचों महाव्रतों की बात सभी तीर्थंकरों द्वारा अपनाने और उपदेश देने की बात कही गई है जबकि श्वेताम्बर मान्यतानुसार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के द्वारा ब्रह्मचर्य को छोड़कर चार व्रतों का उपदेश देने की बात कही है और महावीर को उसमें ब्रह्मचर्य को जोड़कर पांच महाव्रतों का उपदेष्टा माना है।

उपर्युक्त पांचों व्रतों के विपरीत पांच पाप होते हैं—

१. हिंसा, २. झूठ, ३. चोरी, ४. कुशील, ५. परिग्रह।

इन पापों में लिप्त रहने वाले मनुष्य तामसीवृत्ति के धारक और नरक–पशु आदि गतियों के दुःख भोगते हैं जबकि व्रतों से सहित सदाचारी जीवन जीने वाले स्वर्ग सुखों को प्राप्त करते हैं ऐसा पुनर्भव का सिद्धान्त मानने वाले सभी जैन (आस्तिकवादी) मानते हैं।

इसी प्रकार से जैन ग्रंथों में मानव को सदाचारी जीवन व्यतीत करने हेतु व्यसनों से दूर रहने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

वे व्यसन सात होते हैं—१. जुआ खेलना, २. मांसाहार करना, ३. मदिरा (शराब) पीना, ४. वेश्यासेवन करना, ५. शिकार खेलना, ६. चोरी करना, ७. परस्त्री सेवन करना।

इन सातों व्यसनों का सेवन करने वाले मानव अगले जन्म में सातों नरकों में जाने का मानो द्वार ही खोल लेते हैं, इनके विपरीत व्यसनमुक्त जीवन देवताओं का सुख प्रदान करने वाला माना गया है।

जैनधर्म का मूल मंत्र भी अनादि प्राकृतिक रूप से चला आ रहा है, जो निम्न प्रकार है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

इस मंत्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच उत्तम पद के धारी महापुरुषों को नमन करते हुए उन्हें पंचपरमेष्ठी के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें से अरिहंत और सिद्ध तो ईश्वर परमात्मा हैं जो पूर्ण कृतकृत्य अवस्था में रहते हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीन परमेष्ठी वर्तमान में भी चतुर्विध संघ के साथ विचरण करते हुए आत्मकल्याण एवं जनकल्याण में प्रवृत्त देखे जाते हैं।

जैनधर्म में अहिंसा के सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है, जो केवल पशु–पक्षियों के प्रति ही नहीं वरन् पेड़–पौधे और जल–अग्नि आदि के रूप में रहने वाले सूक्ष्म जीवों की आत्मा के लिए भी दयाभाव रखने का उपदेश देता है तथा किसी अन्य के प्रति होने वाले गलत विचारों को भी जैनधर्म ने भाव हिंसा माना है इसलिए अन्य धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म की अहिंसा अत्यधिक व्यापक कही गई है किन्तु हिंसक व्यक्ति से अपने परिवार की, धर्म की एवं देश की रक्षा के लिए अस्त्र–शस्त्र उठाने को इस धर्म ने विरोधी हिंसा कहकर गृहस्थ के लिए स्वीकार किया है।

श्रमण और गृहस्थ इन दो रूपों में उपदिष्ट जैनशासन के सूत्रों ने भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति में भी भारी सहयोग किया है और आज भी विश्व भर में फैले आतंकवाद को उन्हीं अहिंसाप्रधान सिद्धान्तों के द्वारा समाप्त किया जा सकता है, ऐसी जैनधर्म की मान्यता है।

तीर्थंकर महावीर का जैनधर्म के प्रवर्तन में योगदान

जैनशासन की धार्मिक मान्यतानुसार प्रत्येक सतयुग (दुःषमासुषमा नामक चतुर्थकाल) में २४–२४ महापुरुष जन्म लेते हैं जिन्हें तीर्थंकर कहते हैं। इस तीर्थंकर शृंखला में अनेक बार २४ तीर्थंकर इस धरती पर पहले हो चुके हैं और आगे भविष्य में भी अनेक बार २४ तीर्थंकर होंगे, जिनके जन्म सदा से 'अयोध्या' में ही होने का वर्णन प्राचीन जैन शास्त्रों में मिलता है किन्तु ऋषभदेव से महावीर तक वर्तमानकालीन २३ तीर्थंकरों में से

कुछ तीर्थंकर (ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ, अनंतनाथ) का जन्म ही इस बार अयोध्या में हुआ तथा शेष तीर्थंकरों ने कालदोष से अलग-अलग नगरों में जन्म ले लिया। उन अनेक स्थानों में बिहार प्रान्त भी विशेष सौभाग्यशाली हो गया क्योंकि वह धरती २४वें तीर्थंकर महावीर के जन्म से पावन हुई। महावीर का जीवनवृत्त निम्न प्रकार है—

आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व (ईसा से लगभग ५९९ वर्ष पूर्व) बिहार प्रान्त के 'कुण्डलपुर' (वर्तमान नालंदा जिले में स्थित) नगर में राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला (प्रियकारिणी) ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी सोमवार की रात्रि में तीर्थंकर शिशु को जन्म दिया था। उनका बचपन का नाम 'वर्धमान' और दूसरा नाम 'वीर' था। नाथवंश के राजघराने में जन्मे वर्धमान के नाना बिहार प्रान्त में ही 'वैशाली' नगरी के राजा थे, उनके दस पुत्र थे तथा सात पुत्रियों में से सबसे बड़ी 'त्रिशला' को वर्धमान की मां बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

वर्तमान में कुछ आधुनिक इतिहासकार महावीर की जन्मभूमि के रूप में 'वैशाली' के कुण्डग्राम को बताते हैं किन्तु इस विषय में प्राचीन दिगम्बर जैन आगम में बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर नगर का वर्णन आता है कि वहां के राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमती के सिद्धार्थ नामक पुत्र थे। वे युवराज सिद्धार्थ ही आगे चलकर कुण्डलपुर के महाराजा सिद्धार्थ कहलाये, उनका विवाह वैशाली के राजा चेटक और रानी सुभद्रा की पुत्री त्रिशला के साथ हुआ। पुनः त्रिशला के गर्भ में जब तीर्थंकर महावीर आये, तो उनके 'नंद्यावर्त महल' के आंगन में कुबेर ने रत्नों की वर्षा की थी और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि को महावीर का जन्म हुआ था। श्वेताम्बर जैनों के अनुसार बिहार के ही एक 'लिछवाड़' ग्राम को महावीर की जन्मभूमि माना जा रहा है। कतिपय शोधकर्ताओं ने वैशाली के कुण्डग्राम को भी महावीर की जन्मभूमि माना है।

महावीर ने ३० वर्ष की युवावस्था में राजसुखों का त्यागकर जैन दीक्षा धारण की थी और बारह वर्ष कठोर तपस्या के बाद उन्हें कैवल्यज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

श्वेताम्बर जैन साहित्य के अनुसार महावीर का यशोदा नामक राजकुमारी के साथ विवाह होना और एक पुत्री का पिता होना माना गया है। दिगम्बर जैन साहित्य ने सर्वत्र उन्हें बाल ब्रह्मचारी स्वीकार कर पंच बालयतियों में (वासुपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्व और महावीर) उनकी विशेषता बतलाई है। इन आगम ग्रंथों में चौबीस तीर्थंकरों में से उन्नीस को विवाहित और राज्य व्यवस्था संचालित करने के कारण राजा माना है एवं पांच तीर्थंकरों ने विवाह प्रस्ताव ठुकरा कर युवावस्था में ही दीक्षा ले ली इसलिए वे युवराज ही रहे और बालब्रह्मचारी तीर्थंकरों की गणना में आये। प्रभु महावीर अपने बारहवर्षीय दीक्षित जीवन के मध्य एक बार कौशाम्बी नगरी में गये, वहां वैशाली के राज चेटक की सबसे छोटी कन्या चन्दना एक सेठानी द्वारा सताई जाने के कारण बेड़ियों में जकड़ी हुई थी। महावीर को देखते ही उसकी बेड़ियाँ स्वयं टूट गईं, उसके मुंडे सिर पर केश आ गये। कोदों का भात सुगंधित खीर बन गई अतः प्रसन्नतापूर्वक चंदना ने उन्हें आहार देकर अपने सतीत्व का परिचय दिया। बाद में यही चन्दना महावीर के समवसरण की प्रमुख साध्वी (गणिनी) बनीं और इतिहास में उनकी घटना विशेष उल्लेखनीय बन गई।

भगवान महावीर के जीवनकाल में एक विशेष प्रसंग भी आया है कि पूर्ववर्ती सभी तीर्थंकरों के समान

केवलज्ञान होते ही उनकी दिव्यध्वनि प्रस्फुटित नहीं हुई और वे ६६ दिन तक मौनपूर्वक ही विहार करते रहे। इसका कारण उनके शिष्य रूप गणधर का अभाव बताया गया है पुनः जब इन्द्र ने अपनी बुद्धि से एक गौतम गोत्रीय विद्वान को वहां उपस्थित किया, तो वह महावीर के दर्शनमात्र से प्रभावित होकर अपने ५०० शिष्यों के साथ उनके शिष्य बन गये, उनके दीक्षा धारण करते ही महावीर की दिव्यध्वनि प्रगट हो गई, वह दिन श्रावक कृ. एकम् का था, जो आज भी जैन समाज में 'वीर शासन जयंती' के रूप में मनाया जाता है। बिहार प्रान्त में राजगृही नगर की पंचपहाड़ी में से विपुलाचल नामक पर्वत है जहाँ महावीर देशना के साक्ष्य आज भी विद्यमान हैं।

पुनः ३० वर्ष तक तीर्थंकर महावीर ने अपने दिव्य केवलज्ञान से सारे संसार को उपदेश दिया और ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्णा अमावस के प्रभातकाल में बिहार के पावापुर नगर में उनका महानिर्वाण हो गया अर्थात् उन्होंने परमात्म पद प्राप्त कर लिया। जैन पुराणों के अनुसार उस दिन स्वर्ग से देवताओं ने भी आकर अंधेरी रात को दीपमालिका से जगमगा दिया था अतः तभी से वीर निर्वाण के रूप में दीपावली पर्व मनाया जाने लगा है और तब से वीर निर्वाण संवत् भारत में सबसे प्राचीन संवत्सर के रूप में प्रचलित है।

महावीर के द्वारा उपदिष्ट समस्त सिद्धान्तों को उनके गणधर शिष्य इन्द्रभूति गौतम ने ग्यारह अंग, चौदह पूर्व रूप में प्रस्तुत किया, वही क्रम परम्परा से आज तक विभिन्न ग्रंथों में उपलब्ध हो रहा है। दिगम्बर जैन शासन ने यह श्रुतज्ञान चार अनुयोग रूप (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग) में प्रतिपादित अंग और पूर्व का अंश माना है और श्वेताम्बर जैन मान्यता ने अंग और पूर्वरूप सभी आगम ग्रंथों का अपने आचार्यों द्वारा लेखन स्वीकार किया है। महावीर के समवसरण में प्रविष्ट होते ही सबसे पहले इन्द्रभूमि गौतम ने संस्कृत भाषा में स्तुति की थी, जो चैत्यभक्ति के रूप में 'जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचार–विजृम्भिता....." इत्यादि सुन्दर पठनीय है, पुनः उन्होंने भगवान की ऊँकारमयी वाणी को श्रमण और गृहस्थों तक पहुँचाने के लक्ष्य से प्राकृत भाषा में सुदं मे आउस्संतो!..... इत्यादि शिष्ट और मिष्ट भाषा का प्रयोग करके उनके आचार–विचार की बात बताई।

जैन शास्त्रों के अनुसार महावीर के जन्म से लेकर निर्वाण जाने तक इन्द्र देवता और बड़े–बड़े सम्राट् राजा सदैव उनकी भक्ति में तत्पर रहते थे तथा उनके व्यक्तित्व में ऐसा चुम्बकीय आकर्षण था कि पास आने वाला प्रत्येक प्राणी उनका भक्त बन जाता था। मनुष्यों की बात तो दूर, शेर और गाय जैसे प्राणी भी उनके पास आकर जन्मजात वैर भाव छोड़कर एक घाट पर पानी पीने लगते थे।

ऐसे अहिंसामयी जैनधर्म के पुनरुद्धारक भगवान महावीर की सर्वोदयी शिक्षाएं आज भी विश्वशांति के लिए महान उपयोगी हैं।

(3)

धर्म और दर्शन

भारत एक धर्मप्रधान देश है। आदिकाल से ही यहाँ के अनेक तत्त्वचिंतकों ने जीवन और जगत् के संबंधों को पहचाना है, उसके रहस्य को समझा है। व्यक्ति के सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, संयोग-वियोग के कारणों पर उनका ध्यान गया। उन्होंने व्यक्ति के राग-द्वेषादिक द्वंदों तथा उसके जन्म और मृत्यु के चक्र से ऊपर उठने के मार्ग की गवेषणा की है। जिस प्रकार अपने दीर्घकालीन जीवन के अनेक प्रयोगों के बाद कोई निष्पत्ति वैज्ञानिकों के हाथ लगती है, वे वस्तु की तह में जाकर उसके मर्म को पकड़ते हैं, तब उन्हें कोई सूत्र मिलता है। ठीक उसी तरह ऐहिक चिन्ताओं से मुक्त तत्त्व दृष्टाओं ने अपनी आत्मा के अंतर्मंथन से जो नवनीत प्राप्त किया है, धर्म उसकी ही अभिव्यक्ति है। उसी के निरूपण के लिए विविध दर्शनों की उद्भूति हुई है। 'दर्शन' का अर्थ होता है 'दृष्टि'। दर्शन विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं के वैचारिक पक्ष का नाम है, जबकि धर्म उसके आचारात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। आत्मा क्या है ? परलोक क्या है ? विश्व क्या है ? ईश्वर क्या है ? आदि जिज्ञासाओं का समाधान दर्शन से ही किया जाता है। दर्शन के ही माध्यम से जीवात्मा अपनी अनंत शक्ति को पहचानकर परमात्मा दशा को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। यद्यपि धर्म और दर्शन अलग-अलग हैं, फिर भी इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। विचारों का प्रभाव मनुष्य के आचरण पर अवश्य पड़ता है तथा व्यक्ति का आचार ही व्यक्ति के विचारों को अभिव्यक्ति दे सकता है। आचार के बिना विचार साकार रूप ग्रहण नहीं कर सकता। एक-दूसरे के अभाव में दोनों अधूरे और एकांगी हैं। व्यक्ति के आचार और विचारों का सम्यक् समायोजन ही धर्म का परम ध्येय है।

आचार और विचार की इसी अन्योन्याश्रिता को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय तत्त्व चिंतकों ने धर्म और दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया है। उन्होंने एक ओर जहाँ तत्त्वज्ञान की प्ररूपणा कर दर्शन की प्रस्थापना की है तो वहीं दूसरी ओर आचार शास्त्रों का निरूपण कर साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय परम्परा में आचार को धर्म तथा विचार को दर्शन कहा गया है। जब मानव विचारों के गर्भ में प्रवेश करता है तब दर्शन जन्म लेता है तथा जब विचारों को आचरण में ढालता है, तब धर्म प्रकट होता है। धर्म तथा दर्शन परस्पर पूरक है। एक के बिना दूसरा एकांगी और अपूर्ण है। दर्शनरहित आचरण अंधा है। जिस आचरण में विवेक की जगमगाती ज्योति नहीं है वह सही और गलत की अंध गलियों में भटकता रहेगा। आचार का मार्गदर्शक विचार है। विचार ही आचार को सन्मार्ग पर चलाता है। दूसरी ओर आचाररहित विचार पंगु है। मुक्ति के साधनापथ पर आचाररहित साधक आगे नहीं बढ़ सकता। दीपक के बारे में विद्वत् चर्चा से प्रकाश प्रगट नहीं होता, प्रकाश तो दीप जलाने की क्रिया (आचरण) से ही प्रगट होता है। इस तरह आचाररहित विचार और विचाररहित आचार दोनों ही निरर्थक हैं। दोनों का समन्वय ही सच्ची धर्म साधना है जिसके द्वारा मुक्ति की मंजिल प्राप्त की जा सकती है।

जैन दर्शन—

जिसके द्वारा देखा जावे अर्थात् जीवन व जीवन-विकास का ज्ञान प्राप्त किया जावे, उसे दर्शन (Philosophy) कहते हैं। युक्तिपूर्वक तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करने के प्रयत्न को ही दर्शन कहते हैं। दर्शन में आत्मा, परलोक, विश्व, ईश्वर आदि गूढ़ विषयों को समझने का प्रयत्न किया जाता है। धर्म में आत्मा को परमात्मा बनने का मार्ग बताया जाता है। धर्म प्रवर्तकों ने केवल आचार-रूप धर्म का ही उपयोग नहीं किया है, अपितु स्वभाव-रूप धर्म का भी उपदेश दिया है, जिसे दर्शन कहा जाता है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित दर्शन ही जैन दर्शन है। छः द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ आदि का इसमें मुख्यतया वर्णन है। जैन धर्म आत्मा, परमात्मा व पुनर्जन्म में विश्वास करता है।

यद्यपि दर्शन और धर्म (वस्तु स्वभाव-आचार-रूप धर्म) दोनों अलग अलग विषय हैं, फिर भी दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सर्वविदित है कि विचार के अनुसार ही मनुष्य का आचार भी होता है। जैसे जो व्यक्ति आत्मा, परलोक और पुनर्जन्म को नहीं मानता है, उसकी प्रवृत्ति व आचार भोगवादी होगा और जो इन्हें मानता है, उसकी प्रवृत्ति और आचार इसके विपरीत (निवृत्ति की ओर) होगा। इस प्रकार विचारों का प्रभाव मनुष्य के आचार पर गहरा पड़ता है अतः दर्शन का प्रभाव धर्म पर भी गहरा पड़ता है और एक को समझे बिना दूसरे को समझा नहीं जा सकता है। जैनधर्म भी एक दर्शन है। चूँकि वह वस्तु स्वभावरूप धर्म में ही अन्तर्भूत हो जाता है अतः उसे भी हम धर्म का ही एक अंग समझते हैं अतएव जैन दर्शन से अभिप्राय "जिन" द्वारा कहे गये विचार और आचार दोनों ही लेना चाहिए।

जैन दर्शन की विशेषताएँ—

जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अहिंसा, अपरिग्रह, छः द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ आदि हैं। जैन दर्शन की कुछ अन्य विषेशताओं का वर्णन यहाँ दिया जा रहा है—

ईश्वर सृष्टि का कर्ता-हर्ता नहीं—

जैनधर्म ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार करता है, मगर अन्य धर्मों की भाँति ईश्वर को इस सृष्टि का बनाने वाला (कर्ता), पालने वाला (पालक) और नाश करने वाला (हर्ता) नहीं मानता है। जो आत्मा मोक्ष प्राप्त करके लोक के शिखर पर विराजमान होकर अनन्त सुख भोग रही है, वे ही जैनधर्म के अनुसार ईश्वर, भगवान, सिद्ध आदि नामों से जाने जाते हैं। ये किसी भी कार्य के कर्ता या हर्ता नहीं हैं अपितु मात्र ज्ञाता व दृष्टा हैं। इनका अब इस संसार के किसी भी कार्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहा है। ये कृतकृत्य हैं अर्थात् कोई भी कार्य इनके करने हेतु बाकी नहीं रहा है। वे किसी का भी हित या अहित नहीं करते हैं। इस प्रकार वे सृष्टि के कर्ता, पालक या हर्ता नहीं हो सकते हैं।

जैनधर्म यह भी नहीं मानता कि किसी दुष्ट व्यक्ति को दण्डित करने तथा सज्जन व्यक्ति की रक्षा करने वाली कोई शक्ति (ईश्वर) होती है। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक जीव स्वयं के द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार ही विभिन्न योनियाँ धारण करता है और सुख-दुःख उठाता है। ऐसी कोई अन्य शक्ति नहीं है जो उसे सुख या दुःख दे सके।

जैनधर्म के अनुसार जीव-अजीव द्रव्य का कर्मप्रकृति अनुसार एकदेश संयोग ही जगत् का कर्ता-हर्ता है।

इनके द्वारा संसार अनादिकाल से रचा हुआ है। इन्हें किसी ने बनाया नहीं है और संसार में स्वतंत्र हैं। ये ही संसार की सबसे बड़ी ताकतें हैं जो संसार में कार्य कर रही हैं। इनके अलावा अन्य कोई शक्ति नहीं है। जीव-अजीव द्रव्यों का यह खेल अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा।

कर्म सिद्धान्त—

जैनधर्म का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। संसारी जीव अनादिकाल से कर्मो से संयुक्त है और इन कर्मों के कारण जन्म-मरण के चक्र में फंसा हुआ है। जब पूर्व में बँधे कर्म उदय में आते हैं तो जीव उनके फल को समतापूर्वक नहीं सहता है और उसके परिणाम राग-द्वेषरूप होते हैं, जिससे नये कर्म बँधते हैं। कर्मों के बँधने से गतियों में जन्म लेता है और जन्म लेने पर शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियां होती हैं जो अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। विषयों के ग्रहण करने से इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष उत्पन्न होते हैं और फिर रागी-द्वेषी परिणामों से नवीन कर्म बँधते हैं और इस प्रकार कर्म बँधने का यह चक्र चलता ही रहता है। यह चक्र अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। यदि जीव ऐसे सार्थक प्रयास करके आत्मा के साथ बँधे कर्मों का सर्वथा नाश (अभाव) कर देता है, तो उसे शुद्ध अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिसे मोक्ष कहा जाता है। जीव द्वारा मोक्ष प्राप्त करना जैनदर्शन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

जीव द्वारा मन-वचन-काय से की गई क्रियाओं से प्रभावित होकर कुछ पुद्गल वर्गणा जीव के प्रदेशों में प्रवेश करती हैं। यह बात केवल जैन दर्शन में ही है, अन्य दर्शनों में नहीं है। जैनधर्म कर्मसिद्धान्त पर ही टिका हुआ है। जैनधर्म प्रत्येक जीव के कर्मों को ही उसका विधाता मानता है। जब तक ये कर्म जीव के साथ लगे हुए हैं, वह जीव संसार में विभिन्न योनियों में भ्रमण करता रहता है और सुख-दुःख उठाता है। अन्य धर्मों में भी कर्मों की प्रधानता को माना गया है। तुलसीदास जी ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकारा है—

''कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहिं, सो तस फल चाखा।।''

जीव इन कर्मों का नाश करके अपने को कर्मों से सर्वथा मुक्त कर लेता है तो वही जीव परमात्मा (ईश्वर) बन जाता है। इस प्रकार जैनदर्शन इस कर्म सिद्धान्त के माध्यम से आत्मा से परमात्मा बनने की कला सिखाता है। प्रत्येक जीव अपने आत्मपुरुषार्थ से आत्मा की इस परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

पुनर्जन्म-

जैनधर्म पुनर्जन्म में विश्वास करता है। जैनधर्म के अनुसार जब तक जीव कर्मों से मुक्त नहीं हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक उसका पुनः-पुनः जन्म विभिन्न योनियों में होता रहता है। मोक्ष पद प्राप्त करने के पश्चात् उस जीव का पुनः जन्म नहीं होता है।

आज के वैज्ञानिक युग में पुनर्जन्म के समाचार यदा-कदा प्रकाशित होते रहते हैं। कुछ बच्चे अपने पूर्व जन्म के माता, पिता, पति, गाँव, मित्र आदि के नाम बता देते हैं और सम्बन्धित ग्राम में जाकर उन्हें पहचान भी लेते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि पुनर्जन्म होता है। यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य मरकर मनुष्य गति में ही जन्म ले। वह अपने कर्मों के अनुसार किसी भी गति में जन्म ले सकता है।

मोक्षमार्ग—

जैनधर्म यह भी सिखलाता है कि पुनः-पुनः जन्म से मुक्ति कैसे प्राप्त हो। इस हेतु जैन आगम में एक सिद्धान्त प्रतिपादित है- "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"। इसके अनुसार सम्यक् रूप से दर्शन, ज्ञान व चारित्र के होने से ही जीव को मुक्ति मिल सकती है और यही मोक्ष का एक मात्र मार्ग है। आत्मा के उद्धार के लिये अन्य कोई रास्ता नहीं है। हिन्दू धर्म में भक्ति मार्ग, ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग अलग-अलग मोक्ष के मार्ग हैं, मगर जैनधर्म में सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकरूपता ही एकमात्र मोक्ष का मार्ग है।

अहिंसा—

अहिंसा जैनधर्म का आधारस्तम्भ है। जैनधर्म में प्राणी मात्र के कल्याण की भावना निहित है। जैनधर्म में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े के अलावा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को भी जीव माना गया है। जैनधर्म के अनुसार इन जीवों को न मारना अहिंसा है। किसी का दिल दुखाना तथा अपने अन्दर राग-द्वेष जनित विकारी भावों की उत्पत्ति को भी हिंसा माना गया है। भगवान महावीर के प्रमुख संदेश "अहिंसा परमो धर्मः" तथा "जिओ और जीने दो" भी अहिंसा पर आधारित हैं।

काल परिवर्तन—

जैनधर्म के अनुसार कालचक्र एक बार उत्सर्पिणी रूप और एक बार अवसर्पिणी रूप में परार्वतन करता है और इनमें २४-२४ तीर्थंकर होते हैं जिनके द्वारा जैनधर्म प्रकाशित व उपदिष्ट हुआ है। भविष्य में भी इसी प्रकार २४-२४ तीर्थंकर होते रहेंगे।

भगवान के पुनः अवतरण की परम्परा नहीं—

अन्य धर्मों की भांति जैनधर्म में अवतार लेने की परम्परा नहीं है। जैनधर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी कठोर तप-साधना से भगवान बन सकता है और जो भगवान बन जाता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। इस प्रकार भगवान बनने वाले व्यक्ति (आत्मा) का पुनः भगवान के रूप में या अन्य रूप में अवतरित होना संभव ही नहीं है।

देव-शास्त्र-गुरु—

जैनधर्म में ऋषियों की परम्परा, उनकी चर्या, धार्मिक साहित्य, तीर्थ, आत्मा व परमात्मा का स्वरूप, मूर्तियों की मुद्रा, उपासना-क्रिया आदि अन्य धर्मों से भिन्न है। पूज्य व पूज्यता में भी अन्तर है। जैनधर्म में वीतरागी देव और वीतरागता ही पूज्य है।

इस प्रकार जैनधर्म अन्य धर्मों से भिन्न व स्वतंत्र धर्म है जो अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

जैनधर्म का स्वरूप—

जैन शब्द जिन से बना है।

जिन-"जयति इति जिनः" जीतने वाले को जिन कहते हैं अर्थात् जिन्होंने अपने राग, द्वेष, कामादिक विकारी भावों को जीत लिया है वह जिन हैं।

धर्म—वस्तु के शुद्ध स्वभाव को धर्म कहते हैं। "धरति इति धर्मः" जो धारण किया जाये वह धर्म है। (धर्म व्यवस्थित, व्यवहारिक और वैज्ञानिक हो)

जैनधर्म—

जैनधर्म दो शब्दों से बना है—जैन और धर्म। जैन से अभिप्राय जिन के उपासक से है। "कर्मारातीन् जयतीति जिनः" अर्थात् जिसने काम, क्रोध, मोह आदि अपने विकारी भावों को जीत लिया है, वह "जिन" कहलाता है। "जिनस्य उपासकः जैनः" अर्थात् 'जिन' के उपासक को जैन कहते हैं। जो व्यक्ति 'जिन' के द्वारा बताये मार्ग पर चलते हैं और उनकी आज्ञा को मानते हैं, वे जैन कहलाते हैं। ऐसे जैन के धर्म को जैनधर्म कहते हैं। यह जैनधर्म का शाब्दिक अर्थ है।

जैनधर्म का एक अन्य अर्थ है—"जिन" द्वारा कहा गया धर्म। जीवात्मा काम, क्रोध आदि से घिरा होता है अतः आत्मा के स्वाभाविक गुण (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य) प्रकट नहीं हो पाते हैं। जब जीव अपने पुरुषार्थ से कर्मों की निर्जरा कर देता है तो वही जीव परमात्मा बन जाता है। वह सर्वज्ञ और वीतरागी होता है तथा वह जो भी उपदेश देता है, किसी वर्ग या सम्प्रदाय विशेष के लिये नहीं होता है अपितु प्राणी मात्र के हित के लिये होता है अतः ऐसे "जिन्" (सर्वज्ञ, वीतरागी व हितोपदेशी) द्वारा कहा गया जो धर्म है वही जैन धर्म है। इसे श्रमणधर्म अथवा जिनधर्म भी कहते हैं।

धर्म—

विभिन्न धर्मों में धर्म की व्याख्या अलग-अलग की गई है। जैनधर्म के अनुसार "वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई स्वभाव होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है और जल का स्वभाव शीतलता है। प्रत्येक वस्तु अपने मूल स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती है। अन्य वस्तु का संयोग पाकर स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। जब यह संयोग नहीं रहता है तो वह वस्तु अपने मूल स्वभाव में लौट आती है। जैसे पानी का स्वभाव शीतल है, यदि इसे अग्नि का संयोग प्राप्त हो जावे तो इसके स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है अर्थात् गर्म हो जाता है और जब संयोग समाप्त हो जाता है तो पानी अपने मूल स्वभाव शीतलता में लौट आता है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है व मूल में शुद्ध है, मगर कर्मों के संयोग से यह अशुद्ध होकर संसार में भ्रमण कर रही है। जब कर्मों का संयोग समाप्त हो जावेगा तो यह आत्मा अपने मूल स्वभाव अर्थात् शुद्धता को प्राप्त कर लेगी और सिद्धालय में विराजमान हो जावेगी।

"खमादिभावो य दसविहो धम्मो" अर्थात् क्षमा आदि १० भावों को भी धर्म कहते हैं। क्षमा आदि दस भावों से ही शुद्धात्म स्वभाव को जानकर उससे लिप्त वैभाविक परिणामों (विभाव) से मुक्त हो पाते हैं इसलिये क्षमा आदि दस भाव धर्म हैं।

"उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः" अर्थात् धर्म वही है जो उत्तम सुख (मोक्ष) में पहुँचा दे। आचार्य समंतभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा भी है-

"देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।"

अर्थात् प्राणियों को सांसारिक दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचाने वाला धर्म ही "समीचीन धर्म" है।

"चारित्तं खलु धम्मो" चारित्र को भी धर्म कहा गया है। चारित्र को निश्चय से धर्म कहा है क्योंकि चारित्र धारण किये बिना आत्मा से बद्ध पुद्गल कर्मों की निर्जरा सम्भव नहीं है। चारित्र भाव से क्रियात्मक होना चाहिए अर्थात् शुद्ध भावपूर्वक आचरण में महाव्रत रूप लेना आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' में "चारित्तं खलु धम्मो" से यही निर्देशित किया है।

इस प्रकार धर्म शब्द से दो अर्थों का बोध होता है। एक वस्तु का स्वभाव और दूसरा चारित्र या आचार का। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका कोई स्वभाव नहीं हो जबकि चारित्र केवल चैतन्य आत्मा में ही पाया जाता है। इस प्रकार धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है।

वास्तव में धर्म तो वस्तु का स्वभाव ही है और उसकी प्राप्ति के कारणों को भी कथंचित् धर्म कहा जाता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य की निष्पत्ति नहीं होती है।

धर्म एक ऐसा विज्ञान है जिसके माध्यम से मानव अपनी चेतना को, मन को केन्द्रित करता है, व्यवस्थित करता है। धर्म के माध्यम से मानव अपने विक्षिप्त मन को शांत करता है और आत्मा में शांति का अनुभव करता है। धर्म प्राणियों को उत्तम सुख में पहुँचाता है।

धर्म दो प्रकार का होता है—

(१) व्यवहार धर्म—दान, जप, तप, त्याग आदि व्यवहार धर्म है। अणुव्रत धारण करना व्यवहार धर्म है। पूजा-उपासना करना धर्म का साधन मात्र है। हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना, झूठ नहीं बोलना आदि भी व्यवहार धर्म है। यह निश्चय धर्म का कारण है।

(२) निश्चय धर्म—परिणामों (भावों) की निर्मलता, समता या वीतरागता निश्चय धर्म है। निश्चय धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है, उसकी सुख-शांति से है, वह कषाय मुक्ति स्वरूप है। जितनी मात्रा में कषाय मुक्ति होगी, उतनी मात्रा में समता भाव होकर आत्मिक सुख-शांति भी अवश्य मिलेगी, यह निश्चय धर्म है। व्यवहार धर्म पालने से निश्चय धर्म की प्राप्ति होती है और निश्चय धर्म मोक्ष का कारण है।

Morning Prayer

Tune-Chhum Chhum.....

Wake up-wake up, Human being! And say Siddham in morning. (1)
Wake-up wake-up, O Children! And say Jai Jinendra in morning. (2)
Wake up-wake up, O Gentlemen! And say Namokar in morning. (3)
Wake up-wake up, Dear Brothers! And you say Chattari Mangalam. (4)
Wake up-wake up, O Sisters! Be ready to go to the Temple. (5)
As Food is necessary for body. Prayer is necessary for the Soul. (6)
"Chandnamati" We should pray in morning.All get happiness and joy then.(7)

(4)

णमोकार मंत्र

जैनधर्म में व्यक्ति पूजा का नहीं, गुण पूजा का महत्व है। गुणों की पूजा को भी प्रश्रय इसलिए दिया गया है ताकि वे गुण हमें प्राप्त हो जाये। गुण पूजा का प्रतीक णमोकार महामंत्र है। यह मंत्र किसी ने बनाया नहीं है बल्कि सदा से इसी रूप में चला आ रहा है इसलिए इसे अनादि कहा जाता है। इसी मंत्र से संसार के सब मंत्रों की उत्पत्ति हुई है और यह बीजाक्षरों का जन्मस्थल है। यह महामंत्र इस प्रकार है।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

क्र-	पद	अक्षर	मात्रा	स्वर	व्यंजन
१	णमो अरिहंताणं	७	११	६	६
२	णमो सिद्धाणं	५	९	५	५
३	णमो आइरियाणं	७	११	७	५
४	णमो उवज्झायाणं	७	१२	७	६
५	णमो लोए सव्वसाहूणं	९	१५	९	८
	योग	३५	५८	३४	३०

यह मंत्र प्राकृत भाषा में है और इसकी रचना ''आर्या'' छन्द में है। इस मंत्र के अंतिम पद में ''लोए'' और ''सव्व'' शब्दों का उपयोग हुआ है। ये शब्द ''अन्त्यदीपक'' हैं। ''अन्त्य'' का अर्थ अन्त में और ''दीपक'' का अर्थ प्रकाशित करना होता है। जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक को अन्य वस्तुओं के अन्त में रख देने से वह दीपक पूर्व में रखी सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए अर्थात् इन शब्दों को सम्पूर्ण क्षेत्र में रहने वाले त्रिकालवर्ती अरिहन्त आदि देवताओं को नमस्कार करने के लिये उन्हें प्रत्येक पद के साथ जोड़ लेना चाहिए। इस प्रकार इस मंत्र का अर्थ निम्नानुसार होता है—

लोक में सब अरिहन्तों को नमस्कार हो।
लोक में सब सिद्धों को नमस्कार हो।
लोक में सब आचार्यों को नमस्कार हो।
लोक में सब उपाध्यायों को नमस्कार हो।
लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो।

णमोकार मंत्र का किसी भी अवस्था में कहीं भी स्मरण किया जा सकता है क्योंकि यह मंगलकारक है और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है। फिर भी प्रातः जागते ही, रात्रि को सोने से पूर्व तथा मन्दिरजी में इसका पठन-स्मरण अवश्य करना चाहिए। श्रावक की दिनचर्या में सबसे पहला कर्तव्य नमस्कार मंत्र का स्मरण करना

बतलाया है-

''ब्रह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठि-स्तुतिं पठेत्''

अर्थात् प्रातः ब्रह्म-मुहूर्त में उठकर परम मंगल के लिये नमस्कार मंत्र का स्मरण करें। यात्रा शुरू करने, भोजन के प्रारम्भ करने व समाप्त करने आदि के समय भी प्रायः इस मंत्र का स्मरण किया जाता है। मुनि भी इस मंत्र का जाप करते हैं।

नमन का वास्तविक भाव-

केवल नमस्कार मंत्र को बोलना अथवा नमस्कार करना सही अर्थों में नमन नहीं है। पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप को समझकर उनके गुण चिन्तन करते हुए मन में जो समर्पण भाव उत्पन्न होता है वही वास्तविक नमन है। श्रद्धा इस मंत्र का मूल प्रवाह है। यह मंत्र ''णमो'' से शुरू होता है और ''णमो'' अहंकार का विसर्जन है। जो व्यक्ति नमस्कार करता है, समर्पण भाव रखता है, उसके अहंकार को कोई स्थान नहीं रहता है।

जो भी शब्द हम बोलते हैं उससे वातावरण में प्रकम्पन पैदा होता है और उसकी तरंगें हमें बहुत प्रभावित करती हैं अतः साधक को मंत्र के शब्दों का सही चयन, अर्थ का बोध, शुद्ध उच्चारण और श्रद्धा भावना का योग करना होता है, तभी मंत्र का तदनुसार प्रकम्पन प्रभावशाली और लाभदायक होता है। नमस्कार मंत्र ऐसा मंत्र है जिसमें शब्दों का शक्तिशाली चयन है। इस मंत्र का निश्चित ध्वनि से एकाग्रतापूर्वक जप करने से यह अधिक प्रभावशाली हो सकता है और इसके चिन्तन से आत्मशुद्धि होती है अतः इसका शुद्ध उच्चारण अपरिहार्य है।

अरिहंत को पहिले नमस्कार क्यों ?-

इस मंत्र में सर्वप्रथम ''अरिहन्त'' को नमस्कार किया गया है जबकि पंच परमेष्ठी में सबसे ऊँचा स्थान ''सिद्धों'' का है। इसका कारण यह है कि संसार सागर को पार करने का दिव्य उपदेश जीवों को अरिहन्त द्वारा ही दिया जाता है, ''सिद्धों'' द्वारा नहीं। चूँकि ''अरिहन्त'' की कृपा से ही हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है और जग का कल्याण होता है अतः उनके उपकार के अनुरूप सर्वप्रथम ''अरिहन्त'' को नमस्कार करना युक्तिसंगत है।

इसके अतिरिक्त परमात्मा की दो अवस्थाएँ होती हैं—अरिहन्त और सिद्ध, अतः पहली अवस्था को पूर्व में और दूसरी अवस्था को बाद में नमस्कार किया गया है।

णमोकार मंत्र के विभिन्न नाम-

णमोकार मंत्र प्राकृत भाषा का मंत्र है। प्राकृत में इसे णमोकार मंत्र कहते हैं। संस्कृत में इसे नमस्कार मंत्र कहते हैं। हिन्दी में इसी का अपभ्रंश नाम नवकार मंत्र है।

इस मंत्र के अनेक नाम हैं। इनमें प्रमुख हैं—पंच नमस्कार मंत्र, महामंत्र, अपराजित मंत्र, मूलमंत्र, मंत्रराज, अनादिनिधन मंत्र, मंगल मंत्र आदि। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(१) पंच नमस्कार मंत्र-जो परम पद (मोक्ष) प्राप्त कर चुके हैं अथवा उस मार्ग पर अग्रसर हैं, ऐसे पांच परमेष्ठियों को इस मंत्र में नमस्कार किया गया है अतः इसे पंच नमस्कार मंत्र कहते हैं।

(२) महामंत्र-अपराजित मंत्र—तीनों लोकों में इस मंत्र के समान कोई मंत्र नहीं है। आचार्य उमास्वामी ने णमोकार मंत्र स्तोत्र में कहा है कि तराजू के एक पलड़े में णमोकार मंत्र और दूसरे में तीन लोक रख दें तो

णमोकार मंत्र वाला पलड़ा ही भारी रहेगा अतः इसे महामंत्र अथवा अपराजित मंत्र भी कहते हैं।

(३) मूलमंत्र-मंत्रराज—यह मंत्र संसार के सभी मंत्रों का जनक (मूल) है। इससे ८४ लाख मंत्रों की उत्पत्ति हुई है अतः इसे मूल मंत्र अथवा मंत्रराज भी कहते हैं।

(४) अनादिनिधन मंत्र—पांचों परमेष्ठी अनन्त काल से होते आ रहे हैं और भविष्य में भी अनन्त काल तक होते रहेंगे। इस प्रकार इनका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं है। इस मंत्र को किसी ने बनाया नहीं है और न यह कभी नष्ट होगा अतः यह अनादिनिधन मंत्र कहलाता है। वर्तमान काल की अपेक्षा से आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त ने इस मंत्र को जैनधर्म के महान् ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' में सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध किया।

(५) मंगल मंत्र—यह मंत्र पापों का नाश करने वाला व मंगल करने वाला है।

णमोकार मंत्र का माहात्म्य—

''एसो पंच णमोयारो सव्व-पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवई मंगलं ।।''

यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है और समस्त मंगलों में पहला मंगल है।

मंत्र की विशेषताएँ—

(१) इस मंत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी विशेष व्यक्ति या देवी-देवता को नमस्कार नहीं किया है। जिन्होंने तप-ध्यान करके अपनी आत्मा का कल्याण किया है और परमेष्ठी पद प्राप्त किया है अथवा इस हेतु प्रयासरत रहे हैं अथवा प्रयासरत हैं, ऐसे सभी महापुरुषों को नमस्कार किया गया है।

(२) यह मंत्र किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा जाति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता है। सभी प्राणी चाहे वे किसी भी जाति, संप्रदाय, धर्म, देश के हों अथवा गरीब हों, अमीर हों, इस मंत्र के द्वारा अपना कल्याण कर सकते हैं।

(३) इस मंत्र की एक विशेषता यह भी है कि इसमें किसी प्रकार की याचना नहीं की गई है। केवल निःस्वार्थ भाव से पंच परमेष्ठी के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है। अन्य मंत्रों में कोई न कोई इच्छा प्रायः की जाती है। जैसे—''सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा''। इसमें भी शांति की याचना की गई है। यद्यपि यह सार्वजनिक हित के लिये याचना है फिर भी याचना तो की ही गई है। मगर णमोकार मंत्र में किसी से भी किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष या परोक्ष याचना नहीं की गई है।

(४) णमोकार मंत्र को किसी भी स्थान व स्थिति आदि में जपा जा सकता है। चाहे वह स्थान पवित्र हो, अपवित्र हो, चाहे व्यक्ति गतिमान हो या स्थिर हो, खड़ा हो या बैठा हो, सभी स्थितियों में यह मंत्र जपा जा सकता है।

णमोकार मंत्र को पूर्ण श्रद्धा के साथ जपने से यह बहुत ही फलदायक है अतः आवश्यकता इसी बात की है कि हमें इस मंत्र पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। राजकुमार जीवंधर ने मरणासन्न कुत्ते को यह मन्त्र सुनाया तो कुत्ते का जीव सुदर्शन नामक यक्षेन्द्र हुआ। पद्मरुचि सेठ ने मरणासन्न बैल को णमोकार मंत्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह वृषभध्वज राजकुमार बना। कुछ भव पश्चात् ये दोनों क्रमशः राम और सुग्रीव बने। जिनदत्त सेठ के वचनों को प्रमाणित मानकर अंजन चोर ने परोक्ष रूप से इस मंत्र पर श्रद्धान किया तो उसे आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई और अंजन से निरंजन बना।

इस मंत्र का कभी अपमान नहीं करना चाहिए। इस मंत्र का अपमान दुःखदायी होता है। सुभौम चक्रवर्ती ने अपने प्राणों की रक्षार्थ णमोकार मंत्र को समुद्र के पानी पर लिखकर अपने पैरों से मिटाकर अपमान किया तो व्यन्तर देव ने उसे लवण समुद्र में डुबो दिया और वह मरकर सातवें नरक में चला गया।

"आचार्यों ने द्वादशांग जिनवाणी का वर्णन करते हुए प्रत्येक की पदसंख्या तथा समस्त श्रुतज्ञान अक्षरों की संख्या का वर्णन किया है। इस महामंत्र में समस्त श्रुतज्ञान विद्यमान है क्योंकि पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य श्रुतज्ञान कुछ नहीं है अतः यह महामंत्र समस्त द्वादशांग जिनवाणीरूप है।"

२.४ महामंत्र के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष—

इस मंत्र में ५ पद और ३५ अक्षर हैं। णमो अरिहंताणं=७ अक्षर, णमो सिद्धाणं=५, णमो आइरियाणं=७, णमो उवज्झायाणं=७, णमो लोए सव्वसाहूणं= ९ अक्षर, इस प्रकार इस मंत्र में कुल ३५ अक्षर हैं। स्वर और व्यंजनों का विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है—

यथा—

ण्+अ+म्+ओ+अ+र्+इ+ह्+अं+त्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+स्+इ+द्+ध्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+आ+इ+र्+इ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+उ+व्+अ+ज्+झ्+आ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+ल्+ओ+ए+स्+अ+व्+व्+अ+स्+आ+ह्+ऊ+ण्+अं।

इस तरह प्रथम पद में ६ व्यंजन, ६ स्वर, द्वितीय पद में ६ व्यंजन, ५ स्वर, तृतीय पद में ५ व्यंजन, ७ स्वर, चतुर्थ पद में ६ व्यंजन, ७ स्वर, पंचम पद में ८ व्यंजन, ९ स्वर हैं। इस मंत्र में सभी वर्ण अजंत हैं, यहाँ हलन्त एक भी वर्ण नहीं है। अतः ३५ अक्षरों में ३५ स्वर और ३० व्यंजन होना चाहिए था किन्तु यहाँ स्वर ३४ हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि 'णमो अरिहंताणं' इस पद में ६ ही स्वर माने जाते हैं। मंत्रशास्त्र के व्याकरण के अनुसार 'णमो अरिहंताणं' पद के 'अ' का लोप हो जाता है। यद्यपि प्राकृत में 'एङः'-नेत्यनुवर्तते। एङित्येदोतौ। एदोतोः संस्कृतोक्तः संधिः प्राकृते तु न भवति। यथा देवो अहिणंदणो, अहो अच्चरिअं, इत्यादि। सूत्र के अनुसार संधि न होने से 'अ' का अस्तित्व ज्यों का त्यों रहता है। 'अ' का लोप या खंडाकार नहीं होता है, किन्तु मंत्रशास्त्र में 'बहुलम्' सूत्र की प्रवृत्ति मानकर 'स्वरयोरव्यवधाने प्रकृतिभावो लोपो वैकस्य।[२] इस सूत्र के अनुसार 'अरिहंताणं' वाले पद के 'अ' का लोप विकल्प से हो जाता है अतः इस पद में ६ ही स्वर माने जाते हैं। अतः मंत्र में कुल ३५ अक्षर होने पर भी ३४ ही स्वर माने जाते हैं। इनमें जो द्धा, ज्झा, व्व से संयुक्ताक्षर हैं, उनमें से एक-एक व्यंजन लेने से ३० व्यंजन होते हैं। इस प्रकार से कुल स्वर और व्यंजनों की संख्या ३४+३०=६४ है। मूल वर्णों की संख्या भी ६४ ही है। प्राकृत भाषा के नियमानुसार अ, इ, उ और ए मूल स्वर तथा ज झ ण त द ध य र ल व स और ह ये मूल व्यंजन इस मंत्र में निहित हैं। अतएव ६४ अनादि मूलवर्णों को लेकर समस्त श्रुत-ज्ञान के अक्षरों का प्रमाण निम्न प्रकार निकाला जा सकता है। गाथा सूत्र निम्न प्रकार है—

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा।
रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति।।

अर्थ—उक्त चौंसठ अक्षरों का विरलन करके प्रत्येक के ऊपर दो का अंक देकर परस्पर सम्पूर्ण दो के अंकों का गुणा करने से लब्ध राशि में एक घटा देने से जो प्रमाण रहता है, उतने ही श्रुतज्ञान के अक्षर होते हैं।

इस नियम से गुणाकार करने पर—

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणयं च।।

अर्थात् एक आठ चार-चार-छह-सात-चार-चार-शून्य-सात-तीन-सात-शून्य-नौ-पाँच-पाँच-एक-छह-एक-पाँच, यह संख्या आती है। इस गाथा सूत्र के अनुसार १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ ये समस्त श्रुतज्ञान के अक्षर होते हैं।

इस प्रकार णमोकार मंत्र में समस्त श्रुतज्ञान के अक्षर निहित हैं, क्योंकि अनादिनिधन मूलाक्षरों पर से ही उक्त प्रमाण निकाला गया है अतः संक्षेप में समस्त जिनवाणीरूप यह मंत्र है। इसका पाठ या स्मरण करने से कितना महान् पुण्य का बंध होता है तथा केवलज्ञान लक्ष्मी की प्राप्ति भी इस मंत्र की आराधना से होती है। ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्राचार्य ने इस मंत्र की आराधना को बताते हुए लिखा है—

"इस लोक में जितने भी योगियों ने मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन सबने श्रुतज्ञानभूत इस महामंत्र की आराधना करके ही प्राप्त किया है। इस महामंत्र का प्रभाव योगियों के अगोचर है। फिर भी जो इसके महत्व से अनभिज्ञ होकर वर्णन करना चाहता है, मैं समझता हूँ कि वह वायुरोग से व्याप्त होकर ही बक रहा है। पापरूपी पंक से संयुत भी जीव यदि शुद्ध हुए हैं, तो इस मंत्र के प्रभाव से ही शुद्ध हुए हैं। मनीषीजन भी मंत्र के प्रभाव से ही संसार के क्लेश से छूटते हैं।"

इसलिए इस महामंत्र की महिमा को अचिन्त्य ही समझना चाहिए।

अयं महामंत्रः मंगलाचरणरूपेणात्र संग्रहीतोऽपि अनादिनिधनः, न तु केनापि रचितो ग्रथितो वा। उक्तं च णमोकारमंत्रकल्पे श्रीसकलकीर्तिभट्टारकैः—

महापंचगुरोर्नाम, नमस्कारसुसम्भवम्।
महामंत्रं जगज्जेष्ठ-मनादिसिद्धमादिदम्।।६३।।
महापंचगुरूणां च, पंचत्रिंशदक्षरप्रमम्।
उच्छ्वासैस्त्रिभिरेकाग्र-चेतसा भवहानये।।६८।।

श्रीमदुमास्वामिनापि प्रोक्तम्—

ये केचनापि सुषमाद्यरका अनन्ता, उत्सर्पिणी-प्रभृतयः प्रययुर्विवर्ताः।
तेष्वप्ययं परतरः प्रथितप्रभावो, लब्ध्वामुमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः।।३।।

अथवा द्रव्यार्थिकनयापेक्षयानादिप्रवाहरूपेणागतोऽयं महामंत्रोऽनादिः, पर्यायार्थिकनयापेक्षया हुंडावसर्पिणीकालदोषापेक्षया तृतीयकालस्यान्ते तीर्थंकरदिव्यध्वनिसमुद्गतः सादिश्चापि संभवति।

यह मंत्र किसी के द्वारा रचित या गूँथा हुआ नहीं है। प्राकृतिक रूप से अनादिकाल से चला आ रहा है।

"णमोकार मंत्रकल्प" में श्री सकलकीर्ति भट्टारक ने कहा भी है—

श्लोकार्थ—नमस्कार मंत्र में रहने वाले पाँच महागुरुओं के नाम से निष्पन्न यह महामंत्र जगत् में ज्येष्ठ—सबसे बड़ा और महान है, अनादिसिद्ध है और आदि अर्थात् प्रथम है।।६३।।

पाँच महागुरुओं के पैंतीस अक्षर प्रमाण मंत्र को तीन श्वासोच्छ्वासों में संसार भ्रमण के नाश हेतु एकाग्रचित्त होकर सभी भव्यजनों को जपना चाहिए अथवा ध्यान करना चाहिए।।६८।।

श्रीमत् उमास्वामी आचार्य ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। मैं संसार से बहिर्भूत (बाहर) मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस णमोकार मंत्र को नमस्कार करता हूँ।।३।।

अथवा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि प्रवाहरूप से चला आ रहा यह महामंत्र अनादि है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा हुंडावसर्पिणी कालदोष के कारण तृतीय काल के अंत में तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से उत्पन्न होने के कारण यह सादि भी है।

परमेष्ठी का स्वरूप एवं पंच परमेष्ठी के मूलगुण—

जो परम अर्थात् इन्द्रों के द्वारा पूज्य, सबसे उत्तम पद में स्थित हैं, वे परमेष्ठी कहलाते हैं। वे पाँच होते हैं—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

अरिहंत का स्वरूप

जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, जिनमें ४६ गुण हैं और १८ दोष नहीं हैं, उन्हें अरिहंत परमेष्ठी कहते हैं।

दोहा— **चौंतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।**
अनंतचतुष्टय गुण सहित, छियालीसों पाठ।।१।।

३४ अतिशय + ८ प्रातिहार्य और + ४ अनंतचतुष्टय ये अरिहंत के ४६ मूलगुण हैं। उत्तरगुण अनन्त हैं।

सर्व साधारण प्राणियों में नहीं पायी जाने वाली अद्भुत या अनोखी बात को अतिशय कहते हैं। इन ३४ अतिशयों में जन्म के १०, केवलज्ञान के १० और देवकृत १४ होते हैं।

जन्म के १० अतिशय—

अतिशय रूप सुगंध तन, नाहिं पसेव निहार।
प्रियहित वचन अतुल्यबल, रुधिर श्वेत आकार।।
लक्षण सहसरु आठ तन, समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभनाराचजुत, ये जनमत दस जान।।

अतिशय सुन्दर शरीर, अत्यन्त सुगंधित शरीर, पसीना रहित शरीर, मल-मूत्र रहित शरीर, हित-मित-प्रिय वचन, अतुल-बल, सफेद खून, शरीर में १००८ लक्षण, समचतुरस्र संस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन ये १०

अतिशय अरिहंत भगवान के जन्म से ही होते हैं।

केवलज्ञान के १० अतिशय—

योजन शत इक में सुभिख, गगन-गमन मुख चार।
नहिं अदया, उपसर्ग नहीं, नाहीं कवलाहार।।
सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बढ़े नख-केश।
अनिमिष दृग छाया रहित, दश केवल के वेष।।

भगवान के चारों ओर सौ-सौ योजन तक सुभिक्षता, आकाश में गमन, एक मुख होकर भी चार मुख दिखना, हिंसा न होना, उपसर्ग नहीं होना, ग्रास वाला आहार नहीं लेना, समस्त विद्याओं का स्वामीपना, नख केश नहीं बढ़ना, नेत्रों की पलकें नहीं लगना और शरीर की परछाई नहीं पड़ना। केवलज्ञान होने पर ये दश अतिशय होते हैं।

देवकृत १४ अतिशय—

देव रचित हैं चार दश, अर्ध मागधी भाष।
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश।।
होत फूल फल ऋतु सबै, पृथ्वी काँच समान।
चरण कमल तल कमल हैं, नभतैं जय-जय बान।।
मंद सुगंध बयार पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि।।
धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार।
अतिशय श्री अरिहंत के, ये चौंतीस प्रकार।।

भगवान की अर्ध-मागधी भाषा, जीवों में परस्पर मित्रता, दिशाओं की निर्मलता, आकाश की निर्मलता, छहों ऋतुओं के फल-फूलों का एक ही समय में फलना-फूलना, एक योजन तक पृथ्वी का दर्पण की तरह निर्मल होना, चलते समय भगवान् के चरणों के नीचे सुवर्ण कमल की रचना, आकाश में जय-जय शब्द, मंद सुगंधित पवन, सुगंधमय जल की वर्षा, पवन कुमार देवों द्वारा भूमि की निष्कंटकता, समस्त प्राणियों को आनन्द, भगवान् के आगे धर्मचक्र का चलना और आठ मंगल द्रव्यों का साथ रहना ये १४ अतिशय देवों द्वारा किये जाने से देवकृत कहलाते हैं और केवलज्ञान होने पर होते हैं।

प्रातिहार्य का लक्षण—

विशेष शोभा की चीजों को प्रातिहार्य कहते हैं।

आठ प्रातिहार्य—

तरु अशोक के निकट में, सिंहासन छविदार।
तीन छत्र शिर पर फिरें, भामंडल पिछवार।।

दिव्यध्वनी मुखते खिरें, पुष्पवृष्टि सुर होय।
ढोरें चौंसठ चमर जख, बाजें दुंदुभि जोय।।

भगवान के पास अशोक वृक्ष, रत्नमय सिंहासन, भगवान के सिर पर तीन छत्र, पीठ पीछे भामंडल, दिव्यध्वनि, देवों द्वारा पुष्प वर्षा, यक्षदेवों द्वारा चौंसठ चंवर ढोरे जाना और दुंदुभि बाजे बजना ये आठ प्रातिहार्य हैं।

अनन्त चतुष्टय—

चार घातिया कर्मों के नाश से जो चार विशेष गुण प्रकट होते हैं, उन्हें अनंत चतुष्टय कहते हैं।

ज्ञान अनन्त, अनन्त सुख, दरश अनंत प्रमान।
बल अनंत अरिहंत सो, इष्टदेव पहिचान।।

अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य ये चार अनंत चतुष्टय हैं अर्थात् भगवान के ये दर्शन-ज्ञानादि अन्त रहित होते हैं। चार घातिया कर्म के नाश से जो चार विशेष गुण प्राप्त होते हैं, उनको अनन्तचतुष्टय कहते हैं।

अठारह दोषों के नाम—

जन्म जरा तिरखा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद।।
राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष।
नाहिं होत अरिहंत के, सो छवि लायक मोष।।

जन्म, बुढ़ापा, प्यास, भूख, आश्चर्य, पीड़ा, दुःख, रोग, शोक, गर्व, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, पसीना, राग, द्वेष और मरण ये अठारह दोष अरिहंत भगवान में नहीं होते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

जो आठों कर्मों का नाश हो जाने से नित्य, निरंजन, अशरीरी हैं, लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके आठ मूलगुण होते हैं, उत्तरगुण तो अनन्तानंत हैं।

सोरठा— **समकित दरसन ज्ञान, अगुरुलघू अवगाहना।**
सूक्षम वीरज वान, निराबाध गुण सिद्ध के।।

क्षायिक सम्यक्त्व, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनंतवीर्य और अव्याबाधत्व ये सिद्धों के आठ मूल (मुख्य) गुण हैं।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

जो पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरे मुनियों से कराते हैं, मुनि संघ के अधिपति हैं और शिष्यों को दीक्षा व प्रायश्चित्त आदि देते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी हैं। इनके ३६ मूलगुण होते हैं।

छत्तीस मूलगुण—

द्वादश तप, दश धर्मजुत, पालें पंचाचार।
षट् आवश्यक, गुप्ति त्रय, आचारज गुणसार।।

१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति ये आचार्य के ३६ मूलगुण हैं। उत्तर गुण अनेक हैं।

१२ तप के नाम—

अनशन ऊनोदर करें, व्रत संख्या रस छोर।
विविक्त शयन आसन धरें, काय कलेश सुठोर।।
प्रायश्चित्त धर विनयजुत, वैयावृत स्वाध्याय।
पुनि उत्सर्ग विचारि के, धरैं ध्यान मन लाय।।

अनशन (उपवास), ऊनोदर (भूख से कम खाना), व्रतपरिसंख्यान (आहार के समय अटपटा नियम), रसपरित्याग (नमक आदि रस त्याग), विविक्त शय्यासन (एकांत स्थान में सोना, बैठना), कायक्लेश (शरीर से गर्मी, सर्दी आदि सहन करना) ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त (दोष लगने पर दण्ड लेना), विनय (विनय करना), वैयावृत्य (रोगी आदि साधु की सेवा करना), स्वाध्याय (शास्त्र पढ़ना) व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना) और ध्यान (एकाग्र होकर आत्मचिन्तन करना) ये छह अंतरंग तप हैं। इस प्रकार ये १२ तप होते हैं।

दस धर्म—

छिमा मारदव आरजव, सत्य वचन चित पाग।
संजम तप त्यागी सरब, आकिंचन तिय त्याग।।

उत्तम क्षमा—क्रोध नहीं करना, **मार्दव**—मान नहीं करना, **आर्जव**—कपट नहीं करना, **सत्य**—झूठ नहीं बोलना, **शौच**—लोभ नहीं करना, **संयम**—छह काय के जीवों की दया पालना, पाँच इन्द्रिय और मन को वश करना, **तप**—बारह प्रकार के तप करना, **त्याग**—चार प्रकार का दान देना, **आकिंचन्य**—परिग्रह का त्याग करना और **ब्रह्मचर्य**—स्त्रीमात्र का त्याग करना।

आचार तथा गुप्ति—

दर्शन ज्ञान चरित्र तप, वीरज पंचाचार।
गोपें मन वच काय को, गिन छत्तिस गुणसार।।

दर्शनाचार—दोषरहित सम्यग्दर्शन, **ज्ञानाचार**—दोषरहित सम्यग्ज्ञान, **चारित्राचार**—निर्दोषचारित्र, **तपाचार**—निर्दोष तपश्चरण और **वीर्याचार**—अपने आत्मबल को प्रगट करना ये पाँच आचार हैं।

मनोगुप्ति—मन को वश में करना, **वचनगुप्ति**—वचन को वश में करना और **कायगुप्ति**—काय को वश में रखना ये तीन गुप्तियाँ हैं।

छह आवश्यक—

समता धर वंदन करें, नानाथुती बनाय।
प्रतिक्रमण, स्वाध्यायजुत, कायोत्सर्ग लगाय।।

समता—समस्त जीवों पर समता भाव और त्रिकाल सामायिक, **वंदना**—किसी एक तीर्थंकर को नमस्कार, **स्तुति**—चौबीस तीर्थंकर की स्तुति, **प्रतिक्रमण**—लगे हुए दोषों को दूर करना, **स्वाध्याय**—शास्त्रों को पढ़ना और **कायोत्सर्ग**—शरीर से ममत्व छोड़ना और ध्यान करना ये छह आवश्यक हैं। (मूलाचार

आदि में स्वाध्याय की जगह 'प्रत्याख्यान' नामक क्रिया है, जिसका अर्थ है कि आगे होने वाले दोषों का, आहार-पानी आदि का त्याग करना) यहाँ तक आचार्य के ३६ मूलगुण हुए।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

जो मुनि ११ अंग और १४ पूर्व के ज्ञानी होते हैं अथवा तत्काल के सभी शास्त्रों के ज्ञानी होते हैं तथा जो संघ में साधुओं को पढ़ाते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। ११ अंग और १४ पूर्व को पढ़ना-पढ़ाना ही इनके २५ मूलगुण हैं।

ग्यारह अंग—

प्रथमहिं आचारांग गनि, दूजो सूत्रकृतांग।
ठाण अङ्ग तीजो सुभग, चौथो समवायांग।।
व्याख्यापण्णति पांचमों, ज्ञातृकथा षट् जान।
पुनि उपासकाध्ययन है, अन्तःकृत् दश जान।।
अनुत्तरण उत्पाद दश, सूत्रविपाक पिछान।
बहुरि प्रश्न व्याकरण जुत, ग्यारह अंग प्रमाण।।

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग और विपाकसूत्रांग ये ११ अंग हैं।

चौदह पूर्वों के नाम—

उत्पादपूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद।
अस्तिनास्तिपरवाद पुनि, पंचम ज्ञान प्रवाद।।
छट्ठो कर्मप्रवाद है, सत्प्रवाद पहिचान।
अष्टम आत्मप्रवाद पुनि, नवमों प्रत्याख्यान।।
विद्यानुवाद पूरब दशम, पूर्व कल्याण महंत।
प्राणवाद किरिया बहुल, लोकबिंदु है अन्त।।

उत्पादपूर्व, अग्रायणी पूर्व, वीर्यानुवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, सत्प्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणप्रवादपूर्व, प्राणानुवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिंदु पूर्व ये १४ पूर्व हैं। ये बारहवें दृष्टिवाद नामक अंग में वर्णित पूर्वगत के १४ भेद हैं। इन्हें ही १४ पूर्व के नाम से जाना जाता है।

साधु परमेष्ठी का स्वरूप

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा आरंभ और परिग्रह से रहित होते हैं, ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं ऐसे दिगम्बर मुनि मोक्षमार्ग का साधन करने वाले होने से साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके २८ मूलगुण होते हैं।

अट्ठाईस मूलगुणों के नाम —

पंच महाव्रत समिति पन, पंचेन्द्रिय का रोध।
षट् आवश्यक साधु गुण, सात शेष अवबोध।।

५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण, ये साधु के २८ मूलगुण हैं।

पाँच महाव्रत —

हिंसा, अनृत, तस्करी, अब्रह्म, परिग्रह पाप।
मन वच तन तें त्यागवो, पंच महाव्रत थाप।।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का मन-वचन-काय से सर्वथा त्याग कर देना ये पाँच महाव्रत कहलाते हैं।

पाँच समिति —

ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान।
प्रतिष्ठापना जुत क्रिया, पाँचों समिति निधान।।

ईर्यासमिति — चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, **भाषा समिति —** हित-मित-प्रिय वचन बोलना, **एषणासमिति —** निर्दोष आहार लेना, **आदान निक्षेपण समिति —** पिच्छी से पुस्तक आदि को देख-शोधकर उठाना, धरना, **प्रतिष्ठापना समिति —** जीव रहित भूमि में मलादि विसर्जित करना, ये पाँच समिति हैं।

इन्द्रियविजय और शेष मूलगुण —

सपरस रसना नासिका, नयन श्रोत का रोध।
शेष सात मज्जन तजन, शयन भूमि का शोध।।
वस्त्र त्याग कचलुंच अरु, लघु भोजन इक बार।
दाँतुन मुख में ना करें, ठाड़े लेहिं अहार।।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण — इन पाँचों इन्द्रियों को वश करना ये पंचेन्द्रियविजय नामक पाँच मूलगुण हैं।

स्नान का त्याग, भूमि पर शयन, वस्त्र त्याग, केशों का लोंच, दिन में एक बार लघु भोजन, दातोन का त्याग और खड़े होकर आहारग्रहण ये ७ शेष गुण हैं। पाँचों परमेष्ठी के सब मिलकर ४६+८+३६+२५+२८=१४३ मूलगुण हो जाते हैं।

ॐ पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त रूप-

पंचपरमेष्ठी का सबसे छोटा रूप ॐ है। ॐ अर्थात् ओम् में पांचों परमेष्ठी के प्रथम अक्षर (अ, अ, आ, उ और म्) सम्मिलित हैं और इन पांचों अक्षरों से ही ॐ बना है। ओम् में (अ+अ+आ+उ+म्) होते हैं। इनसे अभिप्राय निम्न प्रकार है-

अरिहन्त		अशरीरी (सिद्ध)		आचार्य		उपाध्याय		मुनि (साधु)
अ	+	अ	+	आ	+	उ	+	म्

चत्तारि-दण्डक-

चत्तारि मंगलं—अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।।

लोक में चार मंगल हैं—अरिहन्त भगवान मंगल हैं, सिद्ध भगवान मंगल हैं। साधु (आचार्य, उपाध्याय और साधु) मंगल हैं तथा केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म मंगल है। मंगल का अर्थ है जो मल (मोह, राग, द्वेष आदि) को गलावे और सच्चा सुख उत्पन्न करे। उपरोक्त चारों मंगल स्वरूप हैं। इनमें भक्ति भाव होने से परम मंगल होता है।

लोक में चार उत्तम हैं—अरिहन्त भगवान उत्तम हैं, सिद्ध भगवान उत्तम हैं, साधु (आचार्य, उपाध्याय और मुनि) उत्तम हैं तथा केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म उत्तम है। लोगुत्तमा का अर्थ है—लोक में उत्तम (सर्वश्रेष्ठ)। लोक में उपरोक्त चारों उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं।

चार की शरण में जाता हूँ—अरिहन्तों की शरण में जाता हूँ, सिद्धों की शरण में जाता हूँ, साधुओं (आचार्य, उपाध्याय व साधु) की शरण में जाता हूँ और केवली भगवान द्वारा कहे गये धर्म की शरण में जाता हूँ।

विशेष—शरण का अर्थ है सहारा और पव्वज्जामि का अर्थ है प्राप्त होता हूँ अर्थात् जाता हूँ। पंच परमेष्ठी द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा की शरण लेना ही पंच परमेष्ठी की शरण है।

चत्तारि दण्डक में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहे गये धर्म को ही मंगल स्वरूप कहा गया है। ये चारों ही लोक में सर्वश्रेष्ठ बताये गये हैं और इन चारों को ही जीवों का सहारा (शरण) कहा गया है। इन चार के अतिरिक्त लोक में अन्य कोई मंगल-उत्तम-शरण नहीं है। इस प्रकार इस चत्तारि दण्डक में पंच परमेष्ठियों के महत्त्व को दर्शाया गया है।

किन्तु इसमें अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं का ही उल्लेख है, आचार्य व उपाध्याय का उल्लेख नहीं है। इसके कारण निम्न हैं—

(१) सभी आचार्य और उपाध्याय "साधु" शब्द में परोक्ष रूप से सम्मिलित हैं। आचार्य व उपाध्याय अपने मूलगुणों के अलावा साधुओं के २८ मूलगुणों को भी धारण करते हैं अतः वे "साधु" परमेष्ठी में सम्मिलित हैं। उन्हें छोड़ा नहीं गया है अपितु गौण किया गया है।

(२) मोक्ष पद प्राप्त करने हेतु मात्र साधु होना आवश्यक है, आचार्य या उपाध्याय होना आवश्यक नहीं है।

(३) जब तक आचार्य पद का परिग्रह है, उन्हें केवलज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य पद छोड़ने पर ही केवलज्ञान होता है।

(5)

णमोकार मंत्र का माहात्म्य

(श्री उमास्वामि आचार्य विरचित)

हिन्दी पद्यानुवाद एवं अर्थ-आर्यिका चन्दनामती

विष्लिष्यन् घनकर्मराशिमशनिः संसारभूमीभृतः।
स्वर्निर्वाणपुरप्रवेशगमने, निःप्रत्यवायः सतां।।
मोहांधावटसंकटे निपततां, हस्तावलम्बोर्हतां।
पायान्नः स चराचरस्य जगतः संजीवनं मन्त्रराट्।।१।।

(१)

णमोकार यह मंत्रराज, घनकर्म समूह हटाता है।
यह संसार महापर्वत, भेदन में वज्र कहाता है।।
सत्पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष दे, संकट दूर भगाता है।
मोह महान्धकूप में डूबे, को अवलम्बनदाता है।।

दोहा —**जीवनदाता मंत्र यह, करे जगत उद्धार।**
मेरी भी रक्षा करो, णमोकार सुखकार।।

अर्थ — अर्हन्त आदि पंचपरमेष्ठियों का वाचक णमोकार मंत्रराज ज्ञानावरण आदि कर्म समूह को आत्मा से हटाने वाला है अतएव संसाररूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र के समान है। सत्पुरुषों को स्वर्ग-मोक्ष जाने में सहायक है, मोहरूपी अंधकूप में गिरे हुए प्राणियों को उससे बाहर निकालने के लिए हस्तावलम्बन (हाथ के सहारे) के समान है, चर (त्रस) और अचर (पृथ्वी, वनस्पति आदि स्थावर) जगत को जीवनदाता है, ऐसा यह णमोकार महामंत्र हमारी रक्षा करे।

एकत्र पंचगुरुमंत्रपदाक्षराणि, विश्वत्रयं-पुनरनन्तगुणं परत्र।
यो धारयेत्किल तुलानुगतं तथापि, वंदे महागुरुतरं परमेष्ठिमन्त्रं।।२।।

(२)

एक तराजू के पलड़े पर, णमोकार पद मंत्र रखो।
लोकत्रय के गुण अनन्त, पुंजों को भी इक ओर रखो।।
परमेष्ठी के मंत्रों का, फिर भी पलड़ा भारी होगा।
गौरवशाली महामंत्र को, नमन करूँ शिवसुख देगा।।

दोहा —**णमोकार यह मंत्र है, जग में गुरुतर मंत्र।**
नमूँ इसे सर्वत्र मैं, पाऊँ सौख्य स्वतंत्र।।

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति तराजू में एक ओर पंचपरमेष्ठी के णमोकार मंत्र के पद—अक्षरों को और दूसरी ओर अनंत गुणात्मक तीन लोकों को रखकर तुलना करे, तो भी वह णमोकार मंत्र को अधिक वजनदान (भारी) अनुभव करेगा, उस महान गौरवशाली णमोकार मंत्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

ये केचनापि सुषमाद्यरका अनंता, उत्सर्पिणीप्रभृतयः प्रययुर्विवर्त्ताः।
तेष्वप्ययं परतरं प्रथितं पुरापि, लब्ध्वैनमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः।।३।।

(३)

उत्सर्पिणि अवसर्पिणी के, सुषमादिक काल अनन्त रहे।
णमोकार यह महामंत्र ही, हुआ प्रसिद्ध सदा उनमें।।
काल अनादी से अनन्त तक, मंत्रराज यह शाश्वत है।
भव से पार मुक्ति हेतू, वंदन कर लूँ भव सार्थक है।।

दोहा —**अपराजित यह मंत्र है, पंचपदों से युक्त।**
अंजन तस्कर हो गया, इसके बल पर मुक्त।।

अर्थ—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि काल के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं, उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। मैं संसार से बहिर्भूत (बाहर) मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस णमोकार मंत्र को नमस्कार करता हूँ।

उत्तिष्ठन्निपतञ्चलन्नपि धरा-पीठे लुठन् वा स्मरेत्-
जाग्रद्वा प्रहसन् स्वपन्नपि वने विभ्यन्निषीदन्नपि।
गच्छन् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपदं, कर्म प्रकुर्वन्नपि
यः पंचप्रभुमंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वांछितम्।।४।।

(४)

जो नर इस णमोकार मंत्र को, सदा-सदा स्मरण करे।
उठते-गिरते-चलते-पृथ्वी, पर भी लुढ़कते मन में धरे।।
जगते-सोते-हंसते अथवा, वन में भी जब डर लगता।
मंत्रराज को जपने से हर, मनवांछित फल है मिलता।।

दोहा —**मूलमंत्र जिनधर्म का, पढ़ो करो नित जाप।**
देखो ग्वाला भी हुआ, सेठ सुदर्शनराज।।

अर्थ—जो व्यक्ति उठते हुए, गिरते हुए, चलते हुए, पृथ्वी तल पर लोटते—लुढ़कते हुए, जागते हुए, सोते हुए, हंसते हुए, वन में डरते हुए, बैठते, मार्ग में चलते, घर में रहते व कोई कार्य करते हुए पग-पग पर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता है, उसकी सभी इच्छा पूर्ण होती हैं।

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजंगसिंह-दुर्व्याधिवन्हिरिपुबंधनसंभवानि।
चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां, नश्यन्ति पंचपरमेष्ठिपदैर्भयानि।।५।।

(५)

युद्धक्षेत्र में या समुद्र में, मृत्यु सामने दिखती हो।
हाथी-सर्प-सिंह-दुर्व्याधि, तन में या अग्नी भी हो।।
शत्रु तथा बंधन एवं, चौरादि दुष्ट ग्रह दुख देते।
शाकिनि डाकिनि आदिक भय, परमेष्ठि पाँच सब हर लेते।।

दोहा —**इसी मंत्र के श्रवण से, श्वान हुआ यक्षेन्द्र।**
पठन श्रवण और नमन से, निज मन करो पवित्र।।

अर्थ—णमोकार मंत्र जपने से युद्ध, समुद्र, गजराज (हाथी) सर्प, सिंह, भयानक रोग, अग्नि, शत्रु, बंधन (जेल आदि) के तथा चोर, दुष्टग्रह, राक्षस, चुड़ैल आदि का भय दूर हो जाता है।

यो लक्षं जिनलक्षबद्धहृदयः, सुव्यक्तवर्णक्रमम्।
श्रद्धावान्विजितेन्द्रियो भवहरं, मन्त्रं जपेच्छ्रावकः।।
पुष्पैः श्वेतसुगन्धिभिः सुविधिना, लक्षप्रमाणैरमुम्।
यः संपूजयते स विश्वमहितस्तीर्थाधिनाथो भवेत्।।६।।

(६)

जो श्रद्धालु जितेन्द्रिय श्रावक मन में प्रभु सुमिरन करके।
शुद्ध शब्द उच्चारणपूर्वक णमोकार का जप करते।।
एक लक्ष मंत्रों को जपकर पुष्प सफेद चढ़ाते हैं।
णमोकार पूजन से वे तीर्थाधिनाथ बन जाते हैं।।

दोहा —**श्वेत सुगंधित पुष्प ले, पूजूँ मंत्र महान।**
जगत्पूज्य पद प्राप्त कर, बन जाऊँ भगवान।।

अर्थ—जो जितेन्द्रिय श्रद्धालु श्रावक हृदय में जिनेन्द्र भगवान का लक्ष्य रखकर स्पष्ट शुद्ध उच्चारण सहित णमोकार मंत्र को एक लाख बार जपता है तथा विधिपूर्वक एक लाख सुगंधित सफेद फूलों से णमोकार मंत्र को पूजता है अर्थात् णमोकार मंत्र शुद्ध स्पष्ट पढ़कर सुगंधित सफेद फूल चढ़ाता जाता है, वह जगत्पूज्य तीर्थंकर पद प्राप्त करता है।

इन्दुर्दिवाकरतया रविरिंदुरूपः, पातालमंबरमिला सुरलोक एव।
किं जल्पितेन बहुना भुवनत्रयेपि, यन्नाम तन्न विषमं च समं च तस्मात्।।७।।

(७)

णमोकार के मंत्र नाम से, चन्द्र सूर्य सम बन सकता।
शशि सम सूरज बने तथा, पाताल भी नभ सम बन सकता।।
धरती स्वर्ग समान सुखद बन, इच्छित फल दे सकती है।
और कहें क्या ? तीन लोक की, हर वस्तू मिल सकती है।।

दोहा —**सुखदायक इस मंत्र से, मिलते सभी पदार्थ।**
दुख भी सुख में बदलते, प्राणी होंय कृतार्थ।।

अर्थ—णमोकार मंत्र के प्रभाव से चन्द्रमा सूर्य के समान, सूर्य चन्द्रमा की तरह, पाताल आकाश के समान और पृथ्वी स्वर्ग के समान हो जाती है। बहुत क्या कहें ? तीन लोक में ऐसी कोई भी विषम (दुखदायक—अनिष्ट) वस्तु नहीं है जो णमोकार मंत्र के प्रभाव से सम (सुखदायक—इष्ट) न हो सके अर्थात् सभी अनिष्ट वस्तुएँ णमोकार मंत्र के प्रभाव से इष्टरूप परिवर्तित हो सकती हैं।

जग्मुर्जिनास्तदपवर्गपदं तदैव, विश्वं वराकमिदमत्र कथं विनास्मान्।
तत्सर्वलोकभुवनोद्धरणाय धीरै-र्मंत्रात्मकं निजवपुर्निहितं तदत्र।।८।।

(८)

धीर वीर जिनवर ने तब ही, शीघ्र मुक्ति पद प्राप्त किया।
जब निज तन को मंत्ररूप कर, आत्म तत्त्व में रमा लिया।।
त्रिभुवन के उद्धार हेतु जो, परमेष्ठी का ध्यान करें।
वे ही जग में क्रम-क्रम से, परमेष्ठी बन विश्राम करें।।

दोहा —**परमेष्ठी पद प्राप्ति का, यही मूल आधार।**
णमोकार का ध्यान ही, करता भव से पार।।

अर्थ—कषाय विजेता योगी तब ही मुक्ति पद प्राप्त कर सके, जबकि उन धीर-वीरों ने समस्त जगत का उद्धार करने के लिए अपना शरीर मंत्ररूप कर लिया। इसके बिना बेचारा संसार (संसारी जीव समूह) किस तरह कल्याण प्राप्त करता अर्थात् साधु आदि परमेष्ठी णमोकार मंत्र के ध्यान से मुक्त होते हैं तथा उनका पाँच परमेष्ठी रूप होना इस णमोकार मंत्र का मूल आधार है।

हिंसाविाननृतप्रियः परधनं हर्त्ता परस्त्रीरतः।
किंचान्येष्वपि लोकगर्हितमतिः पापेषु गाढोद्यतः।।
मन्त्रेशं सपदि स्मरेच्च सततं, प्राणात्यये सर्वदा।
दुःकर्माहितदुर्गतिक्षतचयः स्वर्गी भवेन्मानवः।।९।।

(९)

जो नर हिंसा झूठ व चोरी, तथा परस्त्री में रत है।
लोक निंद्य होकर महान, पापों में रहता तत्पर है।।
वह भी उन्हें तज यदी कदाचित्, मंत्रराज सुमिरन कर ले।
तो कुकर्म से अर्जित दुर्गति, बंध बदल दिवगति वर ले।।

दोहा —**णमोकार मंत्रेश यह, कुगति निवारक जान।**
सुगति प्रदाता है इसे, शत शत करो प्रणाम।।

अर्थ—जो मनुष्य हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, परस्त्री सेवन करने वाला हो तथा लोकनिन्दित होकर अन्य महान पाप कर्मों में तत्पर रहता हो, वह भी यदि (पापों को छोड़कर) निरन्तर—सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता रहे, तो कुकर्मों से उपार्जित अपनी नरक आदि दुर्गति को बदल कर मरने पर देवगति प्राप्त करता है।

अयं धर्मः श्रेयान्नयमपि च देवो जिनपति-
र्व्रतं चैष श्रीमान्नयमपि तपः सर्वफलदं।
किमन्यैर्वाग्जालैर्बहुभिरपि संसारजलधौ,
नमस्कारात्तत्किं यदिह शुभरूपो न भवति।।१०।।

(१०)

नमस्कार यह मंत्र जगत में, सर्व हितैषी धर्म कहा।
यही मंत्र जिनरूप व व्रतमय फलदायक शिवशर्म कहा।।
अधिक कथन से क्या मतलब है, केवल सार समझ लीजे।
इसी मंत्र की महिमा से हर अशुभ कार्य भी शुभ कीजे।।

दोहा —**है अचिन्त्य महिमामयी, णमोकार यह मंत्र।**
इसको जपते ही मिलें, भौतिक सौख्य असंख्य।।

अर्थ—यह पंचनमस्कार मंत्र ही कल्याणकारी धर्म है, यह मंत्र ही जिनेन्द्र भगवानरूप है, यह मंत्र ही समस्त शुभ फलदायक व्रतरूप है। दूसरी बहुत सी बातें करने से क्या लाभ है। संक्षेप में यों समझ लीजिए कि संसार में यह णमोकार मंत्र ऐसा महत्वशाली है, जिसके प्रभाव से ऐसी कोई चीज नहीं, जो शुभरूप न हो सके।

स्वपन् जाग्रत्तिष्ठन्नथ पथि चलन् वेश्मनि स्खलन्।
भ्रमन् क्लिश्यन् माद्यन् वनगिरि-समुद्रेष्ववतरन्।।
नमस्कारान् पंच स्मृतिखनिनिखातानिव सदा।
प्रशस्तौ विन्यस्तान्निव वहति यः सोत्र सुकृतिः।।११।।

(११)

जो मनुष्य सोते जगते, पथ में चलते यह मंत्र पढ़ें।
घर में भी स्खलन समय, इस मंत्रराज को सदा पढ़ें।।
भ्रमण-खिन्न-उन्मत्त अवस्था, वन पर्वत या सागर हो।
हृदय पटल में णमोकार यह, मंत्र ही सदा उजागर हो।।

दोहा —**पत्थर पर उत्कीर्ण सम, धरो हृदय में मंत्र।**
पुण्यवान मानव जनम, पाकर बनो स्वतंत्र।।

अर्थ—जो मनुष्य सोते, जागते, मार्ग में चलते, घर में लड़खड़ाते, घूमते, खेदखिन्न होते, उन्मत्त होते, वन पर्वत में चलते, समुद्र में तैरते हुए अर्थात् प्रत्येक दशा में पंच नमस्कार मंत्र को अपने हृदय पटल पर (स्मृति में) पाषाण प्रशस्ति में उत्कीर्ण (खुदे हुए) अक्षरों के समान धारण किए रहता है, वह पुण्यवान है।

दुःखे सुखे भयस्थाने, पथि दुर्गे रणेपि वा।
श्रीपंचगुरुमन्त्रस्य, पाठः कार्यः पदे पदे।।१२।।

अर्थ—मनुष्य को दुख में, सुख में, भयभीत स्थान में, मार्ग में, वन में, युद्ध में, पग-पग पर पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करना चाहिए।

(१२)

दोहा —**दुख-सुख भयप्रद मार्ग या, वन हो युद्धस्थान।**
पंचनमस्कृति मंत्र को, पढ़ो लहो सुखखान।।
णमोकार माहात्म्य यह, उमास्वामि कृत स्तोत्र।
उसका ही अनुवाद यह, पढ़ो लहो सुखस्त्रोत।।१।।

ज्ञानमती गणिनीप्रमुख, मात जगतविख्यात।
उनकी शिष्या चन्दना-मती आर्यिका मात।।२।।

किया पद्य अनुवाद यह, गुरु आज्ञा सिर धार।
भौतिक आत्मिक सुख मिले, पढ़ो मंत्र हितकार।।३।।

अध्याय-4
सूतक-पातक

(1)
सूतक-पातक का निर्णय आगम की साक्षी से

आपके समक्ष आगमानुसार अत्यन्त प्राचीन विषय प्रस्तुत है जिसे आज कुछ अध्यात्मवादी आत्मा से सम्बन्धित विषय न मानकर लोप करने में लगे हुए हैं, वह है—सूतक और पातक।

सन्तान का जन्म होने के पश्चात् जो घर वालों को एवं कुटुम्बियों को कुछ कालावधि के लिए देवपूजा, आहारदान आदि कार्य वर्जित किए जाते हैं उसी का नाम सूतक है। इसे राजस्थान में "सावड़" कहते हैं। महाराष्ट्र में "वृद्धि" कहते हैं तथा उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, हरियाणा आदि में "सूतक" नाम से ही जाना जाता है।

किसी के मरण के बाद परिवार वालों को जो अशौच होता है उसे "पातक" संज्ञा है। यह सूतक-पातक आर्षग्रन्थों से मान्य है। व्यवहार में जन्म-मरण दोनों के अशौच को "सूतक" शब्द से जाना जाता है।

सूतक-पातक पालने की विधि—

अपने जातीय बन्धुओं में प्रत्यासन्न और अप्रत्यासन्न ऐसे दो भेद होते हैं। चार पीढ़ी तक के बंधुवर्ग प्रत्यासन्न या समीपस्थ कहलाते हैं, इसके आगे अप्रत्यासन्न कहलाते हैं।

जन्म का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए १० दिन का है। पाँचवी पीढ़ी वालों को छह दिन का, छठी पीढ़ी वालों को चार दिन का और सातवीं पीढ़ी वालों को तीन दिन का है। इससे आगे वाली पीढ़ी वालों के लिए सूतक नहीं है। इसी प्रकार मरण का सूतक भी चार पीढ़ी वालों के लिए दस दिन का तथा पाँचवी पीढ़ी आदि के लिए जन्म के समान घटता हुआ माना गया है।

सूतक-पातक का परस्पर में अन्तर्भाव भी हो जाता है।

जन्म के सूतक के बीच में यदि मरण का पातक आ जावे तो वह जन्म के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही मरण के पातक के मध्य यदि जन्म का सूतक आ जावे तो वह पातक के साथ ही समाप्त कर दिया जाता है। इसमें यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि जन्म का सूतक यदि पाँच, छह दिन का हो चुका है पुनः परिवार में किसी का जन्म हो जाय तो वह सूतक पहले वाले सूतक के साथ ही समाप्त हो जाता है। यदि पहले सूतक के अन्तिम दिन किसी का जन्म आदि होवे तो दो दिन सूतक और मान लेना चाहिए, यदि पहला सूतक समाप्त होने के दूसरे दिन बाद सूतक लगे तो तीन दिन का सूतक और मानना चाहिए।

क्या परदेश में रहने वाले कुटुम्बियों को सूतक लगता है ?

देश के किसी भाग में अथवा विदेश में भी रहने वाले लोगों को उपर्युक्त प्रकार से ही अपने परिवार में किसी का जन्म अथवा मरण का समाचार ज्ञात होते ही शेष दिनों का सूतक अवश्य पालना चाहिए क्योंकि खून के सम्बन्ध सूतक-पातक विधि गृहत्याग करने से पूर्व पालन करना आवश्यक होता है अन्यथा जिनेन्द्राज्ञा का लोप होने से अपने संसार की वृद्धि होती है। संहिताशास्त्रों में यहाँ तक वर्णन आया है कि पूरे देश में रहने वालों को यदि परिवार में १० दिन का सूतक समाप्त होने के पश्चात् उस सूतक का समाचार प्राप्त होता है तो उन्हें तीन दिन का अशौच मानना चाहिए। अगर एक वर्ष बाद मरण समाचार ज्ञात हो तो स्नानमात्र के द्वारा शुद्धि माननी चाहिए।

सूतक पातक शत्रुतावश भी समाप्त नहीं किए जा सकते हैं।

यदि अपने कुटुम्बी परिवारों में किसी कारणवश पारस्परिक वैर हो गया है तो भी उन्हें एक-दूसरे का सूतक-पातक अवश्य पालन करना चाहिए। ऐसा नहीं करने से वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

हाँ, इतना अवश्य इस प्रकरण में विशेष ज्ञातव्य है कि परिवार के किसी सदस्य ने यदि कोई धर्मविरुद्ध, जाति विरुद्ध या कुल परम्परा के विरुद्ध महान् अनैतिक कार्य किया है और माता-पिता आदि परिवारीजनों के द्वारा यदि उसका परिवार से बहिष्कार घोषित कर दिया गया है तो उसका सूतक-पातक कुटुम्बीजनों को नहीं मानना चाहिए किन्तु आजकल यह व्यवस्था अपनी कुल परम्परानुसार पालन करना अति आवश्यक है।

आत्मघात करने वालों के परिवार का पातक कैसे समाप्त हो ?

यदि परिवार के किसी सदस्य ने किन्हीं निमित्तों से विष खाकर, नदी-तालाब में कूदकर, जलकर, फाँसी का फन्दा आदि लगाकर आत्महत्या कर ली हो जो उनके परिवारीजनों को १० दिन के पातक के साथ ही छह माह का पातक मानना पड़ता है। इसके विरुद्ध यदि आत्मघात करने वाले के कुटुम्बीजन ऐसा न मानकर दस-बारह दिन के बाद दान-पूजा आदि क्रियाएँ पूर्ववत् करना प्रारम्भ कर देते हैं तो वे प्रायश्चित्त के भी भागी होते हैं तथा जिनमंदिरों में उन्होंने पातक के मध्य अभिषेक-पूजन किया है उन प्रतिमाओं की समाज द्वारा किसी योग्य विद्वान के निर्देशन में शुद्धि की जानी चाहिए।

इस विषय में श्री गुणभद्राचार्य का निम्न कथन अनुकरणीय है—

आत्मानं घातयेद्यस्तु, विषशस्त्राग्निना यदि।
.....वर्षादूर्ध्वं भवेत्तस्य प्रायश्चित्तं विधानतः।।

अर्थात् जो विष, शस्त्र, अग्नि आदि के द्वारा आत्मघात कर स्वेच्छा से मरण को प्राप्त होता है वह सीधा नरक को जाता है। ऐसे मनुष्य को देश और काल के भय से दाह संस्कार नहीं कर सकते हों तो राजा आदि की आज्ञा लेकर उनकी दाह क्रिया करना चाहिए। एक वर्ष बाद शांति विधि करके उसका विधिपूर्वक उपवास आदि प्रायश्चित्त ग्रहण करें।

प्रायश्चित्त के प्रकरण में वर्तमान में यह भी देखा जा रहा है कि आत्महत्या करने वाले के कुटुम्बीजन दस दिन के पश्चात् प्रायश्चित ग्रंथों के किसी जानकार वरिष्ठ दीक्षित साधु या साध्वी के पास जाकर तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेते हैं तो छह माह का सूतक प्रायश्चित द्वारा पहले भी समाप्त हो जाता है।

"पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी कई बार बताया करती हैं कि गुरुओं के मुख से मैंने कई बार सुना है अतः उन्होंने भी अनेक श्रावक-श्राविकाओं को प्रायश्चित प्रदान किया है।" ऐसा मैंने देखा है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि कर्मभूमि के मनुष्यों को अन्य अनेक सांसारिक क्रियाओं के साथ-साथ सूतक-पातक क्रिया को आगम में कथित जिनेन्द्राज्ञा मानकर पालन करना चाहिए।

सूतक किन्हें नहीं लगता है ?

दिगम्बर मुनि आदि तपस्वियों को जन्म और मरण का सूतक नहीं लगता है और तपस्वियों का मरण होने पर उनके परिवार वालों को भी सूतक नहीं लगता है। राजा के घर में पुत्र जन्म होने पर उनकी स्नान मात्र से शुद्धि हो जाती है, राजाओं को सूतक नहीं लगता है।

गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त मनुष्यों में सोलह संस्कार करने की शास्त्रोक्त परम्परा है। "षोडश संस्कार" नामक पुस्तक में भी इस सम्बन्ध में उपर्युक्त प्रमाण ही मिलता है।

त्रिलोकसार जैसे महान ग्रंथ में भी लिखा है-

दुब्भावअसुइसूदगपुप्फवई जाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।।९२४।।

दुर्भाव, अशुचि, सूतक, पुष्पवती स्त्री, जातिसंकर आदि से सहित पुरुष या स्त्री यदि दान देते हैं— आहारदान देते हैं और सही श्रावक भी यदि कुपात्र में दान देते हैं तो वे कुभोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकरण से जैसे दान का सूतक वालों के लिए निषेध है वैसे ही देवपूजा का भी निषेध समझना चाहिए।

श्री गुणभद्रस्वामी ने भी लिखा है—

अतिदुर्भिक्षशस्त्राग्नि जलपातादिना मृतौ।
प्रायश्चित्तं तु पुत्रादेस्तदानीमिदमिष्यते।।११८।।

पीड़ा, दुर्भिक्ष, शस्त्र, अग्नि, जल में डूबना आदि से मरने पर उनके पुत्र आदि को प्रायश्चित माना गया है।

अतः सूतक-पातक की सम्पूर्ण परम्परा को श्रद्धापूर्वक पालन करके श्रावकों को अपना गार्हस्थ्य जीवन निर्दोष एवं मोक्षमार्गी बनाना चाहिए।

सूतक या पातक के दिनों में गन्धोदक भी न तो छूना चाहिए और न दूसरे से लेकर गन्धोदक लगाना चाहिए।

मुक्तक

सच तो इस नारी की शक्ति नर ने पहचान न पाई है।
मंदिर में मीरा है तो वह रण में भी लक्ष्मीबाई है।।
है ज्ञानक्षेत्र में ज्ञानमती नारी की कला निराली है।
सच पूछो नारी के कारण यह धरती गौरवशाली है।।

(2)

सूतक-पातक क्या है ?

बालक का जन्म होने पर जो घरवालों को और कुटुम्बियों को कुछ कालावधि के लिए देवपूजा, आहारदान आदि का कार्य वर्जित किया जाता है, उसी का नाम सूतक है एवं किसी के मरण के बाद जो अशौच होता है, उसे पातक संज्ञा है। यह सूतक-पातक आर्षग्रंथों से मान्य है। व्यवहार में जन्म-मरण दोनों के अशौच को सूतक शब्द से जाना जाता है।

जातीय बन्धुओं में प्रत्यासन्न और अप्रत्यासन्न ऐसे दो भेद होते हैं। चार पीढ़ी तक के बंधुवर्ग प्रत्यासन्न या समीपस्थ कहलाते हैं, इसके आगे अप्रत्यासन्न कहलाते हैं।

जन्म का सूतक चार पीढ़ी वालों तक के लिए १० दिन का है। पाँचवी पीढ़ी वालों को ६ दिन का, छठी पीढ़ी वालों को ४ दिन का और सातवीं पीढ़ी वालों को ३ दिन का है। इससे आगे वाली पीढ़ी वालों के लिए सूतक नहीं है, ऐसे ही मरण का सूतक भी चार पीढ़ी वालों तक के लिए १० दिन का, (कहीं-कहीं १२ दिन का सूतक मानने की परम्परा है) पाँचवी पीढ़ी के लिए ६ दिन का आदि है।

जन्म का सूतक चल रहा है, इसी बीच परिवार में मरण का सूतक आ जाने पर वह जन्म के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही मरण के सूतक में जन्म का सूतक आ जाने पर उसी पहले वाले मरण के सूतक के साथ समाप्त हो जाता है, ऐसे ही जन्म का सूतक यदि ५-६ दिन का हो चुका है पुनः परिवार में किसी का जन्म हो जाये, तो वह सूतक पहले के साथ ही निकल जाता है। यदि पहले सूतक के अंतिम दिन पुनः किसी का जन्म आदि होवे, तो दो दिन सूतक और मानना चाहिए। यदि दूसरे दिन होवे तो तीन दिन का और मानना चाहिए। मरण सूतक के बीच में यदि किसी का मरण हो जावे तो वह पहले सूतक के साथ समाप्त नहीं होगा।यदि किसी ने आत्महत्यापूर्वक मरण कर लिया है तो उसके परिवारजनों को ६ माह का सूतक माना गया है, कदाचित् किन्हीं विशेष जानकार आचार्य या गणिनी माताजी के पास जाकर उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्तादि ग्रहण करने पर ६ महीने के मध्य में भी शुद्धि मानी गई है।

साधु-साध्वियों को जन्म और मरण का सूतक नहीं लगता है और साधुओं का मरण होने पर उनके परिवार वालों को भी सूतक नहीं लगता है। राजा के घर में पुत्र जन्म होने पर उनकी शुद्धि स्नानमात्र से हो जाती है। राजाओं को सूतक नहीं लगता है।

मंत्री, सेनापति, राजा, दास और दुर्भिक्ष आदि आपत्ति से पीड़ित लोग इनके मरने पर भी सूतक नहीं लगता है। युद्ध में मरने पर भी सूतक नहीं लगता है।

गर्भवती का तीन महीने के अंदर ही यदि गर्भस्राव हो जावे तो उसे ही तीन दिन का अशौच है। तीन महीने से लेकर छह महीने तक का यदि गर्भपात हो जाता है तो जितने महीने का हो, उतने दिन का अशौच है। छह महीने के बाद और आठ महीने तक में यदि गर्भपात होकर नष्ट हो जाता है तो माता को पूरे १० दिन का अशौच

है, पिता को स्नानमात्र से शुद्धि है।

नाभिछेदन से पहले यदि बालक मर जाये तो माता को पूर्ण १० दिन का अशौच है, पिता व बंधुओं को तीन दिन का है। १० दिन के पहले यदि मर जावे तो पिता व सबको १० दिन का है। दस दिन पूर्ण होने पर अंतिम दिन यदि बालक मर जाये तो दो दिन का अशौच और पालना चाहिए। दूसरे दिन प्रातः मरण होने पर तीन दिन अशौच और पालना चाहिए। १० दिन बाद मरण होने पर माता-पिता व सहोदरों को दस दिन का अशौच है। इतर बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। दांत आने के बाद मरण होने पर पिता, भ्राता को दस दिन का तथा शेष जनों को स्नानमात्र से शुद्धि है। चौल कर्म के बाद बालक के मरने पर पिता-भ्राता को १० दिन का, चार पीढ़ी वालों तक ५ दिन का, आगे की पीढ़ी वालों को एक दिन का है। उपनयन के बाद मरण होने पर चार पीढ़ी वालों तक १० दिन का अशौच है।

पुत्री का मरण यदि चौलकर्म (मुण्डन) से पहले हो जावे तो बंधुओं को स्नानमात्र से शुद्धि है। व्रतसंस्कार से पहले मरण होने पर एक दिन का अशौच है। विवाहित पुत्री का पतिगृह में मरण होने पर माता-पिता को दो दिन का अशौच है। शेष जाति बांधवों को स्नानमात्र से शुद्धि है। पतिपक्ष वालों को पूर्ण १० दिन का सूतक है। यदि वह स्त्री पिता के घर में मरण पावे या प्रसूत हो तो माता-पिता को तीन दिन का अशौच है और उस पक्ष वालों को एक दिन का अशौच है।

दूर देश के अपने परिवार के किसी व्यक्ति के मरण का समाचार मिलने पर अवशिष्ट दिन का सूतक पालना चाहिए। जन्मादि होकर १० दिन बाद समाचार मिलने पर तीन दिन का अशौच मानना चाहिए। अगर एक वर्ष बाद मरण समाचार ज्ञात हो तो स्नानमात्र करना चाहिए। इस प्रकार यह संक्षिप्त सूतक-पातक विधि कही गई है।

सात विभक्तियों में भगवान आदिनाथ की स्तुति

-शार्दूलविक्रीडित छंद-

आदीशो भगवानयं जिनवरादीशं मुदा नौम्यहं,
आदीशेन च लभ्यते स्म सुख-मादीशाय कुर्वे नमः।
आदीशान्नपरः प्रभुः भुवि तथाऽदीशस्य धर्मो दया,
आदीशे हृदयो ममापि नमितः श्र्यादीश! मां रक्षतु।।

-आर्यिका चन्दनामती

(3)

रजस्वला स्त्री का अशौच

महीने-महीने में स्त्रियों के जो रजःस्राव होता है, उस समय वो स्त्रियाँ रजस्वला कहलाती हैं । उन दिनों में उन्हें किसी भी वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए। देव-शास्त्र और गुरु का दर्शन भी नहीं करना चाहिए। अर्धरात्रि के अनन्तर रजस्वला होने पर प्रातःकाल से अशौच गिनना चाहिए। इस तरह रजस्वला स्त्री तीन दिन तक स्नान, अलंकार आदि न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे। चतुर्थ दिवस स्नान कर शुद्ध होकर घर के काम-काज कर सकती है, देवपूजा, गुरुपास्ति आदि कार्यों को पाँचवें दिन कर सकती है।

एक बार रजस्वला होने के बाद बारह दिन के अंदर ही यदि रजोदर्शन हो जाये तो उसकी स्नान से शुद्धि हो जाती है। यदि अठारह दिन के पहले रजःस्राव हो जाता है, तो भी स्नानमात्र से शुद्धि हो जाती है। यदि अठारहवें दिन होता है तो दो दिन का अशौच मानना चाहिए। अठारह दिन के बाद होने पर तीन दिन तक अशुद्धि मानी गई है। रजस्वला स्त्रियाँ यदि आपस में एक-दूसरे को स्पर्श कर लेती हैं तो उन्हें चतुर्थ दिवस शुद्ध होकर गुर्वानी के पास प्रायश्चित लेने का विधान है।

जो स्त्रियाँ रजस्वला के दिनों में अशौच का पालन नहीं करती हैं, सभी को छूती रहती हैं या भोजन बनाकर सभी को खिला देती हैं, वे इस लोक में स्वास्थ्य हानि के साथ-साथ धार्मिक परम्परा की हानि करती हैं तथा पाप का संचय करके अगले भव की भी हानि कर लेती हैं अतः महिलाओं को इन तीन दिनों में विवेकपूर्वक अशौच का पालन करना चाहिए।

रजस्वला स्त्री के कर्तव्य—

आर्तवं सौतिकं चैव, मार्त्यवं तत्सुसंगमम्।
अशौचं कथितं देवैः, द्विजानां सुव्रतात्मनाम्।।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने व्रत पालने वाले त्रिवर्णों को चार प्रकार का सूतक बतलाया है। पहला आर्तव—ऋतुधर्म—मासिकधर्म से होने वाला, दूसरा सौतिक—प्रसूति से होने वाला, तीसरा मार्त्यव-मृत्यु से होने वाला और चौथा इन तीनों के संसर्ग से होने वाला।

दिनत्रय-मशौचं स्यात् सा चतुर्थेऽह्नि शुद्धयति।
पत्यौ हि केवलं सा च, दान-पूजासु पंचमे।।

अर्थ—रजस्वला स्त्री को तीन दिन तक अशौच मानना चाहिए। वह स्त्री चौथे दिन पति आदि परिवारजनों का भोजन आदि बनाने के लिए शुद्ध मानी जाती है तथा दान-पूजनादि धर्मकार्यों में (यदि पूर्ण शुद्ध हो तो) पाँचवें दिन शुद्ध मानी जाती है।

उपर्युपरि संजाता, भूयो भूयो रजस्वला।
दान-पूजा-क्रियादौ च, नाधिकारोऽस्ति सर्वथा।

अर्थ—यदि कोई स्त्री बार-बार रजस्वला होती हो, स्नान करने के बाद फिर रजस्वला हो जाती हो तो उसे पात्रदान एवं जिनपूजा आदि किसी भी प्रकार के धर्म-कर्म नहीं करने चाहिए। धार्मिक क्रियाएँ करने का उसे अधिकार नहीं होता है।

रोगादि-कारणाज्जाता, भूयो भूयो रजस्वला।
तस्या अप्यधिकारो न, दान-पूजादि-कर्मणि।।

अर्थ—कोई स्त्री भले रोग आदि के कारण भी बार-बार रजस्वला होती हो तो भी उसे दान-पूजा आदि कोई भी धार्मिक कार्य करने का अधिकार नहीं है।

रजस्वला हि चैकान्ते, तिष्ठेन्मौनेन सा तदा।
ब्रह्मचर्य-समायुक्ता, जन-स्पर्शविवर्जिता।

अर्थ—रजस्वला स्त्री को किसी एकान्त स्थान में मौन धारण कर बैठना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहिए और अन्य किसी का भी स्पर्श नहीं करना चाहिए।

गृहकार्यं न सा कुर्याद्, गानं नृत्यं च वादनम्।
सीवनं रन्धनं हास्यं, पेषणं जलगालनम्।।
विदधाति न षट्कर्म, ध्यायन्ती श्रीजिनं हृदि।
गुरुदेवजनैः सार्धं, कुर्यान्नैव च भाषणम्।।

अर्थ—उस रजस्वला स्त्री को गृहकार्य नहीं करना चाहिए। गाना, नाचना, वाद्य बजाना, वस्त्र आदि सीना, चाय, नाश्ता एवं रसोई आदि बनाना, हास्य करना, पीसना एवं जल आदि छानना ऐसे अन्य और भी कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

षट्कर्मों में से भी कोई धर्म-कर्म उसे नहीं करना चाहिए। उसे तो केवल अपने हृदय में जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करते रहना चाहिए तथा गुरु एवं अन्य जनों के साथ किसी प्रकार की भी बातचीत नहीं करनी चाहिए।

नीरसं भोजनं कुर्यात्, पत्त्रे पित्तल-भाजने।
कुर्याद्वैकाशनं शुद्धं, रहसि स्वस्थ-मानसा।।

अर्थ—रजस्वला स्त्री को पत्तल में या पीतल के बर्तन में नीरस भोजन करना चाहिए और एकाशन करते हुए स्वस्थ चित्त से एकान्त में रहना चाहिए।

चतुर्थेऽह्नि विदध्यात्सा, स्नानं पूर्णं सवस्त्रकम्।
उष्णोदकेन वा शुद्ध-जलेनाचमनान्विता।।
ततः प्रसन्न-भावेन, पतिं सा समलोकयेत्।
तमेव भावयेच्चित्ते, तस्या एतद् व्रतं मतम्।।

अर्थ—उस रजस्वला स्त्री को चौथे दिन छने हुए शुद्ध जल से या गर्म जल से सवस्त्र स्नान करके और कुल्ला आदि करके प्रसन्नचित्त से सर्वप्रथम अपने पति के दर्शन करने चाहिए, अपने हृदय में पति का ही चिन्तन करना चाहिए। यह उसको अपना एक व्रत समझना चाहिए।

दूसरे-तीसरे दिन रसोई आदि बनाकर परिवार को नहीं खिलाना चाहिए।

गृहकार्य के लिए नल आदि से जल नहीं भरना चाहिए।

स्नान आदि के जल का स्पर्श नहीं करना चाहिए।

वस्त्रों को धोने, सुखाने और उन्हें उठाकर उनकी तह आदि के कार्य नहीं करना चाहिए।

आपके घर के सदस्य यदि आपकी अशुचि अवस्था में स्पर्शित अशुद्ध जल से स्नान करके और वे ही वस्त्र पहनकर मंदिर जाते हैं, स्वाध्याय करते हैं, माला फेरते हैं तो इसका पाप आपको लगता है अर्थात् इससे आपके पाप कर्म का बंध होता है।

क्या आप जानती हैं कि ९६ कुभोगभूमियों में कौन उत्पन्न होते हैं ?

श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य त्रिलोकसार गाथा ९२४ में कहते हैं कि—

दुब्भाव-असुचि-सूदग-पुप्फवई-जाइसंकरादीहिं।
कय-दाणा वि कुवत्ते, जीवा कुणरेसु जायंते।।

अर्थ—जो दुर्भावना अर्थात् ईर्ष्या आदि खोटे भावों से आहारदान देते हैं, जो अपवित्र अवस्था में अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव इन चार शुद्धियों की अवहेलना करके आहारदान देते हैं, जो सूतक-पातक आदि को नहीं मानते और आहारदान आदि देते हैं, जो रजस्वला स्त्री के स्पर्श से युक्त आहार देते हैं, जो जातिसंकर आदि दोषों से दूषित होते हुए भी आहारदान देते हैं और जो कुपात्रों को दान देते हैं, वे जीव मरकर कुभोगभूमियों में कुमनुष्य होते हैं।

वैदिक धर्म में भी कहा है कि—रजस्वला स्त्री एकान्त में रहे। किसी भी वस्तु का स्पर्श न करे। हल्का भोजन ग्रहण करे। सांसारिक कार्यों से मुक्त (दूर) रहे। रंगीन शृंगारिक वस्त्र न धारण करे। प्राकृतिक जीवन व्यतीत करे। तेल-उबटन का उपयोग न करे। शृँगार की दृष्टि से स्नान न करे। आमोद-प्रमोद से कोसों दूर रहे। किसी से वार्तालाप न करे। घास-फूस अथवा जूट के बिस्तर पर शयन करे। मिट्टी के बर्तन में मूँग, चावल जैसा सात्त्विक भोजन करे। शृँगार न करे। हँसी-मजाक न करे। सार्वजनिक स्थल अर्थात हॉल, चबूतरा, गैलेरी व चौपाल जैसे स्थानों पर न बैठे। पति के साथ भी वार्तालाप न करे। मंदिर और गौशाला में न जावे। "दिनत्रयं त्यक्त्वा शुद्धा स्याद् गृहकर्मणि" अर्थात् रजस्वला स्त्री तीन दिन के बाद ही गृहकार्य करने हेतु शुद्ध होती है।

धर्मपरायण और शीलप्रधान भारत देश के प्रायः सभी धर्म रजस्वला अवस्था को संक्रामक रोग सदृश अछूत और अपवित्र घोषित करते हैं व उस अवस्था में आपको क्या-क्या नहीं करना चाहिए, इसका विधान बताते हैं अतः आप सभी महिलाओं को इसे स्वीकार करना चाहिए।

इस प्रकार से श्रावक-श्राविकाओं को अपनी वर्तमान एवं भावी पीढ़ी को संस्कारित करने हेतु अष्टमूलगुण आदि का पालन करने के साथ-साथ निम्न षट् कर्त्तव्यों को भी यथाशक्ति पालन करना चाहिए—

देवपूजा गुरुपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने।।

अर्थात् जिनमंदिर में जाकर जिनेन्द्र भगवान की पूजा, गुरु की उपासना, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप और

दान ये गृहस्थों को षट्कर्म प्रतिदिन करना चाहिए।

इन षट्कर्मों में भी दान और पूजा इन दो क्रियाओं को श्री कुंदकुंद आचार्य ने सर्वाधिक महत्त्व देते हुए कहा है—

''दाणं पूजा मुक्खो, सावय धम्मो ण सावया तेण विणा'' अर्थात् दान और पूजन ये श्रावक धर्म की दो मुख्य क्रियाएँ हैं, इनके बिना श्रावक संस्कार सार्थक नहीं है।

जिनेन्द्र भगवान की पूजन और उनके दर्शन का भारी महत्त्व जैन रामायण (पद्मपुराण) में भी आया है—

फलं ध्यानाच्चतुर्थस्य, षष्ठ्योद्यममात्रतः।
अष्टमस्य तदारम्भे, गमने दशमस्य तु।।१७८।।

द्वादशस्य ततः किंचिन्मध्ये पक्षोपवासजम्।
फलं मासोपवासस्य लभते चैत्यदर्शनात्।।१७९।।

चैत्याङ्गणं समासाद्य याति षण्मासिकं फलम्।
फलं वर्षोपवासस्य प्रविश्य द्वारमश्नुते।।१८०।।

फलं प्रदक्षिणीकृत्य भुङ्क्ते वर्षशतस्य तु।
दृष्ट्वा जिनास्यमाप्नोति फलं वर्षसहस्रजम्।।१८१।।

अनंतफलमाप्नोति स्तुतिं कुर्वन् स्वभावतः।
नहि भक्तेर्जिनेन्द्राणां विद्यते परमुत्तमम्।।१८२।।

अर्थ-जो मनुष्य जिनप्रतिमा के दर्शन का चिन्तवन करता है वह बेला का, जो उद्यम का अभिलाषी होता है वह तेला का, जो जाने का आरंभ करता है वह चौला का, जो जाने लगता है वह पाँच उपवास का, जो कुछ दूर पहुँच जाता है वह बारह उपवास का, जो बीच में पहुँच जाता है वह पंद्रह उपवास का, जो मंदिर के दर्शन करता है वह मासोपवास का, जो मंदिर के आँगन में प्रवेश करता है वह छह मास के उपवास का, जो द्वार में प्रवेश करता है वह वर्षोपवास का, जो प्रदक्षिणा देता है वह सौ वर्ष के उपवास का, जो जिनेन्द्रदेव के मुख का दर्शन करता है वह हजार वर्ष के उपवास का और जो स्वभाव से स्तुति करता है वह अनंत उपवास के फल को प्राप्त करता है। यथार्थ में जिनभक्ति से बढ़कर कोई उत्तम पुण्य नहीं है।।१७८-१८२।।

अतः जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करके अपने जन्म-जन्म के पापों को नष्ट करके असीम पुण्य का उपार्जन करना चाहिए।

(4)

मासिक धर्म के समय स्त्रियाँ कैसे रहें!

आध्यात्मिक तत्त्व को जीवन्त रखने में भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान रहा है। यही कारण है कि संस्कृति की रक्षा के लिए अनेक जीवन न्योछावर हो गए हैं। सदाचार धर्म का लक्षण है और संस्कृति धर्म की संचेतना है।

धर्मशास्त्र के अनुसार आचरण, लोकानुमोदित आचरण, देव-शास्त्र-गुरू की श्रद्धा और महापुरुषों के वचनों पर विश्वास, इन चारों पुटों का संमिश्रण ही संस्कृति है। आज भक्ष्याभक्ष्य भोजन ने, होटलों के खानपान ने, चलते-फिरते यत्र-तत्र खाने की आदत ने, स्पर्शास्पर्श का भेद किये बिना सबके हाथ के भोजन ने और दिन के ही सदृश रात्रि के भोजन ने खान-पान की शुद्धता और पुरानी मर्यादाओं का लोप कर दिया है इसलिए प्राचीन सभ्यता का मात्र ह्रास ही नहीं हुआ है अपितु उसका गौरव भी नष्ट हो गया है। विधवा विवाह एवं विजातीय आदि विवाह ने, सहशिक्षा ने और टी. वी. ने कुलाचार को नष्ट किया है।

सूतक, पातक और रजोधर्म की मर्यादाओं का लोप हो जाने से धर्माचरण का गौरव नष्ट हो गया है। आज जिन जीवों को भ्रूणहत्या जैसे पाप के प्रति भी ग्लानि नहीं है, उन्हें रजोधर्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न न होना सहज ही है किन्तु यह ध्यान रखें कि धर्मघातक रजोधर्म के प्रति होने वाली आगमविरुद्ध प्रक्रिया भव-भव में आपको असह्य दुःख का कारण होगी अतः स्व आत्मा का हित चाहने वाली नारियों को रजोधर्म का पालन पूर्णरूप से करना चाहिए।

रजोधर्म के लक्षण एवं भेद आदि—

इस संसार में मनुष्यों के द्रव्य और भाव ये दोनों, सूतक (पातक) से मलिन हो जाते हैं तथा द्रव्य और भावों के मलिन होते ही धर्म और चारित्र स्वयं मलिन हो जाते हैं। सूतक-पातक मानने से द्रव्य शुद्धि होती है, द्रव्य-शुद्धि होने से भाव शुद्धि होती है और भावशुद्धि होने से चारित्र निर्मल होता है।

यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि मनुष्य जन्म में भी धर्म की स्थिति शरीर के आश्रित है इसलिए मनुष्यों की शरीर की शुद्धि होने से सम्यग्दर्शन और व्रतों की शुद्धि करने वाली धर्म की शुद्धि होती है और धर्म की शुद्धि के लिए तथा सम्यग्दर्शन और व्रतों की शुद्धि के लिए जो समस्त शुद्धियों को उत्पन्न करने वाला है और शुभ है ऐसे इस सूतक-पातक का पालन अवश्य करना चाहिए। यदि सूतक-पातक का पालन नहीं किया जाता है तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का सज्जातिपना नष्ट हो जाता है।

भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करने वाले यदि सूतक-पातक में भी भगवान की पूजा करते हैं, आहारदान आदि देते हैं तो उनके केवल पाप का आश्रव होता है। जो अज्ञान से अथवा प्रमाद से सूतक-पातक को नहीं मानता है, वह जैन होकर भी मिथ्यादृष्टि माना जाता है।

सूतक पातक के भेद—

आर्तवं सौतिकं चैव, मार्त्यवं तत्सुसंगमम्।
अशौचं कथितं देवैः, द्विजानां सुव्रतात्मनाम्।।

जिनेन्द्र भगवान ने व्रत पालने वाले त्रिवर्णों को चार प्रकार का सूतक बतलाया है। पहला आर्तव—ऋतुधर्म—मासिक धर्म से होने वाला, दूसरा सौतिक—प्रसूति से होने वाला, तीसरा मार्त्यव—मृत्यु से होने वाला और चौथा इन तीनों के संसर्ग से होने वाला।

आर्तव (रजोधर्म)—

आर्तव सूतकं स्त्रीणां, रजस्तदिह कथ्यते।
असंख्य–जन्तु–सङ्कीर्णा–द्धिसायाः मूल कारणम्।।

इसमें से आर्तव सूतक स्त्रियों को होता है, इसे रजोधर्म या मासिकधर्म भी कहते हैं। यह रज असंख्यात जीवों से भरा रहता है इसलिए यह हिंसा का मूल कारण है। इसके अतिरिक्त वह रज परिणामों में विकार उत्पन्न करने वाला है, अपवित्रता का कारण है और ग्लानि आदि का भी मूल कारण है।

दिनत्रय–मशौचं स्यात्, या चतुर्थेऽहिन् शुद्धयति।
पत्यों हि केवल सा च, दान पूजासु पञ्चमे।।

रजस्वला स्त्री को तीन दिन तक सूतक मानना चाहिए। वह स्त्री चौथे दिन मात्र पति को भोजन आदि बनाने के लिए शुद्ध मानी जाती है तथा दान–पूजादि धर्मकार्यों में (यदि पूर्ण शुद्ध हो तो) पाँचवें दिन शुद्ध मानी जाती है।

यदि कोई स्त्री बार–बार रजस्वला होती हो, स्नान करने के बाद फिर रजस्वला हो जाय तो उसे पात्रदान एवं जिनपूजा आदि किसी भी प्रकार के धर्म कार्य नहीं करने चाहिए। रजस्वला स्त्री को किसी एकांत स्थान में मौन धारण कर बैठना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहिए और अन्य किसी का भी स्पर्श नहीं करना चाहिए।

उस रजस्वला स्त्री को तीन दिन तक गृहकार्य नहीं करना चाहिए। गाना, नाचना, वाद्य बजाना, चाय, नाश्ता एवं रसोई आदि बनाना, हास्य करना, पीसना एवं जल आदि छानना ऐसे अन्य और भी कोई कार्य नहीं करने चाहिए।

रजस्वला स्त्री दूसरे–तीसरे दिन रसोई बनाकर परिवार को नहीं खिलाए। गृहकार्य के लिए नल आदि से जल नहीं भरे। वस्त्रों को सुखाकर एवं उठाकर नहीं रखे।

अगर आप (स्त्री) रजस्वला हैं और आपके घर के सदस्य आपकी अशुचि अवस्था में स्पर्शित अशुद्ध जल से स्नान करके और वे ही वस्त्र पहनकर मंदिर जाते हैं, स्वाध्याय करते हैं, माला फेरते हैं क्या इसका पाप आपको नहीं लगता ? पाप कर्म का बन्ध नहीं होता ?

आप अपने शुद्ध हृदय से स्वयं चिन्तन करें कि आगम और अपनी कुल–वंश परम्परा के प्रतिकूल किये हुए कार्य आपको सुख देंगे या दुःख ? क्या आपका मन इस पाप से उत्पन्न भयानक दुःख भोगने को लालायित है ? नरक–तिर्यंचगति में जाने को उत्कंठित है ? वैधव्य एवं दरिद्रता आदि के दुःख भोगने को उत्साहित है ? यदि नहीं, तो आप आज ही प्रतिज्ञा कर लें कि मैं रजस्वला धर्म का पूरे तीन दिनों तक स्वयं पालन करूंगी और

अपनी बहन, बेटी एवं पुत्रवधू आदि से भी पालन करवाऊंगी।

रजस्वला अवस्था में यदि किसी साधु से, आर्यिका से स्पर्श हो जाय तो उन्हें कितना प्रायश्चित लेना होता है ? आचारसार में वीरनन्दी आचार्य कहते हैं कि—

स्पृष्टे कपालि-चाण्डाल-पुष्पावत्यादिके सति।
जपेदुपोषितो मन्त्रं, प्रागुप्लुत्याशु-दण्डवत्।।

यदि कपाली, चाण्डाल एवं रजोधर्म वाली महिला से किसी साधु का स्पर्श हो जाये तो वे दण्डस्नान करें, महामंत्र का जाप करें और उपवास करें।

अशुद्धावस्था में आपसे स्पर्शित आपके परिवारजन जब मुनिराजों की वैयावृत्ति आदि करते हैं तब क्या वे मुनिराज प्रायश्चित के भागी नहीं हैं। पवित्रात्मा साधुओं को उपवास के निमित्त उपस्थित करके आप अनर्थ कर रहीं हैं, आपको इस घोरतम अपराध का कटुफल भोगना पड़ेगा।

९६ कुभोगभूमियों में कौन उत्पन्न होते हैं—श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य त्रिलोकसार गाथा ९२४ में कहते हैं—

दुब्भाव-असुचि-सूदग-पुप्फबई-जाइसंकरदीहिं।
कथ-दाणा वि कुवत्ते, जीवा कुणरेसु जायंते।।

जो दुर्भावना अर्थात् ईर्ष्या आदि खोटे भावों से आहारदान देते हैं। जो अपवित्र अवस्था में अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव, इन चार शुद्धियों में से किसी एक शुद्धि की भी अवहेलना करके आहारदान देते हैं, जो सूतक पातक आदि को नहीं मानते हैं और आहारदान आदि देते हैं और जो रजस्वला स्त्री के स्पर्श से युक्त आहार देते हैं, जो जातिसंकर आदि दोषों से दूषित होते हुए भी आहारदान देते हैं और जो कुपात्रों को दान देते हैं, वे जीव मरकर कुभोगभूमियों में कुमनुष्य (सूकर, कुत्ता, उल्लू, घोड़ा एवं भैंसा आदि के मुख वाले, एक जंघा वाले, बड़े-बड़े कान वाले, पूँछ वाले, सींग वाले और गूँगे) होते हैं।

श्रावक के अन्तरायों में भी आगम की क्या आज्ञा है ? सागार धर्मामृत के चतुर्थ अध्याय, श्लोक ३१ में पं. आशाधर जी कहते हैं कि—

दृष्टावाऽऽर्द्र-चर्मास्थि-सुरा-मांसासृक्पूय-पूर्वकम्।
स्पृष्ट्वा रजस्वला-शुष्क-चर्मास्थि-शुननकादिकम्।।

व्रतों को पालन करने वाला गृहस्थ गीला चमड़ा, हड्डी, मदिरा, माँस, रक्त और पीप आदि पदार्थों को देखकर तथा रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, हड्डी, कुत्ता, बिल्ली एवं चाण्डाल आदि का स्पर्श हो जाने पर भोजनपान छोड़ दे अर्थात् अन्तराय करे। यहाँ भी रजस्वला अवस्था में आपको हड्डी, चमड़ा आदि के समकक्ष रखा गया है।

आगमानुसार रजस्वला अवस्था में आपको क्या-क्या करना चाहिए और क्या-क्या नहीं करना चाहिए ?—

१. तीन दिन पूर्णरूपेण शीलव्रत पालना चाहिए, ब्रह्मचर्य व्रत से रहना चाहिए।

२. डाभ के आसन पर सोना, बैठना चाहिए, खाट पलंग आदि ऊँचे आसन पर नहीं।

३. देवधर्म की बात नहीं करना चाहिए।

४. दूध, दही, घी आदि रस छोड़कर नीरस भोजन करना चाहिए।

५. भोजन जिस बर्तन में करें उसे तीन दिन बाद अग्नि द्वारा शुद्ध करना चाहिए।

६. तीन दिनों में पहने साड़ी, पेटीकोट आदि वस्त्र अलग रखने चाहिए, उन वस्त्रों से तीर्थयात्रा, पूजन एवं आहारदान नहीं देना चाहिए।

७. स्वामिवात्सल्य, विवाह समारोह तथा मृत्युप्रसंग पर भोजनार्थ बाहर कहीं नहीं जाना चाहिए।

८. मृत्यु आदि प्रसंग पर रोना नहीं चाहिए और मांगलिक प्रसंगों पर गीत आदि नहीं गाने चाहिए।

९. रासमण्डल, स्वस्तिक एवं चौक आदि नहीं पूरना चाहिए।

१०. मांग नहीं भरना चाहिए। आँखों में काजल, अज्जन आदि नहीं लगाना चाहिए।

११. सिनेमा, पिकनिक एवं क्लब आदि स्थानों पर नहीं जाना चाहिए।

१२. महामंत्र णमोकार का मुख से उच्चारण नहीं करना चाहिए किन्तु अहर्निश मन में चिन्तन करते रहना चाहिए।

भावमिश्र वैद्यराज द्वारा विरचित भावप्रकाश वैद्यक ग्रंथ के अनुसार कोई भी स्त्री अज्ञान से, प्रमाद से, विषयलोलुपता से अथवा दैवयोग से रजस्वला अवस्था के तीन दिनों में शुद्धि का ध्यान नहीं रखती है, अनर्गल क्रिया करती है तो अन्धी, बहरी, गूंगी, मूर्ख, आलसी, रोगी, व्यसनी, दुराचारी और उन्मत्त सन्तान पैदा करती है।

अन्य धर्मों में जैसे वैदिक धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म, मुस्लिम धर्म में रजोधर्म माना है, तीन दिन कार्य करने का निषेध किया है।

विदेशों में रजोधर्म पालन की व्यवस्थाएं हैं, अफ्रीका में स्त्रियाँ रजस्वला अवस्था में किसी का स्पर्श नहीं करतीं, अपनी पहचान के लिए सीने पर तिकोना स्कार्फ लगाती हैं। दक्षिण अमेरिका एवं आयरलैंड की स्त्रियाँ रजस्वला में अलग झोपड़ी में रहती हैं, किसी वस्तु एवं दूध तक का स्पर्श नहीं करती हैं। उनकी मान्यता है कि पदार्थ खराब हो जाते हैं। न्यूजीलैंड में स्त्रियाँ अंतरिक्ष में लटकते हुए एक पिंजड़े में तीन दिन तक रहती हैं। लेबनान में रजोधर्म वाली स्त्री खेतों में कार्य नहीं कर सकती। जर्मनी में रजोधर्म वाली जर्मन स्त्रियाँ अपनी पहचान के लिए "मुझे कागज मिला है।" ऐसे मार्मिक वाक्य का प्रयोग करती हैं। वहाँ मादक पदार्थ (शराब) के गोदाम में रजोधर्म वाली स्त्री का प्रवेश निषिद्ध है क्योंकि उसके प्रवेश से कितनी भी ऊँची जाति की शराब क्यों न हो, वह खट्टी हो जाती है और उसका स्वाद बिगड़ जाता है।

फ्रांस में रजस्वला स्त्री को शक्कर के कारखाने में प्रवेश नहीं करने देते क्योंकि उसकी परछाई पड़ते ही शक्कर काली पड़ जाती है। रेशम की फैक्ट्री में ऐसी स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध है क्योंकि वहाँ उनकी उपस्थिति मात्र से रेशम की सॉफ्टनेस (मृदुता) कम हो जाती है।

इत्र की शीशी को भी यदि रजस्वला स्त्री स्पर्श कर ले तो उसकी सुगन्ध कम हो जाती है।

'जब चेते तब सबेरा' अब भी आप समझ लें और चिन्तन करें कि जब शक्कर जैसा अजीव पदार्थ भी आपकी उस अपवित्र अवस्था की छाया से विकृत हो जाता है तब जो परिवार रजोधर्मयुक्त महिला के हाथ का भोजन-पान करते हैं उनकी बुद्धि विकृत नहीं होगी ? अवश्य होगी, हो रही है, हो चुकी है।

अब भी आप चाहो तो अपनी आत्मा को और अपने परिवार को अशुद्धि से होने वाली हानियों से बचा सकती हो।

उपरोक्त बातों का ध्यान रखते हुए आप संयमी बनें, विचार शुद्ध रखें, आचरण शुद्ध रखें, स्वयं संस्कारशील बनें, सन्तान को संस्कारित करें, रजोधर्म की मर्यादाओं का पालन करें। इससे आपका जीवन सुखी रहेगा, घर में सुख, शान्ति एवं लक्ष्मी का वास रहेगा और अपनी आत्मा की रक्षा के साथ-साथ धर्म की भी रक्षा होगी।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-जिंदगी प्यार का गीत है.....

जन्म मानव का पाया है जो, उसे सार्थक तो करना पड़ेगा।
वंश उत्तम ये पाया है जो, मूल्यांकन तो करना पड़ेगा।।टेक.।।

कई जन्मों का पुण्य खिला, जिससे जिनधर्म उत्तम मिला।
गुरु का उपदेश ऐसा मिला, ज्ञान का दीप मन में जला।।
पाके सम्यक्त्व के रत्न को, शिव डगर पे तो चलना पड़ेगा।।1।।

शुद्ध भोजन करोगे यदी, बुद्धि अच्छी बनेगी तभी।
छानकर जल पिओगे यदी, वाणी पावन बनेगी तभी।।
मन की शुद्धी के हेतू तुम्हें, स्वच्छ भोजन तो करना पड़ेगा।।2।।

जाति औ कुल की रक्षा करो, शास्त्र औ गुरु की शिक्षा वरो।
दान-पूजन के योग्य बनो, आगे दीक्षा के योग्य बनो।।
शुद्ध खानदान रखना है यदि, जाति में ब्याह करना पड़ेगा।।3।।

अपने बच्चों को संस्कार दो, पिण्ड शुद्धी का उपहार दो।
मुक्ति का मार्ग साकार हो, निज व पर का भी उपकार हो।।
''चन्दनामति'' सुनो भाइयों! तुम्हें कुल शुद्धि रखना पड़ेगा।।4।।

अध्याय-5
जैन साहित्य

(1)
जैन साहित्य का इतिहास

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक कविता में लिखा है–

अंधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है।
निर्बल है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।।

अर्थात् किसी भी देश का गौरव वहाँ के साहित्य भण्डार से आंका जाता है यह बात कवि की पंक्तियों से स्पष्ट हो रही है।

हमारा भारत देश सदा–सदा से साहित्य का प्रमुख समृद्ध केन्द्र रहा है। यहाँ के ऋषि–मुनियों ने प्राणीमात्र के हित को दृष्टि में रखते हुए समय–समय पर सारगर्भित एवं सर्वजन सुलभ साहित्य की रचना की है। सत् साहित्य को पढ़ने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान को मनीषियों ने सच्चे प्रकाश की उपमा देकर अज्ञानता को महान् अंधकार के रूप में बताया है।

कन्फ्यूशियस ने भी एक जगह लिखा है–

``Ignorance is night of the mind, but a night without moon and stars.''

अर्थात् ''अज्ञानता मन की वह अंधेरी रात है, जिसमें न चाँद हैं न तारे'' ऐसी अंधेरी दुनिया में महापुरुषों द्वारा बताई या लिखी गई बातें ही हमारे लिए प्रकाश देने का कार्य करती हैं।

उनके द्वारा लिखी गई एक–एक पंक्ति कभी–कभी महान जीवनदायिनी बन जाती है। जैसे कि एक प्रसिद्ध कवि भारवी की जीवन्त काव्य रचना के विषय में घटना सुनी जाती है कि—बिहार के धनपुर पट्टी नामक गाँव में एक झोपड़ी में रहने वाले भारवि कवि कविता आदि का लेखन किया करते थे। एक दिन उनकी पत्नी बहुत नाराज हुईं और उनसे बोलीं कि—आपके इस लेखन से हमें क्या लाभ है ? इधर हमारे परिवार में भोजन का ठिकाना नहीं है, और आप हैं कि हर समय लिखने में लगे रहते हैं। अरे ! कुछ और काम–धन्धा करो, जिससे परिवार का पालन हो। कवि भारवि पत्नी की बात सुनकर पहले तो कुछ चिन्ता में डूब गए पुनः चिन्तन करके उन्होंने पत्नी को एक ताड़पत्र पर श्लोक लिखकर दिया और उससे कहा—देवी ! तुम बाजार में जाकर इसे बेचकर पैसे ले आओ।

कवि की पत्नी ने बाजार में जाकर उस श्लोक को एक सुनार के हाथों बेच दिया। सुनार ने वे पंक्तियाँ अपने

घर में टांग दिया। वे पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगाड़े आपनो, जग में होत हंसाय।।

पुनः एक बार वह सुनार विदेश में धन कमाने चला गया, उसकी पत्नी को उस समय तीन मास का गर्भ था। उसने ९ माह बाद पुत्र को जन्म दिया और उसका लालन–पालन करके बड़ा किया। लगभग १५–१६ वर्ष बाद जब सुनार वापस अपने घर लौटा तो अपनी पत्नी के पास पलंग पर एक नौजवान को सोता देखकर क्रोध में आगबबूला हो गया और पत्नी तथा नौजवान को जान से मारने के लिए उसने तलवार निकाल ली किन्तु तुरन्त उसकी दृष्टि कमरे में टंगे दोहे की पंक्ति पर पड़ी अतः पत्नी को जगाकर उससे पूछा कि यह नौजवान कौन है ? कहाँ से आया है ? कब से तेरे पास रहता है ? आदि। पत्नी ने कहा—स्वामी! यह तो आपका पुत्र है। क्या आपको याद नहीं है कि आप मुझे गर्भवती अवस्था में छोड़कर गये थे ? अब तो देखो, यह बेटा जवानी की ओर बढ़ रहा है। पुत्र ने तुरन्त अपने पिता के चरण स्पर्श किये और परिवार का मिलन हो गया। सुनार को अपने पर बड़ा पश्चाताप हुआ। तब उस सुनार को कवि की अमूल्य पंक्तियों पर बहुत श्रद्धा हो गई। उसने पत्नी और पुत्र से कहा कि—आज भारवि कवि की इन पंक्तियों ने हमारे परिवार की रक्षा कर दी अन्यथा गलतफहमी का शिकार बनकर मेरे हाथ से आज आप दोनों की हत्या हो जाती और हमारा परिवार नष्ट–भ्रष्ट हो जाता अर्थात् भारवि कवि की वे पंक्तियाँ सार्थक होकर जीवन निर्माण के लिए उपयोगी हो गईं।

आगे चलकर उस सुनार ने भारतीय लेखकों के साहित्य का खूब प्रचार–प्रसार किया है। साहित्य का यह चमत्कार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को चमत्कृत कर सकता है इसलिए सत्साहित्य का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है—

``Which can not be seen by the physical eyes, can be seen by the literary eyes.'' अर्थात् ''जो चीज भौतिक आँखे नहीं देख पाती हैं, उसे भी साहित्य की आँखों से देखा जा सकता है।

भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही जैन साहित्य का भी बड़ा विशाल योगदान रहा है। हमारे अनेक लोकोपकारी जैनाचार्यों ने अपने जीवन का बहुभाग सर्वजनहितकारक साहित्य की रचना में व्यतीत किया है।

जैनधर्म में बड़े–बड़े प्रकाण्ड जैनाचार्य हो गए हैं जो प्रबल तार्किक, वैयाकरण, कवि और दार्शनिक थे। उन्होंने जैनधर्म के साथ–साथ भारतीय साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी अपनी लेखनी के जौहर दिखलाये हैं। दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, नाटक, कथा, शिल्प, मन्त्र–तन्त्र, वास्तु, वैद्यक आदि–आदि अनेक विषयों पर काफी मात्रा में प्राचीन जैन साहित्य आज भी उपलब्ध है जबकि बहुत सारा साहित्य धार्मिक द्वेष, लापरवाही तथा अज्ञानता के कारण नष्ट हो चुका है।

भारत की अनेक भाषाओं में जैन साहित्य लिखा हुआ है, जिनमें प्राकृत और संस्कृत भाषा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जैनधर्म ने प्रारम्भ से ही अपने प्रचार के लिए लोकभाषाओं को अपनाया अतः अपने–अपने समय की लोकभाषा में भी जैन साहित्य की रचनाएँ पायी जाती हैं। इसी से जर्मन विद्वान् डॉक्टर विंटरनीट्ज ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास में लिखा है—'भारतीय भाषाओं की दृष्टि से भी जैन साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है;

क्योंकि जैन सदा इस बात की विशेष परवाह रखते थे कि उनका साहित्य अधिक से अधिक जनता के परिचय में आये। इसी से आगमिक साहित्य तथा प्राचीनतम टीकाएँ प्राकृत में लिखी गयीं। दिगम्बरों ने पहले संस्कृत में रचनाएँ करना आरम्भ किया। बाद में १० वीं से १२ वीं शती तक अपभ्रंश भाषा में, जो उस समय की जन भाषा थी, रचनाएँ की गयीं और आजकल के जैन बहुत–सी आधुनिक भारतीय भाषाओं का उपयोग करते हैं तथा उन्होंने हिन्दी, गुजराती साहित्य को तथा दक्षिण में तमिल और कन्नड़ साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध किया है।' [`A History of Indian Literature' Ve. II P. 427-428].

आज जो जैन साहित्य उपलब्ध है वह सब भगवान् महावीर की उपदेश परम्पराओं से सम्बद्ध है। भगवान् महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी थे। इनका मूल नाम इन्द्रभूति था, ये जाति से ब्राह्मण थे और वेद–वेदांग में पारंगत थे। जब केवलज्ञान हो जाने पर भी भगवान् महावीर की वाणी नहीं खिरी तो इन्द्र को चिन्ता हुई। इसका कारण जानकर वह इन्द्रभूति ब्राह्मण विद्वान के पास गया और युक्ति से उन्हें भगवान् महावीर के समवसरण में ले आया। समवसरण में पहुँचते ही इन्द्रभूति ने जैन दीक्षा ले ली और भगवान् के प्रधान गणधर हुए। भगवान का उपदेश सुनकर इन्होंने द्वादशांग श्रुत की रचना की। उन्होंने भगवान् महावीर के उपदेशों को अवधारण करके बारह अंग और चौदह पूर्व के रूप में निबद्ध किया। जो इन अंगों और पूर्वों का पारगामी होता है जैनधर्म में उसे श्रुतकेवली कहा जाता है। जैन परम्परा में ज्ञानियों में दो ही पद सबसे महान गिने जाते हैं— प्रत्यक्ष ज्ञानियों में केवलज्ञानी का और परोक्षज्ञानियों में श्रुतकेवली का। जैसे केवलज्ञानी भगवान समस्त चराचर जगत को प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं वैसे ही श्रुतकेवली महामुनि शास्त्र में वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्ट जानते हैं। जब कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रातः भगवान महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन सायंकाल में गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसके १२ वर्ष पश्चात् गौतम स्वामी को भी निर्वाणपद प्राप्त हुआ।

दिगम्बर जैन साहित्य

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीन केवलज्ञानी (गौतमगणधर, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी) हुए और उनके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए जिनमें से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके समय में मगध में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। तब ये अपने संघ के साथ दक्षिण की ओर चले गये और फिर लौटकर नहीं आये अतः दुर्भिक्ष के पश्चात् पाटलीपुत्र में भद्रबाहु स्वामी की अनुपस्थिति में जो अंग साहित्य संकलित किया गया वह एकपक्षीय था। मूल या दूसरे पक्ष ने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि दुर्भिक्ष के समय जो साधु मगध में ही रहे थे, सामयिक कठिनाइयों के कारण वे अपने आचार में शिथिल हो गये थे। यहीं से जैन संघ में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जन्म हुआ और जिनधर्म (दिगम्बर) को भी सम्प्रदाय कहा गया और दोनों सम्प्रदायों का साहित्य भी पृथक्–पृथक् हो गया।

श्रुतकेवली भद्रबाहु इस युग के अंतिम श्रुतकेवली माने गये हैं जो सम्पूर्ण द्वादशांग के ज्ञाता थे। उनके पश्चात् ग्यारह अंग और दस पूर्वों के ज्ञाता आचार्य हुए। फिर पाँच आचार्य केवल ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। पूर्वों का ज्ञान एक तरह से नष्ट ही हो गया और छुट–पुट ज्ञान बाकी रह गया। फिर चार आचार्य केवल प्रथम

आचारांग के ही ज्ञाता हुए और अंग ज्ञान भी समाप्तप्राय हो गया। इस तरह कालक्रम के विच्छिन्न होते–होते वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष बीतने पर जब अंगों और पूर्वों के शेष बचे ज्ञान के भी लुप्त होने का प्रसंग उपस्थित हुआ तब गिरनार पर्वत पर स्थित आचार्य श्री धरसेन मुनिवर ने पुष्पदन्त और भूतबली नाम के दो सर्वोत्तम साधुओं को अपना शिष्य बनाया जिन्होंने षट्खण्डागम नाम के सूत्र ग्रंथ की रचना प्राकृत भाषा में की।

श्रुतधर—शास्त्रों को लिखने वाले आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम लेखक आचार्य कौन हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर इतिहासकारों ने बड़े आदर से महान आचार्यश्री "गुणधर देव" का नाम लिया है। श्रीगुणधर और धरसेन ये दोनों आचार्य श्रुत के प्रतिष्ठापक रूप से प्रसिद्ध हुए हैं फिर भी गुणधरदेव, धरसेनाचार्य की अपेक्षा अधिक ज्ञानी थे और लगभग उनके दो सौ वर्ष पूर्व हो चुके हैं ऐसा विद्वानों का अभिमत है अतएव आचार्य गुणधर को दिगम्बर परम्परा में लिखित रूप से प्राप्त श्रुत का प्रथम श्रुतकार माना जा सकता है। धरसेनाचार्य ने किसी ग्रंथ की रचना नहीं की जबकि गुणधराचार्य ने "पेज्जदोसपाहुड" ग्रंथ की रचना की है।

ये गुणधराचार्य किनके शिष्य थे इत्यादि रूप से इनका परिचय यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है तो भी उनकी महान कृति से ही उनकी महानता जानी जाती है। यथा—

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरकमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ।।५१।। (इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार)

गुणधर और धरसेन की पूर्वापर गुरु परम्परा हमें ज्ञात नहीं है क्योंकि इसका वृत्तांत न तो हमें किसी आगम में मिला और न किसी मुनि ने ही बतलाया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रनंदि आचार्य के समय तक आचार्य गुणधर और धरसेन का गुरु शिष्य परम्परा का अस्तित्व स्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका था फिर भी इतना स्पष्ट है कि श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा स्थापित संघों में "गुणधर संघ" का नाम आया है। नंदिसंघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलि का समय वीर नि. सं. ५५६ अथवा वि. सं. ९५ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणधर देव अर्हद्बलि के पूर्ववर्ती हैं पर कितने पूर्ववर्ती हैं, यह निर्णयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। यदि गुणधर की परम्परा को ख्याति प्राप्त करने में सौ वर्ष का समय मान लिया जाए तो षट्खंडागम के प्रवचनकर्ता धरसेनाचार्य से "कसायपाहुड़" के प्रणेता गुणधराचार्य का समय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य गुणधर का समय विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है।

श्रीगुणधराचार्य को पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व की दशवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड़ का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त था जबकि षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के प्रणेताओं को उक्त ग्रंथों की उत्पत्ति के आधारभूत "महाकम्मपयडिपाहड़" का आंशिक ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस प्रकार से गुणधराचार्य ने "कसायपाहुड़" जिसका अपरनाम "पेज्जदोसपाहुड़" भी है, उसकी रचना की है। १६००० पद प्रमाण कसायपाहुड़ के विषय को संक्षेप से एक सौ अस्सी गाथाओं में ही पूर्ण कर दिया है।

पेज्ज नाम प्रेयस् या राग का है और दोस नाम द्वेष का है। चूँकि क्रोधादि चारों कषायों में माया, लोभ को राग रूप से और क्रोध, मान को द्वेष रूप से, ऐसे ही नव नोकषायों का विभाजन भी राग और द्वेषरूप में किया है अतः प्रस्तुत ग्रंथ का मूल नाम "पेज्जदोसपाहुड़" है और उत्तर नाम "कसायपाहुड़" है। कषायों की विभिन्न अवस्थाओं

का एवं इनसे छूटने का विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है अर्थात् किस कषाय के अभाव से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है, किस कषाय के क्षयोपशम आदि से देशसंयम और सकलसंयम की प्राप्ति होती है, यह बतला करके कषायों की उपशमना और क्षपणा का विधान किया गया है। तात्पर्य यही है कि इस ग्रंथ में कषायों की विविध जातियां बतला करके उनके दूर करने का मार्ग बतलाया गया है।

इस ग्रंथ की रचना गाथासूत्रों में की गई है। आचार्य गुणधरदेव स्वयं कहते हैं—"वोच्छामि सुत्तगाहा जपिगाहा जम्मि अत्थम्मि" जिस अर्थाधिकार में जितनी–जितनी सूत्र गाथायें प्रतिबद्ध हैं, उन्हें मैं कहूँगा। इस ग्रंथ में कुल २३३ गाथायें हैं, जिन्हें "कसायपाहुड़" सुत्त की प्रस्तावना में पं. हीरालाल जी ने श्रीगुणधराचार्य रचित ही माना है अर्थात् ५३ गाथाओं में विवाद होकर भी गुणधराचार्य रचित ही निर्णय मान्य होता है।

"इस प्रकार के उपसंहृत एवं गाथासूत्र निबद्ध द्वादशांग जैन वाङ्मय के भीतर अनुसंधान करने पर यह ज्ञात हुआ है कि कसायपाहुड़ ही सर्वप्रथम निबद्ध हुआ। इससे प्राचीन अन्य कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है।"

कषायप्राभृत ग्रंथ आचार्य परम्परा से आर्यमंक्षु और नागहस्ति नाम के आचार्यों को प्राप्त हुआ। उनसे सीखकर यतिवृषभ नामक आचार्य ने उन पर वृत्तिसूत्र रचे, जो प्राकृत में हैं और ६००० श्लोक प्रमाण हैं। यहाँ ध्यान रहे कि ३२ अक्षर के एक अनुष्टुप् छन्द का १ श्लोक कहा है सो उस प्रकार से ६००० श्लोक प्रमाण संख्या कही है अर्थात् ६००० × ३२ = १,९२००० अक्षर की टीका है। इन दोनों कसायपाहुड़ और षट्खण्डागम नाम से महान् ग्रंथों पर अनेक आचार्यों ने अनेक टीकाएँ रचीं जो आज उपलब्ध नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य हुए। ये बड़े समर्थ विद्वान् थे। इन्होंने षट्खण्डागम पर अपनी सुप्रसिद्ध टीका धवला शक सं. ४३८ में पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है तथा कसायपाहुड़ ग्रंथ पर भी इन्होंने टीका लिखी किन्तु वे उसे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हो गये। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्य ने ४० हजार श्लोक प्रमाण और लिखकर शक सं. ७५९ में उसे पूरा किया। इस टीका का नाम जयधवला है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है। इन दोनों टीकाओं की रचना संस्कृत और प्राकृत के सम्मिश्रण से की गयी है जिसका बहुभाग प्राकृत में है। बीच–बीच में संस्कृत भी आ जाती है, जैसा कि टीकाकार ने उसकी प्रशस्ति में लिखा है—

'प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तरः।।

षट्खण्डागम का ही अन्तिम खण्ड महाबंध है जिसकी रचना भूतबलि आचार्य ने की थी, यह भी प्राकृत में है और इसकी टीका ४१ हजार श्लोक प्रमाण है। इन सभी ग्रंथों में जीवतत्त्व एवं कर्मसिद्धान्त का बहुत सूक्ष्म और गहन वर्णन है।

चिरकाल से ये तीनों महान् ग्रंथ मूड़बिद्री (दक्षिण कर्नाटक) के जैन भण्डार में ताड़पत्र पर सुरक्षित थे चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज की प्रबल प्रेरणा से वहाँ के भट्टारक महोदय तथा पंचों की उदात्त भावना के फलस्वरूप अब इन तीनों का प्रकाशन विद्वानों द्वारा लिखी गई हिन्दी टीका के साथ हो चुका है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में कुन्दकुन्द नाम के एक महान् आचार्य हुए हैं। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि

विदेह क्षेत्र में जाकर सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि सुनने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ था। इनके प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाम के ग्रंथ अति प्रसिद्ध हैं। इनके सिवाय इन्होंने ८४ प्राभृतों की रचना की है जिनमें से अष्टपाहुड़ ग्रंथ में आठ प्राभृत उपलब्ध हैं।

इनके शिष्य उमास्वामी नाम के आचार्य थे, जिन्होंने जैन वाङ्मय को संस्कृत सूत्रों में निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र नाम के ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ के दस अध्यायों में जीव आदि सात तत्वों का सुन्दर विवेचन किया गया है। अपने–अपने धर्मों में गीता, कुरान और बाइबिल को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान जैनधर्म में तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ को प्राप्त है। दिगम्बर और श्वेताम्बर भी इसे समान रूप से मानते हैं। दोनों ही परम्पराओं के आचार्यों ने इसके ऊपर अनेक टीकाएँ रची हैं जिनमें पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि एवं अकलंकदेव का तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दि आचार्य का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक उल्लेखनीय है। दोनों ही वार्तिकग्रंथ संस्कृत में बड़े ही प्रौढ़ शैली में रचे गये हैं और जैनदर्शन के अपूर्व ग्रंथ हैं।

दर्शन और न्यायशास्त्र में स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा नाम का एक ग्रंथ रचा है, जिसमें स्याद्वाद का सुन्दर विवेचन करते हुए इतर दर्शनों की विचारपूर्ण समीक्षा की गयी है। इस आप्तमीमांसा पर स्वामी अकलंकदेव ने 'अष्टशती' नामक ग्रंथ रचा है और अष्टशती को मिला–मिलाकर स्वामी विद्यानन्द आचार्य ने आप्तमीमांसा की कारिकाओं पर अष्टसहस्री नाम की टीका रची है। अष्टसहस्री इतनी गहन है कि इसको समझने में इतने कष्ट का अनुभव होता है कि आचार्यदेव ने स्वयं इसे कष्टसहस्री कहा है। इस अत्यन्त कठिन ग्रंथ का सन् १९६९–७० में पू. गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी ने सरल हिन्दी में अनुवाद करके विद्वत् जगत के मस्तक को गौरवान्वित किया है।

पुराण साहित्य में महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रंथों का नाम उल्लेखनीय है। जैन पुराणों का मूल प्रतिपाद्य विषय ६३ शलाका पुरुषों के चरित्र हैं। इनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव (नारायण) और ९ प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) हैं। जिनमें पुराण पुरुषों का पुण्यचरित्र वर्णन किया गया हो उसे पुराण कहते हैं। हरिवंशपुराण में बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ और नवमें नारायण श्रीकृष्ण का वर्णन करते हुए कौरव और पाण्डवों का वर्णन है और पद्मपुराण में आठवें बलभद्र श्रीरामचन्द्र एवं नारायण लक्ष्मण का वर्णन है। इस तरह से ये दोनों ग्रंथ क्रमशः जैन महाभारत और जैन रामायण कहे जाते हैं। इनके सिवाय चरित ग्रंथों का तो जैन साहित्य में भण्डार भरा है। सकलकीर्ति आदि आचार्यों ने अनेक चरित ग्रंथ रचे हैं। आचार्य जटासिंहनन्दि का वरांगचरित एक सुन्दर पौराणिक काव्य है। काव्यसाहित्य भी कम नहीं हैं। वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, धनंजय कवि का द्विसन्धान और वाग्भट्ट का नेमिनिर्वाण काव्य उच्च कोटि के संस्कृत महाकाव्य हैं।

अपभ्रंश भाषा में तो इन पुराण और चरित ग्रंथों का संस्कृत की अपेक्षा भी बाहुल्य है। अपभ्रंश भाषा में भी जैन कवियों ने खूब रचनाएँ की हैं।

जैनधर्म का कथा साहित्य भी विशाल है। आचार्य हरिषेण का कथाकोश बहुत प्राचीन (ई. स. ९३२) है। आराधना कथाकोश, पुण्यास्रव कथाकोश आदि अन्य भी बहुत से कथाकोश हैं जिनमें कथाओं के द्वारा धर्माचरण

का शुभ फल और अधर्माचरण का अशुभ फल दिखलाया गया है। चम्पू काव्य भी जैन साहित्य में बहुत हैं। सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू, हरिचन्द्र का जीवन्धर चम्पू और अर्हद्दास का पुरुदेवचम्पू उत्कृष्ट चम्पू काव्य हैं। गद्य ग्रंथों में वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि उल्लेखनीय है। नाटकों में हस्तिमल्ल के विक्रांत कौरव, मैथिलीकल्याण, अंजनापवनंजय आदि दर्शनीय हैं। स्तोत्र साहित्य भी कम नहीं हैं। आचार्य श्रीमानतुंग का भक्तामर स्तोत्र, महाकवि धनंजय का विषापहार, कुमुदचन्द्र का कल्याण मन्दिर आदि स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं। स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में तो जैनदर्शन के उच्च कोटि के सिद्धान्तों को कूट–कूट कर भर दिया है। वह एक दार्शनिक स्तवन है। नीति ग्रंथों की भी कमी नहीं है। वादीभसिंह का क्षत्रचूड़ामणि काव्य एक नीतिपूर्ण काव्य ग्रंथ है। आचार्य अमितगति का सुभाषितरत्नसंदोह, पद्मनन्दि आचार्य की पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका और महाराज अमोघवर्ष की प्रश्नोत्तर रत्नमाला भी सुन्दर नीतिग्रंथ हैं।

इसके सिवाय ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर भी जैनाचार्यों की अनेक रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। ज्योतिष साहित्य में केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि और आयुर्वेद में उग्रादित्य आचार्य का कल्याणकारक ग्रंथ आया है। व्याकरण में पूज्यपाद देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण और शाकटायन का शाकटायन व्याकरण उल्लेखनीय है। कोष में धनंजय नाममाला और विश्वलोचन कोश, अलंकार में अलंकार चिन्तामणि, गणित में महावीर गणितसार संग्रह और राजनीति में सोमदेव का नीतिवाक्यामृत आदि स्मरणीय हैं।

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि दक्षिण और कर्नाटक का जितना जैन साहित्य है वह सब ही दिगम्बर जैन विद्वानों की रचना है तथा जिनधर्म के जितने प्रधान–प्रधान आचार्य हैं वे प्रायः सब ही कर्नाटक देश के निवासी थे और वे न केवल संस्कृत और प्राकृत के ही ग्रंथकर्ता थे किन्तु कन्नड़ भाषा के भी प्रसिद्ध ग्रंथकार थे।

तमिल भाषा का साहित्य भी प्रारम्भ काल से ही जैनधर्म और जैनसंस्कृति से प्रभावित है। 'कुरल' और 'नालदियार' नाम के दो महान् ग्रंथ उन जैनाचार्यों की कृति हैं जो तमिल देश में बस गये थे।

गुजराती भाषा में भी दिगम्बर जैन कवियों ने अनेक रचनाएँ की हैं, जिनका विवरण 'जैन गुर्जर कवियों' से प्राप्त होता है।

दिगम्बर जैन साहित्य में हिन्दी ग्रंथों की संख्या भी बहुत है। इधर लगभग ४०० वर्षों में अधिकांश ग्रंथ हिन्दी में रचे गये हैं। जैन श्रावक के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय करना आवश्यक है अतः जनसाधारण की भाषा में जिनवाणी को निबद्ध करने की प्रक्रिया प्रारम्भ से ही होती आयी है। इसी से हिन्दी जैन साहित्य में गद्यग्रंथ बहुतायत से पाए जाते हैं। लगभग सोलहवीं शताब्दी से लेकर हिन्दी गद्य ग्रंथ जैन साहित्य में उपलब्ध हैं और इसलिए हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने वालों के लिए वे बड़े काम के हैं।

पद्यसाहित्य में पं. दौलतरामजी का छहढाला जैन सिद्धान्त का अमूल्य रत्न है। पं. टोडरमलजी, पं. दौलतरामजी, पं. सदासुख, पं. बुधजन, पं. द्यानतराय, भैया भगवतीदास, पं. जयचन्द आदि अनेक विद्वानों ने अपने समय की ढुंढारी हिन्दी भाषा में गद्य अथवा पद्य अथवा दोनों में अपनी रचनाएँ की हैं। विनती, पूजापाठ, धार्मिक भजन आदि भी पर्याप्त हैं। पद्य साहित्य में भी अनेक पुराण और चरित रचे गये हैं।

हिन्दी जैन साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें शान्तरस और वैराग्यरस की सरिता ही सर्वत्र प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत और प्राकृत के जैन ग्रंथकारों के समान हिन्दी जैन ग्रंथकारों का भी एक ही लक्ष्य रहा है कि मनुष्य किसी तरह सांसारिक विषयों में द्वन्द्व से निकलकर अपने को पहचाने और अपने उत्थान का प्रयत्न करे। इसी लक्ष्य को रखकर सबने अपनी–अपनी रचनाएँ की हैं।

यह तो हुआ भगवान महावीर के शासन में लगभग दो हजार वर्षों के मध्य हुए आचार्य, विद्वान् कवि आदि लेखकों में कतिपय साहित्य रचनाकारों के कृतित्व का संक्षिप्त परिचय। पुनश्च इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए बीसवीं–इक्कीसवीं सदी भी जैन साहित्य से अत्यन्त समृद्ध हुई है।

उनमें बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागर महाराज के विद्वान् शिष्य आचार्य श्री सुधर्मसागर जी महाराज, आचार्य श्री कुंथुसागर जी महाराज द्वारा सुधर्म श्रावकाचार, चौबीस तीर्थंकर स्तुति आदि प्रौढ़ ग्रंथ रचे गये हैं। आचार्य श्रीपायसागर जी के शिष्य भारतगौरव आचार्य श्री देशभूषण महाराज ने धर्मामृत, णमोकार आदि ग्रंथ लिखे हैं। आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने संस्कृत काव्य साहित्य एवं हिन्दी टीकानुवाद आदि कार्य किये हैं। इसी प्रकार अन्य आचार्य–मुनिराज आदिकों की भी कतिपय साहित्यिक रचनाएँ संस्कृत–हिन्दी–प्राकृत में गद्य–पद्य दोनों तरह की प्राप्त होती हैं।

वर्तमान समय में भी आचार्य–उपाध्याय–मुनि–आर्यिका आदि अपनी रत्नत्रय साधना के साथ ज्ञानाराधना के क्षेत्र में वृहत् मात्रा में साहित्य लेखन करते देखे जा रहे हैं। इनमें कुछ अत्याधुनिक जनभाषा में जिनधर्म प्रभावना का साहित्य लिखते हैं तो कुछ प्राचीन आचार्य परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रौढ़ भाषा में जनहितकारी स्वाध्याय के ग्रंथ लिखकर प्रदान करते हैं। आचार्य श्री विद्यानंदिजी, आचार्य श्री विद्यासागर जी, आचार्य श्री कनकनंदी जी, आचार्य श्री पुष्पदंतसागर जी, आचार्य श्री विरागसागर जी आदि कतिपय विशिष्ट आचार्यों की साहित्यिक कृतियाँ भी वर्तमान की उपलब्धि हैं तथा अनेकानेक उपाध्याय–मुनिराजों के भी लेखन समाज में प्रचलित हैं।

इसी श्रृंखला में दिगम्बर जैन साध्वियों द्वारा साहित्य लेखन का शुभारम्भ किया पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने। इन्होंने समयसार आदि अनेकानेक संस्कृत ग्रंथों की हिन्दी टीकाएँ लिखीं, जैनभारती आदि मौलिक ग्रंथ लिखे, पूजा–विधानों में इन्द्रध्वज और कल्पद्रुम जैसे विधानों ने तो सम्पूर्ण जैन समाज में चमत्कार फैला दिया है। बालक–युवा, नारी–प्रौढ़–विद्वान् सभी के हित को ध्यान में रखकर ४०० शास्त्र लिखे तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक सूत्रग्रंथ षट्खण्डागम के १६ ग्रंथों की "सिद्धान्त चिन्तामणि" नाम की संस्कृत टीका ३२०० पृष्ठों में लिखकर कीर्तिमान स्थापित कर दिया है।

उनका अनुसरण करते हुए अन्य अनेक साध्वियों ने भी ग्रंथ लेखन किये हैं जिनमें आर्यिका श्री जिनमती माताजी, आर्यिका श्री आदिमती माताजी (पू. ज्ञानमती माताजी की शिष्याएँ), गणिनी आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी, आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी आदि के नाम प्रमुख हैं। मुझे भी (आर्यिका चन्दनामती) पूज्य माताजी की प्रेरणा से षट्खण्डागम की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका के सभी ग्रंथों की एवं ऋषभदेव चरितम् ग्रन्थ की हिन्दी टीका करने तथा श्री महावीर स्तोत्र की संस्कृत–हिन्दी टीका लिखने का सौभाग्य मिला तथा कतिपय

छोटे-बड़े साहित्य (लगभग दो सौ ग्रंथ) गुरुकृपा से मेरे द्वारा भी सृजित हुए हैं।

जैन समाज का विद्वतवर्ग तो अपनी लेखनी सदा-सर्वदा की भाँति आज भी चला ही रहा है। प्राचीन विद्वानों में पं. लालाराम जी शास्त्री मुरैना (महापुराण के अनुवादक), पं. खूबचन्द शास्त्री, पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर, पं. इन्द्रलाल शास्त्री, पं. मोतीचंदजी कोठारी, पं. कैलाशचन्द सिद्धान्ताचार्य, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, पं. लाल बहादुर शास्त्री, पं. बाबूलाल जमादार, पं. फूलचन्द सिद्धांतशास्त्री, पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, पं. ए. एन. उपाध्ये, पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने साहित्य की अपूर्व सेवा की है।

अंत में सम्यक्ज्ञान की ज्योति सभी के हृदय में प्रज्वलित हो इस अभिलाषा के साथ—

ज्ञानमत्यार्यिका माता, जीयात् वर्ष शतं भुवि।
चन्दनामति शिष्यायाः पूर्यात् सर्वं मनोरथं।।

मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से मत सींचो

णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे।
अहलो करेइ पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण।।68।।

(श्री देवसेन सूरि)

यहाँ मन को वृक्ष की उपमा दी है। जिस प्रकार वृक्ष में दो बड़ी शाखाएं होती हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाएं हैं। जिस प्रकार वृक्ष की बड़ी शाखाओं से उपशाखाएं निकलकर वृक्ष को विस्तृत करती हैं उसी प्रकार रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाओं से विषयेच्छा रूप अनेक उपशाखाएं निकलकर मनरूपी वृक्ष को विस्तृत करती हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फल निकलते हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में भी संकल्प-विकल्परूप अनेक फल लगते हैं और जिस प्रकार वृक्ष को जल से सींचकर हरा-भरा किया जाता है उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से हरा-भरा रखा जाता है। आचार्य क्षपक को उपदेश देते हैं कि-हे क्षपक! तू इस मनरूपी वृक्ष को निर्मूल कर दे, इसकी उपशाखाएं काटकर इसे विस्तार से रहित कर दे, यही नहीं इनकी रागद्वेषरूपी शाखाओं को काट डाल, ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे अब इसमें संकल्प-विकल्परूपी फल न लगें तथा इसे अब मोहरूपी जल से सींचना बंद कर दे। ऐसा करने से यह मनरूपी वृक्ष स्वयं उखड़ जायेगा।

(2)

आगम पाठ एवं किसी की साहित्यिक कृतियों में संशोधन उचित नहीं है

काल परिवर्तन के साथ–साथ जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आजकल कुछ ऐसे परिवर्तन होने लगे हैं जो दूध पानी की तरह इस प्रकार एकरूप हो रहे हैं कि साधारण मानव तो उनकी वास्तविकता, अवास्तविकता के बारे में जान ही नहीं सकता है। अनादिनिधन अपराजित मंत्र णमोकार जो जिनधर्म और उसके अनुयायियों का मूलमंत्र माना जाता है उसका मूल स्वरूप "षट्खण्डागम" नामक आगम ग्रंथ में इस प्रकार मिलता है—

णमोकार मंत्र—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

उसी ग्रंथ में धवला टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने पुस्तक एक में "अतिशयपूजार्हत्वात् वा अर्हंत" इस वाक्य से "अरहंताणं" पद की व्याख्या करके इसे भी शुद्ध माना है तथा टिप्पण में एक "अरुहंताणं" पद भी दिया है किन्तु यह प्रसिद्धि में नहीं है, वर्तमान में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में "अरिहंताणं" और "अरहंताणं" ये दोनों पाठ प्रचलित हैं। श्वेताम्बर परम्परा में प्रायः "नमो अरिहंताणं" आदि पाठ देखा जाता है।

इस णमोकार मंत्र को पढ़ने में भी प्रायः लोग जल्दी और प्रमाद के कारण गलती करते हैं। शत–प्रतिशत शुद्ध मंत्र पढ़ने वाले बहुत कम स्त्री–पुरुषों को देखा जाता है। यही कारण है कि इस महामंत्र के उच्चारण–जाप्य–चिन्तन–मनन करने वालों को पूर्णफल की प्राप्ति नहीं हो पाती है। जनता से णमोकार मंत्र का शुद्ध उच्चारण कराने में विद्वानों को भी अवश्य ध्यान देना चाहिए। यदि इसके शुद्ध लेखन और पाठन की प्रतियोगिताएँ भी आयोजित की जावें तो अच्छे परिणाम सामने आएंगे और बच्चों–युवाओं में इसके पाठ के प्रति प्रबल संस्कार बनेंगे।

पाठ परिवर्तन का प्रथम परिचय—

आजकल पुस्तकों में नवीन प्रकाशन के माध्यम से जन साधारण के मुंह पर चत्तारि मंगल का परिवर्तित पाठ दृष्टिगोचर हो रहा है। जैसे—"अरहंता मंगलं, अरहंता लोगुत्तमा, अरहंते सरणं पवज्जामि" इत्यादि, किन्तु प्राचीन ग्रंथों के अनुसार विभक्ति रहित पाठ ही मान्य होना चाहिए। आचार्यश्री शुभचन्द्र स्वामी द्वारा रचित ज्ञानार्णव ग्रंथ में चत्तारि मंगल का विभक्ति रहित पाठ ही आया है। यथा—चत्तारिमंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरहंत सरणं पवज्जामि, सिद्ध सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पव्वजामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पवज्जामि।

यही प्राचीन पाठ क्रियाकलाप तथा प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में भी है किन्तु विभक्तिसहित परिवर्तित पाठ को प्रचलित देखकर एक बार सन् १९८३ में जब मैं ब्रह्मचारिणी कु. माधुरी के रूप में थी उस समय पूज्य

गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने मुझसे इस विषय में अनेक साधुओं एवं विद्वानों के पास पत्राचार कराया था। उनमें से पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य के पत्र से विदित हुआ कि "यह विभक्ति लगाकर संशोधित पाठ श्वेताम्बर परम्परा से आया है" तथा क्षुल्लक श्री सिद्धसागर महाराज मौजमाबाद (दीक्षित आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज) के पत्र में था कि "प्राकृत व्याकरण के अनुसार इस चत्तारि मंगल पाठ में विभक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं और "एदे छ च समाणा" सूत्र के अनुसार **आ** और **अ** को समान मानकर अरहंता में **आ** के स्थान पर **अ** हो गया है अतः यह विभक्ति सहित पाठ होकर भी विभक्ति रहित दिखता है एवं लाघव की दृष्टि से भी यही पाठ शुद्ध है।" इत्यादि समाधानों से प्राचीन पाठ ही इष्ट लगता है अतः विद्वानों को विभक्ति रहित पाठ ही चलाना चाहिए। श्वेताम्बर संप्रदाय द्वारा मूल पाठ में किए गए परिवर्तन को हमें मान्यता नहीं देना चाहिए।

स्व. पं. मोतीचन्द जी कोठारी-फल्टण, पंडित सुमेरचंद जी दिवाकर-सिवनी, पंडित पन्नालाल सोनी ब्यावर आदि विद्वानों से भी पूज्य माताजी की इस विषय में चर्चाएं हुई थीं, उन सभी ने प्राचीन ग्रंथों के आधार पर बिना विभक्ति वाला पाठ ही उचित बताया था अतः माताजी का कहना है कि मंत्र व्याकरण कुछ अलग ही होते हैं उसका ज्ञान हम लोगों को नहीं है इसलिए मूलमंत्रों में अपने मन से विभक्तियाँ नहीं लगाना चाहिए।

मूलमंत्र में परिवर्तन से आँखों देखी हानि—

सन् १९८८ की बात है, राजस्थान के एक शहर में श्रीकल्पद्रुम महामंडल विधान का विशाल आयोजन था। उन दिनों मेरा भी वहाँ जाना हुआ था। विधान के प्रारम्भिक दिनों में ही वहाँ काफी अशान्ति का वातावरण बना हुआ था। वहाँ विराजित आचार्य संघ के साधु-साध्वी भी बड़े अशान्त थे और विधान में कोई अपना सानिध्य नहीं प्रदान करते थे। एक आर्यिका माताजी ने मुझसे अनेक बातें बताईं। संभवतः कई विद्वान् प्रतिष्ठाचार्यों को एक साथ आमंत्रित करने के कारण भी अत्यधिक कलह और विवाद की स्थिति बन गई थी। २-३ दिन वहाँ रुकने के बाद जब मैं वहाँ से वापस आने लगी तो विधान के प्रमुख आयोजक से मेरी बात हुई वे भी बेचारे बड़े खिन्न मन से कहने लगे कि लाखों रुपये खर्च करने के बाद भी विधान में कोई आनन्द नहीं आ रहा है और न जाने क्या कारण है कि वातावरण एकदम विषाक्त हो गया है। किसी कारणवश एक विद्वान् को तो रात्रि के १२ बजे गुप्तरूप से विदा कर दिया गया।

पुनः एक डॉक्टर विद्वान ने मुझे मंत्र का एक छपा हुआ कार्ड दिखाया कि इस मंत्र की सवा लाख जाप्य हो रही हैं। मैंने मंत्र देखते ही कहा—अरे ! यह कल्पद्रुम विधान का मूलमंत्र किसने बदलने का साहस किया है ?" संभवतः अशान्ति का प्रमुख कारण यह संशोधित मंत्र ही है" यही धारणा मेरे मन में रही पुनः मैं वह कार्ड लेकर हस्तिनापुर आ गई। मैंने पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से जब वहाँ की सारी घटना बताई तो ये भी यही कहने लगीं कि जिसने भी अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके इस मंत्र में परिवर्तन किया है उसे ही अशान्ति का मूल श्रेय है।

दरअसल ज्ञानार्णव ग्रंथ के आधार से माताजी ने कल्पद्रुम विधान में त्रयोदश अक्षरी निम्न मंत्र रखा है—"ॐ अर्हत्सिद्धसयोगकेवली स्वाहा"।

इस मंत्र में वहाँ परिवर्तन करके "ॐ ह्रीं अर्हत्सिद्धसयोगकेवलिभ्यो नमः" छपाया गया और उसी का अनुष्ठान हुआ था। संशोधन करने वाले विद्वान् महोदय ने एक तो अपने मन से "**ह्रीं**" का प्रयोग किया और केवली को चतुर्थी विभक्ति में "केवलिभ्यो" कर दिया एवं **स्वाहा** के स्थान पर **नमः** कर दिया अतः संशोधन

और परिवर्द्धन के साथ यह मंत्र १५ अक्षरी हो गया।

पहली बात तो आचार्य श्री शुभचन्द्र जैसे महान विद्वान् द्वारा लिखित ग्रंथ में उपलब्ध इस मंत्र में संशोधन करने का उन्हें अधिकार ही नहीं था। क्या उन आचार्यदेव को नमः या स्वाहा के योग में चतुर्थी विभक्ति प्रयोग करने का ज्ञान नहीं था ? अथवा ह्रीं और नमः का प्रयोग नहीं करके उन्होंने क्या मंत्र को अधूरा कर दिया था ? अन्यथा परिवर्तन का यह अतिसाहस क्यों किया गया ?

दूसरी बात कल्पद्रुम विधान की रचयित्री गणिनी माताजी स्वयं उन दिनों हस्तिनापुर में विराजमान थीं। मंत्र में या किसी भी संशोधन से पूर्व एक बार उनसे भी परामर्श लेना चाहिए था। वे भी व्याकरण-छन्द आदि की ज्ञाता हैं किन्तु इनका मानना है कि मंत्रों का व्याकरण अलग ही होता है पूर्वाचार्य उनके अच्छे ज्ञाता होते थे अतः हमें उनके द्वारा निर्मित मंत्रादिक में अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

यह साक्षात् देखी घटना मैंने आपको बताई है कि एक मंत्र में परिवर्तन करने से कितना अनर्थ हो सकता है। इस विषय में साधुओं तथा विद्वानों को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी विधान आदि में एक पंक्ति का भी परिवर्तन अपने मन से नहीं करना चाहिए।

शान्तिधारा में संशोधन—

अभिषेक पाठ में जो पुरानी शान्तिधारा प्रचलित है उसमें छिन्द-छिन्द, भिन्द-भिन्द क्रिया का प्रयोग है और अन्त में एक वाक्य हैं—"इत्यनेन मंत्रेण नवग्रहार्थं गन्धोदकधारा वर्षणम्" ! इन दोनों बातों के लिए एक आचार्य महाराज ने एक बार मुझसे कहा कि छिन्द-छिन्द के स्थान पर "छिन्दि-छिन्दि भिन्दि-भिन्दि" बोलना चाहिए और "नवग्रहशान्त्यर्थं गन्धोदकधारा वर्षणम्" पाठ बोलना चाहिए। उन्होंने अपना अभिप्राय भी बताया कि व्याकरण के अनुसार "छिन्द-भिन्द" क्रिया गलत है और ग्रहों की शान्ति हेतु ही शान्तिधारा की जाती है न कि ग्रहों के लिए करते हैं अतः **शान्त्यर्थं** शब्द जरूर जोड़ना चाहिए।

यद्यपि उन मुनिश्री की बात बिल्कुल सच है। छिद्-भिद् धातु से लोट् लकार मध्यम पुरुष के एकवचन में "छिन्दि-भिन्दि" क्रिया का रूप सिद्ध होता है किन्तु इस शांतिधारा के अतिरिक्त कुछ प्राचीन मंत्रों में भी "छिन्द-छिन्द-भिन्द-भिन्द" का प्रयोग देखने में आया है। हो सकता है उन लोगों को कहीं मंत्र शास्त्रों में "छिन्द-भिन्द" क्रिया मिली हो इसीलिए उन्होंने शान्तिधारा एवं विभिन्न मंत्रों में इस क्रिया का प्रयोग किया हो।

इस विषय में पूज्य माताजी बताती हैं कि स्व.ब्र. पं. श्री लालजी शास्त्री कहा करते थे कि सभी धातुएं भ्वादि गण में भी चलाई जा सकती हैं जिससे छिन्द-छिन्द, भिन्द-भिन्द रूप भी बन सकते हैं।

इसी शान्तिधारा में "सर्वदुःखं हन हन दह दह..... इत्यादि पाठ के ऊपर भी एक आचार्य मुनिवर की शंका का पत्र पूज्य माताजी के नाम से आया था कि हन् धातु से लोट् लकार में तो "जहि जहि" बनता है न कि हन हन। तब माताजी ने उनको भी यही उत्तर लिखवाया कि पुराने कुछ मंत्रों में भी "हन हन दह दह" पाठ आता है अतः इसमें कोई संशोधन नहीं सोचा जा सकता है। ज्ञानार्णव में मुनियों के ध्यान के प्रकरण में एक सरस्वती मंत्र है जिसमें "हन हन दह दह" पाठ आया है। ऐसे कई विकल्प आने के बाद पूज्य माताजी ने एक नई शान्तिधारा बनाई जिसमें वर्तमान व्याकरण के अनुसार "छिन्दि छिन्दि भिन्दि भिन्दि" का प्रयोग किया है तथा आधुनिक दुर्घटना की सम्भावनाओं को

टालने हेतु नए शब्दों को लिया है। जैसे-सर्व भूकम्पदुर्घटना भयं छिन्दि छिन्दि भिन्दि भिन्दि, सर्ववायुयानदुर्घटना भयं, सर्व साम्प्रदायिक विद्वेषं.....आदि। यह शांतिधारा त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित होने वाली पूजन विधान की पुस्तकों में छप चुकी है और खूब प्रचलित भी हो गयी है।

यहां प्रसंगानुसार इसी प्रकार का एक नमूना और भी प्रस्तुत है कि पूज्य माताजी ने अपने द्वारा रचित संस्कृत पद्य साहित्य में अनेक श्लोकों के पादान्त में "अनुस्वार" का प्रयोग किया है। जैसे—

प्रातरुत्थाय यो भव्यः, कुर्यात् चैत्यस्य वंदनां।
सम्यग्ज्ञानमतिं कृत्वा, प्राप्नुयात् सर्वमंगलं।।

जब संस्कृतज्ञ विद्वान उनकी रचना देखकर अनुस्वार के बारे में पूज्य माताजी से इस संभावित त्रुटि की ओर संकेत करते हैं तो माताजी उन्हें जैन व्याकरण "कातन्त्र-रूपमाला" का सूत्र नं. ९२ "विरामे वा" सूत्र दिखाकर बताती हैं कि एकमात्र इसी व्याकरण में श्री शर्ववर्म आचार्य ने यह विशेष नियम बताया है कि पादान्त में अनुस्वार भी विकल्प से होता है। इस जैन व्याकरण के नियम को दर्शाने हेतु ही मैंने कहीं-कहीं श्लोक के अन्त में अनुस्वार का भी प्रयोग किया है। संभवतः हमारे जैन विद्वानों को ही यह विशेष नियम ज्ञात नहीं होगा इसीलिए माताजी की कृतियों में उन्हें नयापन लगता होगा।

इसी तरह से बहुत कुछ संभव है कि प्राचीन विद्वानों को किसी मंत्र व्याकरण ग्रंथ में "छिन्द छिन्द भिन्द भिन्द" का कोई विशेष नियम दृष्टिगत हुआ हो तभी उन्होंने यह पाठ रखा हो।

इस युग में तो मनुष्यों की न जाने कैसी मानसिकता बन गई है कि कहीं किसी ग्रंथ में अपने मन के प्रतिकूल बात दृष्टिगत हुई बस तुरन्त उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन कर दिया। जैसे कवि द्यानतराय द्वारा रचित पंचपरमेष्ठी की आरती में से आजकल "छट्ठी ग्यारह प्रतिमाधारी, श्रावक वन्दों आनन्दकारी" वाली दो लाइनों को एकान्तपक्षियों ने हटा दिया है। कानून के परिप्रेक्ष्य में किसी की कृति में संशोधन करना नैतिक अपराध भी माना जाता है। आखिर तो न्याय ग्रंथों में भी जैनाचार्यों ने परमतों पर कुठाराघात करके ही अपने अनेकान्त पक्ष को सिद्ध किया है तो क्या धार्मिक सहिष्णुता के कारण उसमें भी हमारे विद्वान् संशोधन कर अपनी विद्वत्ता का परिचय देंगे ?

दशलक्षण पूजन—

काफी दिनों से विद्वानों एवं आम जनता के द्वारा बात आ रही थी कि कविवर द्यानतराय द्वारा रचित दशलक्षण पूजन में जो ब्रह्मचर्य धर्म के अन्तर्गत पंक्तियाँ आती हैं—

कूरे तिया के अशुचि तन में, कामरोगी रति करें।
बहु मृतक सड़हिं मसान माहीं, काग ज्यों चोंचैं भरैं।।
संसार में विषबेल नारी, तजि गए जोगीश्वरा।
"द्यानत" धरम दस पैंडि चढ़के, शिवमहल में पगधरा।।

इन पंक्तियों को दशलक्षण पर्व में प्रतिदिन पढ़कर प्रायः लोग स्त्रियों को बड़ी हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर आदि जिन महापुरुषों ने विवाह करके गृहस्थ धर्म का पालन किया है, क्या उनके ऊपर भी उपर्युक्त पंक्तियों के भाव घटित होते हैं एवं तीर्थंकर माता जैसी स्त्रियों में महाव्रती आर्यिकाओं में और

शीलवती नारियों में क्या **विषबेल** शब्द शोभास्पद लगता है ? इस प्रश्न के साथ अनेक लोगों ने पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी से अपेक्षा व्यक्त की कि आप इन पंक्तियों में कुछ संशोधन कर दें तब भी माताजी ने यही कहा कि मैं किसी की कृति में संशोधन नहीं करूँगी। पुनः कुछ भक्तों के विशेष आग्रह पर उन्होंने दशलक्षण पर्व की नई पूजन बना दी जिसमें ब्रह्मचर्य धर्म के अर्घ्य वाले पद में निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं—

मुनिगण पूर्ण ब्रह्मचारी, मुक्तिवधू के भरतारी।
श्रावक एकदेश पालें, शीलव्रती बन यश पालें।।१।।
सीता के व्रत शील भले, अग्नि हुई जल कमल खिले।
सेठ सुदर्शन शीलव्रती, शूली से सिंहासन भी।।२।।
स्वात्मसौख्यकृत ब्रह्मचर्य को, हृदय कमल में ध्याते हैं।
परमानन्द मोक्षपद हेतू, हर्षित अर्घ चढ़ाते हैं।।३।।

पूज्य माताजी का कहना है कि मुनियों के लिए ध्यानस्थ अवस्था में स्त्रियों की अशुचिता का वर्णन तो ज्ञानार्णव आदि ग्रंथों में भी आया है किन्तु अन्त में वहाँ भी खुलासा कर दिया है कि सभी स्त्रियाँ इन दोषों से युक्त नहीं होती हैं। ज्ञानार्णव का एक श्लोक यहाँ प्रसंगोपात्त उद्धृत किया जा रहा है—

सतीत्वेन महत्वेन, वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद्, भूषयन्ति धरातलम्।।५८।। (द्वादशः सर्गः)

अर्थात् अनेक स्त्रियाँ ऐसी हैं जो अपने पतिव्रतपन से, महत्त्व से, चारित्र से, विनय से और विवेक से इस पृथ्वी तल को भूषित करती हैं।

इन प्रकरणों के बावजूद भी यहाँ यह देखना है कि पूजन में ऐसी पंक्तियों को देने का कोई औचित्य नहीं है क्योंकि पूजा श्रावक-श्राविका आदि ही करते हैं मुनिगण तो करते नहीं हैं अतः गृहस्थों के लिए तो एकदेश ब्रह्मचर्य (शीलव्रत) का ही उपदेश शोभास्पद लगता है। जैसा कि पूज्य माताजी ने स्वरचित पूजन की उपर्युक्त पंक्तियों में खुलासा किया है कि मुनिगण पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं और श्रावक एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन कर अपना जीवन धन्य करते हैं। जैसे—सेठ सुदर्शन, सती सीता आदि के उदाहरण आगम में भरे पड़े हैं।

द्यानतराय की पंक्तियों के आधार पर तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि तद्भव मोक्षगामी महापुरुष भी **काग** (कौवे) जैसी निम्न श्रेणी में आ जाते हैं जबकि किसी अपेक्षा से गृहस्थ धर्म भी मुनिधर्म का लघु भ्राता कहा गया है। विद्वानों को सामूहिक रूप से द्यानतराय की उन पंक्तियों पर चिन्तन करके अब नई पूजन को करने की प्रेरणा समाज को देनी चाहिए।

इस प्रकार मैंने ये कतिपय आगम परिवर्तन वाले पाठों से होने वाली हानियों के बारे में प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। ये तो छोटे-छोटे उदाहरण हैं आज काफी बड़े-बड़े परिवर्तन करते हुए भी कुछ विद्वान् बिल्कुल डरते नहीं हैं और विद्वानों की देखादेखी कुछ साधु-साध्वियों ने भी इस ओर कदम बढ़ाए हैं। जिनके बारे में मेरा तो आप सबसे यही कहना है कि प्राचीन आचार्य परम्परा का निर्बाध रूप से निर्वाह करने का दायित्व हम और आप सबके ऊपर है इसलिए आगम पाठ में परिवर्तन को स्वप्न में भी नहीं सोचना चाहिए।

अध्याय-6
तीर्थंकर जीवन दर्शन

(1)
भगवान ऋषभदेव एवं उनके सर्वोदयी सिद्धांत

समस्त जैन सम्प्रदाय तथा जैनशास्त्र इस विषय में एकमत हैं कि इस हुण्डावसर्पिणी काल में जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव और अंतिम प्रवर्तक भगवान महावीर थे। जैनों की इस मान्यता के समर्थक जहाँ हिन्दू पुराण साहित्य हैं वहीं ऐतिहासिक अभिलेख भी इसके प्रत्यक्ष साक्षी हैं अतः यहाँ उनकी ऐतिहासिकता के परिज्ञान हेतु जैन ग्रंथानुसार भगवान ऋषभदेव का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

कालचक्र की श्रृंखला में अवसर्पिणी युग का तृतीय काल चल रहा था, जब धरती का मानव भोगप्रधान जीवन जी रहा था एवं कल्पवृक्षों से समापन की बेला प्रारंभ होने वाली थी, उस समय अयोध्या के महाराज नाभिराज की महारानी मरुदेवी ने चैत्र कृष्णा नवमी के दिन प्रथम तीर्थंकर भगवान के रूप में "ऋषभदेव" नामक पुत्र को जन्म दिया। उन्होंने अनेक दिव्य विभूतियों को प्राप्त करके कुमार अवस्था में प्रजा के लिए कर्मभूमि की व्यवस्था बतलाते हुए असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह क्रियाओं के द्वारा जीवन जीने की कला सिखाई।

पुनः ऋषभदेव ने यशस्वती-सुनंदा नामक दो कन्याओं के साथ विवाह करके धरती पर विवाह परम्परा का दिग्दर्शन कराया एवं प्रथम राजा के रूप में उन्होंने धर्मनीतिपूर्वक राज्य का संचालन कर बावन देशों में अलग-अलग राजाओं को विभक्त करके उन्हें कुशल राजनीति का उपदेश दिया।

सृष्टि की व्यवस्थाओं को प्राथमिक रूप से बतलाने के कारण उन्हें आद्रिब्रह्मा, आदिनाथ, पुरुदेव, वृषभदेव, प्रजापति आदि नामों से भी जाना जाता है। संसार परम्परा की व्यवस्थानुसार उनकी दोनों रानियों से भरत-बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्र एवं ब्राह्मी-सुंदरी नामक दो पुत्रियों का जन्म हुआ। इनमें से प्रथम पुत्र भरत जी चक्रवर्ती सम्राट बने और उनके नाम पर ही इस देश का नाम "भारतवर्ष" पड़ा।

श्री जिनसेनाचार्य रचित आदिपुराण ग्रंथ के अनुसार तिरासी लाख पूर्व वर्षों तक राजा ऋषभदेव ने राजसुख का उपभोग किया पुनः एक दिन वे राजसिंहासन पर आसीन थे और उस राजसभा में नीलांजना नामक देवअप्सरा नृत्य करते-करते मृत्यु को प्राप्त हो गई पुनः वहाँ उसी समय दूसरी अप्सरा उपस्थित होकर नृत्य करने लगी।

इस रहस्य को कोई सभासद तो जान नहीं सके किन्तु दिव्य अवधिज्ञानी राजा ऋषभदेव संसार की क्षणभुंगरता ज्ञातकर वैराग्यभाव को प्राप्त हो गये और उन्होंने चैत्र कृष्णा नवमी को प्रयाग के सिद्धार्थ वन में

जाकर वटवृक्ष के नीचे जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली पुनः एक वर्ष उनतालिस दिन के उपवास के पश्चात् वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन उनका प्रथम आहार हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस के महल में हुआ था, तभी से वह दिवस ''अक्षय तृतीया'' पर्व के रूप में जाना जाता है।

दीक्षा के पश्चात् भगवान ऋषभदेव एक हजार वर्ष तप करके ''पुरिमतालपुर'' नगर के उद्यान में फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन केवलज्ञान को प्राप्त कर पृथ्वी से बीस हजार हाथ ऊपर अधर आकाश में पहुँच गये थे, जहाँ धनकुबेर ने समवसरण की रचना कर दी और उस नगर के राजा ''वृषभसेन'' ने भगवान के पास पहुँचकर दीक्षा ग्रहण कर प्रथम गणधर का पद प्राप्त कर लिया। ऋषभदेव ने समवसरण में असंख्य भव्य प्राणियों को उपदेश प्रदान कर नब्बे हजार पूर्व वर्ष का काल व्यतीत कर ''माघ कृष्णा चतुर्दशी'' के दिन कैलाशपर्वत से मोक्ष प्राप्त कर लिया। उसके पश्चात् इस धरती पर भगवान अजितनाथ से लेकर महावीर तक तेईस तीर्थंकरों ने जन्म लेकर इस तीर्थंकर परम्परा का प्रद्योतन किया अर्थात् जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हुए, जिनके वर्तमान शासन में हम सभी जीवनयापन कर रहे हैं।

प्राचीनकाल से ही भारत देश एक धर्मप्रधान देश के रूप में संसार का गुरू माना जाता रहा है क्योंकि उसी ने सदा से दुनिया को धर्म का स्वरूप बतलाया है इसलिए वह महान कहलाता है। धर्म ही भारत की आत्मा है, उसका सम्बल है, धर्म से निरपेक्ष (उदासीन) रहकर यह देश कभी सुखपूर्वक जीवन जी नहीं सकता है। भारत के संविधान में ''सैक्यूलर'' शब्द को धर्मनिरपेक्ष के रूप में न लेकर सम्प्रदायनिरपेक्ष लेना चाहिए अर्थात् इस देश का शासन किसी भी सम्प्रदाय के साथ पक्षपात नहीं करेगा। देश में पुष्पवाटिका के समान अनेक सम्प्रदाय हैं और शासन की दृष्टि में सभी समान हैं।

भारत के अति अर्वाचीन वर्तमान इतिहास में यहाँ के सार्वभौम सम्राट के रूप में ''चन्द्रगुप्त मौर्य'' को स्वीकार किया गया है किन्तु देश के संविधान निर्माताओं में प्रमुख बैरिस्टर चम्पतराय जैन भी रहे हैं उन्होंने सन् १९३५ में अपने द्वारा लिखित पुस्तक "RISHABHA DEVA" The Founder of Jainism के अंदर उल्लेख किया है—

The one towering personality at the birth of pre-historic history of the Aryan race is Rishabha Deva. According to the Hindus he flourished 28 great yugas (millions of years) ago. His son was Bharat, the first great Emperor, after whom India came to be known as Bharat Varsha.

अर्थात् आर्य जाति के प्रागैतिहासिक इतिहास के उद्भव काल के एक उन्नत व्यक्तित्व हैं—ऋषभदेव। हिन्दुओं के अनुसार वह २८ महायुगों (दसों लाख वर्ष) पूर्व अवतरित हुए। उनके पुत्र थे भरत, जो प्रथम महान सम्राट हुए तथा जिनके नाम पर भारत को भारतवर्ष के रूप में जाना जाने लगा।

महापुरुषों के सिद्धांत सदैव प्रासंगिक होते हैं—

उपर्युक्त चौबीसों तीर्थंकर अपने अमर सिद्धांतों को छोड़कर निर्वाणधाम को प्राप्त हो गये जो आज भी प्रत्येक प्राणी के लिए उतने ही प्रासंगिक हैं जितने पूर्व में थे। कुछ नये युग के इतिहासकारों ने जैनधर्म की प्राचीनता का रहस्य ठीक से न जानकर उसे अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी द्वारा संस्थापित मान लिया है जिससे जनमानस में भ्रांति उत्पन्न हुई है।

इस भ्रांति के निराकरण हेतु परम पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने देश-विदेश तक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के सर्वोदय सिद्धांतों को पहुँचाने की प्रेरणा प्रदान की। प्रेरणा की उस श्रृंखला को सक्रिय आयाम मिला ९ अप्रैल सन् १९९८ को महावीर जन्मजयंती के दिन, जब भारत के प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने राजधानी दिल्ली से "भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार" रथ को देश भर में भ्रमण हेतु प्रवर्तित किया था। जिसने अद्यावधि पूरे देश में भगवान ऋषभदेव के सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह एवं विश्वमैत्री आदि सर्वोदयी सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया।

पुनः अक्टूबर सन् १९९८ में आयोजित "भगवान ऋषभदेव राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन" के द्वारा शिक्षाजगत् के सर्वोच्च वर्ग तक जैनधर्म की प्राचीनता का संदेश पहुँचाया गया और ४ फरवरी सन् २००० को दिल्ली के लालकिला मैदान से "भगवान ऋषभदेव-अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव" का प्रधानमंत्री द्वारा उद्घाटन हुआ, जो एक वर्ष की घोषणा के साथ देश-विदेश में धार्मिक एवं शैक्षणिक गतिविधियों के साथ मनाया गया, इसके साथ ही और भी अनेक भव्य कार्यक्रम इस शृँखला में आयोजित किये गये, जिसमें महाराष्ट्र के मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र में ऋषभगिरि पर्वत पर अखण्ड पाषाणशिला में निर्मित गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड में दर्ज १०८ फुट भगवान ऋषभदेव प्रतिमा स्वयं में अद्भुत, अनूठी और बेमिशाल है।

इन कार्यक्रमों को आयोजित करने का प्रमुख उद्देश्य रहा कि जैनधर्म की अनादिनिधनता व सार्वभौमिकता से संसार को परिचित कराना तथा उस संबंध में व्याप्त भ्रान्त धारणाओं को निर्मूल कर नये इतिहास का निर्माण करना। इस प्रकार दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा भगवान ऋषभदेव का खूब प्रचार-प्रसार किया गया, जिससे जैनधर्म की अनादिनिधन तीर्थंकर परम्परा से जन-जन परिचित हो सका और भगवान ऋषभदेव का इस भारतीय संस्कृति के लिए महनीय अवदान भी समस्त समाज के सामने लाया जा सका। ऐसे तीर्थंकर ऋषभदेव के श्रीचरणों में कोटि-कोटि वंदन।

मुक्तक

जो बतलाते नारी जीवन लगता मधुरस की लाली है।
वह त्याग तपस्या क्या जाने कोमल फूलों की डाली है।।
जो कहते योगों में नारी नर के समान कब होती है।
ऐसे लोगों को ज्ञानमती का जीवन एक चुनौती है।।

(2)

भगवान पार्श्वनाथ का जीवन दर्शन

(हिन्दी-अंग्रेजी)

भगवान पार्श्वनाथ 10वें भव पूर्व-मरुभूति

पोदनपुर में महाराजा अरविन्द अपनी राजसभा में स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान थे। उनके विश्वभूति नामक मंत्री ने राज्य के कुशल समाचार बताकर महाराज से जिनदीक्षा की आज्ञा मांगते हुए अपने पुत्र कमठ और मरुभूति को महाराज के चरणों में समर्पित कर दिया। उन मंत्रिवर के दीक्षा लेते ही महाराज अरविन्द ने उनके दोनों पुत्रों को परम्परागत मंत्री पद पर नियुक्त कर दिया। पुनः एक दिन राजा अरविन्द अपने शत्रु राजा वज्रवीर्य को जीतने हेतु चतुरंगिणी सेना के साथ मरुभूति मंत्री को लेकर युद्ध करने चल पड़े और कमठ कुमार मंत्री पर पोदनपुर के राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था डाल दी। कमठ जो कि स्वभाव से ही कुटिल परिणामी दुष्टात्मा था, वह समय पाकर मंत्री पद में अत्यन्त निरंकुश हो गया और सर्वत्र अन्याय का साम्राज्य फैला दिया।

किसी समय मंत्री कमठ ने अपने छोटे भाई मरुभूति की पत्नी वसुंधरी को अप्सरा के समान सुन्दर देखकर उसके साथ जबर्दस्ती दुराचार किया। राजा के वापस आने पर जब उन्हें यह पता चला तो उनकी आज्ञा से कोतवाल ने कमठ का सिर मुंडा कर मुंह काला करके उसे गधे पर बिठाकर सारे शहर में घुमा कर देश से निकाल दिया। उस दण्ड से अपमानित होकर कमठ एक तापस आश्रम में जाकर हाथ में पत्थर की शिला लेकर खड़ा होकर तपश्चरण करने लगा।

इधर मरुभूति अपने भाई के वियोग से दुखी हो उसे मनाकर वापस लाने हेतु आश्रम में गया और कमठ के पैरों में गिरकर क्षमायाचना करने लगा किन्तु क्रोधी कमठ ने उसके सिर पर पत्थर की शिला पटक दी अतः मरुभूति तुरंत वहीं मर गया और आर्त्तध्यान से मरकर वह सल्लकी वन में हाथी बनकर जन्मा।

Lord Parshvanath Before 10th Birth-Marubhuti

Two brothers Kamath & Marubhuti were the ministers of king Arvind of Podanpur. Once Kamath forcibily raped the wife of Marubhuti in his absence. Knowing this, the king expelled him out of the country. Angry Kamath started penance with a rock in his hands in some Ashram. Marubhuti came there to get him returned but Kamath threw the rock on his head, immediately he died and because of the attachment feelings for his brother, Marubhuti was born as an elephant in Sallaki forest.

भगवान पार्श्वनाथ 9वें भव पूर्व-हाथी

राजा अरविन्द ने भी एक बार आकाश में मेघों को विघटते देखकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली थी, पुनः

अपने संघ के साथ सम्मेदशिखर की यात्रा करते हुए सल्लकी वन में ठहरे थे। तभी अकस्मात् वज्रघोष नामक विशालकाय हाथी (मरुभूति का जीव) सारे संघ में खलबली मचाता हुआ विचरण करने लगा। उस हाथी के पैरों के नीचे दबकर अनेक मनुष्य-पशु आदि मर गये अतः सर्वत्र हा-हाकार मच गया। पुनः ज्यों ही वह ध्यानस्थ गुरुदेव श्री अरविन्द मुनिराज के निकट पहुँचा, उनके वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह देखकर उसे जातिस्मरण हो गया और वह एकदम शांत होकर बैठ गया। तब मुनिराज कहने लगे—

हे गजराज! तू अपने भाई कमठ के मोह में मरकर इस पशु पर्याय में जन्मा है, अब तू समस्त आर्त्तध्यान छोड़कर सम्यक्त्व को धारण कर और अपने अगले भव को सुधारने हेतु श्रावक के व्रतों को धारण कर। इस प्रकार गुरुदेव के मुख से विस्तारपूर्वक सम्यक्त्व एवं व्रतों का उपदेश सुनकर उस हाथी ने गुरुदेव को नमन करके श्रावक व्रतों को स्वीकार कर लिया।

एक दिन वह हाथी पानी पीने हेतु वेगवती नदी के तट पर गया और कीचड़ में फंस गया। वहाँ से निकलने का साधन न देखकर उसने चतुराहार का त्याग कर सल्लेखना धारण कर ली और णमोकार महामंत्र के ध्यान में लीन हो गया। कुछ ही देर में एक कुक्कुट जाति के साँप ने (कमठ का जीव जो मरकर साँप हो गया था) पूर्व जन्म के वैर के संस्कारवश उसे डस लिया, तब वह हाथी शांत भाव से मरकर बारहवें स्वर्ग में "शशिप्रभ" नाम का देव हो गया।

Lord Parshvanath Before 9th Birth-Elephant

King Arvind took Jaineshwari Deeksha and once he reached the Sallaki forest with his Sangh. As soon as Vajraghosh elephant (Marubhuti in previous birth) saw the Muniraj, it became quite peaceful and by his preaching accepted the vows of a *Shravak* (householder) with Samyaktva (right belief). One day the elephant got trapped into the mud of a river and knowing the death to be sure, it accepted *Sallekhna* & concentrated on Namokar Mahamantra. In the meantime a Kukut snake (Kamath in previous birth) bit it but due to its peacefulness, the elephant became 'Shashiprabh Dev' in the 12th heaven after death.

भगवान पार्श्वनाथ 8वें भव पूर्व-शशिप्रभ देव

स्वर्ग में उपपाद शय्या पर जन्म लेते ही शशिप्रभ देव को अवधिज्ञान से ज्ञात हो गया कि मैं तिर्यंचयोनि की हाथी पर्याय से मरकर यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ। वहाँ पर गुरुदेव की कृपा से जो मैंने सम्यक्त्वरूपी रत्न एवं अणुव्रतरूपी निधि प्राप्त की थी, उसी के फलस्वरूप मुझे यह तेजोधाम स्वर्गपुरी का अतुल वैभव प्राप्त हुआ है।

स्वर्ग में सोलह सागर तक वह देव असीम सुखों को भोगता रहा। कभी वह जम्बूद्वीप, नंदीश्वरद्वीप आदि द्वीपों में जाकर अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करता, कभी तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों में भाग लेता तो कभी चारणऋद्धिधारी मुनियों की एवं अपने सच्चे हितकारी गुरु अरविन्द मुनिराज की पूजा करता.....आदि।

देखो! धर्म एवं व्रतरूपी कल्पवृक्ष के प्रसाद से जहाँ एक हाथी का जीव स्वर्ग के सुखों को भोग रहा है, वहीं जिस कुक्कुट सर्प ने हाथी को डसा था, उसने अपनी आयु पूर्ण कर अधोलोक के पाँचवे नरक में जन्म ले

लिया। वहाँ सत्रह सागर तक असीम दुःखों का अनुभव करता रहा। पुनः शशिप्रभ देव तो पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग की आयु बिताकर विद्याधर मनुष्य हो गया एवं बेचारा नारकी (कुक्कुट सर्प का जीव) मरकर अजगर सर्प की योनि में आ गया।

Lord Parshvanath Before 8th Birth-Shashiprabh Dev

Shashiprabh Dev enjoyed the pleasures of the heaven for 16 Sagars (very large time), but he never neglected his religious practices because he knew that he had obtained all the happiness & comforts because of adopting *Anuvratas* in the previous birth of Vajraghosh elephant. On the other side, the Kukut snake, which had become *Narki* (hellish being) in the 5th hell due to its wicked nature, underwent the hardships & sorrows of the hellish life for 17Sagars. After completing their life-times the Dev became a Vidyadhar and the *Narki* became a fierce python (a large snake).

भगवान पार्श्वनाथ 7वें भव पूर्व-अग्निवेग विद्याधर

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत के लोकोत्तम नगर के विद्युत्गति विद्याधर राजा की रानी विद्युन्मालिनी से जन्मा शिशु अग्निवेग दूज चन्द्रमा के समान स्वयं बढ़ने लगा और सबकी खुशियों को भी वृद्धिंगत करने लगा।

राज्यसम्पदा को भोगते हुए सहसा भरी जवानी में ही अग्निवेग ने एक दिन समाधिगुप्त मुनिराज से संबोधन प्राप्त कर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और घोर तपश्चरण करते हुए वे अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करने लगे।

एक दिन वे महामुनि हिमगिरि पर्वत की गुफा के अन्दर ध्यान में लीन थे, तब वहाँ एक अजगर सर्प आया और मुनि को देखते ही उसने पूर्व भव के वैर संस्कारों के कारण भयंकर क्रोध से प्रेरित होकर उन्हें निगल लिया। मुनिराज परम समताभाव से मरकर सोलहवें स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव हो गये तथा कालांतर में वह अजगर सर्प मुनिहत्या के घोर पाप एवं जीव हिंसा आदि क्रूर परिणामों से आयु पूर्ण कर छठे नरक में चला गया, वहाँ बाईस सागर तक अनंत दुःखों को भोगता रहा।

Lord Parshvanath Before 7th Birth-Agniveg Vidyadhar

Vidyunmalini, the wife of the Vidyadhar king Vidyutgati of East Videh Kshetra of Jamboodweep, gave birth to the son Agniveg (Shashiprabh dev in previous birth). Later Agniveg ruled over the country but in very young age he took Jaineshwari Deeksha listening to the preachings of Samadhigupt Muniraj. Once Agniveg Muniraj was meditating on his pure soul, suddenly the python (*Jeev* of Kamath) came there & swallowed him due to the malicious feelings of previous births. Muniraj became dev in the 16th heaven due to death with equanimous feelings while the python took birth in the 6th hell due to its cruel & violent nature.

भगवान पार्श्वनाथ 6वें भव पूर्व-अच्युत स्वर्ग में

सरलता और क्षमा की प्रतिमूर्ति वह मरुभूति का जीव पांचवे भव में अच्युत स्वर्ग के दिव्य सुखों का अनुभव कर रहा है। वहाँ बाईस सागर की आयु कैसे बीत गई उसे पता ही नहीं चलता है क्योंकि सम्यग्दर्शन से सहित वह देव सदैव तत्त्व चर्चा, जिनेन्द्र भक्ति एवं अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना आदि में अपना समय व्यतीत करता है।

पुण्य फल के रूप में प्राप्त उस अलौकिक वैभव को भोगते हुए भी उसे आत्मा और शरीर की भेदभिन्नता का पूर्ण ज्ञान है इसीलिए आयु के अंत में समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़कर अतिदुर्लभ मानवपर्याय में जन्म धारण कर लेता है तथा छठे नरक का नारकी (कमठ का जीव) वहाँ से निकलकर भील की पर्याय में जन्म ले लेता है।

Lord Parshvanath Before 6th Birth-In Achyut Heaven

The *Jeev* of Marubhuti, who was the image of innocence & forgiveness, was enjoying the divine glamour of the Achyut (16th) heaven. He passed the life of 22 sagars there with *Jin-Bhakti*, worshipping in the eternal temples of Madhyalok & discussing the principles of Jainism etc. because he was having full belief in the differentiation of the body and the soul.

He accepted *Samadhimaran* at the last and so he was born as a humanbeing in the next birth. On the other side, the *Narki* of the 6th hell became a *Bheel* (tribal) after death.

Thus, we can notice that the simplicity & innocence in behaviour cause pleasures in life, while the cruel & revengeful nature has become the cause of undergoing sorrow & hardships in next births.

भगवान पार्श्वनाथ 5वें भव पूर्व-वज्रनाभि चक्रवर्ती

अच्युत स्वर्ग का वह देव जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेहक्षेत्र के अश्वपुर नगर में जब राजा वज्रवीर्य की रानी विजया के गर्भ में आया तब रानी ने एक रात्रि को पिछले प्रहर में सुदर्शन मेरु, सूर्य, चन्द्रमा, देवविमान और सरोवर ये पाँच स्वप्न देखे। पुनः पति से सपनों के फल में चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करने का समाचार जानकर रानी विजया अतीव प्रसन्न हुईं।

युवावस्था में वज्रनाभि राजा ने चक्ररत्न प्राप्त कर छह खण्ड वसुधा पर एकछत्र शासन किया किन्तु वे निरंतर श्रावक के षट्कर्तव्यों का पालन करते हुए जिनधर्म को कभी नहीं भूले। प्रत्युत् दिन-प्रतिदिन जिनेन्द्रभक्ति में उनकी रुचि बढ़ती ही गई। ठीक ही है कि पुण्यात्माजन सांसारिक वैभव को पाकर कभी धर्म से विमुख नहीं होते हैं।

एक दिन शहर के बाहर बगीचे में पधारे एक महामुनिराज के दर्शन करके चक्रवर्ती महाराज ने उनसे धर्मोपदेश सुना और तुरंत उन्होंने अपना राजपाट त्याग करके दीक्षा धारण कर ली। वे वज्रनाभि मुनिराज घोर तपश्चरण करते हुए एक बार वन में ध्यानलीन थे, तब उस कमठ के जीव ने जो छठे नरक से निकलकर जंगल में भील बना था, उसने मुनि को देखते ही उनके ऊपर बाण चला-चला कर छेदन-भेदन का खूब उपसर्ग किया।

Lord Parshvanath Before 5th Birth-Vajranabhi Chakravarti

After coming from the Achyut heaven, the *Jeev* (soul) of the deity came in the womb of Maharani Vijaya, the wife of king Vajraveerya of the West Videh Kshetra of Jamboodweep. The mother saw 5 auspicious dreams indicating the birth of a *Chakravarti* son to her. Son Vajranabhi was born and later he became *Chakravarti*, who ruled over the 6 *Khandas* along with observing the vows of a *Shravak*. Once he accepted Jaineshwari Deeksha and performed hard penance for a long time. One day, the *Bheel* (the *Jeev* of Kamath) saw him and with inherent anger, pierced & killed the Muniraj with his arrows.

भगवान पार्श्वनाथ चौथे भव पूर्व-अहमिन्द्र

वज्रनाभि मुनिराज ने भील के तीक्ष्ण बाणों का उपसर्ग शांतिपूर्वक सहन किया और समाधिपूर्वक मरण करके वे सोलहवें स्वर्ग से भी ऊपर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र बन गये, वहाँ सत्ताईस सागर तक दिव्य सुखों को उपभोग किया लेकिन वह पापी भील मुनिहत्या के फलस्वरूप सातवें नरक में चला गया, जहाँ के दुःखों का वर्णन मुख से कर पाना भी असंभव है अर्थात् सत्ताईस सागर तक वह नरक में भीषण दुःख भोगता रहा।

वहाँ उसे कुअवधिज्ञान के प्रभाव से पूर्व भवों की सब बातें याद हो आईं कि मैंने पिछले जन्मों में बहुत पाप किये हैं। अनेकों पश्चात्ताप करने पर भी वहाँ क्षेत्रजन्य प्रभाव के कारण उसे तिल-तुषमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

कर्म की विचित्रता देखो, मरुभूति का जीव जो मुनि अवस्था से अहमिन्द्र बना था, वह सत्ताईस सागरों तक स्वर्ग में तत्त्वचर्चा आदि के द्वारा असीम सुखों का भोग करता रहा।

Lord Parshvanath Before 4th Birth-Ahmindra

Vajranabhi Muniraj had tolerated the atrocity of the *Bheel* very peacefully and so he became *Ahmindra* in the middle Graiveyak, which was even above the 16th heaven. He passed his lifetime of 27 Sagars there with divine comforts along with continuous *Jin-Bhakti*. However, the *Bheel* became the *Narki* in the 7th hell and underwent extreme hardships for 27 Sagars. He remembered all the sinful incidents of the previous births by the effect of wrong-clairvoyance (*Ku-avadhigyan*) but even on repeated repentance in own heart, he could not get any relief & comfort there. Think! one soul is enjoying the pleasures of heaven due to the effect of *Dharmapalan*, while the other soul is experiencing hardships due to the feelings & deeds of revenge and anger.

भगवान पार्श्वनाथ तीसरे भव पूर्व-राजा आनंद

ग्रैवेयक विमान के उस अहमिन्द्र ने सत्ताईस सागर की आयु बिताकर मध्यलोक की अयोध्या नगरी में महामंडलीक राजा आनंद के रूप में मनुष्य जन्म धारण कर लिया और कमठ का जीव सातवें नरक से

निकलकर वहीं निकटवर्ती वन में सिंह हो गया।

महाराजा आनन्द ने राज्य सुखों का उपभोग करते हुए एक बार फाल्गुन अष्टान्हिका पर्व में मंदिर में नंदीश्वर पूजन के मध्य पधारे विपुलमती मुनिराज के मुखारविन्द से तीनों लोकों के अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन सुना तो उन्हें सूर्य विमान के जिनमंदिर के प्रति अगाढ़ श्रद्धा हो गई अतः उन्होंने कुशल कारीगरों से अयोध्या की धरती पर ही मणि और सुवर्ण का एक सूर्य विमान बनवाया और उसमें रत्नमयी जिनप्रतिमाएं विराजमान कराईं, पुनः शास्त्रोक्त विधि से वहाँ अनेक प्रकार से महापूजाएं की।

उत्तरपुराण में कहा है कि इस लोक में उसी समय से सूर्य की उपासना चल पड़ी है। आनन्द नरेश ने एक दिन राजसभा में बैठे-बैठे दर्पण में अपना मुख देखा तो सिर में एक सफेद बाल देखते ही उन्हें राज्य-वैभव से वैराग्य हो गया और उन्होंने अपने सुयोग्य बड़े पुत्र को राज्यभार सौंपकर सागरदत्त मुनिराज के पास दीक्षा धारण कर ली, पुनः गुरुचरणों में सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया।

वे आनंद मुनिराज एक बार वन में ध्यान लीन थे तब सिंह वहाँ आकर उन्हें खा लेता है और मुनि समता भाव से उपसर्ग सहन कर तेरहवें स्वर्ग के विमान में इन्द्र हो जाते हैं। आगे सिंह मरकर पांचवे नरक में चला जाता है।

Lord Parshvanath Before 3rd Birth-King Anand

The *Ahmindra* became king Anand at Ayodhya in the next birth, while the *Narki* became the lion in the nearby forest. By listening to the preaching of a Muniraj, the king got built the *Viman* of the *Surya* (sun) with Jin temples, since then *Surya-Pujan* became famous in the world. Later king Anand took Jaineshwari Deeksha and bound Tirthankar Prakriti in the holy feet of his preceptor by the practice of *Solahkaran Bhavnas* . Once the lion (Kamath's *Jeev*) killed him while he was engrossed in meditation. Muniraj Anand became Indra in the 13th heaven by expiring with equanimity while the lion became *Narki* in the 5th hell.

भगवान पार्श्वनाथ दूसरे भव पूर्व-आनत स्वर्ग में इन्द्र

समता परिणामों की विशेषता के कारण आनंद मुनिराज ने तेरहवें स्वर्ग के इन्द्र का पद प्राप्त किया था। वहाँ उस इन्द्र को दिव्य अवधिज्ञान से ज्ञात हो जाता है कि पूर्व जन्म में मैंने महामुनि बनकर जो तपस्या की थी उसी के प्रभाव से यहाँ मुझे इन्द्र का वैभव प्राप्त हुआ है अतः वहाँ के वैभव को देखकर वे आनंदचर इन्द्रराज धर्म और धर्म के फल में और अधिक श्रद्धा करने लगते हैं।

वे इन्द्रराज अपने परिवार देवों के साथ कभी नन्दीश्वर द्वीप में पूजन करने जाते हैं, कभी विदेहक्षेत्र में सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर के समवसरण में दिव्यध्वनि का पान करते हैं तो कभी देव-देवांगनाओं के साथ मनोविनोद करते हैं। भावी तीर्थंकर वे देवेन्द्र इस अतुल वैभव को भोगते हुए भी उसमें आसक्त नहीं हो रहे हैं और वहाँ बीस सागर तक दिव्य सुखों का अनुभव कर रहे हैं।

Lord Parshvanath Before 2nd Birth-Indra at Aanat Heaven

Due to the feelings of equanimity at the time of inflictions, Anand Muniraj had become Indra in the 13th heaven. By the effect of divine clairvoyance (*Avadhigyan*), the Indra knew that he had come into the heaven due to the hard penance, done in the form of Digambar Muniraj. He enjoyed the divine pleasures for 20 Sagars along with practising Jain-Dharma with full devotion because he definitely knew that all the *Punya* was owing to Dharma only. Sometime he used to go to Nandishwar Dweep alongwith his family for worshipping, while at some other time, he used to go to the Samavsaran of Tirthankars like Simandhar Swami etc. Sometime he used to enjoy with other deities and so on.

In the next birth, this Indra will be Lord Parshvanath.

भगवान पार्श्वनाथ के गर्भ-जन्मकल्याणक

वाराणसी नगरी में महाराजा अश्वसेन अपनी महारानी वामा देवी के साथ नौ मंजिल वाले शिखराकार दिव्य महल में रहते थे। एक दिन उनके आंगन में धनकुबेर ने स्वर्ग से आकर रत्नवृष्टि शुरू कर दी और प्रतिदिन करोड़ों रत्न बरसाने लगा।

कुछ दिन (६ माह) बाद एक दिन (वैशाख वदी दूज) रात्रि के पिछले प्रहर में महारानी वामा देवी ने ऐरावत हाथी, बैल, सिंह आदि सोलह स्वप्न देखे पुनः प्रातः अपने पति से यह जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं कि तुम्हारे पवित्र गर्भ से तीर्थंकर महापुरुष का जन्म होगा इसीलिए इन्द्र, देव, देवियाँ सभी तुम्हारी सेवा में लगे हुए हैं।

इस प्रकार अतिशय सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते हुए वामा देवी ने पौष कृष्णा एकादशी के दिन सूर्य के समान तेजस्वी तीर्थंकर पुत्र को जन्म दिया। तब सौधर्म इन्द्र के साथ असंख्य देवों ने आकर प्रभु का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने ऐरावत हाथी पर ले जाकर सुमेरु पर्वत की पाण्डुकशिला पर उनका जन्माभिषेक किया और उन्हें दिव्य वस्त्राभूषण से अलंकृत कर "पार्श्वनाथ" नाम से अलंकृत किया।

Garbh (Conception) & Janma (Birth) Kalyanaks of Lord Parshvanath

Maharaja Ashvasen was living along with his wife Maharani Vamadevi in 9 storeyed divine palace at Varanasi. One day Kuber started the showering of crores of jewels in his courtyard and continued this practice everyday. After 6 months, Vama Devi saw 16 dreams in the night of Vaishakh Vadi Duj indicating the incarnation of the Tirthankar child into her holy womb. Tirthankar son was born on Paush Krishna Ekadashi. Till then, showering of jewels was continued.

Indra took the child on the Panduk-Shila of Sumeru Parvat by Aeravat elephant for Birth-anointment and gave Him the name '**PARSHVANATH**'.

भगवान पार्श्वनाथ का नागयुगल को संबोधन, दीक्षा, उपसर्ग एवं केवलज्ञान

इन्द्र द्वारा अंगूठे में स्थापित अमृत का पान करते हुए जिनबालक पार्श्वनाथ ने शैशव से युवावस्था में प्रवेश किया। एक दिन पार्श्वकुमार ने अपने अनेक मित्रों के साथ बनारस नगरी के उद्यानों में विचरण करते हुए एक तापसी साधु को देखा जो पंचाग्नि तप कर रहा था। पार्श्वनाथ वहाँ खड़े होकर उसकी मिथ्या क्रियाएं देखने लगे, तब तापसी ने सोचा कि देखो ! मैं इस बालक का नाना हूँ, फिर भी यह मेरी विनय नहीं कर रहा है पुनः वह क्रोध में भड़क कर कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरने लगा। तत्क्षण अवधिज्ञानी पार्श्वनाथ बोल उठे कि इस लकड़ी में नागयुगल हैं, इसे मत चीरो।

तापसी को यह सुनकर और अधिक गुस्सा आ गया, किन्तु उसने ज्यों ही लकड़ी के दो टुकड़े किये, उसमें से कटे हुए छटपटाते नागयुगल भी निकल पड़े। तब पार्श्वनाथ के सम्बोधन से वे दोनों मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती नामक यक्ष जाति के देव-देवी हो गये।

इस प्रकार अपनी अमृतमयी वाणी से अनेक जीवों का कल्याण करते हुए युवराज पार्श्वनाथ तीस वर्ष की उम्र में एक दिन सुखपूर्वक बैठे हुए थे, उसी समय अयोध्या नरेश जयसेन महाराज का दूत आ गया और उसने अनेक प्रकार की भेंट समर्पित कर अयोध्या के वैभव एवं भगवान ऋषभदेव के दश भव आदि का वर्णन सुनाया। जिससे पार्श्वनाथ को वैराग्य हो गया अतः उन्होंने दीक्षा धारण कर ली।

वे भगवान एक बार किसी वन के अन्दर ध्यान में लीन थे, तभी कमठ का जीव जो पाँचवें नरक से निकलकर पशुयोनि के दुःख सहन करते हुए राजा महीपाल के रूप में महीपालपुर का राजा हो गया, पुनः मिथ्यातप से मरकर शंवर नामक ज्योतिषी देव हो गया, इसने अब भी पार्श्वनाथ का पीछा नहीं छोड़ा और उनके ऊपर घोर उपसर्ग करने लगा। उसी समय धरणेन्द्र-पद्मावती ने आकर उपसर्ग दूर किया और भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इस उपसर्गविजय की भूमि को ही "अहिच्छत्र" तीर्थ की प्रसिद्धि प्राप्त हुई, जहाँ पार्श्वनाथ भगवान का प्रथम समवसरण अधर आकाश में निर्मित हुआ था।

Deeksha (Initiation) & Kevalgyan (Omniscience) Kalyanaks of Lord Parshvanath

Prince Parshvanath took Jaineshwari Deeksha at the age of 30 years. When he was engrossed into meditation in a forest once, an astral deity named Shambar (the *Jeev* of Kamath) started making atrocities on Him. Dharnendra & Padmavati came to protect the Lord and at the same time Parshvanath attained omniscience. This pious land was called as 'Ahichchhatra', where first Samavsaran of the Lord was created.

भगवान पार्श्वनाथ का सम्मेदशिखर से निर्वाण

समवसरण में बारह सभाओं के मध्य धर्मोपदेश करते हुए प्रभु पार्श्वनाथ ने लगभग सत्तर वर्ष तक विहार किया। अंत में जब उनकी आयु एक माह की शेष रह गई तब वे विहार बंद कर सम्मेदाचल पर्वत के शिखर पर

छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये, पुनः श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातः समस्त कर्म नष्ट करके निर्वाणधाम को प्राप्त कर लिया। इन्द्रों ने उस समय उनका निर्वाणकल्याणक खूब महोत्सवपूर्वक मनाया। तब से लेकर आज तक सम्मेदशिखर के स्वर्णभद्रकूट पर भगवान पार्श्वनाथ का मोक्षकल्याणक प्रतिवर्ष भक्तगण धूमधाम से मनाते हुए निर्वाणलाडू चढ़ाते हैं।

जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी ने पूरे देश को भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव मनाने की प्रेरणा प्रदान की, जिसका उद्घाटन ६ जनवरी २००५ को जन्मभूमि वाराणसी में किया गया।

तीन वर्ष तक इस महोत्सव को विविध आयोजनों के साथ मनाया गया। उसमें गर्भ-जन्म एवं दीक्षाकल्याणक तीर्थ वाराणसी, केवलज्ञान कल्याणक तीर्थ अहिच्छत्र, निर्वाणकल्याणक तीर्थ सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र के साथ-साथ पार्श्वनाथ के समस्त अतिशय क्षेत्रों का भी प्रचार-प्रसार किया गया।

SALVATION OF LORD PARSHVANATH FROM SAMMED SHIKHARJI

Lord Parshvanath preached for about 70 years. When one month was remaining of His life-time, He reached Sammedachal mountain (Sammed-Shikhar), where He got Nirvan (salvation) on Shravan Shukla Saptami. At that time, Indras celebrated His Nirvankalyanak Mahotsava with great enthusiasm. Till today, devotees celebrate this Mahotsava by offering Nirvan Ladoo at the Swarnabhadra Koot of Sammed-Shikhar every year.

Supreme Jain Sadhvi Pujya Ganini Shri Gyanmati Mataji inspired the whole country to celebrate 'LORD PARSHVANATH BIRTH-ANNIVERSARY THIRD MILLENNIUM MAHOTSAVA'. This Mahotsava was inaugurated at Varanasi, the birthland of the Lord, on 6th Jan. 2005.

With organising various programmes, the Mahotsava was celebrated for three years. In these Holy years the vast propaganda of Kalyanak Tirths and Atishaya Kshetra related to Lord Parshvanath viz. Varanasi, Ahichhatra, Sammedshikhar etc. was done by the society.

सात क्षेत्र में धन का सदुपयोग

चैत्ये चैत्यालये शास्त्रे चतुःसंघेषु सप्तसु।
सुक्षेत्रेषु व्ययः कार्यो नो चेल्लक्ष्मीर्निरर्थिका।।

अर्थ-जिन प्रतिमा के बनवाने में, जिनमंदिर के निर्माण कराने में, शास्त्रों के लिखवाने या जीर्णोद्धार कराने में तथा मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका इन चतुर्विध संघ में दान देने में इन सात स्थानों में श्रावकगण अपनी लक्ष्मी का व्यय करें। वरना उनकी लक्ष्मी व्यर्थ है, निरर्थक है।

(3)

भगवान महावीर संक्षिप्त जीवन दर्शन

(हिन्दी-अंग्रेजी)

लगभग २६०० वर्ष पूर्व नाथवंशीय राजा सिद्धार्थ बिहार प्रदेश के कुण्डलपुर में राज्य करते थे, उनकी रानी का नाम त्रिशला (प्रियकारिणी) था। कुण्डलपुर में अवस्थित नंद्यावर्त महल उनका निवासस्थान था। यह ७ मंजिला महल अत्यन्त रमणीक था। सिद्धार्थ के पिता का नाम राजा सर्वार्थ एवं माता का नाम श्रीमती था।

एक बार महारानी त्रिशला ने रात्रि में क्रम से १६ स्वप्न देखे–ऐरावत हाथी, उत्तम बैल, सिंह, हाथियों द्वारा अभिषेक को प्राप्त होती हुई लक्ष्मी, दो मालाएँ, चन्द्रमा, उगता हुआ सूर्य, मछलियों का युगल, जल से भरे दो कलश, कमलों से युक्त सरोवर, समुद्र, सिंहासन, स्वर्ग से आता हुआ विमान, नागेन्द्र भवन, रत्नों की राशि और बिना धुएँ की अग्नि। प्रातःकाल महाराज सिद्धार्थ से स्वप्नों का फल पूछने पर उन्होंने अत्यन्त हर्षपूर्वक महारानी को बताया कि हे देवी ! आप महान सौभाग्यशालिनी हैं क्योंकि आपके गर्भ में तीर्थंकर प्रभु का जीव अवतरित हुआ है। यह सुनकर महारानी प्रियकारिणी को अपार हर्ष हुआ।

Life Of Lord Mahavira

About two thousand six hundred years ago, King Siddhartha of Nath Dynasty ruled at Kundalpur of Bihar state in India. The name of his wife was trishala (Priyakarini).

Both of them lived at 7 storeyed Nandyavarta Palace of Kundalpur.

The name of the parents of Siddhartha was king Sarvartha & queen Shrimati.

One night queen Trishala saw sixteen dreams serially-Aeravat elephant, Bull, Lion, Laxhmi (being anointed by elephants), A pair of garlands, Moon, Sun, A pair of fish, two pitchers filled with water, Pond with lotuses, Sea, Throne, Viman coming from the heaven, Nagendra bhawan, A heap of jewels & Fire without smoke.

In the morning she asked her husband King Siddharth the meaning of her dreams. He told her with lot of happiness—

``O Devi Trishala ! You are very lucky because the great soul of Lord Tirthankar has come in your womb.''

Queen Trishala became very much delighted and returned to her palace with her divine lady attendants.

नव माह और सात दिन के उपरांत चैत्र शुक्ला तेरस की रात्रि में रानी त्रिशला ने सूर्य से भी अधिक तपस्वी, तीन लोक के नाथ तीर्थंकर शिशु को जन्म दिया। तीर्थंकर भगवान के जन्म को जानकर सौधर्म इन्द्र अपने समस्त

देव परिवार के साथ कुण्डलपुर आये, पुनः ऐरावत हाथी पर चढ़कर जिनशिशु को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ इन्द्र ने जन्माभिषेकपूर्वक भगवान का जन्मकल्याणक महोत्सव समपन्न किया तथा उनके 'वीर' और 'वर्धमान' दो नाम रखे, पश्चात् कुण्डलपुर में आकर भी देवों द्वारा राजा सिद्धार्थ, रानी त्रिशला एवं कुण्डलपुरवासियों के मध्य भगवान का जन्मकल्याण महोत्सव महान हर्ष एवं उल्लास के साथ मनाया।

After nine months and seven days a son more lustrous than the Sun, was born to queen Trishala without any pain in the night of Chaitra Shukla 13. Knowing the birth of Lord Tirthankar, Saudharma Indra came to Kundalpur with has divine family from the heaven. He took the Tirthankar-child to Sumeru mountain on Aeravat elephant and with performing His birth anointment (ceremonial bathing) celebrated gracious *Janma Kalyanak Mahotsave*. At that time, Indra gave Him two names- VEER & VARDHAMAN. Later the same Mahotsave was celebrated at Kundalpur also with great zeal & happiness by the deities in the presence of King Siddharth & Queen Trishla.

एक बार नंद्यावर्त महल में शिशु वर्धमान पालने में झूल रहे थे। तभी संजय और विजय नाम के दो चारणऋद्धिधारी मुनि वहाँ पधारे। जिनशिशु को देखने मात्र से ही उनके मन में स्थित सूक्ष्म शंका का तत्क्षण ही समाधान हो गया अतः महान प्रसन्नता से उन्होंने भगवान का नाम 'सन्मति' रखा।

शिशु वर्धमान इन्द्र द्वारा अंगूठे में रखे गये अमृत को चूसते हुए चंद्रमा की कलाओं के समान बढ़ने लगे और धीरे–धीरे घुटने के बल चल–चलकर अपनी तोतली बोली एवं बालचेष्टाओं से परिवार को खूब आनंदित करने लगे।

Once child Vardhaman was swinging in the cradle at Nandyavarta Palace. By chance, two great Digambar Jain Munis named Sanjay and Vijay came there and only by looking at the Tirthankar-child, the existing slight suspicion about some matter (*Tattva*) in their heart was at once cleared and so with great delight, they named Him as SANMATI.

Divine child Vardhaman was growing up with suking the nectar, placed in His thumb by Indra. Both the parents and the whole family were very much delighted seeing the charming childish activities of the divine child.

एक दिन बालक वर्धमान अपने बहुत से देव मित्रों के साथ नंद्यावर्त महल के बगीचे में खेल रहे थे। तभी उनकी बहादुरी की परीक्षा लेने हेतु स्वर्ग से संगम नाम का एक देव विशालकाय सर्प का रूप बनाकर वहाँ आया। सभी बच्चे डरकर इधर–उधर भागने लगे किन्तु बालक वर्धमान किंचित् भी भयभीत नहीं हुए। महान वीरता का परिचय देते हुए वह उस सर्प के फण पर माँ की गोदी की भाँति खेलने लगे। तब संगम देव ने अपना असली रूप प्रगट कर दिया और वर्धमान के बल एवं धैर्य की बारम्बार प्रशंसा करते हुए उनका नाम 'महावीर' रखा।

One day Tirthankar child Vardhaman was playing in the garden of Nandyavarta

Palace with his divine friends. Listening about his bravery & courage a deity named Sangam came there from the heaven to test His qualities in the form of a large ferocious cobra. All the children started running here & there, but Vardhaman was not disturbed at all. Showing great courage, he started playing on the hood of the snake like the lap of mother. Then Sangam dev appeared in his real form and appreciating the strength & patience of Vardhaman again & again, named Him as `MAHAVIRA'.

धीरे–धीरे महावीर बड़े होने लगे। उनके लिए सदैव स्वर्ग से ही भोजन, वस्त्र एवं आभूषण आदि आते थे। उन्होंने कभी भी अपने घर का भोजन नहीं किया क्योंकि सभी तीर्थंकरों के लिए यही नियम है कि वे स्वर्ग का दिव्य भोजन ही करते हैं।

युवावस्था को प्राप्त करने पर एक दिन महारानी त्रिशला ने उन्हें विवाह करने के लिए समझाया परन्तु युवराज महावीर ने विवाह न करके जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मुक्तिरूपी कन्या का वरण करने का अपना संकल्प माँ को बताया, जिससे माता त्रिशला बहुत दुःखी हुईं किन्तु महावीर ने उन्हें समझा–बुझा कर शांत किया और देवों द्वारा लाई पालकी में बैठकर दीक्षा लेने हेतु वन में चले गये।

Vardhaman was growing up gradually. He had always eaten the food of *Kalpvrikshas* of heaven, so he did not eat the food of his house any time. He also used to wear the clothes & jewellery brought from the heaven.

Vardhaman entered the young age from Childhood and passed thirty years. One day queen Trishala asked Him to give consent for the marriage but the Prince Mahavira expressed His keen intention to take *Jaineshwari Deeksha* to get free from the worldly transmigration at the place of being married with some girl. Mother Trishala became very anxious to listen to this but somehow Mahavira pacified her. Later He went to the forest to take *Deeksha* being seated in *Palki*.

३० वर्ष की अवस्था में भगवान ने मगशिर कृष्णा दशमी को कुण्डलपुर के निकट मनोहरवन में सालवृक्ष के नीचे पंचमुष्टि केशलोंच करके जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। देवों ने आकर भगवान का दीक्षाकल्याणक महोत्सव मनाया। दो दिन का योग धारण करके महामुनि महावीर अविचल खड़े हो गये।

इन्द्र ने उनके पवित्र केशों को ले जाकर क्षीरसागर में विसर्जित कर दिया और प्रतिदिन अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वे किंकररूप में भगवान की सेवा में सदा तत्पर रहने लगे।

At the age of 30 years Bhagwan took *Jaineshwari Deeksha* below the *Sal* tree at Manohar forest near Kundalpur on Maghshir Krishna Dashmi with performing *Panchmushti Keshlonch* (fist-plucking of own hairs in 5 times). Deities came and celebrated the *Deekshakalyanak Mahotsava* of Bhagwan. Mahamuni Mahavira stood

up in meditaion for 2 days.

Indra took away His hairs & consigned them to the water of *Ksheer Sagar*. He used to attend Bhagwan like a servant daily taking it as his holy duty.

दीक्षा के दो दिन के पश्चात् भगवान प्रथम पारणा के लिए निकले। कूल ग्राम के राजा कूल (अपरनाम वकुल) के यहाँ उनका प्रथम पड़गाहन हुआ। महामुनि को अत्यन्त प्रफुल्लित भाव से राजा एवं रानी ने खीर का आहार प्रदान किया। देवताओं ने महामुनि महावीर के इस प्रथम आहार पर आकाश से रत्न, पुष्प आदि पंचाश्चर्य की वृष्टि की।

पुनः महावीर स्वामी मौनपूर्वक विचरण करते हुए सबको जैन मुनि की चर्या से परिचित कराने लगे। दिगम्बर जैन परम्परानुसार तीर्थंकर भगवान दीक्षा के बाद मौन ही रहते हैं, पुनः केवलज्ञान होने पर ही उनकी दिव्यध्वनि खिरती है।

After two days of taking Deeksha, Tirthankar Mahamuni Mahavira went for taking the first *Ahar* (meals). The king Kool (other name-Vakul) of Kool village had the fortune of giving the first Ahar to Mahamuni Mahavira. He along with his wife gave *Kheer* (delicious milk food) to Mahamuni with great happiness. *Kuber* (the deity of wealth) showered five wounderful things like jewels, flowers etc. from the sky at this occasion.

According to the Digamber Jain tradition, Tirthankar Bhagwan keep silence after taking *Deeksha* and His Divya-Dhvani becomes available only after getting *Kevalgyan* (enlightenment).

दीक्षा के बाद विहार करते हुए एक बार भगवान कौशाम्बी नगरी में पधारे जहाँ महारानी त्रिशला (महावीर की माता) की सबसे छोटी बहन महासती चन्दना को एक सेठानी सुभद्रा ने सिर मुंडवा कर बेड़ियों में जकड़कर रखा था। महामुनि को आया देख चन्दना के मन में उन्हें आहार देने की उत्कट अभिलाषा जागृत हो गई। महावीर के पधारते ही चन्दना की समस्त बेड़ियाँ टूट गईं, सिर पर सुन्दर केश आ गये और शरीर सुन्दर वस्त्र–आभूषणों से अलंकृत हो गया, मिट्टी का सकोरा सोने का पात्र बन गया और कोदों का भात मीठी खीर के रूप में बदल गया। चंदना ने अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक महामुनि को आहारदान दिया, पुनः स्वर्ग से पंचाश्चर्यों की वृष्टि होने लगी।

उसके बाद चन्दना का अपने माता–पिता एवं परिवार के साथ मिलन हुआ।

Once Bhagwan came to Kaushambi, where Mahasati Chandna, the younger sister of queen Trishala (the mother of Mahavira) was prisoned by Sethani Subhadra. Seeing Mahamuni MAhavira, Chandna developed the keen desire to give *Ahar* to Him. As soon as Mahavira came to her, all her shackles were broken, beautiful hairs developed on her tonsured head, attractive garments & jewellery beautified her body, her earthen pot was converted into the golden bowl and the low quality rice (*Kodo*) became delicious

milk food (*Kheer*) by the impact of her dedication for Mahavira.

Chandna gave *Ahar* to Mahamuni with full devotion and again the deities showered jewels, flowers etc. from the heaven.

एक बार महामुनि महावीर उज्जयिनी नगरी के श्मशान घाट (अतिमुक्तक वन) में ध्यान लीन थे। तभी एक रुद्र वहाँ आया और उन पर भयंकर उपसर्ग करने लगा परन्तु धीर–वीर महामुनि अपने ध्यान से किंचित् भी विचलित नहीं हुए। उनके इस साहस और धैर्य को देखकर रुद्र अत्यन्त प्रभावित हुआ और अनेक प्रकार से उनकी पूजा करके उन्हें 'महति महावीर' नाम प्रदान किया। व्यवहार में महावीर का यह नाम 'अतिवीर' के नाम से प्रचलित है।

इस प्रकार भगवान महावीर के वीर, वर्धमान, सन्मति, महावीर और अतिवीर ये पाँच नाम प्रसिद्ध हुए हैं।

Once Mahamuni Mahavira was meditating in the cremation ground (Atimuktak forest) of Ujjaini Nagari. A *Rudra* came there and started teasing Him in various ways but courageous Mahavira was not perturbed at all in His meditation.

The Rudra was very much impressed by the courage and patience of Mahavira and after worshipping Him, he gave Him the name **MAHATI MAHAVIRA**. Usually, Mahavira is known by the name of **Ativira** also.

Thus the five famous names of Lord Mahavira are **—Veer, Vardhaman, Sanmati, Mahavira & Ativira**.

महावीर को तपस्या करते हुए लगभग १२ वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन वह बिहार प्रान्त में (कुण्डलपुर के पास) जृम्भिका गाँव के निकट ऋजुकूला नदी के तट पर गहरे ध्यान में लीन थे। ध्यान की परमविशुद्धि से उन्होंने चारों घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। यह वैशाख शुक्ला दशमी का दिन था जब महावीर अरिहंत परमेष्ठी बन गये।

इन्द्र ने तत्क्षण ही कुबेर को समवसरण बनाने की आज्ञा दी। भगवान की दिव्य प्रवचनसभा 'समवसरण' कहलाती है, जिसकी १२ सभाओं में बैठकर मनुष्य, देवता, पशु–पक्षी आदि सभी भगवान की ऊँकारमयी दिव्यध्वनि का पान करते हैं। यह समवसरण पृथ्वी से २०,००० (बीस हजार) हाथ ऊपर अधर आकाश में रहता है।

About 12 years had passed since Mahavira took ***Deeksha***. One day He was immersed in deep meditaion at the bank of Rijukula river at the village named Jambhrika (near Kundalpur). His concentration become so pious and acute that he destroyed His four *Ghati Karmas* and attained Enlightenment i.e., *Kevalgyan*. It was the day of Vaishakh Shukla Dashmi. Mahavira became **ARIHANT PERMESHTHI**.

Indra ordered Kuber to form *Samavsaran*, the divine assembly of Tirthankar

Bhagwan. Innumerable beings—Human, Deities, Animals-birds sit in 12 *Sabhas* (divisions) of Samavsaran and listen to the *Omkarmayi Divya-Dhvani* (Sermons or Preachings in divine voice) of Bhagwan. *Samavsaran* remains in the midsky at the height of 20,000 hands above the earth.

भगवान महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुए ६६ दिन बीत गये परन्तु उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी। सौधर्म इन्द्र ने विचार किया कि गणधर का अभाव ही इसका कारण है। इन्द्र ब्राह्मण का वेश धरकर ब्राह्मण गाँव के इन्द्रभूति गौतम नामक प्रकाण्ड ज्ञानी ब्राह्मण के पास उनके आश्रम में आया एवं युक्तिपूर्वक उनसे कुछ प्रश्न पूछा, गौतम उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाये अतः बोले कि मैं तुमसे इस विषय में बात न करके तुम्हारे गुरु महावीर के पास चलकर ही वाद–विवाद करूँगा। इस प्रकार इन्द्र उन्हें भगवान महावीर के समवसरण में ले आये।

Days were passing since Tirthankar Mahavira attained *Kevalgyan* but to the surprise of all, His *Divya-Dhvani* remained unavailable. After thinking a lot, Saudharma Indra came to the conclusion that the reason was the lack of *Gandhar.* He went to the *Ashram* of a great Brahman scholar named Indrabhuti Gautam of Brahman Village and trickfully asked him some question. Gautam could not reply, so he said that I will not gave reply to you but will argue with your *Guru* only, thus Indra persuaded him trickfully to come to Lord Mahavira once.

जैसे ही इन्द्रभूति ब्राह्मण अपने ५०० शिष्यों के साथ राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर स्थित भगवान के समवसरण में पहुँचा, उसका सारा मान भंग हो गया और वह तुरन्त जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर महावीर के प्रथम गणधर बन गये। उसी समय केवलज्ञान होने के ६६ दिन बाद श्रावण कृष्णा एकम के दिन भगवान महावीर की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी और तब से ही यह दिवस 'वीरशासन जयंती दिवस' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। भगवान की दिव्यध्वनि ७१८ भाषाओं में खिरती थी जिससे प्रत्येक प्राणी अपनी–अपनी भाषा में भगवान की देशना ग्रहण कर लेते थे। इन्द्रभूति गौतम गणधर ने भगवान की दिव्यध्वनि को द्वादशांगरूप में निबद्ध किया।

As soon as Indrabhuti along with his 500 disciples reached the *Samavsaran* at Vipulachal Mountain of Rajgrahi, all his proud was shed away and he took *Jaineshwari Deeksha* & became the firsrt Gandhar of Lord Mahavira. At once the FIRST DESHNA (Sermon) of Bhagwan became available thourgh *Divya-Dhvani* on Shravan Krishna Ekam (the first day of Shravan Month) after 66 days of His Enlightement. Since then this day is celebrated as *Veer Shasan Jayanti Diwas* (day). The sermons of Bhagwan were in 718 languages, so that each creature could understand them in its own language. Gautam Gandhar prepared scriptures in the form of 12 *Angas* (Parts) compiling the *Divya-Dhvani* of Bhagwan.

राजगृही नगरी की घटना है कि एक बार एक मेंढक अपने मुख में कमल की पांखुड़ी दबाए अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक समवसरण में विराजमान भगवान महावीर के दर्शन करने के लिए विपुलाचल पर्वत की ओर जा रहा था। मार्ग में वह राजा श्रेणिक के हाथी के पाँव के नीचे दबकर मर गया। भगवान की भक्ति के प्रभाव से वह तत्क्षण ही स्वर्ग में जाकर देव हो गया।

राजा श्रेणिक के पहुँचने से पूर्व ही समवसरण में पहुँचकर मुकुट में मेंढक के चिन्ह से युक्त वह देव भक्ति में अत्यन्त तन्मय होकर नृत्य करने लगा। उसे ऐसी भक्ति करते देखकर राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर से उसके बारे में पूछा, तब गौतम गणधर ने बताया कि राजन् ! एक मेंढक अभी–अभी आपके हाथी के पग तले दबकर मरा है और भक्ति के प्रभाव से देवता बनकर यह यहाँ आया है, जिनभक्ति की इस महिमा को जानकर सभी लोग अत्यन्त प्रभावित हुए।

Once a frog was going to the Samavsaran of Mahavira with a lot devotion to Him. It had picked up a petal of a lotus in its mouth. In the way, it was crushed to death under the foot of the elephant of the king Shrenik.

At once it became a *Dev* (deity) in the heaven due to the effect of devotional spirits. The deity with the mark of frog in its crown started dancing with joy after reacthing the *Samavsaran* even before Shrenik could reach there. Knowing this greatness of JIN-BHAKTI, all were very much impressed. Since then, this story of ``frog turned deity'' became immortal.

एक दिन महासती चन्दना अपने माता–पिता के साथ राजगृही नगरी में भगवान महावीर के समवसरण में आईं और उत्कट वैराग्यभावना से उन्होंने प्रथम आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली। अनन्तर उन्होंने गणिनीपद को प्राप्त किया और भगवान महावीर के समवसरण की छत्तीस हजार आर्यिकाओं में प्रमुख हो गईं।

भगवान महावीर के समवसरण में श्री इन्द्रभूति आदि ११ गणधर, १४,००० मुनिराज, चंदना आदि ३६,००० आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। भगवान के शासनयक्ष मातंगदेव एवं शासनयक्षी सिद्धायिनी देवी हैं।

Mahasati Chandna came to the *Samavsaran* of Bhagwan at Rajgrahi with her parents and with the feeling of deep renunciation, she took first *Aryika Deeksha*, the highest rank in the female life. Later she became *Ganini*, the head of the group of 36,000 Aryikas of the *Samavsaran* of Bhahwan Mahavira.

In the *Samavsaran* of Bhagwan, there were Indrabhuti etc. 11 Gandhara, 14,000 *Munis*, Chandna etc. 36,000 *Aryikas*, 1 lac *Shravaks* and 3 lacs *Shrivikas*. The ruling demigod is Matang Dev and ruling female demigod is Siddhayani Devi.

मगध के सम्राट् राजा श्रेणिक पूर्व में बौद्ध धर्म के अनुयायी थे परन्तु अपनी पत्नी चेलना (महावीर की

गृहस्थावस्था की मौसी) के बार-बार समझाने पर वह जैनधर्म की ओर आकृष्ट हुए और धीरे-धीरे जैनधर्म के शाश्वत एवं सर्वोदयी सिद्धान्तों को जानकर भगवान महावीर के कट्टर अनुयायी बन गये। वह भगवान के समवसरण में जाकर उनके प्रति अपार भक्ति किया करते थे।

समवसरण के मुख्य श्रोता के रूप में श्रेणिक ने भगवान से साठ हजार प्रश्न किए। इन प्रश्नों के उत्तर में खिरी भगवान की दिव्यध्वनि के आधार पर ही आज का उपलब्ध श्रुतज्ञान निबद्ध हुआ है।

King Shrenik, the emperor of Magadh, was a follower of Buddhism previously but on the persistent advice of his wife Chelna, the Mausi (aunt) of Bhagwan Mahavira, he got attracted towards Jain Dharma. Gradually he became a strict follower of Lord Mahavira knowing the eternal & universal principles of Jainism. He used to go to the *Samavsaran* of Bhagwan and got immersed into deep devotion for him.

Shrenik asked 60,000 questions from Bhagwan Mahavira being the Chief ``Shrota'' (listener) in His *Samavsaran*. The scriptural knowledge of today is based on the replies given by Bhagwan in response to the questions of Shrenik.

जिनेन्द्रभक्ति का माहात्म्य राजा श्रेणिक के जीवन से भली प्रकार समझा जा सकता है। पूर्व में जैनधर्म और जैन साधुओं के प्रति विद्वेषभाव रखकर एक बार श्रेणिक ने एक मरा हुआ सर्प ध्यान करते हुए महामुनिराज के गले में डाल दिया और उसी समय इस दुष्कृत्य के प्रभाव से ३३ सागर की सातवें नरक की आयु का बंध कर लिया परन्तु बाद में मुनिराज की क्षमाशीलता को देखकर उन्हें अत्यन्त पश्चाताप हुआ।

भगवान महावीर के समवसरण में दिगम्बर साधुओं और सच्चे मोक्षमार्ग की महानता को जानकर उन्होंने स्वयं को भगवान के चरण कमलों में समर्पित कर दिया, इस भक्ति के प्रभाव से उनकी सातवें नरक की ३३ सागर की आयु घटकर प्रथम नरक की (मध्यम आयु) ८४ हजार वर्ष की रह गई। इतना ही नहीं सोलहकारण भावनाओं को भाकर उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया और आने वाली भविष्यतकाल की चौबीसी में वह 'महापद्म' नाम के प्रथम तीर्थंकर होंगे।

The great effect of JINBHAKTI (Devotion to Jinendra Bhagwan) can be understood well by the life of Shrenik. Previously with malicious feelings towards Jain Dharma & Jain Sadhus (*munis*), once Shrenik dropped a dead snake around the neck of a meditating Jain Mahamuni and at the same moment he became destined to go the seventh hell for 33 Sagars (infinitely large time unit), although later Shrenik developed the feeling of repentance seeing the forgiving nature of Mahamuni.

Gradually Shrenik understood the greatness of Digamber Sadhus and the real path of Salvation (Moksha) in the Samavsaran of Bhahwan Mahavira. He humbly dedicated himself in the lotus feet of the Lord and due to his pure inner devotion to Him,

he reduced his *Narakayu* (lifetime at hell) of 33 *Sagars* of the 7th hell to 84,000 years of the 1st hell. Not only this, he bounded *Tirthankar Prakriti* by following *Solahkaran Bhavnas* in the feet of Mahavira and now he will become the first Tirthankar named **Mahapadma** in the coming Chaubeesi (tradition of 24 Tirthankars) of the next age (Yug) after completing the lifetime of 84,000 years of the 1st hell.

भगवान महावीर ने ३० वर्षों तक सम्पूर्ण आर्यखण्ड में असंख्य जीवों को धर्म का उपदेश प्रदान किया। ७२ वर्ष की आयु में वह एक बार (अन्त समय में) पावापुरी पधारे और वहाँ स्थित कमल सरोवर के मध्य में विशाल रत्नमयी शिला पर खड्गासन मुद्रा में विराजमान हो गये। अब तक समवसरण विघटित हो चुका था। विशुद्ध ध्यान की अवस्था में उन्होंने शेष चार अघातिया कर्मों का भी नाश कर दिया और कार्तिक कृष्णा अमावस्या की प्रातःकाल वह सिद्धपरमेष्ठी बन पावापुरी सरोवर के ठीक ऊपर सिद्धशिला पर जाकर विराजमान हो गये। संसार परिभ्रमण का नाश कर वह सिद्धभगवान अब अनन्तकाल तक मोक्ष में विराजमान रहेंगे।

Lord Mahavira preached for 30 years all over the *Aryakhand* in the form of *Arihant Permeshthi*. His age had become about 72 years. Once He came to Pawapuri and got seated on a great gem-rock in the middle of the Pond, with abundant lotus flowers. The Samavsaran had been diminished till then.

Bhahwan was immersed into deep meditation and He destroyed His remaining 4 *Aghati Karmas* to become *Siddha Parmatma* on the dawn of Kartik Krishna Amavasya. As all the eight Karmas had been destroyed, the soul became completely pure and at once proceeded up to the *Siddhashila* just above the Pawapuri pond. Now the *Siddha* soul of Lord Mahavira will ramain consecrated at ***Moksha* (*Siddhashila*)** for infinite times to come being liberated from the worldly transmigration (cycle of death & birth).

असंख्य देवों के साथ सौधर्म इन्द्र भगवान का मोक्षकल्याणक मनाने पधारे और भगवान के दिव्य शरीर की विधिपूर्वक पूजा की, अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न अग्नि से शरीर का संस्कार सम्पन्न हुआ। निर्वाणकल्याणक पूजा करके इन्द्र ने अपने वज्ररत्न से भगवान के निर्वाण स्थान पर उनके चरणचिन्हों को अंकित कर दिया जो आज भी पावापुरी (नालंदा) स्थित जलमंदिर में विराजमान हैं।

सायंकाल गौतम गणधर ने केवलज्ञान प्राप्त किया और इस अवसर पर देवताओं द्वारा असंख्य दीपक प्रज्वलित किए गए। उसी समय से दीपावली का पर्व प्रारम्भ हुआ। आज भी हजारों श्रद्धालुओं द्वारा कार्तिक कृष्णा अमावस्या की प्रातःकाल जलमंदिर में एवं देश–विदेश के स्थानीय मंदिरों में निर्वाणलाडू चढ़ाया जाता है और सायंकाल गौतमगणधर, केवलज्ञान महालक्ष्मी और सरस्वती की पूजा करने के उपरांत हजारों दीपक जलाये जाते हैं। भगवान महावीर के मोक्षगमन का प्रतीक दीपावली पर्व जैनधर्म के अनुसार अत्यन्त पवित्र दिवस है, जिस दिन शराब पीना, जुआ खेलना, पटाखे जलाना इत्यादि पूर्णतया निषिद्ध है।

Saudharma Indra came to celebrate the Moksha Kalyanak of Bhagwan along with innumerable deities. After worshipping the remaining divine body of Lord, its holy cremation was performed by the flames coming out from the crown of Agnikumar Dev. Indra performed *Nirvankalyanak Pooja* & inscribed the foot-prints of Bhagwan at the same place from where He got Nirvan i.e. present *Jal-Mandir* of Pawapuri (Nalanda).

In the evening Gautam Gandhar obtained *Kevalgyan* and innumerable *Deepaks* were illuminated by Devtas to mark the occasion. The festival of Deepawali started from then. Even today Nirvan Ladoo is offered at Jal Mandir, Pawapuri by thousands of devotees at the dawn of **Kartik Krishna Amavasya** along with the temples throughout the country & abroad and worships of **Gautam Gandhar, Kevalgyan Mahalaxhmi** & **Saraswati** are performed along with the illumination of numerous Deepaks in the evening.

भगवान महावीर की दिव्य देशना

स्याद्वाद—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, स्याद्वाद के द्वारा उन अनेकों धर्मों का संग्रह करना, समन्वय करना अनेकान्त है। इस अनेकान्त को समझ लेने से दृष्टि सम्यक् हो जाती है।

आत्मा का अस्तित्व—विश्व में अनंतानंत जीव हैं। प्रत्येक जीव का अस्तित्व अलग-अलग है। 'मैं' शब्द से जो 'अहप्रत्यय' का ज्ञान होता है वही आत्मा का अस्तित्व है। आत्मा ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला है। अनादिकाल से कर्मों से बद्ध होने से यह संसारी है, जब स्वयं कर्मों का नाश करके मुक्त हो जाता है तब पूर्ण सुखी सिद्ध परमात्मा कहलाता है।

कर्म का अस्तित्व—इस जीव के साथ कर्मों का संबंध अनादिकाल से हो रहा है। यह जीव स्वयं राग-द्वेष आदि परिणामों के द्वारा कर्मों को ग्रहण करता रहता है और उन कर्मों का उदय आने पर सुख-दुःख आदि फल को भोगता रहता है। कर्म के निमित्त से नर-नारकादि पर्यायों में पराधीन हो रहा है। अपने द्वारा किये गये शुभ-अशुभ परिणाम ही पुण्य और पाप रूप से बंध को प्राप्त हो जाते हैं और समय आने पर जीव को सुख-दुःख फल का अनुभव कराते रहते हैं।

मुक्ति का उपाय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है।

पाँच अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाणाणुव्रत।

Universal Principles Preached By Lord Mahavir

Following the principles of Bhagwan Mahavir, there can be peace in the individual life, society, nation and the present world. So, we should try our best to practice His teachings in our lives.

Syadvad :—Each article/subject is having infinite Dharmas. To assimilate all those Dharmas by Syadvad is the Function of *Anekant*. By understanding that *Anekant* the perception becomes *Samyak* (*Righteous*).

Existence of Atma (Soul) :—There are infinite creatures in world. Every creature is having its own individuality. T, that is actually the soul. The soul is having the nature of Gyan (to know) & *Darshan* (to see). It is *Samsari* i.e.wandering in the world since infinite times due to the bondage of *Karmas* wirh self. When it destroys all its Karmas, it is liberated and becomes *Siddha Parmatma* (God) with complete bliss.

Entity of Karmas :—*Karmas* are related (bonded) with this soul since infinite times. It assimilates *Karmas* by own *Raag* (attachment) & *Dwesh* (malice) mixed feelings and the fruition of these *Karmas* brings happiness or sorrow. This soul goes to various *Paryayas* (to have the body) of gumanbeing or *Tiryanch* or else. Good and Bad deeds or spirits of self become bound as *Punya* or *Paap* (sin) and given happiness or sorrow to the soul/creature when time comes.

Way to Liberation :—The unified path of **Samyakdarshan, SAmyakgyan & Samyakcharitra** is a path of **Moksha** (eternal Liberation).

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-तुम तो ठहरे परदेशी.....

ऋषभदेव प्रतिमा को, देखने का जगा भाग्य है।
उसके दर्श करके जगा लो, सभी अपना सौभाग्य है।।टेक.।।
इक अखंड पाषाण में, पहली जैनमूर्ति बनी।
भारतीय संस्कृति का यह गौरव बनी आज है।।ऋषभदेव..।।1।।
शिल्पियों की शिल्पकला ने, मूर्ति का आकार दे दिया।
ज्ञानमती माताजी का, स्वप्न साकार हुआ आज है।।ऋषभदेव..।।2।।
ऋषभगिरि मांगीतुंगी, दुनिया में छा गया है।
हम सभी को ''चन्दनामती'' मिला दर्शन का सौभाग्य है।।ऋषभदेव..।।3।।

(4)

सत्य अहिंसा के अवतार-कुण्डलपुर के राजकुमार

संसार को सत्य अहिंसा रूप शाश्वत मूल्यों का उत्कृष्ट पथ प्रदर्शित करने वाले इस युग के तीर्थंकर भगवन्तों की परम्परा में अंतिम एवं २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने लगभग २६०० वर्ष पूर्व बिहार प्रान्त की कुण्डलपुर नगरी (नालन्दा) में महाराजा सिद्धार्थ एवं महारानी त्रिशला के आंगन में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को जन्म लिया था। अपने उज्ज्वल शरीर की कान्ति से अन्धकार को विनष्ट करने वाला, जगत का हित करने वाला, मति,श्रुत, अवधि तीनों ज्ञान को धारण करने वाला, महादेदीप्यमान एवं धर्मतीर्थ का प्रवर्तक ऐसा यह जिनशिशु प्रारम्भ से ही महान अलौकिक व्यक्तित्व का धारी था। सुमेरुपर्वत पर १००८ कलशों का जन्माभिषेक सहज रूप से झेलने की सामर्थ्य तीर्थंकर शिशु में ही हो सकती थी।

भगवान की बाल्यावस्था—

वीर, वर्धमान, सन्मति जैसे नामों से अलंकृत भगवान की सेवा के लिए सौधर्म इन्द्र अनेक देव, देवियों को राजमहल - नंद्यावर्त में नियुक्त कर गए थे। उनमें से कोई धाय का काम करती, कोई स्वर्ग से लाए गए वस्त्र-आभूषण आदि से उनके अंगों को सजाती, कोई अनेक प्रकार के खिलौनों आदि के द्वारा उनका विशेष मनोरंजन करती थी। जब वे देवियां उन्हें सम्बोधन कर बुलातीं तो भगवान मुस्कुराते हुए उनके पास चले जाते थे। तीर्थंकर भगवान चन्द्रकला की भांति बढ़ने लगे। उनकी बाल-सुलभ चपलता से माता-पिता एवं कुटुम्बियों को बड़ा ही आनन्द होता था।

जब उनकी अवस्था कुछ अधिक बढ़ी तो उनके मुख से सरस्वती की भांति वाणी निकलने लगी। रत्नजटित भूमि पर चलते हुए उनके आभूषण सूर्य की किरणों की तरह दमदमाते थे एवं वे स्वयं किरणों से परिवेष्टित सूर्य सम प्रतीत होते थे। उनकी क्रीडा के लिए देव स्वयं गजराज, अश्व आदि का कृत्रिम रूप ले लिया करते थे। वे उनके साथ क्रीडा किया करते थे। इस प्रकार विभिन्न क्रीडाओं से स्वयं प्रसन्न होकर दूसरों को प्रसन्न करते हुए वे भगवान कुमार अवस्था को प्राप्त हुए।

उस समय प्रभु के दिव्य शरीर में स्वाभाविक मति-श्रुत-अवधि आदि ज्ञान वृद्धि को प्राप्त हुए। उन्हें समस्त कलाएं एवं विद्याएं स्वतः प्राप्त हो गईं इसलिए वे प्रभु मनुष्यों तथा देवों के लिए गुरु सदृश हो गए, पर उनका कोई गुरू नहीं था। प्रभु का शरीर स्वेद रहित कांतिवान एवं मल-मूत्रादि से रहित स्वर्ण सदृश था। श्वेत रुधिरयुक्त एवं महान दिव्य सुगंधित एक हजार आठ शुभ लक्षणों से वे शोभायमान थे। वे सबके हितकारक एवं कर्णमधुर शब्दों का उच्चारण करते थे। जन्मकाल से ही दिव्य दश अतिशयों से युक्त, धीरज आदि अपरिमित गुण, कीर्ति -कला-विज्ञान आदि सभी से वे सुशोभित थे। आगे चलकर भगवान वज्रवृषभनाराचसंहनन एवं समचतुरस्र संस्थान वाले उत्तम रूपयुक्त एवं विशालकाय बलवान पुरुष हुए।

संगमदेव द्वारा बालक वर्धमान की परीक्षा—

एक बार इन्द्र की सभा में देवों ने भगवान की दिव्य कथा पर चर्चा की। उनकी धीरता, वीरता, अतुल पराक्रम, दिव्य रूप आदि का वर्णन सुन संगम नामक देव ने भगवान की परीक्षा लेने की ठान ली। वह उस वन में आया, जहां प्रभु अन्य राजपुत्रों के साथ क्रीडा कर रहे थे। प्रभु को डराने के उद्देश्य से उसने काले सर्प का भयंकर विकराल रूप बनाया और वह एक वृक्ष की जड़ से लेकर स्कन्ध तक लिपट गया। उस सर्प के भय से अन्य सभी राजकुमार वृक्ष से कूदकर घबराते हुए दूर भाग गए परन्तु कुमार महावीर जरा भी विचलित नहीं हुए प्रत्युत् उस भयंकर नागराज पर आरूढ़ होकर माता की गोद के समान क्रीडा करने लगे। कुमार का धैर्य देखकर सर्परूपी देव बड़ा चकित हुआ एवं अपने असली रूप में प्रगट होकर प्रभु की स्तुति करने लगा एवं जिनके नामस्मरण से ही प्रयोजनों की सिद्धि करने वाला धैर्य प्राप्त हो जाता है ऐसे वीर प्रभु को "महावीर" नाम से अलंकृत करके स्वर्ग को चला गया।

कुण्डलपुर के राजकुमार—

इस प्रकार बालक वर्धमान वन क्रीडा, जलक्रीडा , नृत्य, नाटक आदि में संलग्न हो बड़े सुखपूर्वक समय को व्यतीत कर रहे थे। काव्य आदि की गोष्ठी तथा धर्मचर्चा इत्यादि के साथ कुमार ने धीरे-धीरे यौवनावस्था को प्राप्त कर लिया। उस समय उनके मस्तक का मुकुट धर्मरूपी पर्वत के शिखर की भाँति शोभायमान होता था। उनके कपोल तथा मस्तक की कांति ऐसी प्रतीत होती थी , मानो पूर्णिमा के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना ही हो। सुन्दर भौहों से शोभित उनके कमल-नेत्र एवं मुखरूपी चन्द्रमा अतुलनीय थे।

प्रभु के कानों के कुण्डल बड़े ही भव्य दीखते थे। उनकी नासिका-ओष्ठ-दन्त एवं कण्ठ की स्वाभाविक सुन्दरता को बतलाना तो संभव ही नहीं है। उनका विस्तृत वक्षस्थल रत्नों के हार से ऐसा सुसज्जित होता था, मानो लक्ष्मी का निवास ही हो।

अनेक प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित उनकी भुजाएं ठीक कल्पवृक्ष के सदृश प्रतीत होती थीं। अंगुलियों के दशों नख अपनी किरणों से ऐसे प्रतिभासित हो रहे थे मानो वे धर्म के दश अंग ही हों। इनकी गहरी नाभि सरस्वती एवं लक्ष्मी की क्रीडास्थली (सरोवर) जैसी प्रतीत होती थी। प्रभु के वस्त्र-पट की करधनी ऐसी मालूम होती थी, जैसे वह कामदेव को बांधने के लिए नागपाश ही हो। इन्द्र-धरणेन्द्र आदि सभी देवों द्वारा सेवित प्रभु के चरणकमलों की तुलना भला किससे की जा सकती है ?

इस प्रकार नख से शिख तक प्रभु के अंग-प्रत्यंग की अपूर्व शोभा को देखकर ऐसा प्रतिभासित होता था मानो ब्रह्मा अथवा कर्म ने तीनों जगत् में रहने वाले समस्त दिव्य प्रकाशमान, पवित्र एवं सुगन्धित परमाणुओं से प्रभु का अद्वितीय शरीर बनाया हो। इस शरीर का पहला गुण था—**वज्रवृषभनाराच संहनन।**

प्रभु के शरीर में मल-मूत्र, स्वेद, दोष, रागादिक तथा वातादिक तीन दोषों से उत्पन्न रोग किसी समय भी नहीं होते थे। उनकी वाणी समस्त संसार को प्रिय थी। वह सबको सत्य एवं शुभ मार्ग दिखलाने वाली धर्ममाता के समान थी, दूसरे खोटे मार्ग को व्यक्त करने वाली नहीं थी। दिव्य शरीर को पाकर वे प्रभु ऐसे सुशोभित हो रहे

थे, जैसे धर्मात्माओं को पाकर धर्मादि गुण सुशोभित होते हैं। भगवान के लक्षण ये हैं—

श्रीवृक्ष, शंख, पद्म, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, श्वेतछत्र, ध्वजा, सिंहासन, दो मछलियां, दो घड़े, समुद्र, कछुआ, चक्र, तालाब, विमान, नागभवन, पुरुष-स्त्री का जोड़ा, बड़ा भारी सिंह, तोमर, गंगा, इन्द्र, सुमेरु, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, घोड़ा, बींजना, मृदंग, सर्प, माला, वीणा, बांसुरी, रेशमी वस्त्र, देदीप्यमान कुण्डल, विचित्र आभूषण, फल सहित बगीचा, पके हुए अनाज वाला खेत, हीरा रत्न, बड़ा दीपक, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, सुवर्ण कमलबेल, चूड़ारत्न, महानिधि, गाय, बैल, जामुन का वृक्ष, पक्षिराज, सिद्धार्थ वृक्ष, महल, नक्षत्र, ग्रह, प्रातिहार्य आदि दिव्य एक सौ आठ लक्षणों से तथा नौ सौ श्रेष्ठ व्यंजनों से, विचित्र आभूषणों से एवं मालाओं से प्रभु का स्वाभाविक सुन्दर, दिव्य, औदारिक शरीर अत्यन्त सुशोभित था।

अधिक क्या कहा जाए, संसार में जितनी भी शुभ लक्षणरूप सम्पदा एवं प्रिय वचन-विवेकादि गुण हैं, वे सब पुण्य कर्मों के उदय से तीर्थंकर भगवान में स्वतः ही समाविष्ट थे। अधिष्ठित स्वामी सदा उनकी सेवा में रत रहते थे। वे कुमार महावीर धर्म की सिद्धि के लिए मन-वचन-काय की शुद्धि से अतिचार रहित भक्तिपूर्वक गृहस्थों के बारह व्रतों का पालन करते थे। सर्वदा शुभध्यान में प्रभु लीन रहते थे। इस प्रकार पुण्य के शुभोदय से प्राप्त हुए सुखों का उपभोग करते हुए कुमार ने तीस वर्ष का समय व्यतीत कर दिया।

युवा चरण तीर्थंकरत्व की ओर—

एक बार उन्हें स्वतः अपने पूर्व जन्मों का जातिस्मरण हो गया, तत्क्षण ही वैराग्य उत्पन्न होने से युवराज महावीर ने मोहरूपी महान शत्रु का सर्वनाश करने के लिए रत्नत्रयरूप तप का पालन करने हेतु जैनेश्वरी दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। मगशिर बदी दशमी को ज्ञातृषण्डवन में सालवृक्ष के नीचे प्रभु ने पंचमुष्टि लोंच करके जिनदीक्षा को धारण कर लिया। बारह वर्षों की घनघोर तपश्चर्या के पश्चात् जृम्भिका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक उद्यान में वैशाख शुक्ला दशमी को भगवान ने दिव्यकेवलज्ञान को प्राप्त करके अर्हंत परमेष्ठी का पद प्राप्त कर लिया। ३० वर्षों तक दिव्य समवसरण में असंख्य जीवों को अहिंसामयी शासन का अमृतपान कराते हुए कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान महावीर ने पावापुरी (बिहार) नगरी के सरोवर के मध्य जाकर योगों का निरोध कर अघातिया कर्मों का नाश करके परम सिद्धपद को प्राप्त कर लिया। ऐसे उन त्रैलोक्यपति भगवान महावीर के चरणों में कोटि-कोटि नमन।

(5)

तीर्थंकर का जन्माभिषेक मुनियों द्वारा भी दर्शनीय है।

पंचकल्याणकों से समन्वित तीर्थंकर भगवान् इस पंचम काल में साक्षात् विद्यमान नहीं हैं फिर भी उनके प्रतिबिम्बों में पंचकल्याणक के संस्कार करके उन्हें भगवान् तीर्थंकर के समान ही मानकर पूजा जाता है। उन अचेतन प्रतिमाओं के दर्शन-वन्दन से भव्य प्राणी सम्यग्दर्शन को प्रगट कर मोक्ष तक का टिकट प्राप्त कर लेते हैं तथा इनके अपमान आदि से नरक-तिर्यंच आदि गतियों का बन्ध करते देखे जाते हैं।

सती अंजना ने अपने पूर्व जन्मों में रानी कनकोदरी की पर्याय में जिनेन्द्र प्रतिमा का ही अपमान करके ऐसे निकाचित कर्म का बन्ध कर लिया था जो अंजना की अवस्था धारण कर बाईस वर्ष तक पतिवियोग के रूप में उसे भोगना पड़ा। ऐसे कई उदाहरण पुराण ग्रन्थों में भरे पड़े हैं जो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं को साक्षात् जिनेन्द्र मानने की पुष्टि करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि पाषाण या धातु की मूर्तियों को भगवान बनाने हेतु जिन पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं का आयोजन श्रावकगण करते हैं उनमें दिगम्बर मुनि-आर्यिका आदि चतुर्विध संघ की क्या भूमिका होती है ? भारत में आयोजित होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में तो किसी न किसी साधु का सानिध्य अधिकतर रहता है किन्तु वर्तमान में कुछ साधु यह कहकर जन्मकल्याणक महोत्सव के जुलूस एवं पाण्डुकशिला पर होने वाले जन्माभिषेक को देखने नहीं जाते हैं कि "साधुओं को मात्र दीक्षाकल्याणक आदि में जाना चाहिए, जन्मकल्याणक में वे भाग नहीं ले सकते हैं।"

इस विषय में आगम प्रमाण यह मिलता है कि चारण ऋद्धिधारी मुनि भी जिनेन्द्र भगवान का जन्माभिषेक बड़े भक्तिभाव से देखते हैं। जैसा कि महापुराण नामक आर्षग्रन्थ में वर्णन आया है—

सानन्दं त्रिदशेश्वरैःसचकितं देवीभिरुत्पुष्करैः,
सत्रासं सुरवारणैः प्रणिहितैरात्तादरं चारणैः।
साशंङ्कं गगने चरैः किमिदमित्यालोकितो यः स्फुरन्-
मेरोर्मूर्द्ध्नि स नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भः प्लवः।।२१६।। (पर्व १३)

अर्थ—मेरुपर्वत के मस्तक पर स्फुरायमान होता हुआ जिनेन्द्र भगवान् के जन्माभिषेक का वह जल-प्रवाह हम सबकी रक्षा करे जिसे कि इन्द्रों ने बड़े आनन्द से, देवियों ने आश्चर्य से, देवों के हाथियों ने सूंड ऊँची करके बड़े भय से, चारण ऋद्धिधारी मुनियों ने एकाग्रचित होकर बड़े आदर से और विद्याधरों ने "यह क्या है" ऐसी शंका करते हुए देखा था।

इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान के दिगम्बर मुनि, आचार्य या उपाध्याय आदि को जन्मकल्याणक जुलूस में सम्मिलित होने में रंचमात्र भी दोष नहीं है। बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज की परम्परा में आचार्य श्री वीरसागर महाराज, आचार्य श्री शिवसागर महाराज, आचार्य श्री धर्मसागर

महाराज आदि चतुर्विध संघ सहित जन्माभिषेक देखते थे। तीर्थंकर भगवान का जन्मकल्याणक दिव्य, अलौकिक होता है अतः सामान्य मुनि एवं आचार्यों को उनका जन्माभिषेक देखने में कोई विकल्प ही नहीं होना चाहिए। देखो! भगवान् महावीर को पालने में झूलते हुए देखने मात्र से ही संजय और विजय नामक चारणऋद्धिधारी मुनियों की शंका का समाधान हो गया था अतः तीर्थंकर की महिमा का वर्णन तो अनिर्वचनीय है।

मुनिभक्त दिगम्बर जैन समाज के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले पंचकल्याणकों में प्रायः किसी न किसी आचार्य अथवा मुनिसंघों का सानिध्य अवश्य रहता है। उनमें से कुछ साधु तो रुचिपूर्वक जन्मकल्याणक के जुलूस में जाकर पांडुकशिला पर जन्माभिषेक देखते हैं तथा कुछ तो इसका पूर्ण विरोध करते हुए अपने संघ के किसी भी साधु-साध्वी को जन्माभिषेक देखने नहीं भेजते हैं।

इस विषय में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी कहा करती हैं कि अपनी गुरु परम्परानुसार साधुओं को भगवान् के जन्मकल्याणक में भाग लेना चाहिए। परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागर महाराज, आचार्य श्री कुन्थुसागर महाराज, आचार्य श्री अभिनन्दनसागर महाराज आदि लगभग समस्त बड़े-बड़े संघ उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए जन्मकल्याणक जुलूस में भी भाग लेते रहे हैं और जन्माभिषेक भी देखते रहे हैं।

उस पवित्र जन्माभिषेक का वर्णन करते हुए भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है—

निर्वापिता मही कृत्स्ना, कुलशैलाः पवित्रिताः।
कृता निरीतयो देशाः, प्रजाः क्षेमेण योजिताः।।१६९।।
कृत्स्नामिति जगन्नाड़ीं, पवित्रीकुर्वतामुना।
किं नाम स्नानपूरेण, श्रेयः शेषितमङ्गिनाम्।।१७०।।

अर्थ—उस जलप्रवाह ने समस्त पृथ्वी सन्तुष्ट कर दी थी, सब कुलाचल पवित्र कर दिये थे, सब देश अतिवृष्टि आदि ईतियों से रहित कर दिये थे और समस्त प्रजा कल्याण से युक्त कर दी थी। इस प्रकार समस्त लोकनाड़ी को पवित्र करते हुए उस अभिषेक जल के प्रवाह ने प्राणियों का ऐसा कौन-सा कल्याण बाकी रख छोड़ा था जिसे उसने न किया हो ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

समस्ताः पूरयन्त्याशा, जगदानन्ददायिनी।
वसुधारेव धारासौ, क्षीरधारा मुदेऽस्तु नः।।१९२।।

अर्थ—वह दूध के समान श्वेत जल की धारा हम सबके आनन्द के लिए हो जो कि रत्नों की धारा के समान समस्त दिशाओं और इच्छाओं को पूर्ण करने वाली तथा समस्त जगत् को आनन्द देने वाली थी।

माननीया मुनीन्द्राणां, जगतामेकपावनी।
साव्याद् गन्धाम्बुधारास्मान्, या स्म व्योमापगायते।।१९५।।

अर्थ—जो बड़े-बड़े मुनियों को मान्य है, जो जगत् को एकमात्र पवित्र करने वाली है और जो आकाशगंगा के समान सुशोभित है ऐसी वह सुगन्धित जल की धारा हम सबकी रक्षा करे।

अभिषेक के पश्चात् शान्तिधारा करने की पुष्टि भी इस आर्षग्रन्थ में आई है—

कृत्वा गन्धोदकैरित्थमभिषेकं सुरोत्तमाः।
जगतां शान्तये शान्तिं, घोषयामासुरुच्चकैः।।।

अर्थ—इस प्रकार इन्द्र सुगन्धित जल से भगवान् का अभिषेक कर जगत की शान्ति के लिए उच्च स्वर से शान्ति मंत्र पढ़ने लगे।

तदनन्तर देवों ने उस गन्धोदक को पहले अपने मस्तकों पर लगाया फिर सारे शरीर में लगाया और बाकी बचे हुए को स्वर्ग ले जाने के लिए रख लिया।

ऐसा पवित्र गन्धोदक हम सबके तन-मन को पावन करे और भगवान का जन्माभिषेक देखकर हम भी उसी प्रकार का जन्म धारण करने का पुरुषार्थ करें।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-सज धज कर.....

तेरी चंदन सी रज में, इक उपवन खिलाया है।
कुण्डलपुर के महावीरा, तेरा महल बनाया है।।टेक.।।

जन्मे जहाँ खेले जहाँ, त्रिशला माँ के नन्दन।
उस कुण्डलपुर की माटी का, सचमुच कण-कण चन्दन।।
चन्दन सी उस माटी को अब सिर पर लगाया है।
कुण्डलपुर के महावीरा, तेरा महल बनाया है।।1।।

सोने का नंद्यावर्त महल, सिद्धारथजी का था।
मणियों के पलंग पर त्रिशला ने, सपनों को देखा था।।
उन सपनों को सच्चे करके, फिर से दिखाया है।
कुण्डलपुर के महावीरा, तेरा महल बनाया है।।2।।

प्राचीन इक मंदिर प्रभू का, कुण्डलपुर में है।
''चंदनामती'' महावीर विराजे, उस मंदिर में हैं।।
भावना सभी भक्तों की जो, प्रभु तक पहुँचाया है।
कुण्डलपुर के महावीरा, तेरा महल बनाया है।।3।।

(6)

दिगम्बर जैन परम्परानुसार तीर्थंकर भगवान चातुर्मास नहीं करते !

जैनशासन के वर्तमानकालीन २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर के बारे में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ समाज में व्याप्त हैं। जैसे—उनका ब्राह्मणी के गर्भ से त्रिशला के गर्भ में इन्द्र द्वारा गर्भहरण कराना, विवाह होना, दीक्षा के बाद यत्र-तत्र विचरण करते हुए चण्डकौशिक नाग द्वारा उन पर विष छोड़ा जाना एवं जनसाधारण द्वारा यातनाएँ दिया जाना,.....इत्यादि।

भ्रांतियों की इसी शृँखला में कुछ लोगों ने भगवान महावीर के ४२ चातुर्मास लिख दिए हैं, जबकि दिगम्बर जैन ग्रंथों में कहीं भी उनके चातुर्मासों का उल्लेख नहीं है इसलिए दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों एवं आगमज्ञाता विद्वानों को, लेखकों को इस विषय पर गंभीरता से चिंतन करना चाहिए।

एक दिगम्बर जैन पत्रिका में "तीर्थंकर महावीर का चातुर्मास काल" नामक एक लेख प्रकाशित हुआ जो दिगम्बर जैन आगम के प्रतिकूल था। इस लेख के अंदर लेखक ने भगवान महावीर के द्वारा ४२ चातुर्मास करना सिद्ध किया था। जैसे—

"भगवान महावीर ने बयालीस चातुर्मास इस धरा पर बिताये।

वैशाली, वाणिज्यग्राम, राजगृही, चम्पा, मिथिला, श्रावस्ती, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, परिक्षेत्र में विहार कर चालीसवाँ 'मिथिला' में बिताया, यहाँ से फिर 'राजगृही' को विहार किया। यह वह समय था जब 'अग्निभूति' एवं 'वायुभूति' गणधर संसार त्याग मोक्ष गये।

इकतालीसवाँ चातुर्मास राजगृही में बिताया। वर्षा व्यतीत होने पर भी प्रस्थान नहीं किया, यहीं 'अव्यक्त', 'अकम्पिक', 'मौर्यपुत्र', 'गणिक' गणधरों ने देह त्याग मोक्ष प्राप्त किया।"

यह एक विचारणीय विषय है कि ऐसे आगमविरुद्ध लेख क्या दिगम्बर जैन पत्र-पत्रिकाओं में छपना उचित है ? क्या पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक, संचालक आदि को आगमज्ञान से इतना अनभिज्ञ रहना उचित है ? क्या आगम विरुद्ध लेख छापने में उनकी कोई नैतिक जिम्मेदारी नहीं है ? अथवा क्या भगवान महावीर के जीवन का दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों से कोई संबंध स्वीकार्य नहीं है ?

पंडितप्रवर श्री सुमेरचंद जैन दिवाकर ने "महाश्रमण महावीर" नामक ग्रंथ में तीर्थंकरों के चातुर्मास के निषेध का उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा है कि "वर्धमान चरित्र में कहा है—

परिहारविशुद्धि-संयमेन प्रकटं द्वादश वत्सरांस्तपस्यन्।
स निनाय जगत्त्रयैक बंधुर्भगवान् ज्ञातिकुला-मलांबरेंदुः।।१२७।।(सर्ग१७)

अर्थात् परिहारविशुद्धि संयम को प्राप्त करके बारह वर्ष तक तपस्या करते हुए भगवान तीनों लोकों के बंधु ज्ञातृवंश के निर्मल आकाश के चंद्रमा सदृश सुशोभित होते थे।

इसी संयमी का वर्षाकाल में विहार—इस परिहारविशुद्धि संयम की यह विशेषता है कि वह मुनि—"सदापि प्राणिवधं परिहरति" सदा प्राणियों के वध का परिहार करता है (गो.जी.सं. टीका, पृ. ८८१)। इस संबंध में यह भी लिखा है कि परिहारविशुद्धि संयमी रात्रि को विहार छोड़कर तथा संध्या के तीन समयों को बचाता हुआ सर्वदा दो कोस प्रमाण विहार करता है। इस संयमी के लिए वर्षाकाल में विहार त्याग नहीं कहा गया है क्योंकि इस ऋद्धि के द्वारा वर्षाकाल में जीव का घात नहीं होता है इसलिए इस संयम को प्राप्त महान साधु वर्षाकाल में भी आसक्ति,मोह, ममता आदि का परित्याग कर भ्रमण करता है।

गोम्मटसार संस्कृत टीका में लिखा है—

परिहारर्द्धिसमेतो, जीवः षट्कायसंकुले विहरन्।
पयसेव पद्मपत्रं, न लिप्यते पापनिवहेन।।

परिहारविशुद्धि संयुक्त जीव—मुनि छह कायरूप जीवों के समूह में विहार करता हुआ जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह पाप से लिप्त नहीं होता। इस संयम के धारक के विषय में उपरोक्त बात लिखी है, तब यह स्पष्ट है कि परिहारविशुद्धि संयम समन्वित साधुराज वर्षाकाल में चातुर्मास में एकत्र निवास करने के बंधन से विमुक्त हैं।

ऐसी स्थिति में परिहारविशुद्धि संयम को प्राप्त करने वाली आध्यात्मिक विभूति भगवान महावीर के चातुर्मासों की कल्पना औचित्यशून्य है। कोई-कोई तो केवलज्ञान के ३० वर्ष प्रमाणकाल में भी चातुर्मासों की चर्चा करते हैं। महावीर भगवान जब परिहारविशुद्धि संयम को प्राप्त कर चुके हैं, तब उनका चातुर्मासों में एकत्र निवास मानना सर्वज्ञ कथित दिगम्बर आगम के प्रतिकूल है।"

इस प्रकार से पं. श्री सुमेरचंद्र दिवाकर ने तीर्थंकरों के मुनि अवस्था में एवं केवली अवस्था में चातुर्मास का खंडन दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों से किया है। गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी भी कहा करती हैं कि आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम पट्टशिष्य मेरे गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज भी कहा करते थे कि तीर्थंकर भगवान मुनि अवस्था में चातुर्मास नहीं करते हैं तो केवली अवस्था में चातुर्मास का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। केवल श्वेताम्बर परम्परानुसार ही तीर्थंकर महावीर स्वामी के मुनि अवस्था के १२ एवं केवली अवस्था के ३० ऐसे ४२ चातुर्मास माने हैं।

इसके अतिरिक्त भी आचार ग्रंथों में जहाँ जिनकल्पी एवं स्थविरकल्पी मुनियों का वर्णन आता है तो जिनेन्द्र भगवान के समान चर्या का पालन करने वाले मुनियों को ही जिनकल्पी की संज्ञा प्रदान की गई है। वे भी चातुर्मास में विहार कर सकते हैं। उससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि साक्षात् जिनचर्या को पालने वाले जिनेन्द्र भगवान की तुलना तो किन्हीं साधारण मुनियों से की ही नहीं जा सकती है।

पद्मपुराण में कथानक आया है कि चारणऋद्धिधारी सप्तऋषि मुनिराज चातुर्मास के मध्य मथुरा से अयोध्या में आहार करने गये तो वहाँ मंदिर में विराजमान द्युति आचार्यदेव ने भक्तिपूर्वक उनकी वंदना की.....आदि।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भगवान महावीर ने दिगम्बर जैन आगम मान्यतानुसार कहीं

पर कोई चातुर्मास सम्पन्न नहीं किया, प्रत्युत् वे उग्रोग्र तपस्या करते हुए १२ वर्ष तक मुनिमुद्रा में रहे पुनः केवलज्ञान होने पर तो उनका विहार अधर आकाश में होता था और इन्द्र उनके चरणों के नीचे स्वर्ण कमलों की रचना करते थे। भव्यात्माओं के पुण्य प्रभाव से जगह-जगह उनके समवसरण लगते थे जिनमें बैठकर भव्यप्राणी दिव्यध्वनि का पानकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होते थे।

यदि किसी दिगम्बर जैन आचार्य प्रणीत ग्रंथों में भगवान महावीर के चातुर्मासों का वर्णन प्राप्त हो तो विद्वज्जन हमें अवश्य परिचित कराएँ अन्यथा जो दिगम्बर जैन पत्र-पत्रिकाएँ भगवान महावीर के चातुर्मास प्रकाशित करते हैं उनमें संशोधन कराएँ ताकि महावीर स्वामी के जिनत्व का दिगम्बर जैन आम्नाय अनुसार परिचय जन-जन को प्राप्त हो सके।

लेख के अंदर दूसरा एक अन्य प्रकरण भी दिगम्बर जैन आम्नाय के विरुद्ध था। वहाँ स्पष्ट रूप से भगवान महावीर के चातुर्मास स्थलों के नाम आदि देकर उनको चंदना द्वारा दिये गये आहार के प्रकरण में लिखा गया कि—

"वैशाली के सभी श्रेष्ठी अपने चौके में आहार कराने के लिए लालायित थे, निराश भी रहे। जहाँ आहार हुए उसका दर्शन कर धन्य माना। 'महावीर' ने पौष कृष्णा प्रतिपदा को एक महाघोर अभिग्रह धारण किया, जिसके पूर्ण होने पर ही आहार का संकल्प किया। प्रतिज्ञा पूर्ण चार माह तक नहीं हुई, राजा, रानी, प्रजा सभी चिंतित हो गये, तभी वह पुण्य क्षण आया और 'चंदना' को आहार देने का मौका मिला। यह अभिग्रह छः माह बाद पूर्ण हुआ। 'चंदना' के मन में सिर्फ यह भाव रहा—

केवल इतना सा ध्यान उसे, ये छः महीनों के भूखे हैं।
औ, मुझ अभागिनी के समीप केवल ये कोदों रूखे हैं।।"

यह कथन भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार ही है। दिगम्बर जैन आम्नाय अनुसार महासती चंदना के जीवन चरित को उत्तरपुराण एवं महावीर चरित आदि से पढ़ें और इस पर भी अपनी धारणा दिगम्बर जैन आम्नाय अनुसार ही बनाएँ, यही मेरा मन्तव्य है।

सच तो यह ऋषभदेव प्रतिमा, जिनधर्म की कीर्ति पताका है।
पूरे भारत का गौरव प्रभु के, त्याग से आंका जाता है।।
भारत के गौरव में ही हमारा गौरव सदा समाहित है।
समझो भौतिक संसार में आज भी धर्म अहिंसा जीवित है।।1।।
स्टेच्यू ऑफ अहिंसा इसको इसीलिए तो कहा गया।
हाइएस्ट जैन ऑयडल इन वर्ल्ड के नाम से निर्मित किया गया।।
इनके पद में वन्दन कर लो तो जन्म तुम्हारा सार्थक हो।
मानवता हो जाएगी सफल हर कदम तुम्हारा सार्थक हो।।2।।

(7)

नवदेवताओं में पंचपरमेष्ठी भी देवता हैं

जैनशासन में नव देवता माने गये हैं—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और जिनचैत्यालय।

यद्यपि आगम ग्रन्थों में प्राचीनकाल से इन नव देवताओं का वर्णन था, किन्तु सन् १९७६ में जबसे पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने "नवदेवता पूजन" लिखकर भक्तों को प्रदान की है तबसे प्रत्येक मन्दिर में उस पूजा के स्वर गूँजते पाये जाते हैं। इस नवदेवता पूजा को लिखने में पूज्य माताजी का प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि एक ही पूजन के माध्यम से भक्तगण देव, शास्त्र, गुरु के साथ-साथ समस्त कृत्रिम-अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं एवं जिनालयों की भक्ति-वन्दना कर सकते हैं।

नवदेवता पूजा की शेर छन्द में निबद्ध जयमाला जहाँ भक्तों को भक्तिरस से सराबोर कर देती है वहीं पूजा के अष्टक में दोहराई जाने वाली ये दो पंक्तियाँ भी संसारी प्राणियों को परम्परा से मुक्तिपथ की राह दिखाती हैं—

यथा— **नवदेवताओं की सदा जो भक्ति से अर्चा करें।**
सब सिद्धि नवनिधि ऋद्धि मंगल पाय शिवकांता वरें।।

अर्थात् जिनेन्द्रभक्ति में निमग्न भक्तगण परम्परा से मोक्ष के अधिकारी होते हैं और उससे पूर्व उन्हें इन्द्रादि के वैभव, चक्रवर्ती का साम्राज्य आदि सांसारिक सुख भी प्राप्त हो जाते हैं।

इन्हें देवता क्यों कहा गया ?

वर्तमान में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिर्वासी और कल्पवासी इन चार निकाय में उत्पन्न जीवधारी प्राणियों को "देव" संज्ञा से सम्बोधित किया गया है किन्तु तीर्थंकर भगवन्तों एवं अर्हंत, सिद्ध आदि परमेष्ठियों को भी हमारे आचार्यों ने "देवता" कहकर परम पूज्यता का दर्जा प्रदान किया है। जैसे श्री समन्तभद्राचार्य ने तीर्थंकर धर्मनाथ भगवान् की स्तुति में कहा है—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ! परमाऽसि देवता, श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः।।

इस रथोद्धता छन्द में भगवान् को परम—उत्कृष्ट देवता बतलाते हुए कहा है कि हे नाथ! चूँकि आप मानुषी प्रकृति को—मानव स्वभाव को अतिक्रांत कर गये हैं और देवताओं में भी देवता हैं—पूज्यतम हैं अतः हे धर्मजिन! आप हमारे कल्याण के लिए प्रसन्न होवें।

अर्थात् यहाँ देवता शब्द का अर्थ स्वर्ग के देवताओं से न होकर उत्कृष्ट पूज्यता का ही प्रतीक माना गया है।

षट्खण्डागम ग्रन्थ में पाँचों परमेष्ठियों को देवता कहा है—

षट्खण्डागम ग्रन्थ भाग-१ की "धवला" टीका में पृ. ५३ पर मंगलाचरण णमोकार महामंत्र का अर्थ बताते हुए श्रीवीरसेनाचार्य ने कहा है—

"सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादिदेवताप्रणमनार्थनम्" इसका अर्थ है कि सर्व नमस्कारों में यहाँ सर्व और लोक इन दो शब्दों को अन्त्यदीपक न्याय के अनुसार अध्याहार कर लेना चाहिए, जो सम्पूर्ण क्षेत्रगत तीनों कालों में होने वाले अर्हन्तादि देवताओं के प्रणमन के सूचक हैं।

इसी प्रकार "णमो अरिहंताणं" पद की व्याख्या से पूर्व टीकाकार ने पृ. ४३ पर प्राकृत में सूचित करते हुए लिखा है—

"इदाणिं देवता-णमोक्कार-सुत्तसत्थो उच्चदे" अर्थात् "अब देवता नमस्कार सूत्र का अर्थ कहते हैं।"

पुनः आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों में भी देवपना घटित करते हुए शंका-समाधान के रूप में विषय को स्पष्ट किया है—"देवो हि ना त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवामपि देवत्वापत्तेः। तत आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात्।"

अर्थात् "अपने-अपने भेदों से अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव हैं अन्यथा यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जाय तो सम्पूर्ण जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जाएगी इसीलिए यह सिद्ध हुआ कि आचार्य आदि भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव हैं।"

इसी षट्खण्डागम में निबद्ध और अनिबद्ध मंगल का स्वरूप बतलाते हुए परमेष्ठियों को "देवता" संज्ञा से अभिहित किया है। यथा—

जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण ण णिबद्धो **देवदा-णमोक्कारो** तमणिबद्ध मंगलं। इदं पुण ..... "णमो अरिहंताणं" इच्चादि।

देवता-णमोक्कार-दंसणादो।" इसका अर्थ है कि "ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार के द्वारा जो देवतानमस्काररूप मंगल निबद्ध नहीं किया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है। ..... प्रथम सूत्र के पहले "णमो अरिहंताणं" इत्यादि रूप से देवता नमस्कार निबद्धरूप देखने में आता है।

उपर्युक्त समाधान के द्वारा श्रीवीरसेनाचार्य ने पुष्पदन्ताचार्य के द्वारा अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में संग्रहीत किये गये महामंत्र को निबद्ध मंगल में ही सम्मिलित किया है। आगे इसी प्रकरण में **देवतानमस्कार** को धर्मध्यान का ही अंग मानते हुए लिखा है—

"शुक्लध्यानान्मोक्षः न च **देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति**।" अर्थात् "मोक्ष की प्राप्ति शुक्लध्यान से होती है परन्तु **देवतानमस्कार** शुक्लध्यान नहीं है।"

इस प्रकार षट्खण्डागम ग्रन्थ में पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को "देवता" शब्द से सम्बोधित करके उन्हें परम पूज्यता की श्रेणी में लिया है जो सविकल्प धर्मध्यान की अवस्था में प्रत्येक प्राणी के लिए आराध्य, पूजनीय और वन्दनीय हैं किन्तु शुक्लध्यानी महामुनि इनका अवलम्बन भी छोड़कर मात्र स्वशुद्धात्मा में लीन होकर ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने षट्खण्डागम ग्रन्थ की प्रथम पुस्तक की "सिद्धान्तचिन्तामणि" टीका में भी यथास्थान उपर्युक्त प्रमाणों को उद्धृत किया है जो पठनीय है।

श्री गौतम गणधर एवं आचार्य श्री पूज्यपाद के शब्दों में नवदेवताओं का क्रम—

आज से लगभग ६९-७० वर्ष पूर्व भगवान् महावीर स्वामी के प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम स्वामी ने चैत्यभक्ति में नवदेवताओं का क्रम इस प्रकार दिया है—

अर्हत्सिद्धाचार्यो-पाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः।
सर्वजगद्वंद्येभ्यो, नमोऽस्तु सर्वत्रसर्वेभ्यः।।४।।
इति पंचमहापुरुषाः, प्रणुता जिनधर्मवचन चैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां, दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टां।।१०।।

अर्थात् पंचपरमेष्ठी के पश्चात् जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और चैत्यालय की वंदना करके इष्ट बोधि की प्राप्ति की प्रार्थना इसमें निहित है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने अपने द्वारा रचित अभिषेक पाठ में पूजाविधि के अन्तर्गत यही क्रम दर्शाया है। यथा—

कृत्वा सच्चंदनाद्यैर्वसुदलकमलं कर्णिकायां जिनेन्द्रान्।
प्राच्यां संस्थाप्य सिद्धानितरदिशिगुरुन् मंत्ररूपान् निधाय।।
जैनं धर्मागमार्चानिलयमपि विदिक्पत्रमध्ये लिखित्वा।।

इसका अर्थ है कि चन्दन आदि के द्वारा आठ दल का कमल बनाकर कर्णिका में श्री जिनेन्द्रदेव को स्थापित कर पूर्व दिशा में सिद्धों को, शेष तीन दिशाओं में आचार्यों, उपाध्याय और साधु को विराजमान करके पुनः विदिशा के दलों में क्रम से जिनधर्म, जिनागम, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर को लिखकर बाहर में चूर्ण से और धुले हुए उज्जवल चावल आदि से पंचवर्णी मंडल बना लेवें।

उपर्युक्त क्रम के अनुसार ही पूज्य माताजी ने नवदेवता पूजन के मंत्र बनाए हैं तथा अनेक जिनमन्दिरों में इसी क्रमानुसार निर्मित नवदेवताओं की प्रतिमाएँ विराजमान देखी जाती हैं।

प्रतिष्ठा ग्रन्थ में नवदेवता—

श्रीनेमिचन्द्र विरचित प्रतिष्ठालिक ग्रन्थ में निश्चय पूजा के अन्तर्गत "पीठयंत्राराधना" में भी नवदेवताओं की आराधना है—

अष्टाधिकाशीतिसुरावृतानां, इष्टार्थदानां नवदेवतानाम्।
आराधनां नित्यमहांगभूतां, श्रीपीठयंत्रे विधिना विधास्ये।

आगे इसी में मंत्र दिया है कि—

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय धर्मश्रुतचैत्यालयाख्यनवदेवता अत्रागच्छत २ संवौषट्.....

इनकी स्थापना के पश्चात् जलादिक अष्ट द्रव्यों से पूजा करने का संकेत है।

ध्वजारोहण की विधि में भी एक जगह आया है—

"तीर्थेशानवदेवता बहुविधाः सर्वे जयाद्याः सुराः।
योगीन्द्रा महिताः त्रिषष्टिपुरुषास्तत्त्वप्रबोधादयः।।

अर्थात् इसमें तीर्थंकर, नवदेवता आदि से निर्विघ्न सर्वसंपन्नता की प्रार्थना की गई है।

इस प्रतिष्ठातिलक ग्रन्थ में वर्णित यागमण्डल विधान में भी सभी नवदेवताओं की पूजा गर्भित है, यथा—

सद्वाः कोणकपंचमंडलवृतं संलिख्य तत्र क्रमा-
न्मंत्रांगान्नवदेवतावृतिसुरान्सर्वान्समाराधयो।।

अर्थात् अर्हन्त भगवान् जिसमें मुख्य हैं उन सोलह भेदयुक्त देवताओं की मैं सिद्धिसुख की प्राप्ति हेतु महार्घ्य के द्वारा पूजा करता हूँ। उन सोलह देवताओं के नाम इस प्रकार हैं—

पाँच परमेष्ठी, भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालसम्बन्धी तीर्थंकरों की तीन चौबीसी, अर्हंतमंगल, अर्हंतलोकोत्तम, अर्हंतशरण, सिद्धमंगल, सिद्धलोकोत्तम, सिद्धशरण, साधुमंगल, साधुलोकोत्तम, साधुशरण, धर्ममंगल, धर्मलोकोत्तम, धर्मशरण ये ४, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य, जिनचैत्यालय ये कुल मिलाकर ५ + ३ + ४ + ४ = १६ देवता होते हैं।

इस प्रकार उत्कृष्ट पूज्यता के प्रतीक देवताओं में तीर्थंकर भगवान् और अर्हंत, सिद्धों की गणना उसके अवमूल्यन का सूचक कदापि नहीं है ऐसा समझकर उनकी आराधना कर अपनी आत्मा को भी देवता की श्रेणी में लाना चाहिए। जैसा कि नवदेवता पूजन की जयमाला के अन्त में कहा भी है—

नवदेवताओं की जो नित आराधना करें। वे मृत्युराज की भी तो विराधना करें।।
मैं कर्मशत्रु जीतने के हेतु ही जजूँ। सम्पूर्ण ''ज्ञानमती'' सिद्धि हेतु ही भजूँ।।

अनेक सुन्दर भावों से गूँथी गई यह नवदेवता पूजा सभी भक्तों के लिए मंगलमयी होवे और भक्तों के मनोरथ पूर्ण कर कर्मशृँखला को काटकर सिद्धरमा के वरण में सहायक बने।

दिगम्बर मुनि और आर्यिकाएं ही करपात्र में आहार लेते हैं

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्ख मग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।10।।

अर्थ—तीर्थंकर परमदेव ने नग्न मुद्रा के धारी निर्ग्रंथ मुनि को ही पाणिपात्र में आहार लेने का उपदेश दिया है। यह एक निर्ग्रंथ मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके सिवाय सब अमार्ग हैं-मोक्ष के मार्ग नहीं है।

लिंगं इच्छीणं हवदि भुंजइ पिडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेई।।22।।

अर्थ—एक लिंग स्त्रियों का होता है, इस लिंग—आर्यिका वेष को धारण करने वाली स्त्री दिन में एक ही बार करपात्र से आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका एक वस्त्र—साड़ी धारण करती है और वस्त्रावरण सहित ही आहार ग्रहण करती है।

—भगवान कुंदकुंद देव, सूत्र पाहुड़

अध्याय-7
दिगम्बर जैन तीर्थ एवं जिनमंदिर

(1)
दिगम्बर जैन तीर्थ एवं मन्दिर-संस्कृति की धरोहर है

'तीर्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए जैनाचार्यों ने लिखा है—

"तीर्यते संसार सागरो येनासौ तीर्थः" अर्थात् जिसके द्वारा संसाररूपी महासमुद्र को तिरा जावे—पार किया जावे उसे तीर्थ कहा जाता है। उस तीर्थ के प्रथमतः दो भेद किये हैं—**भावतीर्थ** और **द्रव्यतीर्थ**। आत्मा के परमशुद्ध परिणाम को भावतीर्थ कहते हैं क्योंकि शुद्ध भावों से ही जीव परमात्मपद को प्राप्त करता है।

महापुरुषों की चरणरज से पवित्र भूमियाँ द्रव्यतीर्थ के रूप में मानी जाती हैं इनकी यात्रा को समाप्त करने की भावना भाते हैं।

तीर्थों की महिमा को बतलाने वाले जो पुण्यस्थल हैं उन्हें तीर्थ कहते हैं। उन तीर्थों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—१. **तीर्थक्षेत्र**, २. **सिद्धक्षेत्र**, ३. **अतिशयक्षेत्र**।

तीर्थंकर भगवन्तों के **गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवलज्ञान** कल्याणकों से पवित्र स्थल वास्तविक तीर्थक्षेत्र की श्रेणी में आते हैं तथा अन्य महापुरुषों के भी जन्म अथवा दीक्षा आदि से पावन भूमि को भी तीर्थ की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। जैसे—**अयोध्या, पावापुर, गिरनार, सोनागिरि, मांगीतुंगी, कुंथलगिरि** आदि।

जहाँ से तीर्थंकर भगवान अथवा कोई महामुनि आदि मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं वे स्थान सिद्धक्षेत्र कहे जाते हैं। जैसे—**सम्मेदशिखर, चम्पापुर, पावापुर, गिरनार, सोनागिरि, मांगीतुंगी, गजपंथा** इत्यादि।

जिस ग्राम, नगर या स्थान पर भूगर्भ से प्राचीन प्रतिमाएँ निकलती हैं अथवा वहाँ कोई चमत्कार उत्पन्न हो जाता है उन्हें अतिशयक्षेत्र के रूप में माना जाता है। जैसे—**श्री महावीरजी, तिजाराजी, चमत्कारजी, चांदखेड़ी** आदि।

इस प्रकार के तीर्थक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र वर्तमान में भारत की धरती पर सैकड़ों की संख्या में हैं। उनमें से **अयोध्या** और **सम्मेदशिखरजी** ये दो तीर्थ **शाश्वततीर्थ** के रूप में जैन आगम ग्रंथों में माने गये हैं क्योंकि अनादिकाल से हमेशा इस धरती पर चतुर्थकाल में होने वाले २४-२४ **तीर्थंकर** अयोध्या में ही जन्में हैं और आगे अनन्तकाल तक **अयोध्या** में ही जन्मेंगे।

इसी प्रकार से सभी तीर्थंकरों ने सम्मेदशिखर पर्वत से ही निर्वाणधाम को प्राप्त किया है और आगे भी वहीं से निर्वाण प्राप्त करेंगे।

वर्तमान युग में भी **सम्मेदशिखर** सिद्धक्षेत्र की वन्दना का महत्व जैन समाज में अत्यधिक माना जाता है।

परन्तु यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि वर्तमान युग **हुण्डावसर्पिणी** काल के नाम से जाना जाता है। यह असंख्यातों कल्पकालों के बाद एक बार आता है और इसमें कई प्रकार के अनहोने कार्य होते हैं। जैसे—१. हमेशा तो चतुर्थकाल में तीर्थंकर जन्म लेते थे किन्तु इस बार तीसरे काल में ही प्रथम तीर्थंकर भगवान **ऋषभदेव** (आदिनाथ) का जन्म हो गया और तृतीयकाल के अन्त में ही उनका निर्वाण भी हो गया। पुनः चतुर्थ काल में भगवान अजितनाथ से महावीर तक २३ तीर्थंकर हुए।

२. चौबीस तीर्थंकर में से पाँच तीर्थंकर (**ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ** और **अनंतनाथ**) भगवान ही **अयोध्या** में जन्में हैं तथा अन्य १९ तीर्थंकरों ने अन्यत्र स्थानों पर जन्म ले लिया इसलिए वर्तमान में २४ तीर्थंकरों की **१६ जन्मभूमियाँ** हैं।

३. इसी प्रकार शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र से वर्तमान चौबीसी के २० तीर्थंकर भगवान मोक्ष गये हैं, शेष ४ तीर्थंकर **कैलाशपर्वत, चम्पापुर, गिरनार** और पावापुर से मोक्ष चले गये इसलिए आज २४ भगवान की ५ निर्वाणभूमियाँ मानी जाती हैं।

४. प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के १०१ पुत्रों में से **भरत** प्रथम **चक्रवर्ती** बने, **बाहुबली प्रथम कामदेव** बने, **वृषभसेन प्रथम गणधर मुनिराज** बने, **अनंतवीर्य मोक्षगामी** हुए, **ब्राह्मी–सुन्दरी कन्याएँ प्रथम आर्यिका** बनीं।

किन्तु बाहुबली के द्वारा चक्रवर्ती भरत का पराभव—अपमान हुआ, यह हुण्डावसार्पिणी काल का दोष समझना चाहिए।

इसी प्रकार के कुछ दोष इस युग में उत्पन्न हो गये हैं, फिर भी अनेकानेक धर्मतीर्थों एवं धर्मगुरुओं के कारण जिनधर्म की प्रभावना आज भी निर्बाध रूप से हो रही है और आगे पंचमकाल के अन्त तक होती रहेगी।

तीन प्रकार के भेदों में विभक्त तीर्थ वर्तमान में लगभग ३५० की संख्या में पाये जा रहे हैं। इन्दौर से प्रकाशित "तीर्थक्षेत्र निर्देशिका" पुस्तक में लगभग इन सभी तीर्थों के पते और फोन नं. उपलब्ध हो जाते हैं अतः तीर्थयात्रियों को काफी सुविधा हो जाती है।

जिनमंदिर और मूर्ति निर्माण का इतिहास

दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों के अनुसार **जिनमंदिर** और मूर्तियों के निर्माण की परम्परा **अनादिकाल** से चली आ रही है क्योंकि जब–जब **तीर्थंकर** भगवन्तों के जन्म होने से पूर्व स्वर्ग से इन्द्र धरती पर आते थे तब वे अयोध्या नगरी में सर्वप्रथम चारों दिशाओं में और नगर के मध्यभाग में इस प्रकार पाँच जिनालयों की स्थापना करके ही महल की रचना करते थे एवं उसमें होने वाले **तीर्थंकर** के माता–पिता का मंगल प्रवेश कराते थे तथा समय–समय पर आकर **तीर्थंकर** के **कल्याणक** मनाना, **रत्नवृष्टि** करना आदि अपने कर्तव्य की पूर्ति करते थे।

श्रीजिनसेनाचार्य रचित **महापुराण** के अन्तर्गत **आदिपुराण** में भी वर्णन आया है—

इन्द्र ने **अयोध्या** का निर्माण करते समय नगर की चारों दिशाओं में और नगर के मध्य में पाँच देवालयों या जिनायतनों की रचना करके जिनायतनों का निर्माण करने और उसमें मूर्ति स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक बार जब सम्राट **भरत कैलाशगिरि** पर **भगवान ऋषभदेव** के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति से ओतप्रोत था। उन्होंने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथों, गोपुरों, राजप्रासाद के द्वारों और ड्यौढ़ियों में लटकवाये।

किन्तु इतने से सम्राट भरत के मन को सन्तुष्टि नहीं हुई। इससे भगवान की पूजा का उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता था। तब उन्होंने इन्द्र द्वारा बनाये गये जिनायतनों से प्रेरणा प्राप्त करके **कैलाशगिरि** पर ७२ जिनायतनों का निर्माण कराया और उनमें अनर्घ्य रत्नों की प्रतिमायें विराजमान कराईं अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असंगत न होगा कि नागरिक सभ्यता के विकास काल की उषा बेला में ही मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पौराणिक जैन साहित्य में मन्दिरों और मूर्तियों के उल्लेख विभिन्न स्थलों पर प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। **सगर चक्रवर्ती** के साठ हजार पुत्रों ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरों की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारों ओर परिखा खोदकर **भागीरथी** के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लंकाधिपति रावण इन मन्दिरों के दर्शनों के लिए कई बार आया था। लंका में एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमें **रावण** पूजन किया करता था और लंका विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।

पं. श्री बलभद्र जी ने "जैनधर्म का प्राचीन इतिहास" (भाग १) में उल्लेख किया है कि—

साहित्य में ईसा पूर्व ६०० से पहले के मन्दिरों के उल्लेख मिलते हैं। भगवान **पार्श्वनाथ** के काल में किसी कुवेरा देवी ने एक मन्दिर बनवाया था, जो बाद में देवनिर्मित बौद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवें तीर्थंकर **सुपार्श्वनाथ** के काल में सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकालकर ले जाने लगे, तब कुवेरा देवी ने इसे प्रस्तर खण्डों और ईंटों से समन्वित दिया। (विविध तीर्थ कल्प–मथुरापुरी कल्प)। स्थापना की इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख कंकाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान **मुनिसुव्रत** की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण चौकी पर अंकित मिलता है।

भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहा–मन्दिर (लयण) बनवाये और उनमें पार्श्वनाथ की पाषाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान हैं। 'करकण्डु चरिउ' आदि ग्रंथों के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ–प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती थे।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) में नाला खोदते समय जो तीर्थंकर प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इस प्रतिमा

का सिर नहीं है। कुहनियों और घुटनों से भी खण्डित है किन्तु कन्धों और बाहों की मुद्रा से यह खड्गासन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से इसे मौर्यकाल (३२०–१८५ ई. पू.) की माना गया है। हड़प्पा में जो खण्डित जिनप्रतिमा मिली है उससे लोहानीपुर की इस जिनप्रतिमा में एक अद्‌भुत सादृश्य परिलक्षित होता है और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कहीं अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनों ने किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया।

एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध में उदयगिरि की हाथीगुफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिंग नरेश खारवेल मगध नरेश वहसतिमित्र को परास्त करके छत्र–भृंगारादि के साथ कलिंग जिन ऋषभदेव की मूर्ति वापिस कलिंग लाये थे जिसे नन्द सम्राट कलिंग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट् खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत्प्रासाद बनवाकर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य काल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिंगजिन' कहा जाता था।

मन्दिरों का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार जैन मन्दिरों का निर्माणकाल जैन प्रतिमाओं के निर्माणकाल से प्राचीन प्रतीत नहीं होता। **लोहानीपुर, श्रावस्ती, मथुरा** आदि में जैन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं किन्तु अब तक सम्पूर्ण मन्दिरों का विवरण कहीं पर भी मिला इसलिये प्राचीन जैन मन्दिरों का रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

किन्तु गुहा मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवीं–आठवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। तेरापुर के लयण, उदयगिरि–खण्डगिरि के गुहामन्दिर, **अजन्ता–एलोरा** और बादामी की गुफाओं में उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ इस बात के प्रमाण हैं कि गुफाओं को मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुहामन्दिरों का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप मात्र इतना ही था कि कहीं–कहीं गुफाओं में भित्ति चित्रों का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण भित्ति चित्र सित्तन्नवासन आदि गुफाओं में अब भी मिलते हैं।

गुहा मन्दिरों का सामान्य मन्दिरों की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा इसीलिये हम देखते हैं कि ईसा पूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नहीं है, जबकि गुहा मन्दिर अब भी मिलते हैं।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल में इन्द्र ने अयोध्या में पाँच मन्दिरों का निर्माण किया, भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये। **शत्रुघ्न** ने **मथुरा** में अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोकों की रचना में **कृत्रिम** और **अकृत्रिम** चैत्यालयों का पूजा–विधान जैन परम्परा में अब तक सुरक्षित है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में जिन चैत्यालयों की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्व को ज्ञात जैन मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप–विधान कैसा था, इसमें अवश्य मतभेद दृष्टिगोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ में मन्दिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पाश्चात्यकाल में विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्कों पर मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप माना

है। ई. पू. द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा जिनालयों में दो विशेषताएँ दिखाई देती हैं—प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध में प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि मन्दिर के चारों ओर वृक्षों की वेष्टनी बनाई जाती थी। इसे ही वेदिका कहा जाता था। बाद में यह वेष्टनी प्रस्तरनिर्मित होने लगी।

मौर्य और शुंग काल में जैन मन्दिरों का निर्माण अच्छी संख्या में होने लगा था। उस समय ऊँचे स्थान पर स्तम्भों के ऊपर छत बनाकर मन्दिर बनाये जाते थे। छत गोलाकार होती थी, पश्चात् अण्डाकार बनने लगी। शक–सातवाहन–काल (ई. पू. १०० से २०० ई.) में मन्दिरों का निर्माण और अधिक संख्या में होने लगा। इस काल में जैन मन्दिरों, उनके स्तम्भों और ध्वजाओं पर तीर्थंकर की मूर्ति बनाई जाने लगी। इस काल में प्रदक्षिणा पथ भी बनने लगे जो प्रायः काष्ठ की वेष्टनी से बनाये जाते थे। कुषाण काल में ये पाषाण के बनने लगे।

कुषाण काल में जैनमन्दिर और भी अधिक बनने लगे। इस काल में मथुरा, अहिच्छत्र, कौशाम्बी, कम्पिला और हस्तिनापुर प्रमुख जैन केन्द्र थे।

गुप्तकाल (ई. चौथी से छठी शताब्दी) में मन्दिरों का निर्माण प्रचुरता से होने लगा। सौन्दर्य और मन्दिरों के अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल में स्तम्भों को पत्रावली और मांगलिक चिन्हों से अलंकृत किया जाने लगा। तोरण और सिरदल के ऊपर तीर्थंकर मूर्ति बनाई जाने लगी। गर्भगृह के ऊपर शिखर बनने लगा। बाहर स्तम्भों पर आधारित मण्डप की रचना होने लगी। बाह्य भित्तियों पर मूर्तियों का अंकन होने लगा।

ईस्वी सन् ६०० के बाद उत्तर भारत में 'नागर शैली' और दक्षिण भारत में 'द्रविड़ शैली' का विशेष रूप से विकास हुआ। शिखर के अलंकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

इस प्रकार विभिन्न कालों में मन्दिरों के रूप और कला में विभिन्न परिवर्तन होते रहे। कला एकरूप होकर कभी स्थिर नहीं रही। समय के प्रभाव से वह अपने आपको मुक्त भी नहीं कर सकी। एक समय था, जब तीर्थंकर प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य युक्त बनाई जाती थी किन्तु आज तो तीर्थंकरों के साथ अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन ही समाप्त सा हो गया है, जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है।

यह प्रकरण इसलिये दिया गया है, जिससे विभिन्न शैलियों के प्राचीन मन्दिरों के काल–निर्णय करने में पाठकों को मार्गदर्शक तत्त्वों की जानकारी हो सके।

तीर्थंकर चौबीस हैं। प्रत्येक तीर्थंकर का एक चिन्ह है, जिसे लांछन कहा जाता है। तीर्थंकर मूर्तियाँ प्रायः समान होती हैं। केवल ऋषभदेव की कुछ मूर्तियों के सिर पर जटायें पाई जाती हैं तथा पार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर सर्प का फण होता है। सुपार्श्वनाथ की कुछ मूर्तियों के सिर के ऊपर भी सर्प के फण मिलते हैं। पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ के सर्प फणों में साधारण सा अन्तर मिलता है। सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर पाँच फण होते हैं और पार्श्वनाथ की मूर्तियों के सिर के ऊपर सात, नौ, ग्यारह अथवा सहस्र सर्प फण पाये जाते हैं। इन तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष तीर्थंकरों की मूर्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। उनकी पहचान चरण चौकी पर अंकित उनके चिन्हों से ही होती है। चिन्ह न हो तो दर्शक को पहचानने में बड़ा भ्रम हो जाता है। कभी–कभी तो लांछनरहित मूर्ति को साधारण जन चतुर्थकाल की मान बैठते हैं, जबकि वस्तुतः श्रीवत्स लांछन और अष्ट **प्रातिहार्य** से रहित मूर्ति सिद्धों की कही जाती है इसलिये मूर्ति के द्वारा तीर्थंकर की पहचान करने का एकमात्र साधन तीर्थंकर प्रतिमा

की चरण चौकी पर अंकित उसका चिन्ह ही है इसलिये तीर्थंकर मूर्ति विज्ञान में चिन्ह या लांछन का अपना विशेष महत्व है।

इन चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह निम्न प्रकार हैं–

ऋषभदेव का वृषभ, अजितनाथ का हाथी, संभवनाथ का अश्व (घोड़ा), अभिनन्दननाथ का बन्दर, सुमतिनाथ का चक्रवाक (चकवा) पक्षी, पद्मप्रभु का कमल, सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक, चन्द्रप्रभ का अर्धचन्द्र, पुष्पदन्त का मगर, शीतलनाथ का श्रीवृक्ष, श्रेयांसनाथ का गेंडा, वासुपूज्य का महिष (भैंसा), विमलनाथ का शूकर, अनन्तनाथ का सेही, धर्मनाथ का वज्रदण्ड, शान्तिनाथ का हिरण, कुंथुनाथ का बकरा, अरनाथ का मछली, मल्लिनाथ का कलश, मुनिसुव्रतनाथ का कछुआ, नमिनाथ का नीलकमल, नेमिनाथ का शंख, पार्श्वनाथ का सर्प और महावीर का सिंह लांछन था।

यहाँ पर यह थोड़ा सा प्राचीन परिचय जिनमंदिर और मूर्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में प्रदान किया गया है। वर्तमान में भी पूरे देश के अन्दर अतिशय सुन्दर शिल्पकलायुक्त मंदिरों के निर्माण हो रहे हैं और जिनमूर्तियों का शिल्प भी अब पूर्व काल की अपेक्षा काफी अच्छे रूप में निखर कर आया है।

मूर्ति निर्माण के संदर्भ में जयपुर की मूलचन्द रामचन्द्र नाठा फर्म भी अति प्रसिद्ध हुई है। इनके द्वारा बड़ी–बड़ी प्रतिमाएँ निर्मित करवाकर अनेक स्थान पर विराजमान की गई हैं। उनमें से हस्तिनापुर के जम्बूद्वीप तीर्थ परिसर में सूरजनारायण नाठा की देखरेख में एक इंच की अष्ट धातु प्रतिमा से लेकर (तेरहद्वीप एवं तीनलोक रचना में विराजमान) ३१–३१ फुट उत्तुंग (भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरनाथ की) खड्गासन प्रतिमाएँ विशेष दर्शनीय हैं।

मंदिर एवं मूर्तियों की संख्या—अकृत्रिम जिनमंदिरों की गणना जो तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में कही है वह तीनों लोकों की अपेक्षा आठ करोड़ छप्पन लाख सत्तानवे हजार चार सौ इक्यासी (८,५७,९७,४८१) है तथा उन सबमें १०८–१०८ प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं अतः सब मिलाकर कुल नौ सौ पच्चीस करोड़, त्रेपन लाख, सत्ताईस हजार नौ सौ अड़तालिस (९२५ ५३, २७, ९४८) प्रतिमाओं की संख्या मानी है। इसके अलावा **भावन–व्यंतर** और **ज्योतिर्वासी** देवों के भवनों की अपेक्षा असंख्यातों **जिनमंदिर** तथा असंख्यातों **जिनप्रतिमाएँ** जानना चाहिए।

वर्तमान में हम सभी को इन **अकृत्रिम** मंदिरों के दर्शन उपलब्ध नहीं हैं किन्तु **कृत्रिम** मंदिर बनाने की परम्परा भी जो प्राचीनकाल से धरती पर चली आ रही है उन्हीं के विषय में यहाँ आप सभी को जानना है। भारतदेश की सीमा जो आज उपलब्ध हो रही है उसमें विभिन्न प्रदेशों के अन्दर दिगम्बर जैन तीर्थों की संख्या लगभग ३०० है और दिगम्बर जैन मंदिर लगभग १५००० की संख्या में हैं।

पदमपुराण (जैनरामायण) में श्री **रविषेणाचार्य** ने ३२ वें पर्व में कहा है—

भवनं यस्तु जैनेन्द्रं, निर्मापयति मानवः।
तस्य भोगोत्सवः शक्यः केन वक्तुं सुचेतसः।।१७२।।

प्रतिमां यो जिनेन्द्राणां, कारयत्यचिरादसौ।
सुरासुरोत्तमसुखं, प्राप्य याति परं पद्म।।१७३।।

व्रतज्ञान तपोदानैर्यान्युपात्तानि देहिनः।
सर्वैस्त्रिष्वपिकालेषु, पुण्यानि भुवनत्रये।।१७४।।

एकस्मादपि जैनेन्द्र बिम्बान् भावेन कारितान्।
यत्पुण्यं जायते तस्य न संमान्त्यतिमात्रतः।।१७५।।

अर्थ—जो मनुष्य जिनमंदिर बनवाता है उस शुद्ध चित्त वाले मनुष्य के भोगोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है अर्थात् उसको संसार के इतने भोगोपभोग के साधन प्राप्त होते हैं जिनका वर्णन करना भी अशक्य है।।१७२।।

जो मनुष्य **जिनेन्द्र भगवान** की प्रतिमा बनवाता है वह शीघ्र सुर तथा असुरों के उत्तम सुख प्राप्त कर परमपद को प्राप्त होता है अर्थात् वह कुछ भवों में ही मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।।१७३।।

तीनों कालों और तीनों लोकों में **व्रत-ज्ञान-तप** और **दान** के द्वारा मनुष्य के जो पुण्यकर्म संचित होते हैं वे भावपूर्वक एक जिनेन्द्र प्रतिमा बनवाने से उत्पन्न हुए पुण्य की बराबरी नहीं कर सकते हैं।।१७४-१७५।।

इसी प्रकार से **आचार्य श्रीवसुनंदि स्वामी** (बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं) ने अपने **श्रावकाचार** ग्रंथ में कहा है—

कुत्थुंभरिदलमत्तं जिनणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयरणुण्णं।।४८१।।
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वणिणउं सयलं।।४८२।।(१)

जो मनुष्य कुंथुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा की स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्रभवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है।।४८१-४८२।।

अतएव आप सभी उपलब्ध तीर्थ एवं मंदिरों के दर्शन करके असीम पुण्य का संचय करें तथा मंदिर-मूर्तियों के निर्माण में उनके जीर्णोद्धार विकास में अपने तन, मन, धन का सदुपयोग करें एवं जैन संस्कृति की सुरक्षा में अपना योगदान देकर कर्तव्य का पालन करें।

(2)

वर्तमान अयोध्या

वीर निर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद मगध नरेश नंदिवर्धन ने अयोध्या में मणिपर्वत नामक उत्तुंग जैन स्तूप बनवाया था, जो आज मणि पर्वत टीला के नाम से प्रसिद्ध है। मौर्य सम्राट संप्रति और वीर विक्रमादित्य ने इस क्षेत्र के पुराने जिनमंदिरों का जीर्णोद्धार एवं नवीन मंदिरों का निर्माण कराया था। गुजरात नरेश कुमारपाल चौलुक्य (सोलंकी) ने भी यहाँ जिनमंदिर बनवाये थे।

यह टोंक ला. केसरी सिंह के समय से पूर्व ही विद्यमान थी और उन्होंने २४ ई. में इसका जीर्णोद्धार कराया था, पुनः १८९९ ई. में लखनऊ के पंचों ने तथा १९५६ ई. में ला. जम्बू प्रसाद जैन, गोटे वाले-लखनऊ ने जीर्णोद्धार कराया था। यह टोंक स्वर्गद्वार मोहल्ले में स्थित है।

कटरा मुहल्ले में स्थित प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर है, शिखरयुक्त इस मंदिर में चार वेदियाँ हैं, यहाँ पर एक प्रतिमा वि. सं. १२२४ की हैं। चौथी वेदी में भगवान ऋषभदेव की ९ फुट उत्तुंग प्रतिमा व आजू-बाजू में भरत-बाहुबली की प्रतिमा आचार्यश्री देशभूषण महाराज की प्रेरणा से सन् १९५२ में विराजमान की गई हैं। मंदिर के आंगन में भगवान सुमतिनाथ की टोंक है, जिसमें भगवान सुमतिनाथ के चरण विराजमान हैं। कटरा मोहल्ले में ही एक टोंक है, जिसमें अयोध्या में ही जन्में श्री भरत चक्रवर्ती और कामदेव बाहुबली के चरण विराजमान हैं तथा कटरा मंदिर के पास ही पाण्डुक शिला परिसर में भगवान शांति, कुंथु व अरहनाथ भगवान के चरण विराजमान हैं। कटरा मोहल्ले में ही भगवान अभिनंदननाथ के जन्मस्थान के प्रतीकरूप में टोंक है जो शिखरबंद है, इसमें भी भगवान के चरण स्थापित हैं। इसका जीर्णोद्धार भी सन् १७२४ व सन् १८९९ में हुआ है। बकसरिया टोले में जिसे बेगमपुरा भी कहते हैं, भगवान अजितनाथ की टोंक है। जन्मस्थान के प्रतीक रूप में इसमें भगवान अजितनाथ के चरण चिन्ह विराजमान हैं, यह शिखरबंद टोंक है। सरयू नदी के पास राजघाट पर भगवान अनंतनाथ के चरण चिन्ह सहित मंदिर है। इसका जीर्णोद्धार १७२४ ई. में व १८९९ ई. में कराया गया है। इस टोंक से लगे हुए टीले की पुरातत्व विभाग ने खुदाई कराई थी और अब से लगभग १०० वर्ष पूर्व जनरल कनिंघम ने उस टीले का वर्णन "जैन टीला" नाम से किया था। कुछ वर्ष पूर्व सरयू नदी की बाढ़ से इस टोंक को क्षति पहुँचने पर तीर्थक्षेत्र कमेटी ने जीर्णोद्धार कराया था। मुहल्ला रायगंज में रियासती बाग के मध्य में एक भव्य जिनमंदिर का निर्माण हुआ है। इसमें मूलनायक के रूप में ३१ फुट ऊँची विशाल एवं मनोज्ञ भगवान ऋषभदेव की खड्गासन प्रतिमा विराजमान हैं। सन् १९६५ में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज की प्रेरणा से और दिल्ली आदि स्थानों के अनेक श्रद्धालु उत्साही श्रावकों के सहयोग से यह भव्य जिनमंदिर बना है, आजू-बाजू में अन्य और छह प्रतिमाएँ विराजमान हैं। ऊपर भी दो वेदियाँ हैं।

धनतेरस कार्तिक कृ. त्रयोदशी, सन् १९९२ के दिन ब्राह्ममुहूर्त में हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर विराजमान जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के मन में अयोध्या में विराजमान ३१ फुट उत्तुंग विशाल जिनप्रतिमा के महामस्तकाभिषेक कराने की अन्तर्प्रेरणा जागृत हुई, फलस्वरूप ११ फरवरी १९९३ को हस्तिनापुर से विहार कर १६ जून १९९३ को अयोध्या में मंगल पदार्पण किया, उनके अवध

विहार से सम्पूर्ण अवधवासियों में खुशी की लहर दौड़ गई और अवधवासी अपनी ब्राह्मी सदृश माता को पाकर कृतकृत्य हो उठे। उस समय माताजी ने भगवान की विशाल प्रतिमा के प्रथम दर्शन किए और मात्र कुछ ही दिन के प्रवास में अयोध्या तीर्थ की जीर्ण-शीर्ण अवस्था देख उनका अन्तर्हृदय रो पड़ा और उन्होंने उसी क्षण वहाँ के पदाधिकारियों की विनती स्वीकार कर अपनी जन्मभूमि के उत्साह व स्नेह को ठुकराकर अयोध्या के विकास हेतु अपना चातुर्मास स्थापित करने की स्वीकृति प्रदान कर दी, फिर तो राम जन्मभूमि के नाम से विख्यात अयोध्या देखते ही देखते ऋषभ जन्मभूमि के नाम से विश्व के मानसपटल पर अंकित हो गई। २४ फरवरी १९९४ को उत्तरप्रदेश में प्रथम बार भगवान ऋषभदेव का महामस्तकाभिषेक हुआ, साथ ही प्रथम भेंट के रूप में पूज्य माताजी ने मंदिर के आजू-बाजू तीन चौबीसी मंदिर एवं समवसरण मंदिर का निर्माण कराया। इन नूतन जिनमंदिरों में तीन चौबीसी मंदिर में तीन मंजिल वाला एक ७२ दल का विस्तृत कमल है। उन दलों पर तीन चौबीसी के कुल बहत्तर तीर्थंकर भगवान की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। बायीं तरफ समवसरण में भगवान ऋषभदेव के समवसरण में गंधकुटी में ४ प्रतिमाएँ हैं और मानस्तंभ, चैत्य प्रासादभूमि, उपवनभूमि, कल्पतरु भूमि, भवनभूमि आदि में १५२ जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। श्रीमण्डप भूमि में गणधर देव, मुनिगण व आर्यिकाओं की प्रतिमाएँ भी हैं। सुन्दर बाग-बगीचे से समन्वित इस रायगंज मंदिर परिसर में प्राचीन धर्मशाला के अतिरिक्त तीन नूतन धर्मशालाएँ (डीलक्स फ्लैट युक्त), आचार्य शांतिसागर निलय, आचार्य देशभूषण निलय एवं गणिनी ज्ञानमती निलय हैं तथा सुंदर भोजनशाला भी चल रही है। पूज्य माताजी की प्रेरणा से यहाँ होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में पधारने वाले तत्कालीन मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव ने अयोध्या में भगवान ऋषभदेव नेत्र चिकित्सालय की स्थापना की तथा फैजाबाद स्थित "डा. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय" में 'ऋषभदेव जैन शोधपीठ' की भी स्थापना हुई। माताजी की ही प्रेरणा से अयोध्या के राजघाट पर स्थित राजकीय उद्यान "ऋषभदेव उद्यान" के नाम से घोषित हुआ, जहाँ २१ फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान की गई तथा टोकों का जीर्णोद्धार कर वहाँ अनेक शिलालेख लगाए गए, जो अयोध्या के इतिहास की गौरव गाथा गा रहे हैं। सरयू तट पर स्थित भगवान अनंतनाथ टोंक परिसर में २४ तीर्थंकरों के परिचय व चरण चिन्ह तथा ब्राह्मी-सुन्दरी माता के चरण विराजमान किए गए हैं।

सन् १९९४ में माताजी की प्रेरणा प्राप्त कर वहाँ के पदाधिकारियों ने प्रत्येक ५ वर्ष के अनन्तर भगवान का महामस्तकाभिषेक महोत्सव आयोजित करने की घोषणा की थी, मगर शायद उस धरा को पुनः उन्हीं ब्राह्मी माता का इंतजार था, इसलिए सन् २००५ में टिकैतनगर में नवनिर्मित जिनमंदिर के पंचकल्याणक हेतु अवध की ओर विहार करते हुए पूज्य माताजी के श्रीचरण एक बार पुनः अयोध्या की धरा पर पड़े और उनके संघ सानिध्य में ११ वर्षों बाद उन आदीश्वर बाबा का महामस्तकाभिषेक अप्रैल २००५ में धूमधाम से सम्पूर्ण विश्व में अयोध्या की कीर्तिपताका को फहराता हुआ सम्पन्न हुआ।

एक बार पुनः अयोध्या में स्वर्णिम अवसर आया, जब पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का संकल्प साकार होकर भगवान ऋषभदेव की जन्मभूमि टोंक पर भव्य जिनमंदिर बनकर पूर्ण हुआ है, उसका पंचकल्याणक महोत्सव फरवरी २०११ में सम्पन्न हुआ है।

पुनः सन् २०१३ में भगवान अनंतनाथ की टोंक पर विशाल जिनमंदिर का निर्माण होकर पद्मासन

लालवर्णी ग्रेनाइट की भव्य प्रतिमा प्रतिष्ठापित हो चुकी है, विकास के उसी क्रम में भगवान भरत–बाहुबली की टोंक पर सुन्दर जिनमंदिर का निर्माण होकर भगवान भरत एवं बाहुबली की श्वेतवर्णी खड्गासन प्रतिमा विराजमान हो चुकी है। भगवान अभिनंदननाथ एवं अजितनाथ की टोंक का भी उद्धार होकर वहाँ अत्यन्त मनोज्ञ श्वेतवर्णी पद्मासन जिनप्रतिमाएँ नवनिर्मित जिनमंदिर में विराजित हो चुकी हैं एवं भगवान सुमतिनाथ जन्मस्थली का निर्माणकार्य द्रुतगति पर है।

इस प्रकार वर्तमान में अयोध्या का स्वरूप ही परिवर्तित हो चुका है जिसका सम्पूर्ण श्रेय इस युग की प्रथम बालसती साक्षात् सरस्वती स्वरूपा परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी को जाता है जिनकी महान अनुकम्पा उस तीर्थ पर हुई और वर्तमान चौबीसी में से अयोध्या नगरी में जन्में पांचों तीर्थंकरों की टोंकों का जीर्णोद्धार–विकास होकर वहाँ भव्य जिनमंदिर निर्मित हो चुके हैं जिसमें अत्यन्त मनोज्ञ दिगम्बर जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं जो सम्पूर्ण विश्व को जैनधर्म की प्राचीनता, उनके अहिंसामयी सिद्धान्तों एवं उनकी त्याग–तपस्या का दिग्दर्शन करवा रही हैं।

इस अयोध्या तीर्थ में अन्य इतिहास ग्रंथों के अनुसार सन् १३३० में अनेक मंदिर थे। महाराजा नाभिराज का मंदिर, पार्श्वनाथ बाड़ी, गोमुख यक्ष, चक्रेश्वरी यक्षी की रत्नमयी प्रतिमा, सीताकुंड, सहस्त्रधारा, स्वर्गद्वार आदि अनेक जैनायतन विराजमान थे। यहाँ एक श्वेताम्बर जैन मंदिर भी है तथा वैष्णव सम्प्रदाय के हजारों मंदिर हैं, जिनमें हनुमानगढ़ी, सीता रसोई, दशरथ महल, कनक भवन आदि अनेक दर्शनीय स्थल हैं।

ऐसी पावन शाश्वत जन्मभूमि का कण-कण परम पूज्यनीय व वंदनीय है, जिसका दर्शन-वंदन अनेक पाप कर्मों का नाश कर सातिशय पुण्य प्राप्ति में सहायक है। ऐसे पवित्र तीर्थ के लिए मेरा शत-शत नमन है।

भजन

तर्ज –बहुत प्यार..... **-आर्यिका चन्दनामती**

ऋषभदेव प्रभु को है, मेरा नमन।
चरण में समर्पित-2, हैं भक्ती सुमन।।ऋषभेदव.।।टेक.।।

मरुदेवी माता के घर, रत्न खूब बरसे।
अयोध्यापुरी में पिता, नाभिराय हरषे।।
चैत्र वदी नवमी को-2, हुआ प्रभु जनम।।ऋषभेदव.।।1।।

इस युग के आदिब्रह्मा, ऋषभदेव स्वामी हैं।
पुरुदेव तीर्थंकर की, पदवी से नामी हैं।।
अवध की प्रजा व धरती-2, हुई धन्य धन।।ऋषभेदव.।।2।।

राजसुख को भोग उसको, त्याग दिया क्षण में।
बनकर के जिनवर राजे, समवसरण में।।
"चंदनामती" वे अपने, आप में मगन।।ऋषभेदव.।।3।।

(3)

भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञान भूमि

अहिच्छत्र तीर्थ

स्थिति — अहिच्छत्र उत्तरप्रदेश के बरेली जिले की आँवला तहसील में स्थित है। दिल्ली से अलीगढ़ १२६ किमी. तथा अलीगढ़ से बरेली लाइन पर (चन्दौसी से आगे) आँवला स्टेशन १३५ किमी. है। आँवला स्टेशन से अहिच्छत्र क्षेत्र सड़क द्वारा १८ किमी. है। आँवला से अहिच्छत्र तक पक्की सड़क है। स्टेशन पर ताँगे मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इसी रेलवे लाइन पर रेवती बहेड़ाखेड़ा स्टेशन से ५ किमी. पूर्व दिशा में पड़ता है किन्तु आँवला स्टेशन पर उतरना अधिक सुविधाजनक है। इसका पोस्ट ऑफिस रामनगर है।

कल्याणक क्षेत्र — अहिच्छत्र आजकल रामनगर गाँव का एक भाग है। इसको प्राचीन काल में संख्यावती नगरी कहा जाता था। एक बार भगवान पार्श्वनाथ मुनि अवस्था में विहार करते हुए संख्यावती नगरी के बाहर उद्यान में पधारे और वहाँ प्रतिमायोग धारण करके ध्यानलीन हो गये। संयोगवश संवर नामक एक देव विमान द्वारा आकाश मार्ग से जा रहा था। ज्यों ही विमान पार्श्वनाथ के ऊपर से गुजरा कि वह वहीं रुक गया। उग्र तपस्वी ऋद्धिधारी मुनि को कोई सचेतन या अचेतन वस्तु लाँघकर नहीं जा सकती। संवरदेव ने इसका कारण जानने के लिए नीचे की ओर देखा। पार्श्वनाथ को देखते ही जन्म-जन्मान्तरों के वैर के कारण वह क्रोध से भर गया। विवेकशून्य हो वह अपने पिछले जीवन में पार्श्वनाथ के हाथों हुए अपमान का प्रतिशोध लेने को आतुर हो उठा और अनेक प्रकार के भयानक उपद्रव कर उन्हें त्रास देने का प्रयत्न करने लगा किन्तु स्वात्मलीन पार्श्वनाथ पर इन उपद्रवों का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। न वे ध्यान से चल-विचल हुए और न उनके मन में आततायी के प्रति दुर्भाव ही आया। तभी नागकुमार देवों के इन्द्र धरणेन्द्र और उसकी इन्द्राणी पद्मावती के आसन कम्पित हुए। वे पूर्व जन्म में नाग-नागिन थे। संवरदेव तापसी था। पार्श्वनाथ उस समय राजकुमार थे। जब पार्श्वनाथ सोलह वर्ष के किशोर थे तब गंगा-तट पर सेना के साथ हाथी पर चढ़कर वे भ्रमण के लिए निकले। उन्होंने एक तपस्वी को देखा, जो पंचाग्नि तप कर रहा था। कुमार पार्श्वनाथ अपने अवधिज्ञान के नेत्र से उसके इस विडम्बनापूर्ण तप को देख रहे थे। इस तपस्वी का नाम महीपाल था और यह पार्श्वनाथ का नाना था। पार्श्वनाथ ने उसे नमस्कार नहीं किया। इससे तपस्वी मन में बहुत क्षुब्ध था। उसने लकड़ी काटने के लिए अपना फरसा उठाया ही था कि भगवान पार्श्वनाथ ने मना किया 'इसे मत काटो, इसमें जीव हैं।' किन्तु उनके मना करने पर भी उसने लकड़ी काट डाली। इससे लकड़ी के भीतर रहने वाले सर्प और सर्पिणी के दो टुकड़े हो गये। परम करुणाशील पार्श्व प्रभु ने असह्य वेदना में छटपटाते हुए उन सर्प-सर्पिणी को संबोधन करके महामंत्र सुनाया जिससे वे अत्यन्त शांत भाव के साथ मरे और नागकुमार देवों के इन्द्र और इन्द्राणी के रूप में धरणेन्द्र और पद्मावती हुए।

महीपाल अपनी सार्वजनिक अप्रतिष्ठा की ग्लानि में अत्यन्त कुत्सित भावों के साथ मरा और ज्योतिष्क जाति का देव बना। उसका नाम अब संवर था। उसी देव ने अब मुनि पार्श्वनाथ से अपने पूर्व वैर का बदला लिया।

धरणेन्द्र और पद्मावती ने आकर प्रभु के चरणों में नमस्कार किया और भगवान का उपसर्ग दूरकर अपनी भक्ति का परिचय प्रदान किया। पार्श्वनाथ तो इन उपद्रवों, रक्षाप्रयत्नों और क्षमा प्रसंगों से निर्लिप्त रहकर आत्मध्यान में लीन थे। उन्हें तभी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वह चैत्र कृष्णा चतुर्थी का दिन था। इन्द्रों और देवों ने आकर समवसरण में भगवान के ज्ञानकल्याणक की पूजा की। उस समय संवरदेव ने भी प्रभु के चरणों में जाकर अपने पापों का प्रायश्चित किया। भगवान पार्श्वनाथ का वहाँ पर प्रथम जगत्कल्याणकारी उपदेश हुआ।

उक्त घटना का चित्रण आचार्य समंतभद्र (३-४ शताब्दी) ने अपने वृहत् स्वयंभू स्तोत्र के 'पार्श्वनाथ-स्तोत्र' में इस प्रकार किया है—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः, प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः।
वलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो, महामना यो न चचाल योगतः।।१।।
बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरित्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा।।२।।

अर्थात् तमालवृक्ष के समान नीले, इन्द्रधनुष तथा बिजली से युक्त और भयंकर वज्र, वायु और वृष्टि को सब ओर फेंकने वाले मेघों से, जो कि पूर्व जन्म के वैरी देव के द्वारा लाये गये थे, पीड़ित होने पर भी महामना पार्श्वदेव ध्यान से विचलित नहीं हुए। उस समय धरणेन्द्र नामक नाग ने चमकती हुई बिजली के समान पीत कान्ति को लिए हुए अपने विशाल फणामण्डल का मण्डप बनाकर उपसर्ग से ग्रस्त पार्श्वनाथ को उसी प्रकार ढक लिया जिस प्रकार कृष्ण संध्या में बिजली से युक्त मेघ पर्वत को ढक लेते हैं।

भगवान आत्मध्यान में विचरण करते हुए निरन्तर शुक्लध्यान में आगे बढ़ रहे थे। उनके कर्म नष्ट हो रहे थे। आत्मा की विशुद्धि बढ़ती जा रही थी। तभी उन्हें लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त हो गया। सारे उपसर्ग स्वतः ही समाप्त हो गये। देवों और इन्द्रों के आसन कम्पित हुए।

अतिशय क्षेत्र–नागेन्द्र द्वारा भगवान के ऊपर छत्र लगाया गया था, इस कारण इस स्थान का नाम संख्यावती के स्थान पर अहिच्छत्र हो गया। साथ ही भगवान के केवलज्ञान कल्याणक की भूमि होने के कारण यह पवित्र तीर्थक्षेत्र हो गया।

भगवान पार्श्वनाथ के सिर पर धरणेन्द्र द्वारा सर्प फण लगाने और भगवान के केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् लगता है कि यहाँ की मिट्टी में ही कुछ अलौकिक अतिशय आ गया। यहाँ पर पश्चाद्वर्ती काल में अनेक ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ घटित होने का वर्णन जैन साहित्य में अथवा अनुश्रुतियों में उपलब्ध होता है। इन घटनाओं में आचार्य पात्रकेशरी की घटना तो सचमुच ही विस्मयकारी है। आचार्य पात्रकेशरी का समय छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है। आचार्य पात्रकेशरी का आनुमानिक समय छठी शताब्दी का अंतिम अथवा सातवीं शताब्दी का प्रारंभिक काल माना जाता है। वे इसी पावन नगरी के निवासी थे। उस समय नगर के शासक अवनिपाल थे। उनके दरबार में पाँच सौ ब्राह्मण विद्वान थे, जो प्रायः तात्त्विक गोष्ठी किया करते थे। पात्रकेशरी इनमें सर्वप्रमुख थे। एक दिन यहाँ के पार्श्वनाथ मंदिर में ये विद्वान गोष्ठी के निमित्त गये। वहाँ एक मुनि, जिनका नाम चारित्रभूषण था, आचार्य समंतभद्र विरचित देवागम स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। पात्रकेशरी ध्यानपूर्वक उसे

सुन रहे थे। उनके मन की अनेक शंकाओं का समाधान स्वतः होता गया। उन्होंने पाठ समाप्त होने पर मुनिराज से स्तोत्र दोबारा पढ़ने का अनुरोध किया। मुनिराज ने दोबारा स्तोत्र पढ़ा। पात्रकेशरी उसे सुनकर अपने घर चले गये और गहराई से तत्त्व-चिन्तन करने लगे। उन्हें अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दर्शन सत्य लगा किन्तु अनुमान प्रमाण के संबंध में उन्हें अपनी शंका का समाधान नहीं मिल पा रहा था। इससे उनके चित्त में कुछ उद्विग्नता थी।

तभी पद्मावती देवी प्रगट हुईं और बोलीं— 'विप्रवर्य! तुम्हें अपनी शंका का उत्तर कल प्रातः पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा द्वारा प्राप्त हो जायेगा।' दूसरे दिन पात्रकेशरी पार्श्वनाथ मंदिर में पहुँचे। जब उन्होंने प्रभु की मूर्ति की ओर देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पार्श्वनाथ प्रतिमा के फण पर निम्नलिखित श्लोक लिखा हुआ था—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

श्लोक को पढ़ते ही उनकी शंका का समाधान हो गया। उन्होंने जैनधर्म को सत्य धर्म स्वीकार कर उसे अंगीकार कर लिया। तत्पश्चात् वे जैन मुनि बन गये। अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा के कारण जैन दार्शनिक परम्परा के प्रमुख आचार्यों में उनकी गणना की जाती है।

-आराधना कथाकोष, कथा-१

पात्रकेशरी के पश्चाद्वर्ती सभी दार्शनिक जैन आचार्यों ने अपने ग्रंथों में और जैन राजाओं ने शिलालेखों में इस घटना का बड़े आदरपूर्वक उल्लेख किया है। वादिराज सूरि के 'न्यायविनिश्चयालंकार' नामक भाष्य में उल्लेख है कि यह श्लोक पद्मावती देवी ने तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के समवसरण में जाकर गणधरदेव के प्रसाद से प्राप्त किया था।

श्रवणबेलगोल के 'मल्लिषेण प्रशस्ति' नामक शिलालेख (नं. ५४/६७) में, जो शक सं. १०५० का है, लिखा है—

महिमा सपात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावतीसहाया त्रिलक्षण - कदर्थनं कर्तुम्।।

उन पात्रकेशरी गुरु का बड़ा माहात्म्य है जिनकी भक्ति के वश होकर पद्मावती देवी ने 'त्रिलक्षण-कदर्थन' की रचना में उनकी सहायता की।

यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त श्लोक के आधार पर ही आचार्य पात्रकेशरी ने 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ की रचना की थी।

इसी प्रकार की एक दूसरी चमत्कारपूर्ण घटना का उल्लेख 'आराधनासार कथाकोष' में उपलब्ध होता है।

उस समय इस नगर का शासक वसुपाल था। उसकी रानी का नाम वसुमती था। राजा ने एक बार अहिच्छत्र नगर में बड़ा मनोज्ञ सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया और उसमें पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा स्थापित करायी। राजा की आज्ञा से एक लेपकार मूर्ति के ऊपर लेप लगाने को नियुक्त हुआ। लेपकार मांसभक्षी था। वह दिन में जो लेप लगाता था रात में गिर जाता था। इस प्रकार कई दिन बीत गये। लेपकार पर राजा बहुत क्रुद्ध हुआ और उसे दण्डित कर निकाल दिया। एक दिन एक अन्य लेपकार आया। अकस्मात् उसकी भावना हुई और उसने मुनि के निकट जाकर कुछ नियम लिये, पूजा रचायी। दूसरे दिन से उसने जो लेप लगाया, वह फिर मानो वज्रलेप बन गया।

यहाँ क्षेत्र पर एक प्राचीन शिखरबन्द मंदिर है। उसमें एक वेदी तिखाल वाले बाबा की है। इस वेदी में श्यामवर्णी भगवान पार्श्वनाथ की एक मूर्ति है तथा उनके आगे भगवान के चरण विराजमान हैं। इस तिखाल के संबंध में बहुत प्राचीनकाल से एक किंवदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि जब इस मंदिर का निर्माण हो रहा था, उस दिन एक रात लोगों को ऐसा लगा कि मंदिर के भीतर चिनाई का कोई काम हो रहा है। ईंटों के काटने-छाँटने की आवाज स्पष्ट सुनाई दे रही थी। लोगों के मन में दुःशंकाएँ होने लगीं और उन्होंने उसी समय मंदिर खोलकर देखा तो वहाँ कुछ नहीं था। अलबत्ता एक आश्चर्य उनकी दृष्टि से छिपा नहीं रह सका। वहाँ एक नयी दीवाल बन चुकी थी, जो संध्या तक नहीं थी और उसमें एक तिखाल बना हुआ था। अवश्य ही किन्हीं अदृश्य हाथों द्वारा यह रचना हुई थी। तभी से लोगों ने इस वेदी की मूर्ति का नाम 'तिखाल वाले बाबा' रख दिया। कहते हैं, जिनके अदृश्य हाथों ने कुछ क्षणों में एक दीवार खड़ी करके भगवान के लिए तिखाल बना दिया, वे अपने आराध्य प्रभु के भक्तों की प्रभु के दरबार में हाजिर होने पर मनोकामना भी पूरी करते हैं।

पुरातत्त्व एवं इतिहास—यह नगरी भारत की प्राचीनतम नगरियों में से एक है। भगवान ऋषभदेव ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उसमें एक पांचाल भी था। परवर्तीकाल में पांचाल जनपद दो भागों में विभक्त हो गया—उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल। पहले सम्पूर्ण पांचाल की ही राजधानी अहिच्छत्र थी किन्तु विभाजन होने पर उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र रही और दक्षिण पांचाल की कम्पिला। जैन साहित्य में पांचाल के प्रायः इन दो भागों का उल्लेख मिलता है। महाभारत काल में अहिच्छत्र के शासक द्रोण थे और कम्पिला के द्रुपद।

नगरी का यह 'अहिच्छत्र' नाम सर्प द्वारा छत्र लगाने के कारण पड़ा, इसमें जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों ही धर्म सहमत हैं किन्तु इस संबंध में जो कथानक दिये हैं, उनमें जैन कथानक अनेक कारणों से अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनका प्रभाव तत्कालीन सम्पूर्ण भारत—विशेषतः उत्तर और पूर्व भारत में अत्यधिक था। वैदिक साहित्य भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। उनके प्रभाव के कारण वैदिक ऋषियों की चिन्तनधारा बदल गई। उनके चिन्तन की दशा हिंसामूलक यज्ञों और क्रियाकाण्डों से हटकर अध्यात्मवादी उपनिषदों की रचना की ओर मुड़ गयी।

भगवान पार्श्वनाथ संबंधी उपर्युक्त घटना की गूँज उस काल में दक्षिण भारत तक पहुँची थी। इस बात का समर्थन कल्लुरगुड्डु (जिला सीमौगा, मैसूर प्रान्त-सन् ११२१) में उपलब्ध उस शिलालेख से भी होता है जिसमें गंग वंशावली दी गई है। उसमें उल्लेख है कि भगवान पार्श्वनाथ को अहिच्छत्र में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

पार्श्वनाथ संबंधी इस घटना का एक सांस्कृतिक महत्व भी है। इस घटना ने जैन कला को—विशेषतः जैन मूर्तिकला को बड़ा प्रभावित किया। पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का निर्माण इस घटना के कारण ही कुछ भिन्न शैली में होने लगा। चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ अपने आसन, मुद्रा, ध्यान आदि की दृष्टि से सभी एक समान होती हैं। उनकी पहचान और अन्तर उनके आसन पर अंकित किये गये चिन्ह द्वारा ही किया जा सकता है। केवल पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ अन्य तीर्थंकर प्रतिमाओं से एक बात में निराली हैं। अरहंत दशा की प्रतिमा होते हुए भी उनके सिर पर सर्प फण रहता है, जो हमें सदा ही कमठ द्वारा घोर उपसर्ग करने पर नागेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प फण के छत्र तानने का स्मरण दिलाता रहता है। इतना ही नहीं, अनेक पार्श्व प्रतिमाएँ इस घटना के स्मारक रूप में

धरणेन्द्र-पद्मावती के साथ निर्मित होने लगीं और इसीलिए जैन साहित्य में इस इन्द्र दम्पत्ति की ख्याति पार्श्वनाथ के भक्त यक्ष-यक्षिणी के रूप में विशेष उल्लेख योग्य हो गयी।

यहाँ क्षेत्र से दो मील दूर एक प्राचीन किला है, जिसे महाभारतकालीन कहा जाता है। इस किले के निकट ही कटारीखेड़ा नामक टीले से एक प्राचीन स्तंभ मिला है। उस स्तंभ पर एक लेख है। इसमें महाचार्य इन्द्रनन्दि के शिष्य महादरि के द्वारा पार्श्वपति (पार्श्वनाथ) के मंदिर में दान देने का उल्लेख है। यह लेख पार्श्वनाथ मंदिर के निकट ही मिला है। इस टीले और किले से कई जैन मूर्तियाँ मिली हैं। कई मूर्तियों को ग्रामीण लोग ग्रामदेवता मानकर अब भी पूजते हैं। संभव है वर्तमान में जो पार्श्वनाथ मंदिर है, वह नवीन मंदिर हो और जिस स्थान पर किले और टीले से प्राचीन जैन-मूर्तियाँ निकली हैं, वहाँ प्राचीन मंदिर रहा हो। यदि यहाँ के टीलों और खण्डहरों की, जो मीलों में फैले हुए हैं, खुदाई की जाए तो हो सकता है कि गहराई में पार्श्वनाथकालीन जैन मंदिर के चिन्ह और मूर्तियाँ मिल जायें।

ऐसा कोई मंदिर गुप्तकाल तक तो अवश्य था। शिलालेखों आदि से इसकी पुष्टि होती है। गुप्तकाल के पश्चाद्वर्ती इतिहास में इस संबंध में कोई सूत्र उपलब्ध नहीं होता। फिर भी यह तो असन्दिग्ध है कि परवर्ती काल में भी शताब्दियों तक यह स्थान जैनधर्म का एक विशाल केन्द्र रहा। इस काल में यहाँ पाषाण की अनेक जैन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। ऐसी अनेक प्रतिमाएँ, स्तूपों के अवशेष, मिट्टी की मूर्तियाँ और कला की अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये सभी प्रतिमाएँ दिगम्बर परम्परा की हैं। यहाँ श्वेताम्बर परम्परा की एक भी प्रतिमा न मिलने का कारण यही प्रतीत होता है कि यहाँ पार्श्वनाथ काल में दिगम्बर परम्परा की ही मान्यता, प्रभाव और प्रचलन रहा है।

कहा जाता है कि अपने वैभवकाल में अहिच्छत्र नगर ४८ मील की परिधि में था। आज के आँवला, वजीरगंज, रहटुइया, जहाँ अनेकों प्राचीन मूर्तियाँ और सिक्के प्राप्त हुए हैं, पहले इसी नगर में सम्मिलित थे। यहाँ के भग्नावशेषों में १८ इंच तक की ईंटें मिलती हैं।

क्षेत्र-दर्शन (सन् १९७५ के जीर्णोद्धार से पूर्व)—सड़क से कुछ फुट ऊँची चौकी पर क्षेत्र का मुख्य द्वार था। फाटक के बायीं ओर बाहर उस भग्न मूर्ति के शीर्ष के दर्शन होते थे, जो किले से लाकर यहाँ दीवार में एक आले में रखा गया था, अब वह यहाँ के स्वाध्याय भवन में रखा है। भीतर एक विशाल धर्मशाला थी। बीच में एक पक्का कुआँ था।

बायीं ओर मंदिर का द्वार था। द्वार में प्रवेश करते ही क्षेत्र का कार्यालय मिलता था। सामने बायीं ओर गर्भगृह में वेदी थी, जिसमें तिखाल वाले बाबा (भगवान पार्श्वनाथ) की प्रतिमा विराजमान थी। पार्श्वनाथ की यह श्यामवर्णी हरित पन्ना की सातिशय प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में आज भी विराजमान है। इसकी अवगाहना साढ़े ९ इंच है। प्रतिमा अत्यन्त सौम्य और प्रभावक है। इस प्रतिमा के पादपीठ पर कोई लेख नहीं है। सर्प का लांछन अवश्य अंकित है और सिर पर फणमण्डल है। वेदी के नीचे सामने वाले भाग में दो सिंह आमने-सामने मुख किये हुए बैठे हैं।

प्रतिमा के आगे भगवान के श्रीचरण स्थापित हैं जिनका आकार १ फुट साढ़े ५ इंच है। उन पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये दिगम्बराम्नाये अहिच्छत्रनगरे श्री पार्श्वजिनचरणा

प्रतिष्ठापिताः। श्रीरस्तु।

प्रतिमा का निर्माणकाल १०-११वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है।

इस वेदी के ऊपर लघु शिखर है।

इस वेदी से आगे दायीं ओर दूसरे कमरे की वेदी में मूलनायक पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण १ फुट १० इंच अवगाहना की अत्यन्त मनोहर पद्मासन प्रतिमा थी। प्रतिमा के सिर पर सप्त फणावली का मण्डल था। भामण्डल के स्थान पर कमल की सात लम्बायमान पत्तियों और कली का अंकन जितना कलापूर्ण लगता था, उतना ही अलंकरणमय था। अलंकरण का यह रूप अद्‌भुत और अदृष्टपूर्व था।

मूर्ति के नीचे सिंहासनपीठ के सामने वाले भाग में २४ तीर्थंकर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण थीं।

इसी प्रकार यहाँ अन्य वेदियों में भी प्राचीन प्रतिमाओं के विराजमान होने का उल्लेख मिलता है। जो मंदिर के जीर्णोद्धार के बाद अन्य नवनिर्मित वेदियों में विराजमान कर दी गई प्रतीत होती हैं।

धर्मशाला के मुख्य द्वार के सामने सड़क के दूसरी ओर का मैदान भी मंदिर का है। सड़क से कुछ आगे चलने पर वह विशाल पक्का कुआँ या वापिका है, जिसके जल की ख्याति पूर्वकाल में दूर-दूर तक थी।

मंदिर के निकट ही रामनगर गाँव है। वहाँ भी एक शिखरबंद मंदिर है। इस मंदिर में फणामण्डित भगवान पार्श्वनाथ की श्यामवर्ण पद्मासन प्रतिमा है। इसकी अवगाहना ४ फुट है। प्रतिमा अत्यन्त मनोज्ञ है। फणावली में 'अन्यथानुपपन्नत्वं.....' श्लोक भी लिखा हुआ है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वी.सं. २४८१ वैशाख शुक्ला ७ गुरुवार को श्री महावीर जी में हुई थी।

मूलनायक के अतिरिक्त दो पाषाण की और दो धातु की प्रतिमाएँ भी हैं।

पहले इस मंदिर के स्थान पर पद्मावती पुरवाल पंचायत की ओर से ला. हीरालाल जी सर्राफ, एटा तथा पं. चम्पालाल जी का बनवाया हुआ मंदिर था। बाद में उसके स्थान पर समस्त दिगम्बर समाज की ओर से यह मंदिर बनाया गया।

मंदिर के बाहर उत्तर की ओर आचार्य पात्रकेशरी के चरण बने हुए हैं। चरणों की लम्बाई ११ इंच है।

ऐसा विश्वास है कि आचार्य पात्रकेशरी इसी स्थान पर बने हुए मंदिर में देवी पद्मावती द्वारा प्रतिबोध पाकर जैनधर्म में दीक्षित हुए थे।

सन् १९७५ के पश्चात्—जिस स्थान पर पार्श्वनाथ प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया था वहाँ हजारों वर्ष पुराना मंदिर था, जिसका जीर्णोद्धार सन् १९७५ में किया गया और आज इसी स्थान पर एक सुन्दर अति आकर्षक सात उन्नत शिखरयुक्त मंदिर है जिसकी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा ईसवी सन् १९७८ में हुई थी।

सप्त फणालंकृत श्यामवर्ण प्रतिमा—मूल मंदिर की एक कलात्मक वेदी में मूलनायक भगवान पार्श्वनाथ की सप्त फणालंकृत श्यामवर्ण की प्रतिमा है। यह प्रतिमा देखने में संगमरमर की प्रतीक होती है। इस मूर्ति के नीचे तीर्थंकर की छोटी-छोटी चौबीस प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। प्रतिमा के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह है, कान कंधों को स्पर्श कर रहे हैं। ऊपर की फणावली सीधी है। दाईं ओर भगवान पार्श्वनाथ की संगमरमर की खड्‌गासन प्रतिमा है, बाईं ओर भगवान पार्श्वनाथ की एक पद्मासन मूर्ति है। शीर्ष पर पंचमुखी फण है। इस

चौबीसी वेदी में अनेक अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं तथा एक सिद्ध भगवान की प्रतिमा भी विराजमान है। इसी वेदी में भूगर्भ से प्राप्त दो प्राचीन अत्यन्त मनोज्ञ व कलात्मक प्रतिमाएं विराजमान हैं जिसमें एक पंच बालयति की प्रतिमा अष्ट धातु की है तथा दूसरी भूरे रंग के पाषाण की शांतिनाथ, कुंथुनाथ एवं अरहनाथ की संयुक्त प्रतिमा है। यह प्रतिमा मूलनायक पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा के आगे सफेद संगमरमर के सिंहासन में विराजमान है।

भगवान महावीर जी की वेदी—श्री मंदिर में प्रवेश करते ही गर्भगृह के बाईं ओर प्रथम वेदी पर तीन सुन्दर हंसों एवं लाल कमल की वेदी के ऊपर भगवान महावीर स्वामी की एक छः फुट ऊँची अत्यन्त मनमोहक, पद्मासन प्रतिमा विराजमान है जिसकी स्थापना सन् १९७८ ई. में हुई है। इस मूर्ति के दर्शन करने से विशेष रूप से उसकी शांत मुद्रा एवं वीतराग छवि देखने से जो अनुभूति प्राप्त होती है वह वर्णनातीत है। श्रद्धालु एक बार देखे तो निहारता ही रह जाता है।

भगवान पार्श्वनाथ की पद्मासन वेदी—यह वेदी भगवान महावीर के समान ही निर्मित है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ की विशाल पाँच फुट ऊँची श्याम वर्ण की ११ फुट वाली पद्मासन प्रतिमा विराजमान है परन्तु इस मूर्ति में एक विशेष आकर्षण देखते ही बनता है और एक निराली शांत छवि के दर्शन होते हैं जिससे श्रद्धालुओं को अलौकिक आनंद प्राप्त होता है।

भगवान पार्श्वनाथ का प्रथम समवसरण—यहाँ एक अत्यन्त आकर्षक समवशरण बना हुआ है जिसकी प्रतिष्ठा सन् १९९१ ई. में आचार्यश्री १०८ अजितसागर महाराज के सानिध्य में हुई थी। जिसके दर्शनार्थ यात्री दूर-दूर से यहाँ आते हैं। बीच में ऊपर आकर्षक एक अशोक वृक्ष के नीचे भगवान पार्श्वनाथ की चारों दिशाओं में मुख किये हुए चार मनोज्ञ प्रतिमाएं विराजमान हैं एवं चार बहुत ही सुन्दर विमान समवसरण पर पुष्पवृष्टि करते हुए दिखाये गये हैं। इसके दर्शन करने से उस समय की याद से हमारा मन प्रफुल्लित हो जाता है जब यहाँ देवों द्वारा भगवान पार्श्वनाथ के प्रथम समवसरण की रचना हुई थी और उन्होंने प्रथम देशना की थी।

तीन प्रतिमाओं युक्त वेदी—इस वेदी में तीन प्रतिमाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तीनों का रंग हल्का कत्थई है और वे शिलापट्ट पर उत्तीर्ण हैं।

बाईं ओर पंच बालयति की मनोहर मूर्तियाँ हैं। जिनके बीच में फणालंकृत पार्श्वनाथ तीर्थंकर की खड्गासन प्रतिमा है, इसके परिसर के नीचे एक यक्ष और दो यक्षी चमरवाहक हैं उनके ऊपर दो कायोत्सर्ग मुद्रा में दस इंच आकार की एक तीर्थंकर प्रतिमा है इसके ऊपर सात इंच अवगाहना की एक पद्मासन प्रतिमा अंकित है। इसी प्रकार दांयी ओर दो प्रतिमाएँ हैं। इसी शिलापट्ट के बीच में भगवान पार्श्वनाथ की पद्मासन प्रतिमा स्थित है ऊपर सर्प फण है, अवगाहना ढाई फिट है। पादपीठ पर दो सिंह जीभ निकाले बैठे हैं जो कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्ति का संदेश दे रहे हैं। दायीं ओर यक्ष और बायीं ओर यक्षिणी हैं। भामण्डल के दोनों ओर हाथी उत्कीर्ण हैं। यह गज लक्ष्मी के प्रतीक हैं। उसके ऊपर इन्द्र हाथों में स्वर्ण कलश लिए क्षीरसागर के पावन जल से भगवान का अभिषेक करते प्रतीत होते हैं।

तीस चौबीसी मंदिर—यहाँ प्रांगण में ही एक विशाल तीस चौबीसी मंदिर भी है। इसमें ११ शिखर हैं बीच में मुख्य मूर्ति भगवान पार्श्वनाथ की है। उसकी ऊँचाई १३.५ फुट है। इन पर १०८ फण हैं। मंदिर में १० कमल हैं। प्रत्येक कमल पर ७२ पंखुड़ियाँ हैं। कमल की प्रत्येक पंखुड़ी पर एक-एक भव्य पाषाण की मूर्ति

विराजमान है। मध्यलोक के ढाईद्वीप संबंधी पाँच भरत क्षेत्र, पाँच ऐरावत क्षेत्र में होने वाले चौबीस-चौबीस तीर्थंकरों के भूत, भविष्य एवं वर्तमान की ७२० मूर्तियाँ हैं। मंदिर के शिखरों पर तथा अंदर कमलों पर सुनहरे कलश लगे हैं। यह तीस चौबीसी मंदिर सम्पूर्ण भारतवर्ष में अद्वितीय मंदिर है। परम पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा सन् १९९३ में दी गई प्रेरणानुसार इस मंदिर का निर्माण हुआ।

पद्मावती माता का परिचय — जैसा कि विदित ही है कि जब इसी स्थान पर कमठ ने मुनि अवस्था में ध्यानस्थ पार्श्वनाथ के ऊपर उपसर्ग किया तो देवों का आसन कम्पायमान हुआ और अपने परोपकारी पर उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र एवं पद्मावती भगवान की भक्ति के लिए स्वर्ग से आ गये और इसी बीच भगवान को केवलज्ञान हो गया अतः पद्मावती माता का उद्गम स्थान श्री अहिच्छत्र ही है। मूलमंदिर में उन पद्मावती देवी की प्रतिमा विराजमान है। उनकी भक्ति करने एवं अपनी मनोकामना पूरी करने हजारों श्रद्धालु यहाँ दूर-दूर से आकर अपना मनोरथ पूर्ण करते हैं और समय-समय पर अपनी मनोकामना पूर्ण होने पर विशेष दान भी देते हैं।

मानस्तंभ — मंदिर जी के पूर्व की ओर एक विशाल सफेद पाषाण का बहुत ही सुन्दर एवं मनोरम मानस्तंभ बना हुआ है जिसमें बहुत ही सुन्दर भगवान पार्श्वनाथ की चतुर्मुख चार मूर्तियाँ विराजमान हैं।

नवनिर्मित पार्श्वनाथ-धरणेन्द्र-पद्मावती मंदिर — तीर्थ परिसर में तीस चौबीसी मंदिर के बगल में इस मंदिर का नव निर्माण हुआ है। यहाँ के इतिहास को दर्शाती भगवान पार्श्वनाथ एवं उनके शासन देव-देवी की नई प्रतिमाएँ विराजमान हुई हैं। इनकी प्रतिष्ठा १० दिसम्बर से १४ दिसम्बर २००७ (मगसिर शु. एकम से पंचमी) तक पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के संघ सानिध्य में सम्पन्न हुई।

तिखाल वाले बाबा भगवान पार्श्वनाथ का सहस्राब्दि महोत्सव एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव भी १६ दिसम्बर २००७ से ४ जनवरी २००८ तक सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर तीन वर्ष से चल रहे भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव (पूज्य ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से सन् २००५ में उद्घाटित) का समापन भी पौष शु. ११ (३ जनवरी २००८) को हुआ।

वार्षिक मेले — यहाँ चैत्र मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी से द्वादशी तक एक विशाल मेले का आयोजन होता है जिसमें प्रतिदिन सामूहिक पूजन, विधान, रथयात्रा, सामूहिक आरती व कीर्तन के अतिरिक्त रात्रि को विशेष सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं प्रश्नमंच इत्यादि कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। श्रावण शुक्ला सप्तमी को भगवान पार्श्वनाथ का निर्वाण महोत्सव जोर-शोर से मनाया जाता है। उस दिन अहिच्छत्र में पद्मावती माता की अति विशाल श्रृँगार-आराधना आदि भक्तों द्वारा की जाती है। पौष कृष्णा एकादशी को, पार्श्वनाथ जयंती के रूप में मनाया जाता है। उपर्युक्त तीनों मेलों में हजारों की संख्या में भारतवर्ष के कोने-कोने से यात्रीगण आकर धर्मलाभ प्राप्त कर अपनी मनोकामनाएं पूर्ण करते हैं।

(4)

भगवान पार्श्वनाथ निर्वाणभूमि

श्री सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र

शाश्वत सिद्धक्षेत्र —

श्री सम्मेदशिखर सम्पूर्ण तीर्थक्षेत्रों में सर्वप्रमुख एवं शाश्वत सिद्धक्षेत्र है इसीलिए इसे तीर्थराज कहा जाता है। इसकी एक बार वंदना — यात्रा करने से कोटि-कोटि जन्मों में संचित पापों का नाश हो जाता है। निर्वाण क्षेत्र पूजा में कविवर द्यानतराय जी ने सत्य ही लिखा है — "एक बार वन्दे जो कोई। ताहि नरक-पशुगति नहिं होई।।" एक बार वन्दना करने का फल मात्र नरक और पशुगति से ही छुटकारा नहीं है अपितु परम्परा से संसार से भी छुटकारा है।

ऐसी अनुश्रुति है कि श्री सम्मेदशिखर और अयोध्या ये दो तीर्थ अनादिनिधन-शाश्वत हैं। अयोध्या में सभी तीर्थंकरों का जन्म होता है और सम्मेदशिखर से सभी तीर्थंकरों का निर्वाण होता है किन्तु हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से इस शाश्वत नियम में व्यतिक्रम हो गया अतः अयोध्या में केवल पाँच तीर्थंकरों का ही जन्म हुआ और सम्मेदशिखर से केवल बीस तीर्थंकरों ने निर्वाणलाभ किया किन्तु इनके अतिरिक्त भी असंख्य मुनियों ने यहीं पर तपश्चरण करके मुक्ति प्राप्त की। सम्मेदशिखर की वंदना से तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्र से जो तीर्थंकर और अन्य मुनिवर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उनके गुणों को सच्चाई के साथ अपने हृदय में उतारें और तदनुसार अपनी आत्मा के गुणों का विकास करें। ऐसा करने से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा, इसमें संदेह नहीं।

सम्मेदशिखर की यात्रा

मार्ग — तीर्थराज सम्मेदशिखर जी, जिसका दूसरा नाम 'पारसनाथ हिल' है, जो पहले बिहार प्रदेश के हजारीबाग जिले में स्थित था अब झारखण्ड प्रदेश के अन्तर्गत आता है जो गिरीडीह जिले में है। यहाँ पहुँचने के लिए रेलवे के कई मार्ग हैं — (१) गया, दिल्ली अथवा कलकत्ता की ओर से आने वालों के लिए पारसनाथ स्टेशन उतरना चाहिए। (२) कलकत्ता की ओर से आने वाले गिरीडीह स्टेशन भी उतर सकते हैं। (३) पटना से राँची जाने वाली ट्रेनों से पारसनाथ उतर सकते हैं। ये सभी ईस्टर्न रेलवे की मेन लाइन हैं।

ईसरी — पारसनाथ स्टेशन के सामने ही लगभग एक फर्लांग दूरी पर ईसरी में दो दिगम्बर जैन धर्मशालाएँ बनी हुई हैं। एक बीसपन्थी और दूसरी तेरापंथी। दोनों निकट-निकट हैं। दोनों धर्मशालाओं में जिनमंदिर हैं और दोनों के बीच में श्रीगणेश प्रसाद वर्णी द्वारा स्थापित उदासीन आश्रम है, जहाँ अनेक विरक्त स्त्री-पुरुष धर्मध्यान करने हेतु प्रवास करते हैं।

मधुवन — ईसरी से लगभग २२ किमी. पर मधुवन है। मधुवन के लिए यहाँ से बस तथा टैक्सी मिलती है। यहाँ से गिरीडीह रोड पर १६ किमी. चलकर मधुवन के लिए सड़क मुड़ती है और ६ किमी. चलकर मधुवन आ जाता है। मधुवन पर्वत के उत्तरी भाग की ओर है।

गिरीडीह से मधुवन २५ किमी. है। गिरीडीह-ईसरी रोड पर बसें बराबर मिलती हैं।

मधुवन में बीसपंथी और तेरहपंथी दो कोठियाँ अर्थात् धर्मशालाएँ हैं।

श्री सम्मेदशिखर पर्वत की तलहटी में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की धर्मशालाएँ और मंदिर हैं। सबसे पहले दिगम्बर जैन तेरहपंथी कोठी मिलती है। फिर श्वेताम्बर कोठी, जो मझली कोठी कहलाती है और सबसे अंत में दिगम्बर जैन बीसपंथी कोठी है। यह उपरैली कोठी कहलाती है।

बीसपंथी कोठी—इन तीनों कोठियों में बीसपंथी कोठी सबसे प्राचीन है। इसकी स्थापना सम्मेदशिखर की यात्रार्थ आने वाले जैन बंधुओं की सुविधा के लिए लगभग चार सौ वर्ष पूर्व की गई थी, ऐसा कहा जाता है।

यह कोठी ग्वालियर गादी के भट्टारक जी के अधीन थी। इस शाखा के भट्टारक महेन्द्रभूषण ने शिखर जी पर एक कोठी और एक मंदिर की स्थापना की और मंदिर में पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा विराजमान करायी। उन्होंने एक धर्मशाला भी बनवायी। समाज के दो दानी सज्जनों ने दो मंदिर भी बनवाये। महेन्द्रभूषण के पश्चात् शतेन्द्रभूषण, राजेन्द्रभूषण, शिलेन्द्रभूषण और शतेन्द्रभूषण भट्टारक क्रम से कोठी के अधिकारी हुए।

बीसपंथी कोठी के बहुत दिनों पश्चात् (लगभग २५० वर्ष बाद) श्वेताम्बर कोठी का निर्माण हुआ। उसके लगभग १०० वर्ष बाद तेरापंथी कोठी बनी है। बीसपंथी एवं तेरहपंथी दोनों कोठियों के अन्तर्गत अनेक दिगम्बर जिनमंदिरों की व्यवस्थाएँ संचालित होती हैं।

पर्वत यात्रा के मार्ग—सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए ऊपर जाने के दो मार्ग हैं—एक तो नीमिया घाट होकर और दूसरा मधुवन की ओर से। नीमिया घाट पर्वत के दक्षिण की ओर है। यहाँ एक डाक बंगला, जैन धर्मशाला बनी हुई है। इधर से जाने पर पर्वत की वंदना उलटी पड़ती है और सबसे पहले पार्श्वनाथ टोंक पड़ती है।

नीमियाघाट की ओर से सम्मेदशिखर की यात्रा करने में ६ मील की चढ़ाई पड़ती है। ऊपर टोंकों की वंदना ६ मील और वापसी ६ मील। चढ़ाई में ६ मील की यात्रा करनी होती है।

नीमियाघाट की दिगम्बर जैन धर्मशाला और मंदिर बीसपंथी कोठी के अन्तर्गत है। पालगंज का दिगम्बर जैन मंदिर भी बीसपंथी कोठी के अन्तर्गत है। इसका जीर्णोद्धार लगभग १५० वर्ष पहले क्षुल्लक धर्मचंद्र जी ने कराया था। पहले सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए यात्री पालगंज होकर आते थे। जब पालगंज के राजा का अभिषेक होता था, उस समय दिगम्बर जैन प्रतिमा वहाँ विराजमान करके उसका अभिषेक होता था। इस गंधोदक को छिड़ककर राजा की शुद्धि की जाती थी।

मधुवन की ओर से भी कुल मिलाकर १८ मील (२७ किमी.) की यात्रा पड़ती है किन्तु अधिकांश यात्री मधुवन की ओर से ही यात्रा करते हैं। इधर से यात्रा करने में कई सुविधाएँ हैं। सबसे बड़ी सुविधा तो यह है कि इधर अन्य अनेक यात्रियों का साथ मिल जाता है और इतनी लम्बी यात्रा अन्य साथियों के कारण सुगम बन जाती है, इसके विपरीत नीमिया घाट की ओर से यात्रा करने में यात्री को प्रायः अकेले ही चढ़ना-उतरना पड़ता है। इससे यात्रा दुरूह मालूम पड़ने लगती है।

२७ किमी. की यह लम्बी यात्रा किशोर, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी तीर्थंकरों का जयघोष करते, स्तुति-विनती पढ़ते आनन्दपूर्वक कर लेते हैं। सांस फूल जाती है किन्तु मन में क्षण भर को भी खिन्नता के भाव नहीं आते बल्कि अपनी धार्मिक श्रद्धा, उल्लास, उत्साह और प्रकृति की सुषमा में विभोर होकर यात्री यात्रा पूरी करके जब वापस अपने डेरे पर लौटता है तो उसे अनुभव होता है कि भगवान की भक्ति में अद्भुत शक्ति है, वरना इतनी

लम्बी यात्रा कैसे संभव थी। अब पर्वत पर पूरा रास्ता पक्का बन जाने से यात्रा अत्यन्त सुगम हो गई है।

श्री सम्मेदशिखर का अद्भुत माहात्म्य—मधुवन से जब सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए रवाना होते हैं, तब मन में एक अद्भुत उल्लास, उमंग और तीर्थंकरों के प्रति निश्छल भक्ति की पुण्य भावना होती है। वहाँ का सारा वातावरण ही भक्तिमय होता है। यात्री के मन में व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में द्यानतरायजी की यह पंक्ति सदा अंकित रहती है—"एक बार वन्दे जो कोई। ताहि नरक-पशुगति नहिं होई।।" शास्त्रों में तो शिखरजी की वंदना करने का फल यह बताया है कि वह व्यक्ति फिर संसार में अधिक से अधिक ४९ भव धारण करने के बाद मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु सत्य है। इसमें तर्क और संदेह को कोई स्थान नहीं है इसीलिए तो इसे तीर्थराज की संज्ञा दी गई है। भाव-भक्तिपूर्वक इसकी यात्रा और वंदना करने से कोटि-कोटि जन्मों के संचित कर्मों का नाश हो जाता है।

बीस तीर्थंकरों को इसी पर्वत पर अंतिम योग-निरोध करके निर्वाण प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त यहाँ से असंख्य मुनियों को मोक्ष प्राप्त हुआ है। यहाँ से मुक्ति प्राप्त करने वाले मुनियों की निश्चित संख्या शास्त्रों में दी हुई है। कुल कूटों की संख्या २० है जो बीस तीर्थंकरों के निर्वाण स्थान हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस क्षेत्र से असंख्य मुनिजन अनादिकाल से समय-समय पर मुक्त हुए हैं इसलिए यह क्षेत्र अत्यन्त पवित्र है, उसका कण-कण पवित्र है। यही कारण है कि इस तीर्थ पर सिंह, व्याघ्र, हिरण आदि अनेकों जातिविरोधी और हिंसक प्राणी विचरते देखे गये हैं किन्तु कभी किसी ने एक दूसरे पर आक्रमण किया हो या किसी यात्री के साथ कभी कोई दुर्घटना घटी हो ऐसा कभी सुना नहीं गया। ऐसे अवसर कई बार आये हैं, जब रात्रि में यात्रा के लिए जाने वाले भाइयों में से कोई यात्री पिछड़ गया और अकेला पड़ गया और राह में उसे शेर मिल गया किन्तु न यात्री के मन में भय और न शेर के मन में क्रूरता। शेर एक ओर चला गया और यात्री अपनी राह पर आगे बढ़ गया। यह सब इस तीर्थराज का प्रभाव है। यहाँ के वातावरण में पवित्रता और शुचिता की भावना सदैव बनी हुई रहती है।

तीर्थ-दर्शन—पहाड़ पर ऊपर चढ़ने पर सर्वप्रथम गौतम स्वामी की टोंक मिलती है। वहाँ एक कमरा भी बना हुआ है जो यात्रियों के लिए विश्राम के काम आता है। टोंक से बायें हाथ की ओर मुड़कर पूर्व दिशा की पन्द्रह टोंकों की वंदना करनी चाहिए। ये टोंकें ही कूट कहलाती हैं। इन टोंकों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) कुंथुनाथ का ज्ञानधर कूट (२) नमिनाथ का मित्रधर कूट (३) अरहनाथ का नाटक कूट (४) मल्लिनाथ का सम्बल कूट (५) श्रेयांसनाथ का संकुल कूट (६) पुष्पदंत का सुप्रभ कूट (७) पद्मप्रभु का मोहन कूट (८) मुनिसुव्रतनाथ का निर्जर कूट (१०) आदिनाथ का कूट (११) शीतलनाथ का विद्युत कूट (१२) अनन्तनाथ का स्वयंभू कूट (१३) संभवनाथ का धवलदत्त कूट (१४) वासुपूज्य का कूट (१५) अभिनन्दन का आनंद कूट।

इन टोंकों में भगवान चन्द्रप्रभु की टोंक बहुत ऊँची हैं। ये सभी टोंकें पूर्व दिशा में हैं। इनमें तीर्थंकरों के चरण विराजमान हैं। इन टोंकों पर जाने के लिए मार्ग बने हुए हैं। तीर्थंकर चरणों पर जो लेख पूर्व में खुदे हुए थे, उनके अनुसार ये सब सं. १८२५ में प्रतिष्ठित किये गये प्रतीत होते हैं किन्तु वर्तमान में लगभग १५-२० वर्षों में ये चरण और प्रशस्तियाँ प्रायः बदल दी गई हैं।

भगवान अभिनंदननाथ की टोंक से उतरकर जल मंदिर में जाते हैं।

यहाँ से गौतम स्वामी की टोंक पर पहुँचते हैं। इस स्थान से चारों ओर रास्ते जाते हैं बायीं ओर कुंथुनाथ टोंक को, दायीं ओर पार्श्वनाथ मंदिर को, सामने जल मंदिर और पीछे मधुवन को। अतः यहाँ पश्चिम दिशा की ओर जाकर शेष नौ टोंकों की वंदना करनी चाहिए।

पार्श्वनाथ टोंक — सम्मेदशिखर पर्वत की यह अंतिम और प्रमुख टोंक है। टोंक के स्थान पर अब एक सुन्दर जिनालय बन गया है। जिसमें मण्डप और गर्भगृह है। गर्भगृह में एक वेदी पर पार्श्वनाथ भगवान के कृष्ण वर्ण के चरण विराजमान हैं। चरण नौ अंगुल के हैं।

इन टोंकों में भगवान पार्श्वनाथ की यह टोंक सबसे ऊँची है। इस टोंक पर खड़े होकर चारों ओर का मनोहर दृश्य देखते ही बनता है। मन में एक अनिर्वचनीय प्रफुल्लता भर उठती है। ऐसी आह्लादपूर्ण प्राकृतिक दृश्यावली में मन ध्यान, सामायिक और पूजा-स्तोत्र में स्वतः निमग्न हो जाता है। यहाँ आकर सब यात्री पूजन करते हैं।

यात्रा से वापसी — भगवान पार्श्वनाथ की टोंक से वापस लौटते समय विशेष कठिनाई नहीं होती क्योंकि उतराई है और मार्ग ठीक है। बीच-बीच में जंगल में पगडण्डियाँ भी जाती हैं। यदि उन पर चला जाये तो लगभग डेढ़ मील की यात्रा बच जाती है किन्तु पगडण्डियों पर चलना बहुत कठिन है। रास्ता भूलने का भी डर है। यदि भील (मजदूर) साथ हो तो फिर कोई डर नहीं। इस समय लाठी से बड़ी सहायता मिलती है।

जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर शून्य है उसी प्रकार श्री सम्मेदशिखर के बिना दिगम्बर जैन समाज शून्य है। शिखर जी हमारा ऐसा पवित्र तीर्थ है जहाँ से इस 'हुण्डावसर्पिणी काल' में हमारे २४ तीर्थंकरों में से २० तीर्थंकरों एवं असंख्यात मुनिवरों ने मोक्ष प्राप्त किया है इसलिए शिखर जी हमारी संस्कृति और धर्म की धरोहर है। उसका एक-एक कण हम सभी के लिए पूज्यनीय एवं वंदनीय है।

जैन समाज के इस सर्वप्रमुख शाश्वत तीर्थ की व्यवस्था जहाँ स्थानीय संस्थाएँ देखती हैं, वहीं भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के द्वारा इसका विशेष प्रबंध देखा जाता है।

अन्य जिनमंदिरों एवं भगवान ऋषभदेव जिनमंदिर का निर्माण — शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर में मुख्य रूप से बीसपंथी-तेरहपंथी कोठी के साथ-साथ पिछले २५-३० वर्षों से अनेक नवनिर्माणों के द्वारा भारी विकास कार्य हुआ है। पूज्य आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज की प्रेरणा से समवसरण मंदिर, तीस चौबीसी मंदिर आदि के विशाल निर्माण, गणिनी आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी की प्रेरणा से मध्यलोक शोध संस्थान, आचार्यश्री संभवसागर महाराज की प्रेरणा से त्रियोग आश्रम, आचार्यश्री सुमतिसागर महाराज की प्रेरणा से त्यागी-व्रती आश्रम आदि निर्माणों के साथ वहाँ अनेक दि. जैन संस्थाएँ अपने-अपने नवनिर्माण आदि कार्यकलापों के द्वारा सिद्धक्षेत्र की गरिमा वृद्धि में अपना सक्रिय योगदान प्रदान कर रही हैं। इसी शृँखला में पर्वतराज के चोपड़ा कुण्ड पर स्थित दिगम्बर जैन मंदिर एवं धर्मशाला यात्रियों के लिए विशेष सुविधा प्रदान करते हुए यात्रा के आनंद को द्विगुणित कर देते हैं।

सन् २००३ में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने पावन तीर्थ सम्मेदशिखर के इतिहास में एक नया अध्याय और जोड़ दिया। पूज्य माताजी ने वहाँ पर भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा एवं मंदिर निर्माण की प्रेरणा दी। भगवान बाहुबली एवं चौबीसी मंदिर के परिसर में बाहर की ओर निर्मित इस मंदिर का निर्माण कराने

का पुण्यलाभ डॉ. पन्नालाल जैन पापड़ीवाल-पैठण (महाराष्ट्र) परिवार को प्राप्त हुआ और शीघ्र ही यह निर्माण कार्य पूर्ण होकर दिसम्बर २००५ में पूज्य ज्ञानमती माताजी के शिष्य जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के प्रथम पीठाधीश क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी महाराज एवं अध्यक्ष कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन के पावन सानिध्य में सवा नौ फुट ऋषभदेव प्रतिमा जी की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भी सम्पन्न हुई। निश्चित ही यह भव्य और मनोज्ञ प्रतिमा प्रत्येक दर्शक को जैनधर्म की प्राचीनता एवं भगवान आदिनाथ के जीवन का स्मरण कराती रहेगी। वर्तमान में बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की सन् १९२७-२८ में की गई ससंघ सम्मेदशिखर यात्रा के स्मारक रूप में "आचार्य श्री शांतिसागर धाम" का निर्माण भी हुआ है, जिसमें सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र से प्रथम मोक्षप्राप्त भगवान अजितनाथ की ३१ फुट उत्तुंग ग्रेनाइट खड्गासन प्रतिमा एवं नवग्रह अरिष्टनिवारक चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा विराजमान की गई हैं।

शास्त्रों में तो शिखर जी की वंदना का फल बताते हुए कहा है कि व्यक्ति इस पर्वत की वंदना करके अधिकतम ४९ भव धारण करने के बाद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ऐसे पावन सिद्धधाम शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर को कोटि-कोटि नमन।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-दिन रात मेरे स्वामी मैं भावना ये भाऊँ.....

हे मात आज तुमसे, वरदान मैं ये चाहूँ। वरदान.....
तुम सम निधी को पाकर, निज ज्ञान में समाऊँ।। निज ज्ञान.....।। टेक.।।

कैसी भी स्थिती हो, धीरज मेरा न छूटे।
तेरा ही ध्यान धर के, सब विघ्न मैं भगाऊँ।। हे मात.....।।1।।

दीनों के प्रति हो करुणा, दुःखियों के प्रति दया हो।
उपकार पर का करके, निज को सुखी बनाऊँ।। हे मात.....।।2।।

निज शत्रु से कभी भी, बदला न लेना चाहूँ।
समकित की तेरी शिक्षा, मन में सदा बसाऊँ।। हे मात.....।।3।।

अनमोल तव वचन माँ, जब जब सुने हैं मैंने।
इच्छा सदा रही ये, तेरे वचन निभाऊँ।। हे मात.....।।4।।

पथभ्रष्ट होने से माँ, तू ही बचाने वाली।
लख 'चंदना' तेरा तप, तुझमें ही रमना चाहूँ।। हे मात.....।।5।।

(5)

सम्मेदशिखर टोंक वन्दना

तीर्थराज सम्मेदशिखर है, शाश्वत सिद्धक्षेत्र जग में।
एक बार जो करे वन्दना, वह भी पुण्यवान सच में।।
ऊँचा पर्वत पार्श्वनाथ हिल, नाम से जाना जाता है।
जिनशासन का सबसे पावन, तीरथ माना जाता है।।१।।

जब प्रत्यक्ष करें यात्रा, उस पुण्य का वर्णन क्या करना।
लेकिन प्रतिदिन भी परोक्ष में, गिरि का ध्यान किया करना।।
आँख बन्दकर करो कल्पना, मेरी यात्रा शुरू हुई।
प्रातःकाल चले सब यात्री, जय जयकारा शुरू हुई।।२।।

एक हाथ में छड़ी दूसरे, में चावल की झोली है।
ज्यादातर सब पैदल हैं, पर किसी-किसी की डोली है।।
कभी न चलने वाले भी, हिम्मत कर पर्वत चढ़ते हैं।
पारस प्रभु के पास पहुँचने, हेतु कदम बढ़ चलते हैं।।३।।

चढ़ते-चढ़ते आठ किलोमीटर, का पथ जब तय होता।
दायें हाथ तरफ तब इक, चौपड़ा कुंड दर्शन होता।।
वहाँ दिगम्बर जिनमंदिर, संस्कृति की अमिट धरोहर है।
पार्श्वनाथ चन्द्रप्रभु बाहुबलि की मूर्ति मनोहर हैं।।४।।

उस मन्दिर में रुककर अपने, प्रभु का दर्शन कर लेना।
सुन्दर बनी धर्मशाला में, इच्छा हो तो ठहर लेना।।
मंदिर दर्शन करके फिर, यात्रा प्रारंभ करो अपनी।
बायें हाथ चलो चढ़ कर जहाँ, गौतम स्वामी टोंक बनी।।५।।

यहाँ पहुँचकर ठंडी-ठंडी, हवा थकान मिटाती है।
गणधर चरण वन्दना से, यात्रा की शक्ती आती है।।
प्रथम टोंक यह हुई पास में, दुतिय टोंक कुंथु जिन की।
तीर्थंकर क्रम में यह पहली, टोंक नमूँ कुंथु प्रभु की।।६।।

इन टोंकों के दर्शन से, उपवास का फल प्रारंभ हुआ।
त्रय प्रदक्षिणा देने से, आगे शुभ गति का बंध हुआ।।

शुभ भावों से आगे बढ़कर, टोंक तीसरी आती है।
श्रीनमिनाथ जिनेश्वर की, वन्दना सहज हो जाती है।।७।।

चौथा नाटक कूट तीर्थंकर, अरहनाथ का आया है।
जहाँ करोड़ों मुनियों ने भी, तपकर शिवपद पाया है।।
वन्दन कर आगे बढ़ने से, मल्लिनाथ के चरण मिले।
आगे छठे टोंक पर श्री, श्रेयाँसनाथ पदकमल मिले।।८।।

इन सबका वन्दन कर मैंने, सिद्धशिला को नमन किया।
वहाँ विराजे सिद्धों को, अपने मन में स्मरण किया।।
थकना नहिं अब पुष्पदंत की, सप्तम टोंक पे चलना है।
आगे चढ़ने हेतु वहीं से, आतमशक्ती भरना है।।९।।

पुष्पदंत प्रभु के चरणों में, अर्घ्य चढ़ाकर नमन किया।
और चले आठवीं टोंक पर, पदमप्रभू की शरण लिया।।
नवमीं टोंक विराजे श्री, मुनिसुव्रत जिन के चरणकमल।
इन सबके पावन पद में, श्रद्धा से मैंने किया नमन।।१०।।

हे भव्यात्मन् ! अब दसवीं चन्द्रप्रभ टोंक पे चलना है।
पहले दौड़-दौड़ कर उतरो, फिर ऊँचाई चढ़ना है।।
चन्द्रप्रभ मंदिर में जाकर, चरणवन्दना करना है।
अपने सारे सुख-दुख को, प्रभु चरण बैठकर कहना है।।११।।

अब ग्यारहवीं टोंक पे चलकर, ऋषभदेव को नमन करो।
गिरि कैलाश से मुक्त हुए, यहाँ उनके चरण चिन्ह प्रणमो।।
श्री शीतल जिनवर की है, बारहवीं टोंक प्रसिद्ध कही।
मन-वच-तन से वन्दन कर, पाओ यात्रा का पुण्य सही।।१२।।

श्री अनंत तीर्थंकर का, तेरहवाँ कूट स्वयंभू है।
उनके चरणों में श्रद्धायुत, शीश झुकाकर वन्दूँ मैं।।
संभव जिनवर का चौदहवाँ, धवलकूट माना जाता।
वासुपूज्य जिनका पन्द्रहवां, टोंक सभी को सुखदाता।।१३।।

इनको वन्दन कर आगे, अभिनन्दन प्रभु के पास चलो।
बन्दर चिन्ह सहित उन प्रभु की, टोंक पे बन्दर से न डरो।।
अभिनन्दन के चरणों में, कर नमन चलो जलमंदिर तक।
चढ़ो वहाँ से जहाँ है गौतम, गणधर प्रभु की टोंक प्रथम।।१४।।

फिर सत्रहवीं टोंक से अपनी, अगली यात्रा करना है।
धर्मनाथ प्रभु के चरणों में, नमन सभी को करना है।।
सुमतिनाथ का अट्ठारहवाँ, टोंक है अविचल कूट कहा।
नौ करोड़ बत्तीस लाख, उपवास का फल मिलता है यहाँ।।१५।।

उन्निसवाँ है टोंक शांतिजिन, का जो यहाँ से मोक्ष गये।
नौ करोड़ से अधिक मुनी, इस कुंदकूट से मोक्ष गये।।
शांतिनाथ के संग सब मुनियों, को श्रद्धा से नमन किया।
पुनः बीसवीं टोंक पे जाकर, वीरप्रभू की शरण लिया।।१६।।

श्री सुपार्श्व तीर्थंकर इक्कीसवीं टोंक पर राजे हैं।
कहते हैं यहाँ की मिट्टी से, रोग सभी नश जाते हैं।।
इनका वंदन करके पास में, विमल नाथ की टोंक चलो।
बाइसवीं इस टोंक को नमकर, अजितनाथ के निकट चलो।।१७।।

थके कदम से तेइसवीं इस, टोंक का वंदन कठिन तो है।
लेकिन यात्रा पूरी करने, का शुभ भाव हृदय में है।।
धीरे-धीरे चढ़कर आखिर, अजितनाथ तक पहुँच गये।
उन चरणों में नमन किया फिर, नेमिनाथ जी प्राप्त हुए।।१८।।

इस चौबिसवीं टोंक पे नेमीनाथ चरण को नमन किया।
पारसनाथ प्रभू पाने हेतू फिर मैंने गमन किया।।
स्वर्णभद्र यह टोंक है अंतिम, यात्रा पूर्ण यहाँ होती।
पार्श्वनाथ की पूजन करके, मन सन्तुष्टि यहाँ होती।।१९।।

कुछ क्षण ध्यान करो फिर नीचे, गुफा में स्थित चरण नमो।
खुशी-खुशी वन्दना पूर्ण कर, पर्वत से नीचे उतरो।।
यही वन्दना आत्मा की, भव्यत्व शक्ति बतलाती है।
तभी "चन्दनामती" सभी में, भक्ति स्वयं आ जाती है।।२०।।

भगवन् ! इस सम्मेदशिखर का, पुनः पुनः दर्शन पाऊँ।
यही भावना है मन में, सिद्धों के गुण में रम जाऊँ।।
इसी क्षेत्र से कभी मुझे, निर्वाण धाम भी मिल जावे।
सिद्ध भक्ति मेरे जीवन में, सिद्ध अवस्था दिलवाये।।२१।।

(6)

शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर महिमा

तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर दिगम्बर जैनों का अनादिनिधन शाश्वत सिद्धक्षेत्र है। जहाँ से अनन्त तीर्थंकरों ने मोक्षप्राप्त किया है और अनन्तानन्त भव्य जीवों ने भी तपस्या करके इस पर्वतराज से निर्वाणधाम को प्राप्त किया है इसीलिए इसे सिद्धक्षेत्र के रूप में सदा से पूजने की परम्परा रही है। जैन समाज में जन्म लेने वाले प्रत्येक नर-नारी को अपने भव्यत्व की पहचान के लिए सम्मेदशिखर की यात्रा/वंदना करने की प्रेरणा विरासत में पूर्वजों के द्वारा प्राप्त होती है और उन्हें प्रारंभ से ही यह पंक्ति सिखाई जाती है—

एक बार वन्दे जो कोई, ताहिं नरक पशुगति नहिं होई।

अर्थात् सम्मेदशिखर पर्वत की एक बार भी वंदना करने वाले मनुष्य को नरक और पशुगति की प्राप्ति नहीं होती है।

श्री देवदत्त यतिवर द्वारा रचित "श्री सम्मेदशिखर माहात्म्य" नामक ग्रंथ में इस अनादि तीर्थ का बड़ा भारी महत्व वर्णित है।

उसमें उन्होंने प्राथमिक रूप में लिखा है कि—

सम्मेदशैलवृत्तान्तो महावीरेण भाषितः।
गौतमं प्रति भूयः स लोहाचार्येण धीमता।।६।।

तत्सद्वाक्यानुसारेण देवदत्ताख्यसत्कविः।
सम्मेदशैल माहात्म्यं प्रकटीकुरुतेऽधुना।।७।।

अर्थ—तीर्थंकर महावीर ने गौतम गणधर के सम्मुख सम्मेदशिखर का वृत्तान्त कहा था। उसे ही फिर से बुद्धिसम्पन्न अष्टम, नवम और दशम अंगधारी आचार्यों में एक आचार्य लोहाचार्य ने कहा। जिनके सद्वाक्यों के अनुसार अपनी बुद्धि व्यवस्थित कर देवदत्त नाम का यह सत्कवि सम्मेदशैल अर्थात् सम्मेदशिखर की महिमा को इस काव्य में प्रगट कर रहा है।।६-७।।

तत्रोत्तमे शैलवरे कूटानां विंशतिर्वरा।
तत्रस्थान्सर्वदा वन्दे तत्प्रमाणाञ्जिनेश्वरान्।।८।।

अर्थात् सिद्धक्षेत्रों में सर्वोत्तम श्रेष्ठ पर्वत सम्मेदशिखर पर श्रेयस्कर बीस कूट हैं, उन बीसों कूटों पर बीस तीर्थंकर के चरण चिन्ह हैं। मैं उन तीर्थंकरों को सर्वदा नमस्कार करता हूँ।।८।।

वर्तमान युग में जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के चौबीस तीर्थंकरों में से बीस तीर्थंकरों ने इस पर्वत के भिन्न-भिन्न कूटों से मोक्ष प्राप्त किया है, उन कूटों के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कवि ने कहा है—

विंशकूटा इमे नित्यं ध्येयाः सम्मेदभूभृतः।
स्वस्वस्वामिसमायुक्ता ध्यानात्सर्वार्थसिद्धिदाः।।१८।।

अर्थ—बीसों ही तीर्थंकरों के अपने-अपने नाम से समलङ्कृत और ध्यान करने पर सर्वार्थों अर्थात् सभी

प्रयोजनभूत पदार्थों की सिद्धि करने वाले ये बीसों ही कूट निरन्तर, हमेशा ध्यान करने योग्य हैं।।१८।।

इस सिद्धक्षेत्र की यात्रा प्राचीनकाल से लोग बड़ी धूमधाम से करते आये हैं। द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ इस सम्मेदशिखर पर्वत से वर्तमान हुण्डावसर्पिणी के प्रथम मोक्षमागी हुए हैं। उनके काल में उत्पन्न हुए सम्राट् सगर चक्रवर्ती ने प्रथम बार यात्रा संघ ले जाकर इस सिद्धक्षेत्र की वंदना की थी पुनः अन्य और महापुरुषों की यात्रा का वर्णन भी आता है—

प्रथमः सगरः प्रोक्तो मघवांश्च ततः परम्।
सनत्कुमार आनन्दः प्रभाश्रेणिक ईरितः।।२०।।

अर्थ—सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर यात्रा संघ लाने वाले प्रथम संघपति सगर चक्रवर्ती थे। उनके बाद क्रमशः मघवान्, सनतकुमार चक्रवर्ती, आनन्द, प्रभाश्रेणिक आदि बताये गये हैं।।२०।।

संघपति प्रभाश्रेणिक के बाद क्रमशः ललितद्योतक, दत्तश्रेष्ठी, कुन्दप्रभ, दत्तशुभ (चरश्रेणिक), दत्तश्रेणिक, सोमप्रभ, सुप्रभ, चारूश्रेणिक, भावदत्तक या भवदत्त, अविचल, आनंदश्रेणिक, सुन्दर, रामचन्द्र, अमर श्रेणिक आदि सुवरान्त अर्थात् जिनका अंतिम समय सुन्दर व श्रेष्ठ है, ऐसे ये भव्य जीव तीर्थयात्रा संघों के संघपति हुए।

सम्मेदशिखर पर्वत जो सभी पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसका विस्तार बारह योजन है। इस पर्वत की प्रत्येक टोंक पर अनन्त मुनिराज मुक्त हुए हैं और इसी पर्वतराज से सिद्धत्व को प्राप्त होकर सिद्ध हुए हैं।

आगे और भी कहा है—

भव्या हि तत्र यात्रार्हा अभव्या नैव संस्मृताः।
भव्या भाविशिवाः प्रोक्ताः क्वचिन्मुक्ता न तत्पराः।।२५।।

अर्थ—जो भविष्य में मुक्त होंगे, वे भव्य जीव तथा जो कभी भी मुक्त नहीं होंगे वे अभव्य जीव कहे गये हैं। सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर यात्रा करने की पात्रता भव्य जीवों की ही मानी गई है, अभव्य जीवों की नहीं।।२५।।

केवलज्ञानी स्नातक मुनिराज ऐसा कहते हैं—"भव्यराशि का कोई भी, कैसा भी पापी जीव सम्मेदशिखर पर ठहरता है या बैठता है तो ४९ भवों के अन्दर ही वह मुक्त हो जाता है। इस संसार में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों में, जो नामकर्म की विभिन्नता से अनेकानेक आकृति वाले हैं, वे भव्यराशि के भाग से वहाँ अर्थात् सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर उत्पन्न होते हैं वे निश्चय ही उनचास भवों के भीतर मोक्ष जाने योग्य भव्य जीव हैं। भव्य राशि से अतिरिक्त जीवों का वहाँ जन्म ही नहीं होता है।

इसी प्रकरण में नरकायु के बंधक राजा श्रेणिक के द्वारा सम्मेदशिखर यात्रा का उपक्रम करने के पश्चात् भी उनकी यात्रा न हो पाने का विषय भी पठनीय है, उसे पढ़कर भव्य जीवों को नरकायु-तिर्यंचायु के बंध के कारणों से सदैव बचने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

नये वस्त्र पहनकर शिखरजी की वंदना करने की परम्परा क्यों है ? प्रायः करके जैन समाज में परम्परा रही है कि सम्मेदशिखर की यात्रा करने वाले बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी नये कपड़े (जो पहले कभी न पहने गये हों) लेकर जाते हैं और वहाँ उन्हें धोकर पहनकर पर्वत पर चढ़ते हैं। इसका कारण तन-मन की

पवित्रता के साथ-साथ वस्त्रों की शुद्धि भी आवश्यक समझना चाहिए।

सम्मेदशिखर माहात्म्य में तो यहाँ तक लिखा है कि—

जो मोक्षफल को चाहने वाला है, वह श्वेत वस्त्र पहनकर सम्मेदशिखर की यात्रा करे। जो पुत्र चाहने वाला है वह सुपुत्र की प्राप्ति के लिए पीले वस्त्र धारण करके सम्मेदशिखर की यात्रा करे। यदि रोग से पीड़ित काले वस्त्र धारण कर यात्रा करने वाला होवे तो कुछ ही दिन बाद वह सरोगी निरोगता को प्राप्त करता है तथा यह भी कि जो सम्मेदशिखर की यात्रा करने वाला है वह कहीं पर शोक को प्राप्त नहीं होता है। जो लक्ष्मी चाहने वाला है, वह ताम्रवर्णीय वस्त्र धारण कर पर्वतराज सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र की यात्रा प्रयत्नपूर्वक करे।

इससे यह अभिप्राय निकलता है कि सर्वोत्तम मोक्षफल की इच्छा से श्वेत वस्त्र पहनकर सम्मेदशिखर की वंदना करना सर्वाधिक शुभ है। उसके मध्य मोक्षप्राप्ति से पूर्व सांसारिक वैभव तो स्वयं प्राप्त हो ही जाएंगे।

चतुर्विध संघ को भी सम्मेदशिखर यात्रा कराने की प्राचीन परम्परा है—हम इस युग में तो बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज के संघ को दक्षिण भारत से सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र की यात्रा सेठ पूनमचंद घासीलाल-मुम्बई परिवार द्वारा कराने का पुण्यमयी इतिहास तो सुनते ही हैं कि उन पुण्यात्माओं ने यह पुण्यकार्य करके अपरिमित धन-धान्य को तो प्राप्त किया ही था, पुनः उनमें से दो भाइयों ने जैनेश्वरी दीक्षा भी धारण करके मोक्षमार्ग को प्रशस्त किया है, जिन्हें मैंने स्वयं अपनी आँखों से (मोतीलाल जौहरी मुनि श्री सुबुद्धिसागर बने और गेंदनमल जौहरी भी दीक्षित हुए) देखा है।

इसी प्रकार पूर्व के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो श्रद्धा से उन चक्रवर्ती सम्राट् के प्रति भी मस्तक नत हो जाता है, जिन्होंने करोड़ों वर्ष पूर्व चतुर्विध संघ को बड़े महोत्सवपूर्वक सम्मेदशिखर की यात्रा करवाई। उस समय का वर्णन भगवान महावीर की दिव्यध्वनि के अनुसार श्री गौतम गणधर स्वामी ने राजा श्रेणिक को बताया, तदनुसार श्री देवदत्त यतिवर ने भी कहा है—

उस सगर चक्रवर्ती नामक श्रेष्ठ राजा अत्यधिक आदर-सत्कारपूर्वक मुनिराजों, आर्यिकाओं, श्रावकों तथा श्राविकाओं के चतुर्विध संघ को साथी बनाकर अर्थात् उन्हें यात्रा के लिए साथ लेकर पहले दिन तीन कोस अर्थात् लगभग ९ किमी. चला।

चक्रवर्ती की उस तीर्थयात्रा में चौरासी लाख शुभ लक्षणों वाले हाथी, अठारह करोड़ शुभ लक्षण सम्पन्न एवं वायु के वेग समान दौड़ने वाले घोड़े तथा चौरासी लाख पदाति सैनिकों की टुकड़ियाँ कही गईं हैं। चक्रवर्ती के साथ यात्रा करने वाले चक्री के सद्वाक्यों की रक्षा करने वाले विद्याधर भी यात्रा के लिए चले।

उस यात्रा में ध्वजाओं एवं नगाड़ों की संख्या एक-एक करोड़ मानी गई है। मार्ग में बाजों की ध्वनि सभी को प्रसन्न करती हुई चलती थी। उस राजा ने अतिशय भक्ति से सम्मेदशिखर पर्वत को ही पूजकर सिद्धवर नामक कूट पर अजितनाथ तीर्थंकर की स्थापना करके और सारे सम्मेदशिखर की तीन बार प्रदक्षिणा देकर जय-जय के घोषों से गूंजता हुआ महोत्सव कराया और वहाँ देवताओं द्वारा किये गये पाँच आश्चर्य हुए जिनको देखकर वहाँ सभी लोग सचमुच आश्चर्यचकित हो गये।

सम्मेदशिखर यात्रा का फल—जब आप इस पर्वत की वंदना करते हैं तो पुस्तक में पढ़ते हैं कि एक-

एक टोंक की वंदना से इतने-इतने करोड़-लाख आदि उपवासों का फल प्राप्त होता है। इसे कपोलकल्पित या भ्रामक नहीं समझना चाहिए, प्रत्युत् पर्वतराज के कण-कण की पवित्रता का स्पर्श करने से जो परिणामशुद्धि होती है, उसी को उपवासों के प्रमाण में हमारे आचार्यों ने निबद्ध करके सम्मेदशिखर पर्वत वंदना की महिमा बताई है। जैसा कि ग्रंथ में भी लिखा है—

ज्ञानीजन बत्तीस करोड़ सच्चे प्रोषधोपवास का जो फल जानते हैं, वह फल सम्मेदशिखर की यात्रा करने वाला यात्री प्राप्त करे, उसके नरकगति और तिर्यंचगति का नाश होता है इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा कथित जो प्रमाण है, वह तुम सभी के लिए सही हो, ऐसी कवि की कामना है।

पुनश्च कहा है—

ईदृक् श्रीजिनराजधर्मकथनं नानाभ्रमध्वंसनम्।
श्रीसम्मेदगिरिप्रमाणसुफलं श्रीवर्धमानेरितम्।।
लोहाचार्यवरेण भूय उदितं श्रुत्वाखिलाः सज्जनाः।
सम्मेदं प्रति यान्तु भावसहिताः सर्वार्थसिद्धिप्रदम्।।९४।।

अर्थात् भगवान् महावीर द्वारा बताया गया, जिनराजों द्वारा बताये धर्म का कथन करने वाला तथा उनके भ्रमों का निवारण करने वाला इस प्रकार जो यह सम्मेदशिखर का प्रामाणिक फल वर्णन मुनिवर्य लोहाचार्य ने पुनः उदित किया है, उसको सभी सज्जन पुरुष भाव सहित अर्थात् तीर्थवंदना की सच्ची भावना से परिपूर्ण होकर सर्वार्थसिद्धि प्रदान करने वाले सम्मेदशिखर की ओर जाओ। यहाँ कवि ने सम्मेदाचल की यात्रा हेतु हम सभी सज्जनों को उत्साहित किया है तथा अपने इस वर्णन को 'लोहाचार्य द्वारा उदित हुआ था'—ऐसा कहकर प्रामाणिक बनाया है।

इस पर्वत की वंदना केवल भव्यजीव ही करने के अधिकारी होते हैं, अभव्य नहीं।

वर्धमानोक्तितः पश्चाल्लोहाचार्येरितं च यत्।
तद्भव्येषु प्रमाणं हि अभव्या नाधिकारिणः।।७७।।

अर्थ—भगवान् महावीर के उपदेश के उपरान्त कुछ समय पीछे लोहाचार्य द्वारा कहा गया या प्रेरित किया गया जो सम्मेदशिखर का माहात्म्य है, वह भव्यजनों में प्रमाण ही है तथा अभव्य लोग उसमें अधिकारी नहीं होते हैं।

सम्मेदशिखर पर्वत पर जहाँ इस युग के द्वितीय तीर्थंकर भगवान अजितनाथ ने सर्वप्रथम योगनिरोध करके मोक्ष प्राप्त किया, वहीं तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के मोक्षगमन के पश्चात् उस पर्वत से किसी तीर्थंकर ने मोक्ष प्राप्त नहीं किया अर्थात् पार्श्वनाथ भगवान सम्मेदशिखर से मोक्ष जाने वाले तीर्थंकरों में अंतिम तीर्थंकर हैं। उनके मोक्ष जाने के बाद भावसेन नाम के राजा ने उस पर्वत की वंदना करके श्रीप्रसन्नमुख मुनिराज की प्रेरणा से पार्श्वनाथ के स्वर्णभद्रकूट पर जिनमंदिर बनवाकर उसमें भगवान पार्श्वनाथ की नीलमणि वाली रत्नप्रतिमा विराजमान की थी, ऐसा वर्णन भी ग्रंथ में आया है।

तीर्थयात्रा करने से संसार यात्रा समाप्त होती है !—प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के अपने-अपने तीर्थ होते हैं, जो उनकी श्रद्धा से जुड़े होते हैं। वे सभी अपने तीर्थों की यात्रा बड़ी भक्ति से करने जाते हैं और आत्मशांति प्राप्त

करते हैं। तीर्थस्थान पवित्रता, शांति और कल्याण के धाम माने जाते हैं। जैनधर्म में भी प्राचीनकाल से तीर्थ का विशेष महत्त्व रहा है। जैनधर्म के अनुयायी प्रतिवर्ष बड़ी श्रद्धापूर्वक अपने तीर्थों की यात्रा करते हैं, उनका विश्वास है कि तीर्थयात्रा से पुण्य संचय होता है और परम्परा से मुक्तिलाभ की प्राप्ति होती है। इसी विश्वास के कारण बालक, वृद्ध, युवा सभी तीर्थभक्त लोग सम्मेदशिखर जैसे दुरूह पर्वतों की वंदना अपने पैरों से करने की भावना करते हैं।

तीर्थक्षेत्रों का माहात्म्य आचार्यों ने लिखा है—

श्री तीर्थपान्थरजसा विरजी भवन्ति, तीर्थेषु विभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति।
तीर्थव्ययादिह नराः स्थिरसंपदः स्यु, भव्या भवन्ति जगदीशमथाश्रयन्तः।।

अर्थात् तीर्थभूमि के मार्ग की रज इतनी पवित्र होती है कि उसके आश्रय से मनुष्य रज रहित अर्थात् कर्ममल रहित हो जाता है। तीर्थों पर भ्रमण करने से अर्थात् यात्रा करने से संसार का भ्रमण छूट जाता है।

निर्वाणक्षेत्र—ये वे क्षेत्र कहलाते हैं जहाँ तीर्थंकरों या किन्हीं दिगम्बर तपस्वी मुनिराज का निर्वाण हुआ हो। शास्त्रों का उपदेश, व्रत, चारित्र, तप आदि सभी कुछ निर्वाण प्राप्ति के लिए है। यही परम पुरुषार्थ है। जिस स्थान पर निर्वाण होता है, उस स्थान पर इन्द्रदेव पूजा को आते हैं तथा चरण-चिन्ह स्थापित कर देते हैं।

तीर्थंकरों के निर्वाणक्षेत्र कुल पाँच हैं—कैलाशपर्वत, चम्पापुरी, पावापुरी, ऊर्जयन्त और सम्मेदशिखर। कैलाश पर्वत से भगवान ऋषभदेव, चम्पापुरी से श्री वासुपूज्य स्वामी, गिरनार से नेमिनाथ स्वामी, पावापुरी से महावीर स्वामी ने कर्मों को नाशकर शाश्वत सुख को प्राप्त किया। सम्मेदशिखर से २० तीर्थंकरों ने कठोर आत्म-साधना कर कर्मों को नाश कर अविनाशी सुख को प्राप्त किया।

निश्चित रूप से सम्मेदशिखर गौरवमय भूमि है। इस भूमि की विशेषता है, व्यक्ति जैसे ही शिखर की प्रथम सीढ़ी पर एक कदम रखता है, आगे ही बढ़ता चला जाता है। हृदय आनन्द से इस तरह सराबोर हो जाता है कि आगे आने वाली थकावट उसे महसूस नहीं होती है।

हमारा हृदय तब कितना प्रसन्न होता है, जब हम सम्मेदशिखर पर्वत के पावन शिखरों पर पहुँचते हैं। आँधी-तूफान, झंझावात, वर्षा, तेज हवाएँ सब कुछ चलती हैं, कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि पूरा शिखर ही हिल रहा है, तब भी निर्वाण की वे ज्योतियाँ अकम्प दिखाई देती हैं।

इस पवित्र तीर्थधाम की यात्रा करना हमारा अहोभाग्य है। यही तो वह पर्वत है, जिसके कण-कण में सिद्धत्व की आभा है। असंख्य वर्षों से मानव ही नहीं वरन् देवों ने भी इसकी पूजन-अर्चन कर जीवन को पवित्र किया है। यहाँ का कंकण-कंकण सिद्ध आत्मा के चरण कमलों के स्पर्श से पवित्र है। यात्रा के समय हृदय में जो हर्षोल्लास, प्रफुल्लता और सहज आनन्द की उपलब्धि होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस पावन तीर्थ की यात्रा, वंदना, दर्शन संकटहारी, पुण्यकारी और पापनाशक है।

भारत का अतीत गौरवमय रहा है। विश्व के अनन्त प्राणी जब अज्ञान के अंधेरे में रास्ते टोह रहे थे, तब इस देश के अनेकों महापुरुष, तीर्थंकर, आचार्य एवं मुनि गहन चिन्तन की अतुल गहराइयों में पहुँचकर सिद्धत्व को प्राप्त कर रहे थे इसीलिए सम्मेदशिखर जैनों का सबसे पवित्र, बड़ा एवं सबसे ऊँचा तीर्थ माना जाता है।

वर्तमान में सम्मेदशिखर पर्वत की ऊँचाई ४५७९ फुट है। इसका क्षेत्रफल (विस्तार) २५ वर्ग मी. में है।

साधारण दिगम्बर जैन यात्रीगण रात्रि को १-२ बजे स्नान कर शुद्ध धुले वस्त्र पहनकर गिरिराज की वंदना को जाते हैं।

दिगम्बर जैन बीसपंथी कोठी से २ फर्लांग की दूरी पर क्षेत्रपाल महाराज की गुमटी है। यहाँ से ढाई मील की दूरी पर गन्धर्व नाला आता है। जहाँ यात्रीगण विश्राम तथा यात्रा से वापसी में जलपान किया करते हैं। यहाँ से १ मी. की दूरी पर सीता नाला बहता है। सीता नाला पर यात्री बंधुओं के लिए शुद्ध जल से पूजन-सामग्री धोने का जल बहता रहता है। इस नाले के पार से १ मील दूर चोपड़ा कुण्ड है, जहाँ दिगम्बर जैन मंदिर है, वहाँ भगवान पार्श्वनाथ, भगवान चन्द्रप्रभ तथा बाहुबली स्वामी की मूर्ति स्थापित है। यहाँ से आधा किलोमीटर की दूरी पर देवाधिदेव कुन्थुनाथ स्वामी तथा गौतम गणधर महाराज की टोंक शुरू होती है। इस पर्वत की वंदना करते समय यात्री जूते, चप्पल, ऊनी वस्त्र, चमड़े की बनी वस्तुओं का उपयोग न करें क्योंकि यह पाप बंध का कारण है।

मधुवन से भगवान् कुंथुनाथ जी की टोंक तक ६ मील (९ किमी.) तथा ऊपर समस्त टोकों की वन्दना का घुमाव ६ मील तथा पार्श्वनाथ से नीचे धर्मशाला तक आने में ६ मील इस प्रकार १८ मील यानि २७ किमी. की यात्रा में पुण्यभूमि के प्रताप से किसी प्रकार की थकावट प्रतीत नहीं होती है। इस गिरिराज से असंख्यात चौबीसी और अनन्तानन्त मुनीश्वरों ने कर्म नाशकर मोक्ष पद प्राप्त किया है।

तीर्थराज सम्मेदशिखर के २० टोंकों से २० तीर्थंकरों के साथ ८६ अरब ४८८ कोड़ाकोड़ी १४० कोड़ी १०२७ करोड़ ३८ लाख ७० हजार तीन सौ तेईस मुनि कर्मों को नाश कर मोक्ष पधारे। इस कारण इस भूमि का कण-कण पूजनीय एवं वंदनीय है।

सभी पापों का संहार करने वाले तीर्थराज की वंदना महान् पुण्य का कारण है। एक बार इस तीर्थ की वंदना करने से ३३ कोटि २३४ करोड़ ७४ लाख उपवास का फल मिलता है।

गिरिराज का प्रभाव है कि विशाल जंगल में नाना प्रकार के क्रूर जीव हैं किन्तु आज तक किसी भी तीर्थयात्री को किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं पहुँचाई, यही तो इसका प्रभाव है।

आचार्यों ने आगम ग्रंथों में लिखा है कि इस १२ योजन (९६ मील) प्रमाण विस्तार वाले सिद्धक्षेत्र में भव्य राशि कैसी भी हो, अत्यन्त पापी जीव भी इसमें रहता हो/जन्म लेता हो तो भी ४९ जन्मों के बीच में कर्म नाश कर बंधन मुक्त हो जाता है।

इसीलिए संसार में सम्मेदशिखर तीर्थ की वंदना का अचिन्त्य फल माना गया है। वर्तमान में सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर अनेक दिगम्बर जैन संस्थाओं के द्वारा विविध जिनमंदिर, आश्रम, धर्मशाला आदि का संचालन हो रहा है। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के द्वारा भी समय-समय पर क्षतिग्रस्त टोंकों एवं चरणचिन्हों का जीर्णोद्धार किया जाता है। पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी सदैव कहा करती हैं कि मेरे गुरुदेव पूज्य आचार्य श्री वीरसागर महाराज कहते थे—

जिसने जीवन में सम्मेदशिखर की वंदना नहीं की, आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के दर्शन नहीं किये उसका जीवन अधूरा है अर्थात् तीर्थों में तीर्थराज सम्मेदशिखर जी एवं गुरुओं में गुरु श्री शांतिसागर जी का दर्शन प्रत्येक भव्यात्मा के लिए कल्याणकारी माना गया है।

ऐसे उस पावन तीर्थ सम्मेदशिखर जी एवं वहाँ से मुक्ति को प्राप्त हुए अनन्तानन्त सिद्ध भगवन्तों को मेरा

अनन्तानन्त बार वंदन है और अन्त में यही भावना है—

भगवन् ! इस सम्मेदशिखर का, पुनः पुनः दर्शन पाऊँ।
यही भावना है मन में, सिद्धों के गुण में रम जाऊँ।।
इसी क्षेत्र से कभी मुझे, निर्वाण धाम भी मिल जावे।
सिद्धभक्ति मेरे जीवन में, सिद्ध अवस्था दिलवावे।।२१।।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-फूलों सा चेहरा तेरा.....

शाश्वत है तीरथ मेरा, सम्मेदगिरि नाम है।
गिरिवरों में श्रेष्ठ है, आदि सिद्धक्षेत्र है, मधुवन परम धाम है।। टेक.।।

कहते हैं इस गिरि की वन्दना से, तिर्यंच नरकायु मिलती नहीं है।
श्रद्धा सहित इसकी अर्चना से, भव्यत्व कलिका खिलती रही है।।

रात अंधेरी हो, भक्ति सहेली हो, लगता न डर पर्वत पर कभी।
अतिशय से गूँजे यहाँ, सांवरिया का नाम है।
गिरिवरों में श्रेष्ठ है, आदि सिद्धक्षेत्र है, मधुवन परम धाम है।।1।।

इस युग के चौबिस तीर्थंकरों में, मोक्ष गए बीस जिनवर यहाँ से।
कितने करोड़ों मुनियों ने भी, तप करके शिवालय पाया यहाँ से।।

तीर्थ पुराना है, श्रेष्ठ खजाना है, सबको तिराता है संसार से।
तीरथ की कीरत अमर, कर सकता इंसान है।
गिरिवरों में श्रेष्ठ है, आदि सिद्धक्षेत्र है, मधुवन परम धाम है।2।।

जिनधर्म निधि को पाकर के उसका, सच्चा सदुपयोग करना है हमको।
आपस में मैत्री, दीनों पे करुणा, का भाव जग में सिखाना है सबको।।

स्वार्थ त्याग करके, शीघ्र जाग करके, जैनत्व की सब रक्षा करो।
तीरथ की रज ''चन्दनामति'' मस्तक का परिधान है।
गिरिवरों में श्रेष्ठ है, आदि सिद्धक्षेत्र है, मधुवन परम धाम है।।3।।

(7)

भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर-एक वास्तविक तथ्य

इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की तीर्थंकर परम्परा में अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के २६००वें जन्मजयंती महोत्सव के संदर्भ में प्राचीन जैनसिद्धान्त एवं पुराणग्रन्थों के अनुसार महावीर स्वामी का शोधपूर्ण वास्तविक परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व श्रीयतिवृषभ आचार्य द्वारा रचित "**तिलोयपण्णत्ति**" ग्रन्थ में वर्णन आया है कि—

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुंडले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४९।।

(चउत्थो महाधियारो पृ. २१०)

अर्थात् भगवान महावीर कुण्डलपुर में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए। यह कुण्डलपुर नगरी वर्तमान में बिहार प्रान्त के नालंदा जिले में स्थित है।

षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड एवं नवमी पुस्तक की टीका में श्रीवीरसेनाचार्य ने भी कहा है कि—

"**आषाढ जोण्ण पक्ख छट्ठीए कुण्डलपुर णगराहिव णाहवंश सिद्धत्थ णरिन्दस्स तिसिला देवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिवसाहिय णवमासे अच्छिम चइत्त सुक्क पक्ख तेरसीए रत्तीए उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो।**"

वर्तमान में बिहार प्रान्त के नालन्दा जिले में स्थित "**कुण्डलपुर**" नगर में जब भगवान महावीर ने जन्म लिया तो जन्म से १५ महीने पूर्व से ही माता त्रिशला के आँगन में रत्नवृष्टि हुई थी। इस रत्नवृष्टि के विषय में "**उत्तरपुराण**" नामक आर्षग्रन्थ में श्रीगुणभद्रसूरि कहते हैं—

तस्मिन्षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेऽस्मिन्विदेहाख्ये, विषये भवनाङ्गणे।।२५१।।
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य, वसुधारापतत्पृथुः।
सप्तकोटीर्मणिः सार्धाः, सिद्धार्थस्य दिनम्प्रति।।२५२।।

आषाढे सिते पक्षे.....(उत्तरपुराण पर्व ७४)

अर्थ—जब अच्युत स्वर्ग में उसकी आयु छह महीने की बाकी रह गई और वह स्वर्ग से अवतार लेने के सन्मुख हुआ उस समय इसी भरतक्षेत्र के विदेह नामक देश में "**कुण्डलपुर**" नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आंगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की भारी वर्षा होने लगी।

हरिवंशपुराण में भी श्रीजिनसेनाचार्य ने द्वितीय सर्ग के अन्दर श्लोक नं. ५ से २४ तक महावीर स्वामी के गर्भकल्याणक का प्रकरण लिखते हुए कुण्डलपुर नगरी का विस्तृत वर्णन किया है तथा उस नगरी की महिमा महावीर के जन्म से ही सार्थक बताते हुये कहा है कि—

एतावतैव पर्याप्तं, पुरस्य गुणवर्णनम्। स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्।।१२।।

(भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हरिवंशपुराण)

अर्थ- इस कुण्डलपुर नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार बनी — भगवान महावीर वहाँ स्वर्ग से आकर अवतीर्ण हुए।

यहाँ विदेह देश के वर्णन से पूरा बिहार प्रान्त माना गया है। उसके अन्दर एक विशाल (९६ मील का) नगर था जैसे — मालवादेश में "उज्जयिनी" नगरी, कौशलदेश में "अयोध्या" नगरी, वत्सदेश में "कौशाम्बी" नगरी आदि के वर्णन से बड़े-बड़े जिलों एवं प्रान्तों के अन्दर राजधानी के रूप में भगवन्तों की जन्मनगरियाँ समझनी चाहिए न कि आज के समान छोटे से ग्राम को तीर्थंकर की जन्मभूमि समझना चाहिए।

महाकवि श्रीपुष्पदंत विरचित "**वीरजिणिंदचरिउ**" (भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९७४ में प्रकाशित) के पृष्ठ ११-१२-१३ पर अपभ्रंश भाषा में वर्णन आया है कि —

इह जंबूद्वीवि भरहंतरालि।रमणीय विसइ सोहा विसालि।।
कुंडउरि राउ सिद्धत्थ सहिउ। जो सिरिहरु मग्गण वेस रहिउ।।

इन पद्यों का हिन्दी अनुवाद करते हुए डॉ. हीरालाल ने लिखा है कि —

जब महावीर स्वामी का जीव स्वर्ग से च्युत होकर मध्यलोक में आने वाला था तब सौधर्म इन्द्र ने जगत कल्याण की कामना से प्रेरित होकर कुबेर से कहा —

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विशाल शोभाधारी विदेह प्रदेश में कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं..... ऐसे उन राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी के शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा जिसके चरणों में इन्द्र भी नमन करेंगे। अतएव हे कुबेर! इन दोनों के निवास भवन को स्वर्णमयी, कान्तिमान व देवों की लक्ष्मी के विलासयोग्य बना दो। **इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने कुण्डलपुर को ऐसा ही सुन्दर बना दिया।**

इसी प्रकरण में आगे देखें —

पहुपंगणि तेत्थु वंदिय चरम जिणिंदें, छम्मास विरइय रयणविट्ठि जक्खिंदें।।७।।

अर्थात् ऐसे उस राजभवन के प्रांगण में अंतिम तीर्थंकर की वन्दना करने वाले उस यक्षों के राजा कुबेर ने छह मास तक रत्नों की वृष्टि की।

माणिक्यचन्द्र जैन बी.ए. खंडवा निवासी ने सन् १९०८ में लिखी गयी अपनी पुस्तक LIFE OF MAHAVIRA (महावीर चरित्र) में कुण्डलपुर के विषय में निम्न निष्कर्ष दिए हैं —

1. The Description of the magnificence of his palace; the ceremonious rejoicings with which the birth of Mahavira was celebrated and the grandeur and pomp of his court; make us belive that Siddhartha was a powerful monarch of his time and his metropolis; Kundalpura; a big populour city. [Pg. 14-15]

"महाराजा सिद्धार्थ के महल की भव्यता, महावीर के जन्म पर मनाई गई खुशियाँ एवं उनके राजदरबार के वैभव का वर्णन हमें इस तथ्य के लिए विश्वस्त कर देते हैं कि सिद्धार्थ अपने समय के शक्तिशाली राजा थे और

उनका महानगर ''**कुण्डलपुर**'' एक बड़ा घनी जनसंख्या वाला नगर था। (पृ. १४.१५)

2. As to the birthplace of Mahavira; it is probable but not certain; as Dr. Hoernle suggests; that the Jaina tradition which represents Kundalpura as a large town may be correct; in as much as Kundalpura is taken as equivalent to Vesali [Sanscrit Vaishali]. He puts his birthplace of Kollaga; another sub of Vaishali.....

उपर्युक्त कथन के द्वारा लेखक श्रीमाणिक्यचन्द्रजी ने एक विदेशी विद्वान् के द्वारा वैशाली के एक स्थान ''**कोलागा**'' को भगवान महावीर का जन्मस्थान कहने पर अपना तर्क प्रस्तुत किया है कि ''**कोलागा**'' को महावीर की जन्मभूमि मानना बिल्कुल अनावश्यक एवं निराधार है क्योंकि ''**कुण्डलपुर**'' उनका जन्मस्थान निर्विवादित सत्य है जैसा कि उन्हीं के शब्दों में देखें—

Both the Digambaras and Shvetambaras assert that Kundalpura was the place where He was born. [Page 17]

अर्थात् दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही एकमत से कुण्डलपुर को ही महावीर स्वामी की जन्मभूमि मानते हैं।

उन्होंने अपनी इसी पुस्तक में ''**महावीरपुराण**'' का संदर्भ देते हुये कुण्डलपुर को एक बड़े शहर के रूप में स्वीकार किया है—

अर्थात् कुण्डलपुर शहर एक बड़ी राजधानी के रूप में सर्वतोमुखी मान्यता का केन्द्र रहा है क्योंकि राजा चेटक अपनी पुत्री त्रिशला जैसी तीर्थंकरजन्मदात्री कन्या का विवाह किसी छोटे-मोटे जमींदार से तो कर नहीं देते बल्कि अपने समान अथवा अपने से भी उच्चस्तरीय राजघराने में ही करते। इसी बात को LIFE OF MAHAVIRA में बताया है।

All these remarks go the show that Siddhartha; if not a powerful monarch; exercised; at least; a kingly authority; if not more to that of Chetaka. [Page 16]

ये कतिपय प्रमाण यहाँ महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर से संबंधित दिए गए हैं अब महावीर के ननिहाल ''वैशाली'' के विषय में जानकारी प्राप्त कीजिए—

१. वीरजिणिंदचरिउ ग्रन्थ की पाँचवी सन्धि (पृष्ठ ६०) में श्रीपुष्पदंत महाकवि कहते हैं कि राजा श्रेणिक ने समवसरण में गौतम गणधर से पूछा है कि हे भगवन् ! मुझे उस आर्यिका चन्दना का चरित्र सुनाइये जिसके शरीर में चन्दन की सुगन्ध है तथा जिसने मिथ्यात्वरूपी अंधकार को दूर कर दिया है। राजा के इस प्रश्न को सुनकर गौतमस्वामी ने कहा है कि श्रेणिक! मैं चन्दना का वृत्तांत कहता हूँ सो सुनो—

सिन्धु-विसई वइसाली-पुरवरि। घर-सिरि-ओहामिय-सुर-वर-घरि।।
चेडउ णाम णरेसरु णिवसइ। देवि अखुद्द सुहद्द महासई।।

अर्थात्—सिन्धुविषय (नदी प्रधान विदेह नामक प्रदेश) में **वैशाली** नामक नगर है जहाँ के घर अपनी शोभा से देवों के विमानों की शोभा को भी जीतते हैं। उस नगर में **चेटक** नामक नरेश्वर निवास करते हैं।

उनकी महारानी महासती सुभद्रा से उनके धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन,

प्रयंग, प्रभंजन और प्रभास नामक दस पुत्र उत्पन्न हुए।

उनकी अत्यन्त रूपवती सात पुत्रियाँ भी हुईं, जिनके नाम हैं—प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभादेवी, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्दना। इनमें से प्रियकारिणी (त्रिशला) का विवाह श्रेष्ठ नाथवंशी कुण्डलपुर नरेश सिद्धार्थ के साथ कर दिया गया।

इसी प्रकार उत्तरपुराण के ७५वें पर्व में वर्णन आया है—

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशाली नगरेभवत्। चेटकाख्योतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः।।३।।

इस ग्रन्थ में भी राजा चेटक के दश पुत्र एवं सात पुत्रियों का कथन करते हुए ग्रन्थकार ने कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ का वर्णन किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से सहज समझा जा सकता है कि बिहार प्रान्त में कुण्डलपुर और वैशाली दोनों अलग-अलग राजाओं के अलग-अलग नगर थे तथा कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ एवं वैशाली के राजा चेटक का अपना-अपना विशेष अस्तित्व था अतः एक-दूसरे के अस्तित्व को किसी की प्रदेश सीमा में गर्भित नहीं किया जा सकता है।

कुछ व्यवहारिक तथ्य—

१. किसी भी कन्या का विवाह हो जाने पर उसका वास्तविक परिचय ससुराल से होता है न कि मायके (पीहर) से।

२. उसकी सन्तानों का जन्म भी ससुराल में ही होता है। हाँ! यदि ससुराल में कोई विशेष असुविधा हो या सन्तान का जन्म वहाँ शुभ न होता हो तभी उसे पीहर में जाकर सन्तान को जन्म देना पड़ता है।

३. पुत्र का वंश तो पिता के नाम एवं नगर से ही चलता है न कि नाना-मामा के वंश और नगर से उसकी पहचान उचित लगती है।

इन व्यवहारिक तथ्यों से महावीर की पहचान ननिहाल वैशाली और नाना चेटक से नहीं किन्तु पिता की नगरी कुण्डलपुर एवं पिता श्री सिद्धार्थ राजा से ही मानना शोभास्पद लगता है। अपना घर एवं नगर भले ही छोटा हो किन्तु महापुरुष दूसरे की विशाल सम्पत्ति एवं नगर से अपनी पहचान बनाने में गौरव नहीं समझते हैं।

फिर वैशाली के दश राजकुमार किनके उत्तराधिकारी बने?

जैन ग्रन्थों के पौराणिक तथ्यों से यह नितान्त सत्य है कि राजा चेटक के दस पुत्र एवं सात पुत्रियाँ थीं। इनमें से पाँच पुत्रियों के विवाह एवं दो के दीक्षाग्रहण की बात भी सर्वविदित है किन्तु यदि तीर्थंकर महावीर को वैशाली के राजकुमार या युवराज के रूप में माना गया तो राजा चेटक के दशों पुत्र अर्थात् महावीर के सभी मामा क्या कहलाएंगे? क्या वे कुण्डलपुर के राजकुमार कहे जाएंगे?

यह न्यायिक तथ्य भी महावीर को कुण्डलपुर का युवराज ही स्वीकार करेगा न कि वैशाली का, अतः कुण्डलपुर के राजकुमार के रूप में ही महावीर का अस्तित्व सुशोभित होता है।

अपनी शोध सामग्री छोड़कर दूसरे उधार लिए गए साक्ष्यों पर विश्वास क्यों करें?

महावीर के पश्चात् जैनशासन दो हजार वर्षों से दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो परम्पराओं में विभक्त हो गया यद्यपि यह एक ऐतिहासिक सत्य है तथापि आज भी दिगम्बर जैनधर्म के अतिप्राचीन प्रमाण मौजूद हैं जिनमें महावीर का जन्मस्थान कुण्डलपुर ही माना गया है और उन तथ्यों के आधार पर तीर्थंकर के जन्म से पूर्व १५ माह तक रत्नवृष्टि हो सकती है। पुनः जहाँ रत्नवृष्टि हुई है, भगवान का जन्म तो उसी घर में मानना पड़ेगा अतः **''महावीर का जन्म त्रिशला माता की कुक्षि से कुण्डलपुर में ही हुआ था''** यह दृढ़ श्रद्धान रखते हुए कुण्डलपुर को विकास और प्रचार की श्रेणी में अवश्य लाना चाहिए।

कुण्डलपुर के विषय में वर्तमान अर्वाचीन (दूसरे साहित्य के अनुसार) शोध का महत्व दर्शाते हुए यदि दिगम्बर जैन ग्रंथों की प्राचीन शोधपूर्ण वाणी को मद्देनजर करके वैशाली को महावीर जन्मभूमि के नाम से माना जा रहा है तो अन्य ग्रन्थानुसार महावीर के दूसरा भाई, महावीर का विवाह, जन्म से पूर्व उनका गर्भपरिवर्तन आदि अनेक बातें भी हमें स्वीकार करनी चाहिए किन्तु शायद इन बातों को कोई भी दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी स्वीकार नहीं कर सकते हैं अतः हमारा अनुरोध है कि अपनी परमसत्य जिनवाणी को आज के थोथे शोध की बलिवेदी पर न चढ़ाकर संसार के समक्ष उन्हीं प्राचीन दि. जैन ग्रन्थों के दस्तावेज प्रस्तुत करना चाहिए। कुल मिलाकर दिगम्बर होकर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों को छोड़कर अन्य प्रमाणों से झूठी प्रामाणिकता सिद्ध करें, यह बात कुछ समझ में नहीं आती है।

वैशाली का विकास महावीर की ननिहाल के नाम से होना चाहिए—

जहाँ जिस क्षेत्र में तीर्थंकर जैसे महापुरुषों के जन्म होते हैं वहाँ की तो धरती ही रत्नमयी और स्वर्णमयी हो जाती है अतः वहाँ दूर-दूर तक यदि उत्खनन में कोई पुरातत्व सामग्री प्राप्त होती रहे तो कोई अतिशयोक्ति वाली बात नहीं है अर्थात् महावीर के ननिहाल वैशाली में यदि कोई अवशेष मिले हैं तो वे जन्मभूमि के प्रतीक न होकर यह पौराणिक तथ्य दर्शाते हैं कि तीर्थंकर महावीर के अस्तित्व को वैशाली में भी उस समय मानकर उनके नाना-मामा सभी गौरव का अनुभव करते हुए सिक्के आदि में उनके चित्र उत्कीर्ण कराते थे तभी वे आज पुरातत्व के रूप में प्राप्त हो रहे हैं।

दिगम्बर परम्परानुसार तीर्थंकर तो अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र ही होते हैं अर्थात् उनके कोई भाई नहीं होता अतः माता-पिता के स्वर्गवासी होने के पश्चात् कुण्डलपुर की महिमा वैशाली में महावीर के मामा आदि जातिबन्धुओं ने प्रसारित कर वहाँ कोई महावीर का स्मारक भी बनवाया हो तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है अतः संभव है कि उस स्मारक के अवशेष वहाँ मिल रहे हों।

वर्तमान में भी यदि वैशाली जनसामान्य के आवागमन का सुविधायुक्त नगर है तो वहाँ महावीर स्वामी का स्मारक आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र बन सकता है किन्तु विद्वानों को उपर्युक्त विषयों पर गहन चिन्तन करके ऐसा निर्णय लेना चाहिए कि प्राचीन सिद्धान्त धूमिल न होने पावें और भगवान महावीर के जन्मजयन्ती महोत्सव मनाने के साथ ही जैनसमाज के द्वारा कोई ऐसा विवादित कार्य न हो जावे कि महावीर की असली जन्मभूमि **''कुण्डलपुर''** ही विवाद के घेरे में पड़कर महावीर जन्मभूमि के सौभाग्य से वंचित हो जावे।

महावीरकालीन कुण्डलपुर को शहर की एक कालोनी नहीं कह सकते—

तीर्थंकर भगवान की जन्मनगरी में साक्षात् सौधर्म इन्द्र एक लाख योजन के ऐरावत हाथी पर बैठकर आता है और वहाँ भारी प्रभावना के साथ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाता है अतः उस नगरी का प्रमाण साधारण नगरियों के समान न मानकर अत्यन्त विशेष नगरी मानना चाहिए।

जैसा कि शास्त्रों में वर्णन भी है कि तीर्थंकर की जन्मनगरी को उनके जन्म से पूर्व स्वर्ग से इन्द्र स्वयं आकर व्यवस्थित करते हैं। जिस कुण्डलपुर को स्वयं इन्द्रों ने आकर बसाया हो उसके अस्तित्व को कभी नकारा नहीं जा सकता है तथा उसके अन्तर्गत अन्य नगरों का मानना तो उचित लगता है, न कि अन्य नगरियों के अन्तर्गत दिल्ली शहर की एक कालोनी की भाँति ''कुण्डलपुर'' को मानना चाहिए।

कालपरिवर्तन के कारण लगभग २५०० वर्षों बाद उस कुण्डलपुर नगरी की सीमा भी यदि पहले से काफी छोटी हो गई हो तो भी उसके सौभाग्यमयी अस्तित्व को नकार कर किसी बड़े नगर को महावीर जन्मभूमि का दर्जा प्रदान कर देना उसी तरह अनुचित लगता है कि जैसे हमारा पुराना घर यदि आगे चलकर गरीब या खण्डहर हो जाये तो किसी पड़ोसी बड़े जमींदार के घर से अपने अस्तित्व की पहचान बनाना।

अभिप्राय यह है कि सर्वप्रथम तो महावीर की वास्तविक जन्मभूमि कुण्डलपुर नगरी का जीर्णोद्धार, विकास आदि करके उसे खूब सुविधासम्पन्न करना चाहिए अन्यथा उसे विलुप्त करने का दुस्साहस तो कदापि नहीं होना चाहिए।

यदि ५० वर्ष पूर्व समाज के वरिष्ठ लोगों ने सूक्ष्मता से दिगम्बर जैन ग्रन्थों का आलोढन किए बिना कोई गलत निर्णय ले लिया तो क्या प्राचीन सिद्धान्त आगे के लिए सर्वथा बदल दिए जाएँगे?

मेरी तो दिगम्बर जैन धर्मानुयायियों के लिए इस अवसर पर विशेष प्रेरणा है कि यदि इसी तरह निराधार और नए इतिहासविदों के अनुसार प्राचीन तीर्थों का शोध चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब अपने हाथ से कुण्डलपुरी, पावापुरी, अयोध्या, अहिच्छत्र आदि असली तीर्थ निकल जाएँगे क्योंकि आज तो बिजौलिया (राज.) के लोग अहिच्छत्र तीर्थ को अस्वीकार करके बिजौलिया में भगवान पार्श्वनाथ का उपसर्ग होना मानते हैं। उसी प्रकार सन् १९९३ में एक विद्वान अयोध्या में एक संगोष्ठी के अन्दर वर्तमान की अयोध्या नगरी पर ही प्रश्नचिन्ह लगाकर उसे अन्यत्र विदेश की धरती पर बताने लगे तब पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने उन्हें यह कहकर समझाया था कि शोधार्थी विद्वानों को इतना भी शोध नहीं करना चाहिए कि अपनी माँ पर ही संदेह की सुई टिकने लगे अर्थात् तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित जिनवाणी एवं परम्पराचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को सन्देह के घेरे में डालकर या उन्हें झूठा ठहराकर लिखे गए शोध प्रबंध हमें मंजूर नहीं हैं।

शोध का अर्थ क्या है?

मुझे समझ में नहीं आता कि अपनी प्राचीन मूल परम्परा पर कुठाराघात करके अर्वाचीन ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करना ही क्या शोध की परिभाषा है? वैशाली कभी भी सर्वसम्मति से महावीर की जन्मभूमि के रूप में स्वीकार नहीं की गई क्योंकि आचार्यश्री धर्मसागर महाराज आदि अनेक साधु-साध्वी इस विषय से सन्

१९७४ में भी असहमत थे और प्राचीन साधु-साध्वी आज भी असहमत हैं। यदि इस जन्मजयन्ती महोत्सव पर वैशाली को "महावीरस्मारक" के रूप में विकसित किया जाता है तब तो संभवतः किसी साधु-साध्वी, विद्वान् अथवा समाज का प्रबुद्धवर्ग उसे मानने से इंकार नहीं करेगा किन्तु महावीर की जन्मभूमि वैशाली के नाम पर अधिकांश विरोध के स्वर गूंजेंगे।

इस विषय में चिन्तन का विषय यह है कि यदि दिगम्बर जैन समाज के ही लोग अपने प्राचीन आगम के प्रमाण छोड़कर दूसरे ग्रन्थों एवं अर्वाचीन इतिहासज्ञों के कथन प्रामाणिक मानने लगेंगे तो उन पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आगम के प्रमाण कौन सत्य मानेंगे? इस तरह तो "प्राचीनभारत" पुस्तक में इतिहासकार प्रो. रामशरण शर्मा द्वारा लिखित जैनधर्म के लिए मिथक कथाओं का गढ़ा जाना आदि बातें भी सत्य मानकर जैनधर्म को भगवान महावीर द्वारा संस्थापित मानने में भी हमें कोई विरोध नहीं होना चाहिए? यदि सन् १९७२ में लिखे गए उस कथन का हम आज विरोध कर उसे पूर्ण असंगत ठहराते हैं तो वैशाली को महावीर की जन्मभूमि कहने पर भी हमें इतिहास को धूमिल होने से बचाने हेतु गलत कहना ही पड़ेगा अन्यथा अपने हाथों से ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के अतिरिक्त कोई अच्छा प्रतिफल सामने नहीं आएगा।

हम तो शोध का अर्थ यह समझते हैं कि अपने मूल इतिहास एवं सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हुये वर्तमान को प्राचीनता से परिचित कराना चाहिए। वैशाली में न तो महावीर स्वामी का कोई प्राचीन मंदिर है और न ही उनके महल आदि की कोई प्राचीन इमारत मिलती है, केवल कुछ वर्ष पूर्व वहाँ "**कुण्डग्राम**" नाम से एक नवनिर्माण का कार्य शुरू हुआ है। जैसा कि पण्डित बलभद्र जैन ने भी "**भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ**" (बंगाल-बिहार-उड़ीसा के तीर्थ) नामक ग्रन्थ में (सन् १९७५ में हीराबाग-बम्बई से प्रकाशित) कुण्डलपुर तीर्थ के विषय में लिखा है—

"कुण्डलपुर बिहार प्रान्त के पटना जिले में स्थित है। यहाँ का पोस्ट आफिस नालन्दा है और निकट का रेलवे स्टेशन भी नालन्दा है। यहाँ भगवान महावीर के गर्भ, जन्म और तपकल्याणक हुए थे, इस प्रकार की मान्यता कई शताब्दियों से चली आ रही है। यहाँ पर एक शिखरबन्द मंदिर है जिसमें भगवान महावीर की श्वेतवर्ण की साढ़े चार फुट अवगाहना वाली भव्य पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। वहाँ वार्षिक मेला चैत्र सुदी १२ से १४ तक महावीर के जन्मकल्याणक को मनाने के लिए होता है।"

कुण्डलपुर या कुण्डपुर को कुण्डग्राम कहकर वैशाली साम्राज्य की एक शासित इकाई मानते हुए क्या हमारे कुछ विद्वान् राजा सिद्धार्थ को चेटक राजा का घरजमाई जैसा तुच्छ दर्जा दिलाकर उन्हें वैशाली के ही एक छोटे से मकान का गरीब श्रावक सिद्ध करना चाहते हैं? क्या तीर्थंकर के पिता का कोई विशाल अस्तित्व उन्हें अच्छा नहीं लगता है?

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी इस विषय में बतलाती हैं कि सन् १९७४ में महावीर स्वामी के २५००वें निर्वाणमहोत्सव के समय पूज्य आचार्य श्री धर्मसागर महाराज, आचार्य श्री देशभूषण महाराज,

पण्डितप्रवर सुमेरचन्द जैन दिवाकर, पंडित मक्खनलाल शास्त्री, डा. लालबहादुर शास्त्री-दिल्ली, पं. मोतीचंद कोठारी-फलटण आदि अनेक विद्वानों से चर्चा हुई तो सब एक स्वर से कुण्डलपुर वर्तमान तीर्थक्षेत्र को ही महावीर जन्मभूमि के रूप में स्वीकृत करते थे, वैशाली किसी को भी जन्मभूमि के रूप में इष्ट नहीं थी।

जरा चिन्तन कीजिए!

उदाहरण के तौर पर गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी का जन्म उत्तरप्रदेश के टिकैतनगर (जिला-बाराबंकी) ग्राम में हुआ है और उनके द्वारा हुई व्यापक धर्मप्रभावना के कार्य दिल्ली, हस्तिनापुर, अयोध्या, प्रयाग, कुण्डलपुर, मांगीतुंगी आदि में हुए हैं। आगे चलकर सौ-दो सौ वर्ष पश्चात् कोई शोधकर्ता इन स्थानों पर कुछ साक्ष्य पाकर टिकैतनगर की बजाए हस्तिनापुर, दिल्ली आदि को माताजी का जन्मस्थान मान ले तो क्या उसे सच मान लिया जाएगा? अर्थात् उन स्थानों को माताजी की कर्मभूमि तो माना जा सकता है किन्तु जन्मभूमि तो जन्म लिए हुए स्थान को ही मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार कुछ पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर **''वैशाली''** को महावीर जन्मभूमि के नाम से मान्यता नहीं दिलाई जा सकती है अतः विद्वान्, आचार्य, साधु-साध्वी सभी गहराई से चिन्तन कर कुण्डलपुर की खतरे में पड़ी अस्मिता की रक्षा करें।

जन्मभूमि के समान ही निर्वाणभूमि के साथ भी खिलवाड़ हुआ है!

वर्तमान की बुद्धिजीवी पीढ़ी ने महावीर स्वामी की कल्याणक भूमियों के भ्रामक प्रचार का मानो ठेका ही ले लिया है। इसे शायद पंचमकाल या हुण्डावसर्पिणी का अभिशाप ही कहना होगा कि महावीर स्वामी की जन्म एवं निर्वाण दोनों भूमियों को विवादित कर दिया गया है।

पच्चीस सौ चवालीस वर्षों पूर्व बिहार प्रान्त की जिस पावापुरी नगरी से महावीर ने मोक्षपद प्राप्त किया वह आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र है और प्रत्येक दीपावली पर वहाँ देश भर से हजारों श्रद्धालु निर्वाणलाडू चढ़ाने पहुँचते हैं। जैसा शास्त्रों में वर्णन आया है बिल्कुल उसी प्रकार की शोभा से युक्त पावापुरी का सरोवर आज उपलब्ध है और उसके मध्यभाग में महावीर स्वामी के अतिशयकारी श्रीचरण विराजमान हैं फिर भी कुछ विद्वान् एवं समाजनेता गोरखपुर (उ.प्र.) के निकट सठियावां ग्राम के पास एक **''पावा''** नामक नगर को ही महावीर की निर्वाणभूमि पावा सिद्धक्षेत्र मानकर अपने अहं की पुष्टि कर रहे हैं।

इस तरह की शोध यदि अपने तीर्थ और शास्त्रों के प्रति चलती रही तब तो सभी असली तीर्थ एवं ग्रन्थों पर प्रश्नचिन्ह लग जाएँगे तथा जैनधर्म की वास्तविकता ही विलुप्त हो जाएगी। पावापुरी के विषय में भी अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं किन्तु यहाँ विषय को न बढ़ाते हुये केवल प्रसंगोपात्त जन्मभूमि प्रकरण को ही प्रकाशित किया गया है सो विज्ञजन स्वयं समझें एवं दूसरों को समझावें।

अध्याय-8
जैन पर्व

सोलहकारण पर्व-

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्ज्वलद्दुःखदाव-
स्कन्धे चंक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेर्यं वराकान्।।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्यप्रक्रा-
न्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात्[१]।।१।।

अर्थ—इस संसाररूपी भीषण वन में दुःखरूपी दावानल अग्नि अतिशय रूप से जल रही है। जिसमें श्रेयोमार्ग—अपने हित के मार्ग से अनभिज्ञ हुए ये बेचारे प्राणी झुलसते हुए अत्यंत भयभीत होकर इधर-उधर भटक रहे हैं। "मैं इन बेचारों को इससे निकाल कर सुख में पहुँचा दूँ।" पर के ऊपर अनुग्रह करने की इस बढ़ती हुई उत्कृष्ट भावना के रस विशेष से तीर्थंकर सदृश पुण्य संचित कर लेने से दिव्यध्वनिमय वचनों के द्वारा जो उसके योग्य मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं वे अर्हंतजिन हम लोगों की रक्षा करें।

'**कर्मारातीन् जयतीति जिनः**' कर्मरूपी शत्रुओं को जो जीतते हैं, वे जिन कहलाते हैं। '**जिनो देवता अस्येति जैनः**' और जिनदेव जिसके देवता हैं—उपास्य हैं वे जैन कहलाते हैं। जिनेन्द्र देव के इस जैनशासन में प्रत्येक भव्य प्राणी को परमात्मा बनने का अधिकार दिया गया है। धर्म के नेता अनंत तीर्थंकरों ने अथवा भगवान महावीर स्वामी ने मोक्षमार्ग के दर्शक ऐसा मोक्षमार्ग के नेता बनने के लिए उपाय बतलाया है। इसी से आप इस जैनधर्म की विशालता व उदारता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस उपाय में सोलहकारण भावनाएं भानी होती हैं और इनके बल पर अपनी प्रवृत्ति सर्वतोमुखी, सर्वकल्याणमयी, सर्व के उपकार को करने वाली बनानी होती है।

"दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनति-चारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधु-समाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यका-परिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य।।२४।।"

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हंतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक अपरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये सोलह कारण भावनाएं तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के लिए हैं अर्थात् इनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है।

इन सोलह भावनाओं में से दर्शनविशुद्धि का होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्य सभी भावनाएं हों अथवा कुछ कम भी हों फिर भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है अथवा किन्हीं एक, दो आदि भावनाओं के साथ

सभी भावनाएं अविनाभावी हैं तथा अपायविचय धर्मध्यान भी विशेषरूप से तीर्थंकर प्रकृति बंध के लिए कारण माना गया है। वैसे यह ध्यान तपो भावना में ही अंतर्भूत हो जाता है।

यह अनादिनिधन षोडशकारण पर्व वर्ष में तीन बार आता है। भादों वदी एकम् से आश्विन वदी एकम् तक, माघ वदी एकम् से फाल्गुन वदी एकम् तक एवं चैत्र वदी एकम् से वैशाख वदी एकम् तक। इस पर्व में षोडशकारण भावनाओं को भा करके परम्परा से तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया जा सकता है।

इन सोलहकारण भावनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१. दर्शनविशुद्धि २. विनयसम्पन्नता ३. शीलव्रतेष्वनतिचार ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ५. संवेग ६. शक्तितस्त्याग ७. शक्तितस्तप ८. साधु समाधि ९. वैय्यावृत्यकरण १०. अर्हद्भक्ति ११. आचार्यभक्ति १२. बहुश्रुतभक्ति १३. प्रवचनभक्ति १४. आवश्यक अपरिहाणि १५. मार्गप्रभावना १६. प्रवचनवत्सलत्व।

इन सोलहकारण भावनाओं में दर्शनविशुद्धि भावना मूल—जड़ है अर्थात् दर्शनविशुद्धि भावना के बिना सभी भावनाएँ अधूरी हैं। इस दर्शनविशुद्धि भावना का अर्थ है—

''जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशंकितत्वाद्यष्टांगादर्शनविशुद्धिः।'' अर्थात् जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ दिगम्बर मोक्षमार्ग में रुचि होना और निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना दर्शनविशुद्धि है।

इसी प्रकार अंतिम प्रवचनवत्सलत्व भावना का अर्थ कितना सुन्दर है—

''वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्।''

जैसे गाय अपने बछड़े को अप्रतिम स्नेह करती है, वैसे ही धर्मात्माओं को देखकर उनके प्रति स्नेह से आर्द्रचित्त हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है।

उपरोक्त सोलहकारण भावनाओं के नाम तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ के आधार से हैं परन्तु षट्खण्डागम ग्रंथ में इन भावनाओं के नामों में कुछ अन्तर है, जो कि इस प्रकार है—

१. दर्शनविशुद्धता, २. विनयसम्पन्नता ३. शीलव्रतों में निरतिचारता ४. छह आवश्यकों में परिहीनता ५. क्षणलवप्रतिबोधनता ६. लब्धिसंवेग सम्पन्नता ७. यथाशक्तितथातप ८. साधुओं के लिए प्रासुक परित्यागता ९. साधुओं की समाधिसंधारण १०. साधुओं की वैयावृत्य योगयुक्तता ११. अरिहंत भक्ति १२. बहुश्रुतभक्ति १३. प्रवचन भक्ति १४. प्रवचनवत्सलता १५. प्रवचनप्रभावनता १६. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग।

इन सोलहकारणों के होने पर जीव तीर्थंकर नामकर्म को बाँधते हैं अथवा सम्यग्दर्शन के होने पर शेष कारणों में से एक-दो आदि कारणों के संयोग से भी तीर्थंकर नामकर्म बंध सकता है।

चातुर्मास के भाद्रपद मास में विशेष रूप से मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका सभी षोडशकारण व्रत को यथाशक्ति करते हैं। श्रावक लोग इस पर्व में हर्षविभोर होकर पूजा-उपासना करते हैं तथा विद्वत्जन इन सोलहकारण भावनाओं को अपने प्रवचन द्वारा लोगों को सुनाकर शांति और सुख का मार्ग दिखाते हैं।

दशलक्षण (पर्यूषण पर्व)-

जैनों का सबसे पवित्र पर्व दशलक्षण पर्व है, जिसे आजकल लोग पर्यूषण पर्व के नाम से भी जानते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय में यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक तथा श्वेताम्बर में भाद्रपद कृ. १२ से भाद्रपद शु. ४ तक मनाया जाता है। इन दिनों में जैन मंदिरों में खूब आनन्द छाया रहता है। प्रतिदिन प्रातःकाल से ही सब स्त्री-पुरुष स्नान करके मंदिरों में पहुँच जाते हैं और बड़े आनन्द के साथ भगवान् की पूजन करते हैं। पूजन समाप्त होने पर प्रतिदिन श्री तत्त्वार्थसूत्र के दस अध्यायों में से एक-एक अध्याय का व्याख्यान और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन धर्मों में से एक-एक धर्म का विवेचन होता है। इन दस धर्मों के कारण इस पर्व को दशलक्षण पर्व कहते हैं क्योंकि धर्म के उक्त दस लक्षणों का इस पर्व में खासतौर से आराधना किया जाता है। व्याख्यान के लिए बाहर से बड़े-बड़े विद्वान् बुलाये जाते हैं और प्रायः सभी स्त्री-पुरुष उनके उपदेश से लाभ उठाते हैं। आश्विन कृष्णा प्रतिपदा के दिन पर्व की समाप्ति होने पर सब एकत्र होकर परस्पर में गले मिलते हैं और गत वर्ष की अपनी गलतियों के लिए परस्पर में क्षमायाचना करते हैं। जो लोग दूर-देशान्तर में बसते हैं उनसे पत्र लिखकर या क्षमावणी कार्ड आदि भेजकर क्षमायाचना की जाती है।

इन दिनों में प्रायः सभी स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत, उपवास वगैरह करते हैं। कोई-कोई दसों दिन उपवास करते हैं, बहुत से दसों दिन तक एक बार भोजन करते हैं। इन्हीं दिनों में भाद्रपद शुक्ला दशमी को सुगंधदशमी पर्व होता है, इस दिन सब जैन स्त्री-पुरुष एकत्र होकर मंदिर में धूप खेने के लिए जाते हैं, इन्दौर वगैरह में यह उत्सव दर्शनीय होता है।

भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी अनन्त चतुर्दशी कहलाती है। इसका जैनों में बड़ा महत्व है। जैन शास्त्रों के अनुसार इस दिन व्रत करने से बड़ा लाभ होता है। दूसरे, यह दशलक्षण पर्व का अंतिम दिन भी है इसलिए इस दिन प्रायः सभी जैन स्त्री-पुरुष व्रत रखते हैं और तमाम दिन मंदिरों में ही बिताते हैं। अनेक स्थानों पर इस दिन जुलूस भी निकलता है। कुछ लोग इन्द्र बनकर जुलूस के साथ जल लाते हैं और उस जल से भगवान का अभिषेक करते हैं फिर पूजन होता है। पूजन के बाद अनन्त चतुर्दशी व्रतकथा होती है। जो व्रती निर्जल उपवास नहीं करते वे भी प्रायः कथा सुनकर ही जल ग्रहण करते हैं।

रत्नत्रय पर्व-

चैत्र, भादों और माघ के अंतिम ३ दिन (सुदी १३-१४-१५) में रत्नत्रय की पूजा और व्रत आदि करके इस पर्व को मनाया जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय की आराधना करके श्रावकजन अपने मोक्षमार्ग के प्रशस्त होने की मंगल भावनाएँ करते हैं।

क्षमावाणी पर्व-

दशलक्षण पर्व की समाप्ति पर आश्विन कृष्णा एकम् को सभी लोग परस्पर मिलते हैं और गत वर्षों में अपने द्वारा की गई गलतियों की क्षमायाचना करते हैं। जो लोग व्यक्तिशः मिल नहीं पाते हैं वे दूरभाष अथवा पत्र द्वारा क्षमायाचना करके इस पर्व को मनाते हैं।

वाचनिक क्षमा की अपेक्षा हार्दिक क्षमा महत्वपूर्ण है। सच्चे हृदय से क्षमायाचना और क्षमादान करना जैन श्रावक का एक बड़ा गुण है जिससे दोनों पक्षों को अकथनीय लाभ होता है अतः इस पर्व को रस्मी तौर पर न मना कर सच्चे मन से मनाना चाहिए। जिनसे हमारा मनमुटाव है, विशेष तौर पर उनसे क्षमायाचना अवश्य करनी चाहिए।

अष्टान्हिका पर्व—

दिगम्बर परम्परा का दूसरा महत्वपूर्ण पर्व अष्टान्हिका पर्व है। यह पर्व कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अंत के आठ दिनों में मनाया जाता है। जैन मान्यता के अनुसार मध्यलोक की अकृत्रिम रचना में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के अन्दर आठवां नंदीश्वरद्वीप है। उस द्वीप में ५२ जिनालय बने हुए हैं। उनकी पूजा करने के लिए स्वर्ग से चारों प्रकार के देवगण उक्त दिनों में जाते हैं। चूँकि मनुष्य वहाँ तक जा नहीं सकते इसलिए उक्त दिनों में आष्टान्हिका पर्व मानकर यहीं पर नंदीश्वर द्वीप के मंदिरों की पूजा कर लेते हैं। इन दिनों में सिद्धचक्र, इन्द्रध्वज, नंदीश्वर आदि पूजा विधान का आयोजन किया जाता है। यह पूजा महोत्सव दर्शनीय होता है।

अक्षय तृतीया पर्व-

भगवान आदिनाथ ने दीक्षा के समय छः मास का उपवास लिया था। उपवासोपरान्त उन्होंने आहार हेतु विहार किया किन्तु उन्हें छह माह उन्नतालिस दिन आहार प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि दान की विधि किसी को मालूम नहीं थी। एक दिन भगवान आदिनाथ को देखकर हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को अपने पूर्व भव का स्मरण हो जाने से दान की विधि मालूम हो गई थी और उन्होंने भगवान को प्रथम बार विधिवत् पड़गाहन कर इक्षुरस (गन्ने का रस) का आहार दिया था। उस दिन वैशाख शुक्ला तृतीया थी। उस दान के निमित्त से उस दिन राजा की रसोई में भोजन अक्षीण (जो कभी क्षीण नहीं होता है) हो गया था अतः आज भी वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन जैन समाज ही नहीं अपितु समस्त समाज में अत्यन्त शुभ माना जाता है, जिसे सभी अक्षय तृतीया पर्व के नाम से मनाते हैं।

महावीर जयंती—

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, भगवान महावीर की जन्मकल्याणक तिथि है। इस दिन भारतवर्ष के सभी जैन अपना कारोबार बंद रखकर अपने-अपने स्थानों पर बड़ी धूमधाम से महावीर जयंती मनाते हैं। प्रातःकाल जुलूस निकालते हैं और रात्रि में सार्वजनिक सभा का आयोजन होता है। भारत भर में बहुत सी प्रान्तीय सरकारों ने अपने प्रान्त में महावीर जयंती की छुट्टी घोषित कर दी है। केन्द्रीय सरकार से भी जैनों की यही मांग है।

वीरशासन जयंती—

जैनों के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर को वैशाख शु. दशमी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर ६६ दिन के बाद उनकी सबसे पहली धर्मदेशना मगध की राजगृही नगरी के विपुलाचल पर्वत पर प्रातःकाल के समय खिरी थी। उसी के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को वीरशासन जयंती मनायी जाती है।

श्रुतपंचमी पर्व—

ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी, जो कि सम्पूर्ण जैन समाज में "श्रुतपंचमी" पर्व के नाम से विख्यात है। इस दिन द्वादशांगमयी सरस्वती देवी की पूजा की जाती है। उस श्रुतपंचमी पर्व के महत्त्व को यहाँ दर्शाया जा रहा है—

सौराष्ट देश में ऊर्जयंतगिरि की चंद्रगुफा में निवास करने वाले अष्टांगमहानिमित्तधारी श्री धरसेनाचार्य के मन में विचार आया कि "आगे अंगश्रुतज्ञान का विच्छेद हो जाएगा अतः जैसे भी हो उस अंगश्रुतज्ञान को सुरक्षित करने का प्रयास करना चाहिए। उसी समय उन्होंने "पंचवर्षीय साधु सम्मेलन" में पधारे दक्षिण देशवासी साधुओं

के पास एक पत्र भेजा। उस पत्र को पढ़कर उन आचार्यों ने दो योग्य मुनि उस आन्ध्रप्रदेश से सौराष्ट्र देश में भेजे। इन दोनों मुनियों के पहुँचने से पहले ही आचार्यप्रवर श्री धरसेनजी को पिछली रात्रि में स्वप्न हुआ कि "दो शुभ्र वृषभ मेरी तीन प्रदक्षिणा देकर मेरे चरणों में नमन कर रहे हैं।" यद्यपि उस स्वप्न का फल वे योग्य शिष्यों का मिलना समझ चुके थे फिर भी उन दोनों के आने पर उनकी परीक्षा के लिए गुरुदेव ने उन दोनों को एक-एक विद्या देकर भगवान नेमिनाथ की सिद्धभूमि में बैठकर विद्या सिद्ध करने का आदेश दिया। गुरु की आज्ञा से वे दोनों विद्या सिद्ध करने हेतु मंत्र जाप करने लगे। जब विद्या सिद्ध हो गई तो उनके सामने दो देवियाँ प्रगट हुईं, उनमें से एक देवी एक आँख वाली थी और दूसरी के दाँत बड़े-बड़े थे। उन दोनों मुनियों ने समझ लिया कि हमारे मंत्रों में कहीं न कहीं दोष है। चिंतन करके मंत्र के व्याकरणशास्त्र से दोनों ने मंत्र शुद्ध किए। एक मुनि के मंत्र में एक अक्षर कम था और दूसरे मुनि के मंत्र में एक अक्षर अधिक था। शुद्ध मंत्र जपने पर सुन्दर वेशभूषा में दो देवियाँ अपने सुन्दर रूप में प्रगट हुईं और बोलीं—हे देव ! आज्ञा दीजिए! क्या करना है ? दोनों मुनि बोले—हमें आपसे कोई कार्य नहीं है, केवल गुरु की आज्ञा से हमने ये मंत्र जपे हैं। ऐसा सुनकर देवियाँ अन्तर्हित हो गईं। दोनों मुनियों ने जाकर गुरुवर श्री धरसेनाचार्य को सारा वृत्तान्त सुनाया। आचार्यश्री ने प्रसन्न होकर शुभ मुहूर्त में दोनों को श्रुतविद्या का अध्ययन कराना प्रारम्भ किया। इन्होंने विनयपूर्वक गुरु से विद्या प्राप्त की पुनः गुरू ने इन दोनों का विहार करा दिया। दोनों मुनियों ने "अंकलेश्वर" ग्राम में जाकर चातुर्मास स्थापित किया। तदनंतर बड़े मुनि श्री पुष्पदंताचार्य अपने भांजे जिनपालित को साथ लेकर उसे मुनि बनाकर बनवास नामक देश को चले गए और भूतबलि आचार्य तमिलदेश को चले गए। श्रीपुष्पदंताचार्य ने जिनपालित मुनि को सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रों को लिखकर पढ़ाया और उसे देकर भूतबलि आचार्य के पास भेज दिया। इन्होंने भी अपने सहपाठी गुरुभाई पुष्पदंताचार्य के अभिप्राय को जानकर और उनकी आयु अल्प जानकर "द्रव्यप्रमाणानुगम" को आदि लेकर षट्खण्डागम ग्रन्थ की रचना पूर्ण की और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन इस ग्रन्थ की चतुर्विध संघ ने पूजा की तभी से श्रुतपंचमी पर्व चला आ रहा है। ये दोनों आचार्य षट्खण्डागम ग्रन्थ के कर्ता माने गए हैं।

उस षट्खण्डागम ग्रन्थ की छह टीकाओं में से आचार्य श्री वीरसेन स्वामी रचित वर्तमान में उपलब्ध "धवला" टीका पर इस बीसवीं सदी की प्रथम बालसती, युगप्रवर्तिका, चारित्रचन्द्रिका गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की लेखनी ने "सिद्धान्तचिन्तामणि टीका" नाम की मौलिक संस्कृत टीका लिखकर समस्त जैन समाज को आश्चर्यचकित कर दिया है। आश्विन शु. १५ दिनाँक ८-१०-९५ से प्रारम्भ कर फाल्गुन शुक्ल १३, वी. नि. सं. २५२३ दिनाँक ७-२-९७ को माधोराजपुरा में प्रथम खण्ड की छह पुस्तकें लगभग ९०० पेज की संस्कृत टीका को अठारह मास में पूर्ण किया। इस महान सूत्रराज का हिन्दी अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। पूज्य माताजी द्वारा सोलहों पुस्तकों का लेखन कार्य पूर्ण हो चुका है।

इस श्रुतपंचमी के दिन श्रावक एवं श्राविकाओं को श्रुत की बड़े समारोह से पूजन करके श्रुतस्कन्ध विधान करना चाहिए, प्राचीन ग्रन्थों को सुरक्षित नए वेष्टन में बाँधकर आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों को मंगाकर मंदिरों में विराजमान करना चाहिए तथा सिद्ध, श्रुत, आचार्य आदि भक्ति करके केवलज्ञान में सहायक ऐसा असीम पुण्य संचित करना चाहिए।

दीपावली—

ऊपर जो जैन पर्व बतलाये गये हैं वे ऐसे हैं जिन्हें केवल जैन धर्मानुयायी ही मानते हैं। इनके सिवाय कुछ पर्व ऐसे भी हैं जिन्हें जैनों के सिवाय हिन्दू जनता भी मानती है। ऐसे पर्वों में सबसे अधिक उल्लेखनीय दीपावली का पर्व है। यह पर्व कार्तिक मास की अमावस्या की संध्या को मनाया जाता है। साफ सुथरे मकान कार्तिकी अमावस्या की संध्या को दीपों के प्रकाश से जगमगा उठते हैं। घर-घर लक्ष्मी का पूजन होता है। सदियों से यह त्योहार मनाया जाता है, कोई इसका संबंध रामचन्द्र जी के अयोध्या लौटने से लगाते हैं। कोई इसे सम्राट अशोक की दिग्विजय का सूचक बतलाते हैं किन्तु रामायण में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, इतना ही नहीं, किन्तु किसी हिन्दू पुराण वगैरह में भी इस संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध धर्म में तो यह त्योहार मनाया नहीं जाता, रह जाती है जैन संस्कृति। इस समाज में शक सं. ७०५ (वि. सं. ८४०) का रचा हुआ हरिवंशपुराण है। उसमें भगवान् महावीर के निर्वाण का वर्णन करते हुए लिखा है—'महावीर भगवान् भव्य जीवों को उपदेश देते हुए पावानगरी में पधारे और वहाँ के एक मनोहर उद्यान में चतुर्थ काल के तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर कार्तिकी अमावस्या के प्रभातकालीन बेला के समय, योग का निरोध करके कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए। चारों प्रकार के देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से पावानगरी का आकाश प्रदीप्त हो रहा था। उसी समय से भक्त लोग जिनेश्वर की पूजा करने के लिए भारतवर्ष में प्रतिवर्ष उनके निर्वाण दिवस के उपलक्ष्य में दीपावली मनाते हैं।

जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन सायंकाल में उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर को पूर्णज्ञान—केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। मुक्ति और ज्ञान को जैनधर्म में सबसे बड़ी लक्ष्मी माना है और प्रायः मुक्तिलक्ष्मी और ज्ञानलक्ष्मी के नाम से ही शास्त्रों में उनका उल्लेख किया गया है अतः संभव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मी के पूजन की प्रथा ने धीरे-धीरे जनसमुदाय में बाह्य लक्ष्मी के पूजन का रूप ले लिया हो। बाह्यदृष्टिप्रधान मनुष्य समाज में ऐसा प्रायः देखा जाता है। लक्ष्मी पूजन के समय मिट्टी का घरौंदा (हटड़ी) और खेल-खिलौने भी रखे जाते हैं। इस बारे में लोग कहा करते हैं कि यह हटड़ी भगवान् महावीर अथवा उनके शिष्य गौतम गणधर की उपदेश सभा (समवसरण) की यादगार में है और चूँकि उनका उपदेश सुनने के लिए मनुष्य, पशु सभी जाते थे अतः उनकी यादगार में उनकी मूर्तियाँ (खिलौने) रखे जाते हैं। इस तरह दीपावली के प्रकाश में हम प्रतिवर्ष भगवान की निर्वाणलक्ष्मी का पूजन करते हैं और जिस रूप में उनकी उपदेश सभा लगती थी, उसका साज सजाते हैं। परम्परागतरूप से गौतम गणधर को प्राप्त केवलज्ञानलक्ष्मी के प्रतीक में भी लक्ष्मी पूजन की जाती है।

दीपावली के प्रातःकाल में सभी जैन मंदिरों में महावीर निर्वाण की स्मृति में बड़ा उत्सव मनाया जाता है और निर्वाणलाडू चढ़ाकर भगवान की विशेष पूजा की जाती है। इस ढंग की पूजा का आयोजन केवल इसी दिन होता है। इससे घर-घर में उस दिन जो मिष्ठान्न बनता है, उसका उद्देश्य भी समझ में आ जाता है।

वीर निर्वाण सम्वत्-

कार्तिक कृष्णा अमावस्या सन् ५२७ ईसा पूर्व को भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। उस तिथि से वीर निर्वाण सम्वत् प्रारम्भ हुआ है। यह विक्रम सम्वत् से ४७० वर्ष और ईसवी सन् से ५२६ वर्ष पुराना है।

सलूनो या रक्षाबंधन—

दूसरा उल्लेखनीय सार्वजनिक त्योहार, जिसे जैन लोग भी बड़ी श्रद्धा से मनाते हैं, सलूनो या रक्षाबंधन पर्व है। साधारणतः इस त्योहार के दिन घरों में सेमई की खीर बनती है।

साथ ही साथ उत्तर भारत में एक प्रथा और है। उस दिन हिन्दू मात्र के द्वार पर दोनों ओर मनुष्य के चित्र बनाये जाते हैं उन्हें 'सोन' कहते हैं। पहले उन्हें जिमाकर उनके राखी बांधी जाती है, तब घर के लोग भोजन करते हैं।

जैन पुराणों में रक्षाबंधन की कथा मिलती है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

किसी समय उज्जैनी नगरी में श्रीधर्म नाम का राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे—बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद। एक बार दिगम्बर जैन मुनि अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियों के संघ के साथ उज्जैनी में पधारे। मंत्रियों के मना करने पर भी राजा मुनियों के दर्शन के लिए गया। उस समय सब मुनि ध्यानस्थ थे। लौटते हुए मार्ग में एक मुनि से मंत्रियों का शास्त्रार्थ हो गया। मंत्री पराजित हो गये। क्रुद्ध मंत्री रात्रि में तलवार लेकर मुनियों को मारने के लिए निकले। मार्ग में गुरु की आज्ञा से उसी शास्त्रार्थ के स्थान पर ध्यान में मग्न अपने प्रतिद्वन्द्वी मुनि को देखकर मंत्रियों ने उन पर वार करने के लिए जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, उनके हाथ ज्यों के त्यों कीलित हो गये। दिन निकलने पर राजा ने मंत्रियों को देश से निकाल दिया। चारों मंत्री अपमानित होकर हस्तिनापुर के राजा पद्म की शरण में आये। वहाँ बलि ने अपने रण कौशल से पद्म राजा के एक शत्रु को पकड़कर उसके सुपुर्द कर दिया। राजा पद्म ने प्रसन्न होकर उसे मुंहमांगा वरदान दिया। समय आने पर बलि ने वरदान मांगने के लिए कह दिया।

कुछ समय बाद मुनि अकम्पनाचार्य का संघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आया और वहीं वर्षावास कर लिया। जब बलि वगैरह को इस बात का पता चला तो वे बहुत घबराये, पीछे उन्हें अपने अपमान का बदला चुकाने की युक्ति सूझ गयी। उन्होंने वरदान का स्मरण दिलाकर राजा पद्म से सात दिन का राज्य मांग लिया। राज्य पाकर बलि ने मुनि संघ के चारों ओर एक बाड़ा खड़ा कर दिया और उसके अन्दर हवन यज्ञ करना शुरू कर दिया।

इधर मुनियों पर यह उपसर्ग प्रारंभ हुआ, उधर मिथिला नगरी में तपस्यारत एक निमित्तज्ञानी मुनि को इस उपसर्ग का पता लग गया। उनके मुंह से 'हा-हा' निकला। पास में बैठे एक क्षुल्लक ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने सब हाल बतलाया और कहा कि विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई है वे इस संकट को दूर कर सकते हैं। क्षुल्लक तत्काल अपनी विद्या के बल से मुनि विष्णुकुमार के पास गये और उनको सब समाचार सुनाया। विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुर के राजा पद्म के भाई थे। वे तुरन्त अपने भाई पद्म के पास पहुँचे और बोले, 'पद्मराज! तुमने यह क्या कर रखा है ? अपनी कुलपरम्परा में ऐसा अनर्थ कभी नहीं हुआ। यदि राजा

ही तपस्वियों पर अनर्थ करने लगे तो उसे कौन दूर कर सकेगा ? यदि जल ही आग को भड़काने लगे तो फिर उसे कौन बुझा सकेगा ?' उत्तर में पद्म ने बलि को राज्य दे देने का सब समाचार सुनाया और कुछ कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब विष्णुकुमार मुनि वामनरूप धारण करके बलि के यज्ञ में पहुँचे और बलि के प्रार्थना करने पर तीन पैर धरती उससे मांगी। जब बलि ने दान का संकल्प कर दिया तो विष्णुकुमार ने विक्रियाऋद्धि के द्वारा अपने शरीर को बढ़ाया। उन्होंने अपना पहला पैर सुमेरु पर्वत पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरा पैर स्थान न होने से आकाश में डोलने लगा। तब सर्वत्र हाहाकार मच गया, देवता दौड़ पड़े और उन्होंने विष्णुकुमार मुनि से प्रार्थना की, 'भगवन्! अपनी इस विक्रिया को समेटिये। आपके तप के प्रभाव से तीनों लोक चंचल हो उठे हैं। तब उन्होंने विक्रिया को समेटा। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और बलि को देश से निकाल दिया गया।

बलि के अत्याचार से सर्वत्र हाहाकार मच गया था और लोगों ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब मुनियों का संकट दूर होगा तो उन्हें आहार कराकर ही भोजन ग्रहण करेंगे। संकट दूर होने पर सब लोगों ने सेमइयों की खीर का हल्का भोजन तैयार किया, क्योंकि मुनि कई दिन के उपवासी थे। मुनि केवल सात सौ थे अतः वे केवल सात सौ घरों पर ही पहुँच सकते थे इसलिए शेष घरों में उनकी प्रतिकृति बनाकर और उसे आहार देकर प्रतिज्ञा पूरी की गई। सबने परस्पर में रक्षा करने का बंधन बांधा, जिसकी स्मृति त्योहार के रूप में अब तक चली आ रही है। दीवारों पर जो चित्र रचना की जाती है उसे 'सोन' कहा जाता है, यह 'सोन' शब्द 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। प्राचीनकाल में जैन साधु श्रमण कहलाते थे। इस प्रकार से सलूनो या रक्षाबंधन त्योहार जैन त्योहार के रूप में जैनों में आज भी मनाया जाता है। उस दिन विष्णुकुमार और सात सौ मुनियों की पूजा की जाती है। उसके बाद परस्पर में राखी बांधकर दीवारों पर चित्रित 'सोन' को आहारदान दिया जाता है। तब सब भोजन करते हैं और गरीबों को दान भी देते हैं।

अध्याय-9
जैनेश्वरी दीक्षा-शास्त्रीय विश्लेषण

(1)
दीक्षा का महत्त्व

जैनधर्म के अनुसार संसार, शरीर, भोगों से विरक्त मानव के २८ मूलगुण अथवा ११ प्रतिमारूप सकलसंयम या देशसंयम ग्रहण करने का नाम 'दीक्षा' है। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा भी है—

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

अर्थ—मोहरूपी अंधकार के नष्ट हो जाने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करके साधुजन राग-द्वेष की निवृत्ति से सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् अनंत संसार को वृद्धिंगत करने वाली मोह मदिरा को पीकर यह जीव अनादिकाल से संसार की चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। आत्मकल्याण के इच्छुक वही जीव जब मिथ्यात्वयुक्त मोह को घटाकर सम्यक्त्व क्रियाओं सहित चारित्र को गुरु के समीप धारण करते हैं तब दीक्षा की प्रक्रिया आरंभ होती है।

व्यवहारिक दृष्टि से जिस प्रकार विवाहोपरान्त कन्या और वर का जीवन पूर्णरूपेण गृहस्थ धर्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार गुरु के करकमलों से मुनि-आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिका रूप व्रतों को धारण करने पर यतिधर्म के रूप में मानव जीवन का आमूल चूल परिवर्तन होता है। एक वैराग्य अष्टक में मैंने लिखा है—

दीक्षा का अर्थ न केवल वेष का परावर्तन कहलाता है।
इस परिवर्तन के साथ भाव परिवर्तन भी हो जाता है।।
आतमज्योति का दीप जले पशुता का भाव क्षपण होता।
वह दानक्षपण से सहित भाव ही दीक्षा का मतलब होता।।१।।
अपने दीक्षित परिणामों को मैं सदा-सदा स्मरण करूँ।
यदि किंचित विकृति हो मन में उस ही क्षण का संस्मरण करूँ।।
कलिकाल का यह अभ्यास मेरा परभव में मुक्ति दिलाएगा।
भव भव का यह पुरुषार्थ मेरा फिर व्यर्थ कभी ना जाएगा।।२।।

अर्थात् वेष परिवर्तन के साथ-साथ मन का परिवर्तन होकर भावों में परम शुद्धता आती है और सिरमुण्डन—

केशलोंच के साथ मन का मुण्डन भी होता है, इन्द्रियों को वश में किया जाता है एवं वस्त्र त्याग के साथ-साथ विकारों को पूर्णरूपेण हटाया जाता है।

दिगम्बर जैन परम्परा की दीक्षा में दीक्षार्थी स्त्री-पुरुष के वैराग्य परिणामों की परीक्षा करके गुरू सर्वप्रथम उनका केशलोंच करते हैं पुनः मस्तक पर मूलगुणों के संस्कार आरोपित कर उन्हें पूज्य बनाते हैं। मुनि-आर्यिकाओं के वे २८ मूलगुण श्री गौतम स्वामी के शब्दों में—

वदसमिदिंदिय रोधो, लोचो आवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदन्तवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।

५ महाव्रत, ५ समिति, पंचेन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक (समता-स्तव-वंदना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-कायोत्सर्ग), केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त (एक बार भोजन) ये अट्ठाईस मूलगुण मुख्यरूप से मुनियों के होते हैं। इनमें से आर्यिकाओं के आचेलक्य—निर्वस्त्र के स्थान पर एक साड़ी पहनने का विधान है तथा स्थितिभोजन—खड़े होकर करपात्र में भोजन करने की जगह बैठकर करपात्र में भोजन ग्रहण करना ही उनका मूलगुण है इसीलिए चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी की गुरु परम्परानुसार आर्यिकाओं के भी मुनियों के समान ही २८ मूलगुण माने जाते हैं तथा उन्हें मुनियों के समान ही दीक्षाविधि से दीक्षित करके प्रायश्चित्तादि एक समान प्रदान किया जाता है, जबकि क्षुल्लक-क्षुल्लिका की दीक्षाविधि बिल्कुल भिन्न होती है।

दीक्षा की परिभाषा बताते हुए एक नीतिकार ने कहा है—

दीयते ज्ञानसद्भावं, क्षीयते पशुभावना।
दानक्षपणभावेन, दीक्षा तेनैव उच्यते।।

अर्थात् दी और क्षा इन दो शब्दों के द्वारा ज्ञान के सद्भाव का आदान-प्रदान एवं पशुत्व भावना का क्षपण होकर "दीक्षा" का अर्थ स्पष्ट और सार्थक हो जाता है। इसमें सिर मुंडन—केशलोंच के साथ-साथ मन और इन्द्रियों का भी मुण्डन—निग्रह होता है। ऐसी सम्यक् दीक्षा से दीक्षित साधुओं के लिए सागारधर्मामृत में वर्णन आया है—

कलिप्रावृषि मिथ्यादृङ्, मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत् सुदेष्टारो, हा! द्योतन्ते क्वचित्-क्वचित्।।

अर्थात् इस कलिकालरूपी वर्षाऋतु में जब दिशाएं मिथ्यादृष्टियों रूपी काली घटाओं से आच्छन्न (व्याप्त) हैं, ऐसी स्थिति में खेद है कि जिनमुद्रा के धारक साधु जुगनू के समान कहीं-कहीं प्रकाशित होते हैं-विचरण करते हैं।

किन्तु यह कलिकाल भी किसी अपेक्षा से पुण्यशाली है कि आज लगभग पन्द्रह सौ से अधिक साधु-साध्वियों का विचरण पूरे देश में हो रहा है। इसी शृँखला में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज की परम्परा को सुवासित एवं वृद्धिंगत करने वाली पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी वर्तमान साधु जगत् की प्रकाशस्तंभ हैं।

वर्तमान युग की सबसे प्राचीन दीक्षित हैं ज्ञानमती माताजी—जब सारा संसार भौतिकता की चकाचौंध में निमग्न था। भारत देश भी परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्ति पाने के लौह प्रयास में रत था। न जाने कितने वीर सैनिक, वीरांगना बालाएं तथा उनके परिवार अपने देश की स्वतंत्रता हेतु बलिदानी शक्ति का परिचय दे रहे थे। ऐसे संक्रमण काल में सन् १९३४ में २२ अक्टूबर (शरदपूर्णिमा) का दिन जैन समाज और भारतीय संस्कृति के लिए एक ऐतिहासिक दिवस के रूप में सिद्ध हुआ, जब टिकैतनगर (जि.-बाराबंकी, उ.प्र.) में दिगम्बर जैन अग्रवाल जातीय गोयल गोत्रीय परिवार में एक देवीस्वरूपा कन्यारत्न ने जन्म लेकर देश के स्वतंत्रता संग्राम के साथ-साथ नारी स्वतंत्रता का अभियान चलाया।

पिता छोटेलाल एवं माता मोहिनी की मातृत्व को धन्य करने वाली उस "मैना" नाम की कन्या ने पूर्व जन्म के धार्मिक संस्कार एवं माँ को दहेज में प्राप्त "पद्मनंदिपंचविंशतिका" ग्रंथ के स्वाध्याय से उत्पन्न वैराग्य के कारण १८ वर्ष की अल्प आयु में सन् १९५२ की शरदपूर्णिमा को भारतगौरव आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज से सप्तम प्रतिमा रूप आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण कर घर का त्याग कर दिया, पुनः सन् १९५३ में चैत्र कृ. एकम को श्री महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर क्षुल्लिका दीक्षा लेकर सन् १९५३-५४ व ५५ के तीन चातुर्मास क्रमशः टिकैतनगर, जयपुर और म्हसवड़ (महाराष्ट्र) में सम्पन्न किए।

पुनः चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के आदेशानुसार उनके प्रथम पट्टशिष्य आचार्यश्री वीरसागर महाराज से माधोराजपुरा (राज.) में वैशाख कृष्णा दूज को आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर "ज्ञानमती" नाम प्राप्त किया। यही दीक्षा बीसवीं-इक्कीसवीं सदी के लिए वरदान बन गई क्योंकि शताब्दी की प्रथम क्वाँरी कन्या के रूप में आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने दीक्षा का सूत्रपात कर दिया, फिर तो सैकड़ों-हजारों कन्याओं के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। उनके इस त्यागमयी उपकार को साधु समूह कभी भी विस्मृत नहीं कर सकता। सन् २००६ में उस आर्यिका दीक्षा के भी ५० वर्ष पूर्ण करने वाली वे वर्तमान की एकमात्र गणिनीप्रमुख मातुश्री हैं इसीलिए उनका "दीक्षा स्वर्ण जयंती महोत्सव" बड़े धूमधाम से मनाया गया। उसी क्रम में वर्ष २०१८ में अपने दीक्षित अवस्था के बासठ वर्ष पूर्ण कर त्रेसठवें वर्ष में प्रवेश करने वाली एकमात्र माता "गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी" हैं तथा पिच्छिका लेकर ६५ वर्ष पूर्ण किये हैं, जो एक प्राचीन मूर्ति के समान परम पूज्यनीय और जिनशासन की अमिट धरोहर बन चुकी हैं।

ब्रह्मचर्य की अखण्ड साधना से प्राप्त हुआ है चमत्कारिक प्रभाव—जब एक सद्गृहस्थ के शीलव्रत मात्र के पालन से अग्नि जल में और शूली सिंहासन में परिवर्तित हो जाती है तो पूर्ण ब्रह्मचर्य के धारी साधु-साध्वियों में यदि अतिशय प्रगट हो जाता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उस ब्रह्मचर्य महाव्रत की अखण्ड साधना करके जिन्होंने ८४ वर्षीय जीवन को स्वर्णिम आभा से परिपूर्ण कर लिया है इसीलिए उनके आशीर्वाद एवं कार्यकलापों में अतिशय चमत्कार प्रकट हो गया है। इस चमत्कार के समक्ष प्रत्येक प्राणी निष्पक्ष भाव से नतमस्तक होता है।

यह सत्य है कि १३० करोड़ से अधिक की जनसंख्या वाले भारत देश में जैन समाज की संख्या वर्तमान में अति अल्प है किन्तु उसकी आध्यात्मिक देन के रूप में अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांत एवं ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त

आज भी पूरे विश्व के लिए प्रेरणास्रोत हैं। जैन रामायण के अनुसार तो साधु-संतों की तपस्या का छठा भाग पुण्य देश के राजा को भी प्राप्त होता है, जिससे राजा को न्यायपूर्वक राज्यव्यवस्था संचालित करने का बल प्राप्त होता है।

जैसे कोई व्यापारी दीर्घकाल तक व्यापार करके अपनी पूंजी बनाकर बड़ा सेठ बन जाता है, उद्योगपति अनेक पुरुषार्थों के द्वारा वृद्धि करके उद्योगजगत में अपना नाम रोशन करता है, वैज्ञानिक अपने नये-नये प्रयोगों के द्वारा देश को नई-नई उपलब्धियाँ प्रदान करता है, उसी प्रकार पूज्य ज्ञानमती माताजी ने अपनी दीर्घकालीन तपस्या से देश को साहित्य एवं तीर्थ की चिरस्मरणीय उपलब्धियाँ प्रदान करके सबको अपने वात्सल्य और आशीर्वाद से अभिसिंचित किया है। उनके पावन श्रीचरणों में कोटि-कोटि वंदन करते हुए उनके दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन हेतु भगवान से मंगल प्रार्थना है।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-हे वीर.....

हे ज्ञानमूर्ति, मां ज्ञानमती, तव ज्ञान किरण यदि पा जाऊं।
अज्ञान अंधेरा दूर भगा, निज ज्ञानज्योति को प्रगटाऊँ।।टेक.।।

उपकार करूँ सारे जग का, यह भाव हृदय में आता है।
दुःखियों को देख हृदय रोता, मन करुणा से भर जाता है।।
दो शक्ति मुझे मैं सब जग का, दुःख दूर स्वयं ही कर पाऊँ।।
अज्ञान अंधेरा दूर भगा, निज ज्ञानज्योति को प्रगटाऊँ।।1।।

भारत इक था गुलजार चमन, हिंसा ने उसको नष्ट किया।
सच्चाई के इस उपवन को, स्वार्थी तत्त्वों ने भ्रष्ट किया।।
ऐसी शक्ती मैं प्रगट करूँ, जो विश्वशांति को ला पाऊँ।
अज्ञान अंधेरा दूर भगा, निज ज्ञानज्योति को प्रगटाऊँ।।2।।

भगवान न यदि बन सकूँ तो मैं, इंसान की श्रेणी पा जाऊँ।
यदि साधु नहीं बन सकूँ तो मैं, सज्जन की श्रेणी पा जाऊँ।
निज पर को भी "चंदनामती", मैं सज्जनता सिखला पाऊँ।
अज्ञान अंधेरा दूर भगा, निज ज्ञानज्योति को प्रगटाऊँ।।3।।

(2)

ब्राह्मी-सुन्दरी ने दीक्षा क्यों ग्रहण की थी ?

महापुराण के अन्तर्गत आदिपुराण ग्रन्थ के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी-सुन्दरी को युग की आदि में सर्वप्रथम विद्या ग्रहण कराया था अतः वे अपने पिता त्रैलोक्यगुरु के अनुग्रह से सरस्वती की साक्षात् प्रतिमा के समान बन गई थीं। पुनः भरत आदि पुत्रों को भी भगवान ने समस्त विद्याएँ सिखाई थीं।

इसी प्रकरण में आप लोगों को एक विशेष बात जानना है कि ब्राह्मी-सुन्दरी ने ऋषभदेव के समवसरण में आर्यिका दीक्षा धारण की थी। उनके विषय में अनेक विद्वानों की यह धारणा बनी हुई है कि ब्राह्मी-सुन्दरी ने इसलिये दीक्षा ली कि उनके पिता भगवान ऋषभदेव को उनके पति के लिए नमस्कार करना पड़ता किन्तु दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा कथन नहीं मिलता है इसीलिये लोग कन्याओं के जन्म को अभिशाप मानने लगते हैं तथा यह भी कह देते हैं कि भगवान ऋषभदेव के पुत्री होना भी हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है किन्तु यह कथन भी सर्वथा गलत है क्योंकि किसी प्राचीन आचार्य प्रणीत ग्रन्थ में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

दामाद के पैर छूने या नमस्कार करने की परम्परा आज भी सब जगह देखने में नहीं आती है। मैंने अवधप्रान्त में देखा है कि दामाद स्वयं अपने ससुर को पिता मानकर पैर छूते हैं। भगवान शांतिनाथ की छियानवे हजार रानियों में क्या किसी से पुत्री नहीं जन्मी होगी? अवश्य जन्मी होगी और उनके विवाह आदि भी हुए ही होंगे। तीर्थंकर जैसे महापुरुष के लिए दामाद को नमस्कार करने जैसी बात कहना अत्यन्त असंगत है क्योंकि वे तो जन्म से ही माता-पिता, मुनि आदि को भी नमस्कार नहीं करते हैं, यह उनकी नियति ही मानना चाहिये। इसी प्रकार महान सती कन्या ब्राह्मी-सुन्दरी के वैराग्य की अवमानना करते हुए उनकी दीक्षा के विषय में भी ऐसी कुशंका उपस्थित नहीं करना चाहिये।

अनेक प्रतिष्ठाचार्य विद्वान् पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में मंच पर इस दृश्य का मंचन भी कराते हैं कि "ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने पिता भगवान ऋषभदेव से पूछा कि पिताजी! क्या इस धरती पर आपसे भी बड़ा कोई व्यक्ति है ? तब भगवान ऋषभदेव ने कहा—हाँ पुत्रियों! जिनके साथ हम तुम्हारा विवाह करेंगे, वे मुझसे भी बड़े होंगे क्योंकि मुझे उन दामादों के पैर छूना पड़ेगा... आदि। इस बात से दुःखी होकर दोनों पुत्रियों ने निर्णय लिया कि हम विवाह नहीं करेंगे इसीलिये उन दोनों ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली थी।"

किन्तु ऐसा कोई भी वर्णन दिगम्बर जैन शास्त्रों में मेरे देखने में नहीं आया है। मेरा उन विद्वानों से भी कहना है कि यदि कहीं किसी भी आचार्य प्रणीत ग्रन्थ में ऐसा वर्णन आपने पढ़ा हो तो मुझे अवश्य सूचित करें अन्यथा ब्राह्मी-सुन्दरी की यह वार्ता कभी भी मंच पर प्रस्तुत नहीं कराना चाहिये। इससे उन महान आत्माओं के अवर्णवाद का निरर्थक दोष उत्पन्न होता है। देखो, आदिपुराण ग्रन्थ में चौबीसवें पर्व में श्री जिनसेनाचार्य ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में कहा है-

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः।।

भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी भगवान की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के बीच में गणिनी के पद को प्राप्त हुई थीं। यह ब्राह्मी सब देवों के द्वारा पूजित हुई थीं।

रराज राजकन्या सा राजहंसीव सुस्वना।
दीक्षा शरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी।।

उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरद् ऋतु की नदी के शीलरूपी किनारे पर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हँसी के समान सुशोभित हो रही थी।

सुन्दरी चात्तनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत।
अन्ये चान्याश्च संविग्ना गुरोः प्राव्राजिषुस्तदा।।

ऋषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था जिससे उसने भी ब्राह्मी के बाद दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इनके सिवाय उस समय और भी अनेक राजाओं तथा राजकन्याओं ने संसार से भयभीत होकर गुरुदेव भगवान के समीप दीक्षा धारण की थी।

इस प्रकार शास्त्रीय स्वाध्याय के द्वारा वास्तविकता से परिचित होकर यह जानना चाहिये कि भगवान ऋषभदेव जैसे तीर्थंकर महापुरुष की पुण्यवती कन्याओं ने स्वयं के वैराग्य से दीक्षा ग्रहण की थी, न कि किसी अन्य कारणवश अतः ब्राह्मी-सुन्दरी कन्याओं के उत्कृष्ट वैराग्य के प्रति कभी कुतर्क नहीं करना चाहिये।

मुक्तक

युवा वर्ग मेरे समाज की आन बान औ शान हैं।
युवा शक्ति ही इस कलियुग में, भारतदेश का प्राण है।।
इस शक्ति को सृजन में व्यय कर सृजनात्मक व्यक्तित्व बने।
विघटन में विश्वास न कर विघटनकारी नहिं कभी बने।।1।।

करें सुई का काम सभी को जोड़ें तो अच्छा होगा।
कैंची बनकर कभी किसी को ना तोड़ें तो अच्छा होगा।।
फूल बनो और सबको दो मुस्कान तथा कोमलता भी।
शूल बनो ना कभी किसी को चुभन होने दो बातों की।।2।।

अध्याय-10

दिगम्बर जैन साधु-साध्वी चर्या : एक अनुचिंतन

(1)

आगम के दर्पण में साधुओं की सामायिक-प्रतिक्रमण क्रिया

जैनेश्वरी दीक्षा लेने के बाद दिगम्बर जैन साधु-साध्वी आत्महित की ओर अग्रसर होते हैं क्योंकि आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के वचनानुसार "आदहिदं कादव्वं, जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं। आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्ठकादव्वं।

अर्थात् साधु को सर्वप्रथम आत्महित की ओर ध्यान देना चाहिए, पुनः परहित भी जितना संभव हो करें किन्तु परहित करते हुए आत्महित से कभी विमुख नहीं होना चाहिए।

साधुओं के प्रातःकाल निद्रा से उठते ही कृतिकर्म प्रारम्भ हो जाते हैं। जिनमें सबसे पहले पश्चिमरात्रिक स्वाध्याय, पुनः रात्रिक प्रतिक्रमण और उसके बाद वर्तमान में कई साधु संघों में प्रातः सामायिक के पश्चात् सामूहिक प्रतिक्रमण होता देखा जाता है अतः मेरे मन में इच्छा जागृत हुई कि आगम के आधार से इस विषय को स्पष्ट करना चाहिए। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने आगम की भाषा में 'दिगम्बर मुनि' एवं "मुनिचर्या" नामक ग्रन्थ में भी इन विषयों का खुलासा किया है। उसी को आधार बनाकर मैं यहाँ "साधुओं के प्रातःकालीन सामायिक, प्रतिक्रमण" के बारे में कुछ प्रमाण उपस्थित करती हूँ—

अनगार धर्मामृत के आठवें अध्याय में छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करके नवमें अध्याय में नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का अथवा आवश्यक क्रियाओं के प्रयोग का वर्णन बहुत ही सरल ढंग से किया है। यथा—

अर्धरात्रि के दो घड़ी अनन्तर से अपररात्रिक स्वाध्याय का काल हो जाता है। उस समय पहले "अपररात्रिक" स्वाध्याय करके पुनः सूर्योदय के दो घड़ी शेष रह जाने पर स्वाध्याय समाप्त कर "रात्रिक प्रतिक्रमण" करके रात्रियोग समाप्त कर देवें। फिर सूर्योदय के समय से दो घड़ी (४८) मिनट "देववंदना" अर्थात् सामायिक करके "गुरुवंदना" करें। पुनः पौर्वाण्हिक स्वाध्याय प्रारम्भ करके मध्याह्न के दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय समाप्त कर देवें।"

अनगार धर्मामृत के नवमें अध्याय के सातवें श्लोक में रात्रिक प्रतिक्रमण का उल्लेख निम्न प्रकार से आया है—

वलमनियम्य क्षणयोगनिद्रया, लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके।
स्वाध्यायामत्यस्य निशाद्विनाद्रिका शेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत्।।७।।

अर्थात् योगनिद्रा—धर्मध्यान सहित निद्रा के द्वारा शरीर की थकान को दूर करके अर्थात् ४ घड़ी (९६

मिनट तक) अर्धरात्रि में नींद लेकर पुनः जागकर अपररात्रिक—वैरात्रिक स्वाध्याय समापन कर रात्रिक प्रतिक्रमण करके योगभक्ति के द्वारा रात्रियोग का विसर्जन कर देवें।

उपर्युक्त कथन के अनुसार अर्धरात्रि में मात्र ४ घड़ी शयन करना यह उत्कृष्ट मार्ग है। आजकल मुनि-आर्यिकाएँ पाँच, छह घंटे भी सोते हैं क्योंकि नींद कम लेने से शरीर में थकान बनी रहती है अतः अपने स्वास्थ्य के अनुसार शरीर को स्वस्थ रखते हुए कम से कम निद्रा लेना चाहिए, यही अभिप्राय समझना।

प्रतिक्रमण का क्या लक्षण है ?

प्रमाद आदि से उत्पन्न होने वाले दोषों का विशोधन करना प्रतिक्रमण है। दिगम्बर मुनि ग्रन्थ में प्रतिक्रमण के सात भेद होते हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थिक।

१. दिवस सम्बन्धी दोषों के विशोधन हेतु सायंकाल में जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह दैवसिक प्रतिक्रमण है। जो कि "जीवे प्रमादजनिताः" आदि पाठरूप से पढ़ा जाता है।

२. रात्रि सम्बन्धी दोषों के निराकरण हेतु जो पश्चिम रात्रि में प्रतिक्रमण किया जाता है वह रात्रिक प्रतिक्रमण है।

३. आहार के लिये जाते समय, गुरुवंदना और देववंदना के लिए जाते समय, शौचादि के लिए जाते समय जो जीवों की विराधना हुई हो उसके दोषों को दूर करने के लिए "पडिक्कमामि भंते ! इरियावहियाए" इत्यादि पाठ बोलकर महामंत्र का नव बार जाप्य किया जाता है वह ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है।

४. प्रत्येक मास में पन्द्रह दिन वा चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पूर्णिमा को जो वृहद्प्रतिक्रमण किया जाता है वह पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

५. कार्तिक मास के अन्त में और फाल्गुन मास के अन्त में चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया जाता है।

६. आषाढ़ मास के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन वार्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है।

७. मरणकाल में सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करके जो यावज्जीवन चतुराहार का त्याग कर दिया जाता है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

इनसे अतिरिक्त लोच प्रतिक्रमण, गोचरी प्रतिक्रमण, अतिचार प्रतिक्रमण आदि लघु प्रतिक्रमण होते हैं जो कि ईर्यापथ आदि में सम्मिलित हो जाते हैं। पाँच वर्ष के अन्त में जो गुरु के सानिध्य में बड़ा प्रतिक्रमण होता है वह यौगिक या योगांतिक कहलाता है।

यूँ तो अनगार धर्मामृत में वृहत्प्रतिक्रमण के भी सात भेद बताए हैं जो यथासमय साधुजन करते हैं किन्तु यहाँ दैनिक क्रियाओं के अन्तर्गत प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण करने के विषय में ही बताया गया है कि सायंकालीन दैवसिक प्रतिक्रमण तो प्रायः सभी आचार्य, मुनि, गणिनी एवं आर्यिका संघों में एक समान ही चलता है किन्तु प्रातःकालीन (रात्रिक) प्रतिक्रमण में काफी परिवर्तन देखा जा रहा है। कोई-कोई साधु तो प्रातःकाल दशभक्ति का मात्र पाठ करके अपनी क्रिया को पूर्ण मान लेते हैं एवं किन्हीं संघों में प्रातः सामायिक के बाद चतुर्विध संघ के साधु एकत्रित होकर प्रतिक्रमण और गुरुवंदना करते हैं। कहीं प्रतिक्रमण में दंडक पढ़ने की परम्परा है तो कहीं पूरे

दंडक सभी भक्तियों से पूर्व पढ़े जाते हैं। गणिनी आर्यिका संघों में भी प्रायः सामायिक के पश्चात् ही प्रतिक्रमण करने की परम्परा है किन्तु पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने जब-जब भी आगम के परिप्रेक्ष्य में पं. पन्नालाल जी सोनी, पं. खूबचन्द जी शास्त्री आदि से चर्चाएं कीं तब-तब यही निर्णय निकला था कि पूरे दंडकपूर्वक प्रतिक्रमण पहले करके सामायिक बाद में ही करना चाहिए इसीलिए आचार्य श्री धर्मसागर महाराज के चतुर्विध संघ में सदैव सुबह ब्रह्ममुहूर्त में मुनियों का अपने स्थान पर, आर्यिकाओं का अलग अपने स्थान पर सामूहिक प्रतिक्रमण होता था। आज भी उस परम्परा में हम लोग प्रतिक्रमण के बाद ही प्रातःकालीन सामायिक करते हैं। कृपया गुरुजन इस पर चिन्तन करके आगमोक्त क्रिया को अपने संघों में अवश्यमेव संचालित करें।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-ऐ मालिक तेरे बंदे हम.....

शरदपूनों का ये चांद हैं, गणिनी श्री ज्ञानमति मात हैं।
इनकी पूजा करें, इनकी भक्ति करें,
दिखती ये ब्राह्मी सी मात हैं।। शरद पूनो...।।टेक.।।

ज्ञान अमृत से ये तृप्त हैं।
हम तो जग में ही संतप्त हैं।।
इनको वंदन करें, ज्ञान के कण लहें,
देंगी श्रुतज्ञान की बात है।। शरद पूनो...।।1।।

ढाई सौ ग्रंथ रचना किया।
जम्बूद्वीप भी बनवा दिया।।
ज्ञानज्योती जली, देश भर में चली,
प्रेरणास्रोत ये ख्यात है।। शरद पूनो...।।2।।

बालसतियों की बगिया खिली।
ज्ञानमति मात पहली मिलीं।।
इनसे शिक्षा लहें, "चन्दनामति" कहें,
ज्ञान की ये सदा बात है।। शरद पूनो...।।3।।

(2)

दि. जैन मुनि/आर्यिकाओं की वन्दना विनय के संदर्भ में कतिपय आगम प्रमाण

भारतदेश की पवित्र वसुन्धरा पर जैनशासन के अनुसार मुनि-आर्यिका, क्षुल्लक-क्षुल्लिका रूप चतुर्विध संघ परम्परा की व्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। उनमें जहाँ दिगम्बर मुनियों को धर्मेश्वर के अंश कहकर सम्बोधित किया गया है, वहीं आर्यिका माताओं को "सद्धर्मकन्या" संज्ञा प्रदान की गई है। यथा—

तत्र प्रत्यक्षधर्माणो, धर्मेशांशो इवामलाः।
भासन्ते वरदस्याग्रे, वरदत्तादियोगिनः।।१४९।।

अर्थात् वहाँ (भगवान नेमिनाथ के समवसरण में) उत्कृष्ट वर को प्रदान करने वाले भगवान नेमिनाथ के आगे—समक्ष वरदत्त को आदि लेकर अनेक मुनि सुशोभित थे, जो धर्म के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाले एवं अत्यन्त निर्मल धर्मेश्वर के अंश जान पड़ते थे।।१४९।।

ह्रीदयाक्षान्तिशान्त्यादि, गुणालंकृतसंपदः।
समेत्योपविशन्त्यार्या, सद्धर्मतनया यथा।।१५१।।

(हरिवंशपुराण, सर्ग ५७, पृ. ६५६)

उसके बाद तीसरी सभा में लज्जा, दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणरूपी सम्पत्ति से सुशोभित आर्यिकाएँ विराजमान थीं, जो समीचीन धर्म की पुत्रियों के समान जान पड़ती थीं।।१५१।।

मुनिराजों को सैद्धान्तिक व्यवस्थानुसार छठा-सातवाँ गुणस्थान माना जाता है और आर्यिकाओं को पंचमगुणस्थानवर्ती कहा गया है। इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि आर्यिकाएँ श्रावक-श्राविकाओं के समान देशव्रती श्राविका हैं। चरणानुयोग ग्रंथों में मुनियों को सकलसंयमी, महाव्रती कहा है और आर्यिकाओं को उपचार महाव्रती कहा है, जैसा कि आचारसार ग्रंथ में आचार्य श्री वीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है—

अर्थात् बुद्धिमान आचार्यों के द्वारा उन आर्यिकाओं की सज्जाति की ज्ञप्ति के लिए देशव्रतों के साथ उपचार से महाव्रतों का आरोपण किया जाता है।

इस प्रकार आचार्यश्री के उपर्युक्त कथन से यह पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के ऊपर महाव्रतों का आरोपण किया जाता है।

आर्यिकाओं को महाव्रती मानना उनके किसी अभिमान पुष्टि के लिए नहीं समझना चाहिए अपितु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा एवं प्राचीनतम गुरु परम्परा के संरक्षण की दृष्टि से ही यहाँ विभिन्न प्रमाण विद्वानों के लिए प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

जैसा कि पद्मपुराण में श्री रविषेणाचार्य ने कहा है—

महाव्रतपवित्रांगा, महासंवेगसंगता।
देवासुरसमायोगं, ययौ चोद्यानमुत्तमम्।।८१।।

(भाग ३, पर्व १०६, पृ. २८४)

अर्थात् महाव्रतों के द्वारा जिसका शरीर पवित्र हो चुका था तथा जो महासंवेग को प्राप्त थी, ऐसी सीता देव और असुरों के समागम से सहित उत्तम उद्यान में चली गई।।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिका महाव्रतों से पवित्र रहती हैं।

यही कारण है कि ऐलक के पास एक लंगोटी मात्र का परिग्रह होने पर भी एक साड़ी धारण करने वाली आर्यिकाएँ ऐलक से पूज्य होती हैं। जैसा कि सागारधर्मामृत में पं. आशाधर जी ने कहा है—

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति।।३७।।

(पृ. ५१८)

अर्थ—आश्चर्य है कि लंगोटी मात्र में ममत्व भाव रखने से उत्कृष्ट श्रावक उपचरित भी महाव्रत के योग्य नहीं है और आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है।

प्रवचनसार ग्रंथ में कहा है—

तम्हा तं पडिरूवं, लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुलरूववओजुत्ता, समणीओ तस्समाचारा।।

(प्रवचनसार)

टीका—.....तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिंगं चिन्हं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैः निर्दिष्टं कथितम्।.....युक्ता भवन्ति। काः ? श्रामण्यार्यिकाः। पुनरपिं किं विशिष्टाः? तासां स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहित समाचार आचरणं यासां तास्तत्समाचाराः इति।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने उन आर्यिकाओं का चिन्ह वस्त्र आच्छादन सहित कहा है.....आचारशास्त्र में उनके योग्य जो आचरण कहा गया है, उसको पालने वाली हों, ऐसी आर्यिका होनी चाहिए। इस गाथा में आचार्य कुंदकुंददेव ने आर्यिकाओं को समणीओ अर्थात् श्रमणी संज्ञा दी है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान जिनेन्द्र की आज्ञास्वरूप उपचार महाव्रत धारण करने वाली श्रमणी आर्यिका ही है।

सूत्रपाहुड में आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने जहाँ "णिच्चेल-पाणिपत्तं.....इत्यादि गाथा नं. १० के द्वारा दिगम्बर मुनिमार्ग के अतिरिक्त शेष मुद्राओं को अमार्ग—उन्मार्ग कहा है, वहीं सूत्रपाहुड़ की गाथा नं. ७ में कहा है—

सूत्तत्थपयविणट्ठो, मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स।।७।।

अर्थात् जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित है उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए, वस्त्र सहित को क्रीड़ामात्र में भी पाणिपात्र—करपात्र में भोजन नहीं करना चाहिए अतः आर्यिकाओं को भी पाणिपात्र में आहार

ग्रहण नहीं करना चाहिए यह कथन पुष्ट होता है किन्तु गाथाओं का अर्थ ग्रंथ में पूर्वापर संबंध जोड़कर करना चाहिए अर्थात् सवस्त्र मुनि (श्वेताम्बर साधु की अपेक्षा कथन है) का यहाँ करपात्र में भोजन का निषेध है, आर्यिकाओं को करपात्र में आहार लेने का विधान है अथवा सचेल—किसी गृहस्थ को पाणिपात्र में कभी भोजन नहीं लेना चाहिए।

णिच्चेलपाणिपत्तं.....आदि गाथा नं. १० की टीका में श्री श्रुतसागर सूरि ने स्पष्ट कहा है कि सेसा य अमग्गया सव्वे-शेषा मृगचर्म-वल्कल-कर्पासपट्टकूल-रोमवस्त्र-तट्ट-गोणीतृण-प्रावरणादिसर्वे, रक्तवस्त्रादि पीताम्बरादयश्च विश्वे अमार्गाः संसारपर्यटनहेतुत्वान्मोक्षमार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्ज्ञातव्यम्।"[८]

इसका हिन्दी अनुवाद करते हुए पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने लिखा है—

"इसके सिवाय (निर्ग्रन्थ मुनिवेष के अतिरिक्त) मृगचर्म, वृक्षों के वल्कल, कपास, रेशम, रोम से बने वस्त्र, टाट तथा तृण आदि के आवरण को धारण करने वाले सभी साधु तथा लाल वस्त्र, पीले वस्त्र को धारण करने वाले सभी लोग अमार्ग हैं, संसार परिभ्रमण के हेतु होने से ये मोक्षमार्ग नहीं हैं, ऐसा भव्य जीवों को जानना चाहिए।"

यह उपर्युक्त कथन दिगम्बर जैन साधुओं के सिवाय अन्य मतावलम्बी साधुओं की अपेक्षा है किन्तु आर्यिकाओं अथवा ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं पर कदापि घटित नहीं होता है क्योंकि दिगम्बर मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक-क्षुल्लिका के वेष तो जिनशासन के सर्वमान्य अनादि और प्राकृतिक पद हैं उन्हें किसी व्यक्ति विशेष ने स्थापित नहीं किया है।

मेरा विद्वान् महानुभावों से कहना है कि क्या सूत्रपाहुड़ की गाथा आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक-क्षुल्लिका पर घटित करके आप इन्हें अमार्गी—जिनमार्ग से बहिर्भूत सिद्ध करना चाहेंगे ? क्योंकि आर्यिकाएं लज्जा-शील आदि गुणस्वरूप श्वेत साड़ी धारण करती हैं, ऐलक गेरुए या सफेद रंग की लंगोट पहनते हैं, क्षुल्लकगण गेरुए या सफेद रंग की लंगोट और दुपट्टा ये दो वस्त्र ग्रहण करते हैं तथा क्षुल्लिका सफेद धोती और दुपट्टा ये दो वस्त्र उपयोग करती हैं। यह जिनशासन कथित मार्ग के अनुसार प्रवृत्ति होती है अतः ये कभी अमार्ग—उन्मार्ग नहीं कहे जा सकते हैं। यहाँ यह भी विद्वज्जन विदित सत्य ज्ञातव्य है कि आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने ये दर्शनपाहुड़, चारित्रपाहुड़, सूत्रपाहुड़, बोधपाहुड़ आदि रूप अष्टपाहुड़ों को अनादिनिधन दिगम्बर जिनशासन से निर्गत नूतन पन्थ (जैनाभास) के विरोध में लिखा है जिसे टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने जगह-जगह अपनी टीका में स्पष्ट किया है अतः उनके वाक्यों को अधूरे रूप में अथवा तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करके अपने चतुर्विध संघ की मर्यादा और पवित्रता को भंग नहीं होने देना चाहिए।

दूसरा प्रकरण है कि "मोक्षमार्ग में प्रथम लिंग जिनमुद्रा (दिगम्बर मुनि), द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक और तीसरा लिंग आर्यिकाओं का है।"

इस संबंध में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शनपाहुड़ में कहा है[९]—

एक्कं जिणस्स रूवं, वीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं, चउत्थं पुण लिंग दंसणं णत्थि।।१८।।

इस गाथा में तीसरा लिंग आर्यिकाओं का बताया है और कहा है कि चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है।

इससे आचार्यदेव का अभिप्राय यहाँ आर्यिकाओं को क्षुल्लक से निम्न श्रेणी में रखने का कदापि नहीं है। जैसा कि इस गाथा की हिन्दी टीका में पं. पन्नालाल जी ने स्पष्ट किया है—

"सकल और विकल के भेद से चारित्र के दो भेद हैं। इनमें से सकल चारित्र मुनियों के होता है। उनका लिंग अर्थात् वेष नग्न दिगम्बर मुद्रा है। परिग्रहत्याग महाव्रत के धारक होने से उनके शरीर पर एक सूत भी नहीं रह सकता है। विकल चारित्र के धारकों के दर्शनिक १, व्रतिक २, सामायिकी ३, प्रोषधोपवासी ४, सचित्तत्यागी ५, रात्रिभुक्तिविरत ६, ब्रह्मचारी ७, आरंभविरत ८, परिग्रहविरत ९, अनुमतिविरत १०, और उद्दिष्टविरत ११, ये ग्यारह भेद होते हैं। इनमें से प्रारंभ के ६ श्रावक जघन्य श्रावक, उनके पश्चात् तीन मध्यम श्रावक और शेष के दो उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते हैं। जिनागम में दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकों का बतलाया गया है। दशम प्रतिमा के धारक अनुमतिविरत श्रावक एक धोती, एक चादर तथा कमण्डलु रखते हैं। एकादश प्रतिमा के धारक उद्दिष्टविरत श्रावकों के ऐलक और क्षुल्लक की अपेक्षा दो भेद हैं। ऐलक कौपीन, पिच्छी और कमण्डलु रखते हैं तथा क्षुल्लक एक छोटी चादर भी रखते हैं, इस तरह जिनागम में दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावकों का है। आर्यिकाएँ उपचार से सकल चारित्र की धारक कहलाती हैं। वे सोलह हाथ की एक सफेद धोती तथा पिच्छी रखती हैं। क्षुल्लिकाएँ ग्यारहवीं प्रतिमा की धारक कहलाती हैं। वे सोलह हाथ की धोती के सिवाय एक चादर भी रखती हैं। इस प्रकार जिनागम में तीसरा लिंग सकल चारित्र के द्वितीय भेद में स्थित आर्यिकाओं का होता है। इन तीन लिंगों के सिवाय जिनागम में चौथा लिंग नहीं है—उसमें तीन ही लिंग बतलाये हैं, हीनाधिक नहीं।

(इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्वेताम्बर साधुओं के उस लिंग को जिनागम से असम्मत बताया है जिसमें परिग्रहत्याग महाव्रत की प्रतिज्ञा लेकर भी वस्त्र धारण किया जाता है।)

इसमें आर्यिकाओं को उपचार से सकल चारित्रधारी कहकर स्वयमेव स्पष्ट कर दिया है कि वे विकल चारित्रधारी क्षुल्लक-ऐलक से बड़ी होती हैं और सकलव्रती मुनिराजों के पश्चात् दूसरी श्रेणी आर्यिकाओं की होती है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं मूलाचार के समाचार अधिकार में कहा है—

एसो अज्जाणं पि य, सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते, विभासिदव्वो जहा जोग्गं।।१८७।।

इसकी आचारवृत्ति टीका में श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने लिखा है[१०]—

एसो—एषः। **अज्जाणं पि य**—आर्याणामपि च। **सामाचारो**—सामाचारः। **जहक्खिओ**—यथाख्यातो यथा प्रतिपादितः। **पुव्वं**—पूर्वस्मिन्। **सव्वम्मि**—सर्वस्मिन्। **अहोरत्ते**—रात्रौ दिवसे च। **विभासिदव्वा**—विभाषयितव्यः प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा। **जहाजोग्गं**—यथायोग्यं आत्मानुरूपो वृक्षमूलादिरहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोपि सामाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिर्वा प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथाख्यातः पूर्वस्मिन्निति।।१८७।।

अर्थात् पूर्व में मुनियों की समाचार विधि का जैसा निर्देश किया है, आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण कालरूप दिन और रात्रि में यथायोग्य—अपने अनुरूप अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए। इस मूलाचार का हिन्दी अनुवाद पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने किया है, उसके भावार्थ में उन्होंने स्पष्ट किया है—

इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए वे ही अट्ठाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर ग्रहण आदि तथा वे ही औघिक पदविभागिक समाचार माने गये हैं जो कि यहाँ तक चार अध्यायों में मुनियों के लिए वर्णित हैं। मात्र 'यथायोग्य' पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है और यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विधान का ग्रन्थ नहीं है।

अन्यत्र भी कहा है—

लज्जाविनयवैराग्य, सदाचारादिभूषिते।
आर्याव्रते समाचारः संयतेष्वि किन्त्विह।।८१।।[११]

(आचारसार, अध्याय २)

अर्थ—लज्जा, विनय, वैराग्य, सदाचार आदि से भूषित आर्यिकाओं के समूह में समाचार विधि संयतों के समान ही है किन्तु आतापन योग आदि कुछ विधि आर्यिकाओं के नहीं है।

इसी प्रकार मूलाचार प्रदीप में श्री सकलकीर्ति आचार्य ने आर्यिकाओं की समाचार नीति का वर्णन किया है[१२]—

अयमेव समाचारो, यथाख्यातस्तपस्विनाम्।
तथैव संयतीनां च, यथायोग्यं विचक्षणैः।।२२९०।।
अहो-रात्रेऽखिलो मुक्त्यै, विज्ञेयो हितकारकः।
वृक्षमूलादि-सद्योग-रहितो जिनभाषितः।।२२९१।।

अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य सदृश आपने भी आर्यिकाओं को "**संयतिका**" शब्द से संबोधित करके उन्हें मुनियों के सदृश ही दिन-रात समाचार विधि अपनाने का निर्देश किया है।

इन आर्यिकाओं को आगमानुसार सिद्धांतग्रंथ भी पढ़ने और लिखने का पूर्ण अधिकार है यह बात श्री कुन्दकुन्ददेव के शब्दों में सप्रमाण देखिए—

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गन्थो कप्पदि पढिदुमसज्झाये।।९७।।[१३] (मूलाचार)

टीकांश—तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य, स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य च। (पृ. २३३)

अर्थ—अस्वाध्याय काल में मुनि और आर्यिकाओं को उपर्युक्त सूत्रग्रंथों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए किन्तु इनसे भिन्न ग्रन्थ अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकते हैं।

हरिवंशपुराण में तो आर्यिका सुलोचना को ग्यारह अंग तक श्रुतज्ञान भी प्राप्त करने का प्रमाण दिया है—

दुःसंसारस्वभावज्ञा, सपत्नीभिः सितम्बरा।
ब्राह्मीं च सुन्दरीं श्रित्वा, प्रवव्राज सुलोचना।।५१।।
द्वादशांगधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।
एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना।।५२।।[१४]

अर्थ—संसार के दुष्ट स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ सफेद वस्त्र धारण कर लिए और ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास जाकर दीक्षा ले ली।

मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान् के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।।५१-५२।।

आचार्य कुन्दकुन्द रचित बोधपाहुड़ की गाथा नं. २२ की टीका में भी लिखा है कि—

णाणं पुरिसस्स हवदि, लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्खं, लक्खंतो मोक्खमग्गस्स।।२२।।[१५]

(षट्प्राभृत, पृ. १४४)

टीकांश—"अपि शब्दात् ब्राह्मी-सुन्दरी, राजमती एवं चन्दनादिवत एकादशांगानि लभन्ते। मृगलोचनापि स्त्रीलिंगं छित्वा स्वर्गसुखं भुक्त्वा राजकुलादिषूत्पन्ना मोक्षं तृतीयेऽपि भवे लभन्ते।"

अर्थात् "यहाँ गाथा में 'सुपुरिसोवि-सत्पुरुषोऽपि' के साथ जो अपि शब्द दिया है उससे यह सूचित होता है कि ब्राह्मी-सुन्दरी, राजीमती (राजुल) तथा चन्दना आदि के समान स्त्रियाँ भी ग्यारह अंग तक श्रुतज्ञान प्राप्त करती हैं और वे भी स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्गसुख का उपभोग कर राजकुल आदि में उत्पन्न हो तृतीय भव में मोक्ष को प्राप्त होती हैं।"

ये तो कतिपय प्रमाण यहाँ दिये गये हैं जिनसे मुनि और आर्यिका की सारी चर्या एक समान मानी गई है इसीलिए उनका प्रतिक्रमण एक ही है, उनकी दीक्षाविधि एक सदृश है और उनका प्रायश्चित्त भी एक समान है।

प्रायश्चित्तचूलिका ग्रंथ में आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त भी मुनियों के समान बताया है—

साधूनां यद्वदुद्दिष्ट मेवमार्यागणस्य च।
दिनस्थानत्रिकालीनं, प्रायश्चित्तं समुच्यते।।११४।।[१६]

अर्थात् जैसा प्रायश्चित्त साधुओं के लिए कहा है वैसा ही आर्यिकाओं के लिए भी कहा गया है। विशेष इतना है कि दिन, प्रतिमा, त्रिकालयोग, पर्यायछेद, मूलस्थान तथा परिहार ये प्रायश्चित्त आर्यिकाओं के लिए नहीं है।।

इससे आधा क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं का एवं उससे आधा प्रायश्चित्त ब्रह्मचारियों को दिया जाता है।

इसी प्रकार प्रवचनसार, जीवंधर चम्पू, पद्मपुराण आदि ग्रंथों में आर्यिकाओं को समणी (श्रमणी) शब्द से सम्बोधित किया है। इनकी वंदना विधि एवं आहारकाल में नवधाभक्ति जैसी वर्तमानकाल में (चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर परम्परानुसार) चल रही है वह आगमानुकूल है।

यहाँ प्रसंगोपात्त साधु-साध्वियों को की जाने वाली वन्दना विधि पर भी आगम प्रमाण प्रस्तुत हैं—

जैनेश्वरी दीक्षा को धारण करने वाले मोक्ष की ओर उन्मुख महापुरुष त्रिकाल वंदनीय होते हैं, यह आगम एवं व्यवहार दोनों प्रकार से स्थापित सत्य है। परस्पर साधु-साधु एवं श्रावकों के द्वारा भी दिगम्बर जैन मुनि/आर्यिकाओं की वंदना का विधान जैनागम में निर्दिष्ट है, जिसके अनुसार मुनि महाराज को नमोस्तु, आर्यिका माता को वंदामि, ऐलक-क्षुल्लक-क्षुल्लिका जी को इच्छामि कहने की स्वस्थ परम्परा आगम के परिप्रेक्ष्य में आज तक चली आ रही है।

मूलाचार ग्रंथ-पूर्वार्द्ध (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित) के पृष्ठ ४३९ पर गाथा ५९९ में जो विशेष कथन

किया गया है, वह दृष्टव्य है—

संयतमप्येवं स्थितमेतेषु स्थानेषु च न वंदेतेत्याह—

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि।।५९९।।[१७]

व्याक्षिप्तं[१] ध्यानादिनाकुलचित्तं परावृत्तं पराङ्मुखं पृष्ठदेशतः स्थितं प्रमत्तं निद्राविकथादिरतं मा कदाचिद् बंदिज्ज नो वंदेत संयतमिति संबंधस्तथाऽहारं च कुर्वन्तं भेाजनक्रियां कुर्वाणं नीहारं वा मूत्रपुरीषादिकं यदि करोति तदाऽपि नो कुर्वीत वंदनां साधुरिति।।५९९।।

अर्थात् जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं या प्रमाद सहित हैं उन मुनियों की उस समय वंदना न करे और यदि आहार कर रहे हैं अथवा नीहार कर रहे हैं उस समय भी वंदना न करे।।५९९।।

केन विधानेन स्थितो वंद्यत इत्याशंकायामाह—

आसणे आसणत्थं च उवसंत उवट्ठिदं।
अणु विण्णय मेधावी किदियम्मं पउंजदे।।६००।।

आसने विविक्तभूप्रदेशे आसनस्थं पर्यंकादिना व्यवस्थितं अथवा आसने आसनस्थमव्याक्षिप्तमपराङ्मुखमुपशांतं स्वस्थचित्तं उपस्थितं वंदनां कुर्वीत इति स्थित अनुविज्ञाप्य वंदनां करोमीति संबोध्य मेधावी प्राज्ञोऽनेन विधानेन कृतिकर्म प्रारभेत प्रयुंजीत विदधीतेत्यर्थः।।६००।।

अर्थात् किस विधान से स्थित हों तो वंदना करे ? सो ही बताते हैं—

जो आसन पर बैठे हुए हैं, शांतचित्त हैं एवं सन्मुख मुख किए हैं उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि वंदना विधि का प्रयोग करें।।६००।।

यहाँ गाथा में जो कृतिकर्म शब्द है उसका अर्थ जानना है—

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव च।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे।।६०३।।

अर्थात् दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करें। तात्पर्य यह है कि एक बार के कायोत्सर्ग में यह विधि सम्पन्न की जाती है, इसी का नाम कृतिकर्म है। यह विधि देववंदना (सामायिक), प्रतिक्रमण और सभी क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारंभ में की जाती है। इसके प्रयोग की सम्पूर्ण विधि मूलाचार में दृष्टव्य है।[१८]

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जब किन्हीं विशेष श्रुतज्ञानी आचार्य महाराज की वंदना की जाती है तब लघु सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति एवं आचार्य भक्ति पढ़कर कृतिकर्मपूर्वक वंदना की जाती है (सामान्य आचार्य की वंदना में सिद्धभक्ति एवं आचार्य भक्ति का पाठ किया जाता है)। यह कृतिकर्मपूर्वक वंदना (प्रतिदिन गुरु की तीन बार करने का विधान है) करने हेतु है, सामान्यतया नमोस्तु करने हेतु नहीं परन्तु विहार के समय अथवा चलते-फिरते समय आचार्य महाराज की वंदना करने हेतु कृतिकर्म करना संभव नहीं हो सकता, तब सामान्य रूप से विनय प्रदर्शित करते हुए अपने स्थान से उठकर खड़े होकर नमोस्तु कहकर पंचांग नमस्कार किया जाता है।

नीहार (मल-मूत्र त्याग) के समय तो वंदना की कोई बात ही नहीं है।

आहार के समय जब नवधाभक्ति की जाती है तो उससे पूर्व पडगाहन के अनंतर नमोस्तु कहकर ही मुनि महाराज को चौके के अंदर प्रवेश कराया जाता है, पुनः नवधाभक्ति के अंतर्गत नमोस्तु करके ही आहार प्रारंभ कराया जाता है, इन दोनों ही स्थितियों में कृतिकर्मपूर्वक वंदना नहीं की जाती है। पुनः जब कोई श्रावक आहार के मध्य में आहार देने हेतु चौके में आते हैं तो मन-वचन-काय की शुद्धि बोलकर नमोस्तु करके ही मुनिराज को आहार देते हैं, वहाँ भी कृतिकर्म नहीं किया जाता है।

उपरोक्त स्थितियों में कृतिकर्मपूर्वक वंदना यद्यपि नहीं की जाती है तथापि सामान्यतया नमोस्तु किया जाता है।

आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण (तृतीय भाग) के ९२ वें पर्व के २४ वें श्लोक में देखें—

पद्भ्यामेव जिनागारं प्रविष्टाः श्रद्धयोद्धया।
अभ्युत्थाननमस्यादिविधिना द्युतिनार्चिताः।।२४।।[१९]

उन आकाशगामी मुनियों (सप्तऋषियों) ने उत्तम श्रद्धा के साथ भूमि पर पैदल चलकर ही जिनमंदिर में प्रवेश किया तब महामुनि आचार्य श्री द्युति महाराज ने खड़े होकर नमस्कार करना आदि विधि से उनकी पूजा (वंदना) की।

कहने का अभिप्राय यह है कि सप्तऋषि महाराज आसन पर विराजमान होते, उससे पूर्व उनको देखते ही आचार्य श्री द्युति महाराज उठकर खड़े हुए एवं उनको नमोस्तु (नमस्कार) किया। सामान्यतया भी देखा जाता है कि जब साधु कहीं मंदिर आदि में प्रवेश करते हैं तो उस समय साधु और श्रावकगण उठकर खड़े होते हैं और घुटने टेककर उन्हें पंचांग नमस्कार करते हैं। यदि प्रत्येक बार साधु शांतचित्त होकर बैठें और उसके बाद साधु या श्रावक उनको नमस्कार करें तो समयानुसार यह व्यवस्था घटित ही नहीं हो पाएगी। इसके अतिरिक्त यदि कोई आचार्य ज्वर आदि से पीड़ित हैं अथवा क्षपक—समाधिरत हैं या लेटे हैं, तब भी उसी अवस्था में उनको नमोस्तु किया जाता है। उनको बैठने का आग्रह करके पुनः उनके बैठने पर ही नमोस्तु करने की प्रक्रिया व्यवहारिक रूप से भी उचित नहीं है अतः आगम में वर्णित नमस्कार विधि में हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि कृतिकर्मपूर्वक वंदना तो तब की जाती है जब आचार्य/साधु शांतचित्त विराजमान हों।

पद्मपुराण (तृतीय भाग) ९२ वें पर्व के ३४ वें श्लोक में स्पष्ट कहा गया है—

साधुरूपं समालोक्य न मुञ्चत्यासनं तु यः।
दृष्ट्वाऽपमन्यते यश्च स मिथ्यादृष्टिरुच्यते।।३४।।[३४]

अर्थात् जो सामने आते मुनि को देखकर अपना आसन नहीं छोड़ता है तथा उन्हें देखकर उनका अपमान करता है अर्थात् सम्मान, नमोस्तु आदि नहीं करता है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है अर्थात् साधु को देखने मात्र से अपना स्थान छोड़कर खड़े होना एवं नमोस्तु करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। साधुजन आसन ग्रहण कर लें, तभी उन्हें नमोस्तु किया जाये, यह आगम से भी विरुद्ध ठहरता है अतः आगम के रहस्य को सही प्रकार से हृदयंगम करना एवं सही प्रकार से प्रस्तुत करना चाहिए।

आर्यिका माताओं की वंदना का शास्त्रीय प्रमाण

आर्यिका माताजी की वंदना करना एवं वंदना हेतु 'वंदामि' शब्द का प्रयोग करना सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में व्याप्त है। यह शास्त्रीय आधार से है। श्री इंद्रनंदि आचार्य विरचित 'नीतिसार समुच्चय' में पृ. ५३ पर श्लोक ५१ में 'मुनि आदि को नमस्कार की विधि' देखें—

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणाञ्च वंदना।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते।।५१।।[२१]

टीका—निर्ग्रन्थानां यतीनां। परस्परं नमोऽस्तु इतिवाक्ये-नाचरेत्। आर्यिकाणां साध्वीनाम् अन्योन्यम् वंदना स्यात् वन्देऽहमिति वाक्येन संवदेत्। उत्तमस्य श्रावकस्य वानप्रस्थस्य परस्परं उच्चैः स्पष्टम्। इच्छाकारोऽस्तु। इच्छामि इतिवाक्येन चाभिधीयते व्यवह्रियते नियम्यते, अहं भवन्तमिष्टं पूज्यं गुरुवदनुमेने।।५१।।

अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करते समय 'नमोस्तु' कहना चाहिए। आर्यिकाओं को 'वंदना—वंदामि' कहना चाहिए और उत्तम श्रावक अर्थात् उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकों को 'इच्छामि' वा इच्छाकार कहना चाहिए।

आर्यिका माताजी की वंदना की बात शास्त्रोक्त ही है। अन्य ग्रंथों में भी देखें—

नमोऽस्तु गुरवे कुर्याद्वन्दनां ब्रह्मचारिणे।
इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वंदामीत्यार्यिकादिषु।।८६।।

अर्थात् गुरुओं को "नमोऽस्तु" ब्रह्मचारियों को "वंदना" साधर्मियों को "इच्छाकार" और आर्यिकाओं को "वंदामि" करें।।८६।।

यहाँ साधर्मी शब्द से उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका का पद विवक्षित है उन्हें इच्छाकार या इच्छामि कहकर नमस्कार किया जाता है तथा क्रम की विवक्षा में ब्रह्मचारी, साधर्मी के बाद आर्यिकाओं को लिया है सो यह क्रम भी पद की अपेक्षा विवक्षित नहीं है क्योंकि मुनि के बाद आर्यिका, पुनः ऐलक-क्षुल्लक-क्षुल्लिका, उसके बाद ब्रह्मचारी का क्रम आता है।

इस प्रकार जैनशासन के चतुर्विध संघ (मुनि-आर्यिका-क्षुल्लक-क्षुल्लिका) की समाचार विधि एवं नमस्कार करने की विधि को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। आप सभी इस नमस्कार पद्धति को अपनाकर सन्तों के आशीर्वाद से अपने जीवन को मंगलमयी बनावें, यही शुभेच्छा है।

विशेष—विद्वानों से मेरी यह प्रेरणा है कि किसी भी साधुचर्या से संबंधित लेख लिखते समय किन्हीं प्राचीन एवं आगमनिष्णात साधु-साध्वियों से चर्चा करके ही लेख लिखें तो उचित होगा अन्यथा जैन समाज में विवाद की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

संदर्भ स्थल—

१. हरिवंश पुराण, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण (द्वितीय)-१९७८, सर्ग ५७, गाथा १४९, पृ. ६५६
२. वही, सर्ग ५७, पृ. ६५६
३. आचारसार, आचार्य वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती प्रणीत, प्रकाशन स्थल—मैनसर (राज.), संस्करण—

वी.नि.सं. २५०७, द्वितीय अधिकार, गाथा ८९, पृ. ३९

४. पद्मपुराण, आचार्य रविषेण, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, भाग-३, पर्व १०६, पृ. २८४

५. सागारधर्मामृत, पं. आशाधर जी, हिन्दी अनुवाद पं. कैलाशचंद शास्त्री, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण (प्रथम), पृ. ३२५, श्लोक ३७

६. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, जयसेन कृत टीका, भा. अनेकांत विद्वत् परिषद, गाथा २२४.९, पृ. ५३

७. अष्टपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी अनुवाद पं. पन्नालाल साहित्याचार्य-सागर, प्रकाशक—शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान-महावीर जी, प्रथमावृत्ति—वी. नि. सं. २४९४, अधिकार ३, गाथा ७, पृ. ९५

८. वही, गाथा १०, श्रुतसागरसूरि टीका

९. अष्टपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी अनुवाद पं. पन्नालाल साहित्याचार्य-सागर, प्रकाशक—शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान-महावीर जी, प्रथमावृत्ति—वी. नि. सं. २४९४, अधिकार १, गाथा १८, पृ. २८-२९

१०. मूलाचार, आचार्य वट्टकेर (अपरनाम-आचार्य कुन्दकुन्द), प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण (छठा)-२००६, समाचार अधिकार-गाथा १८७ (आचार्य वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती की टीका), पृ. १५३

११. आचारसार, आचार्य वीरनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती प्रणीत, प्रकाशन स्थल—मैनसर (राज.), संस्करण—वी. नि.सं. २५०७, अध्याय २, गाथा ८१, पृ. ३७

१२. मूलाचार, प्रदीप, आचार्य सकलकीर्ति विरचित, गाथा २२९० एवं २२९१

१३. मूलाचार, आचार्य वट्टकेर (अपरनाम-आचार्य कुन्दकुन्द), प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण (छठा)-२००६, गाथा ९७, पृ. २३५

१४. हरिवंशपुराण, पृ. २१३

१५. बोधपाहुड़, आचार्य कुन्दकुन्द, अन्तर्गत—अष्टपाहुड़ अधिकार ४, गाथा २२, पृ. १४४

१६. प्रायश्चित्त चूलिका, अन्तर्गत श्रीमद् आचार्य गुरुदास विरचित प्रायश्चित्त समुच्चय, हिन्दी अनुवादक पं. पन्नालाल सोनी-मुरैना, प्रकाशक-भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था-कलकत्ता, वी. नि. सं. २४५३, गाथा ११४, पृ. १९७

१७. मूलाचार, आचार्य वट्टकेर (अपरनाम-आचार्य कुन्दकुन्द), प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण (छठा)-२००६, गाथा ५९९, पृ. ४३९

१८. मूलाचार, आचार्य वट्टकेर (अपरनाम-आचार्य कुन्दकुन्द), प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण (छठा)-२००६, पृ. ४४३, ४४४

१९. पद्मपुराण, भाग ३, पर्व ९२, श्लोक २४

२०. वही, श्लोक ३४

२१. नीतिसार समुच्चय, श्री इन्द्रनंदि सूरि विरचित, प्रकाशक—भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, संस्करण १९९०, श्लोक ५१, पृ. ५३

(3)

दिगम्बर जैन मुनि-आर्यिकाओं की आहारचर्या से सम्बन्धित कतिपय प्रमुख विषय

जैन साधुओं की एषणा समिति के अन्तर्गत आहारचर्या का अपना एक विशेष महत्त्व है जो कि याचना नहीं प्रत्युत वीरचर्या की सूचक है। इसमें साधु की अनेक क्रियाएँ श्रावकों पर भी अवलम्बित होती हैं, जैसे—नवधाभक्ति, ४६ दोष और ३२ अन्तराय आदि। श्रावकों को कर्मयुग की आदि में गुरुओं की नवधाभक्ति का ज्ञान न होने के कारण भगवान् ऋषभदेव को मुनि अवस्था में एक वर्ष उनतालिस दिन तक उपवास करना पड़ा था, पुनः हस्तिनापुर के युवराज श्रेयांसकुमार को आठ भव पूर्व का जातिस्मरण होने से नवधाभक्ति का ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने महामुनि ऋषभदेव को विधिपूर्वक आहारदान देकर "दानतीर्थ प्रवर्तक" की उपाधि प्राप्त की थी।

वही आहार की विधि आज तक भी चली आ रही है। श्रावकजन साधु-साध्वियों की नवधाभक्ति करके आहार तो देते हैं किन्तु प्रायः उनसे जब नवधाभक्ति के नाम पूछे जाते हैं तो वे ठीक से न बताकर दिग्भ्रमित होने लगते हैं। वह नवधा भक्ति निम्न प्रकार है—

पडिगहमुच्चट्ठाणं, पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी, एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं।।

अर्थात् (१) पड़गाहन करना (२) उच्च आसन देना (३) पादप्रक्षाल करना (४) अष्टद्रव्य से पूजन करना (५) पंचांग नमस्कार करना (६) मनशुद्धि (७) वचनशुद्धि (८) कायशुद्धि और (९) आहारजल शुद्ध है, हे स्वामी! भोजन ग्रहण कीजिए, यह नवधाभक्ति है।

जब श्रावक इस प्रकार की नवधाभक्ति करके मुनिराज या माताजी से आहार ग्रहण करने का निवेदन करते हैं तब साधु वहीं चौके में पूर्व दिन के ग्रहण किये गए आहार के त्यागरूप प्रत्याख्यान या उपवास की निष्ठापन क्रिया करते हैं।

आजकल कुछ संघों में देखा जाता है कि आहारचर्या से पूर्व ही साधु-साध्वियाँ मन्दिरजी में आचार्य महाराज या गणिनी माताजी के पास सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान का निष्ठापन करके आहार को निकलते हैं किन्तु यह बात आगम के परिप्रेक्ष्य में जब हम देखते हैं तो ज्ञात होता है कि अनगारधर्मामृत में अध्याय ९ के श्लोक ३७ की टीका में पण्डितप्रवर श्री आशाधर जी ने लिखा है—

"हेयं—त्याज्यं साधुना निष्ठाप्यमित्यर्थः। किं तत् ? प्रत्याख्यानादि प्रत्याख्यानमुपोषितं वा। क्व ? अशनादौ-भोजनारंभे। कया ? सिद्धभक्त्या। किं विशिष्टया ? लघ्वया।" अर्थात् "साधु चौके में भोजन प्रारम्भ करते समय लघु सिद्धभक्ति के द्वारा पूर्व दिन के ग्रहण किए गए प्रत्याख्यान या उपवास का निष्ठापन करें—त्याग कर देवें।"

आहार के समय सिद्धभक्ति करके प्रत्याख्यान निष्ठापन करने का यहाँ अभिप्राय यह है कि सिद्धभक्ति के

पश्चात् आहार सम्बन्धी अन्तराय पालन करने पड़ते हैं और मन्दिर से निकलने के बाद वे अन्तराय नहीं पालन किये जाते हैं। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी बताया करती हैं कि चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर महाराज की परम्परा में मैंने तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री धर्मसागर महाराज तक सारे संघों को देखा है कि कभी भी वहाँ आहार से पूर्व प्रत्याख्यान क्रिया नहीं हुई। यह विधि अभी कहाँ से प्रचलित हो गई है सो समझ में नहीं आया और आगम में ऐसा कोई विधान भी नहीं है।

आहार करने के पश्चात् वहीं चौके में मुखशुद्धि करके तत्क्षण ही अगले दिन आहार ग्रहण करने पर्यन्त चतुर्विध आहार का त्याग करके प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेवें। अनगार धर्मामृत में उपर्युक्त सन्दर्भ के अन्तर्गत यह विषय भी आया है—

"आदेयं च—लघ्वया सिद्धभक्त्या प्रतिष्ठाप्यं साधुनां। किं तत् ? प्रत्याख्यानादि क्व ? अंतेप्रक्रमाद् भोजनस्यैव प्रांते। कथं ? आशु शीघ्रं भोजनानंतरमेव। आचार्यसन्नधावेतद्विधेयं।"

अर्थात् "साधु शीघ्र ही—भोजन के अनंतर ही आचार्य की अनुपस्थिति में वहीं चौके में ही लघु सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण कर लेवें अर्थात् अगले दिन आहार ग्रहण के पूर्व तक चतुर्विध आहार का त्याग कर देवें या अगले दिन उपवास करना है तो उपवास ग्रहण कर लेवें।"

पुनः श्रावक के घर से निकलकर साधु अपनी वसतिका में आकर आचार्य के समीप गवासन से बैठकर प्रत्याख्यान ग्रहण करें।

इस बारे में भी अनगार धर्मामृत में कहा है—

"सूरौ—आचार्यसमीपे पुनर्ग्राह्यं प्रतिष्ठाप्यं साधुना। किं तत् ? प्रत्याख्यानादि। कया ? लघ्व्या सिद्धभम्त्या भक्त्यधिकया तथा वंद्यः साधुना स सूरिः। कया ? सूरिभक्त्या। किं विशिष्टया ? लघ्व्या।" अर्थात् 'पुनः आचार्य के पास में बैठकर साधु लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करें। अनंतर लघु आचार्य भक्ति पढ़कर आचार्य की या गुरु की वन्दना करें। यथा—"भोजन के पहले लघु सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास का त्याग—निष्ठापन करें और भोजन के बाद शीघ्र ही लघु सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण करें। यह तो आचार्य की असमक्षता में करें। आचार्य के समीप में लघु सिद्धभक्ति, लघु योगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास धारण करें। अनन्तर लघु आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य वंदना करें।"

उसकी प्रयोगविधि निम्न प्रकार है—

नवधा भक्ति के बाद आहार प्रारम्भ करने के पहले की विधि—

नमोस्तु प्रत्याख्यान निष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं। ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर "तवसिद्धे णयसिद्धे—इत्यादि लघु सिद्धभक्ति पढ़कर "इच्छामि भंते! सिद्धभत्ति काओसग्गो कओ—आदि अंचलिका पढ़ें। पुनः आहार करके मुखशुद्धि करने के बाद वहीं पर निम्न विधि करें।

"नमोस्तु प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापनक्रियायां—सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं" ९ बार जाप्य करके लघु सिद्धभक्ति पढ़कर श्रावक के द्वारा दी गई पिच्छी ग्रहण करें।

इसी प्रकार गुरु के पास आकर उपर्युक्त प्रक्रिया से सिद्धभक्ति, योगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान लेवें और नमोस्तु आचार्यवंदनायां आचार्यभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं, यह बोलकर नौ बार णमोकार मंत्र का जाप्य करके "श्रुतजलधिपारगेभ्यः—इत्यादि लघु आचार्यभक्ति पढ़कर उन्हें नमस्कार करें।"

यह आगम की विधि मैंने यहाँ प्राचीन गुरु परम्परा के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिसे आचार्यगण, मुनिवर्ग, आर्यिका माताएँ आदि समस्त चतुर्विध संघ शास्त्रीय विधि मानकर अपनाएँ और पंचम काल के अन्त तक गुरुपरम्परा में इस प्रकार की आगम विधि चलती रहे यही भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना है।

नोट—मैंने यह सारा प्रकरण पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की "मुनिचर्या" नामक पुस्तक के आधार से यहाँ प्रस्तुत किया है।

भजन

-आर्यिका चन्दनामती

तर्ज-होठों से छू लो तुम.....

माता तेरे चरणों में, हम वन्दन करते हैं।
तेरे ज्ञान की गरिमा का, अभिवन्दन करते हैं।।टेक.।।

मेरे मन के अंधेरे में, कुछ ज्ञान प्रकाश भरो।
जीवन के सबेरे में, अब कुछ तो विकास करो।।

पावन पद कमलों में, शत वन्दन करते हैं।
तेरे ज्ञान की गरिमा का, अभिवंदन करते हैं।।1।।

चंचल चित का चिन्तन, चिरकाल से भी न रुका।
अज्ञान में उलझा मन, निज ज्ञान पे भी न टिका।।

श्रुतज्ञान के उपवन में, अभिसिंचन करते हैं।
तेरे ज्ञान की गरिमा का, अभिवंदन करते हैं।।2।।

शिवपथ की मंजिल का, हमें ज्ञान हुआ कुछ माँ।।
शुद्धातम मंदिर का, अब ज्ञान मिला कुछ माँ।।

"चंदना" तेरे पद में, हम वन्दन करते हैं।
तेरे ज्ञान की गरिमा का, अभिवंदन करते हैं।।3।।

अध्याय-11
ध्यान साधना-आत्मावलोकन का हेतु

(1)
ध्यान कैसे करें ?

ध्यान का लक्षण—एकाग्रचिन्तानिरोध होना अर्थात् किसी एक विषय पर मन का स्थिर हो जाना ध्यान कहलाता है। यह ध्यान उत्तम संहनन वाले महामुनियों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) तक ही हो सकता है। जैन ग्रंथों में ध्यान के चार भेद माने हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान। जिसके लिए कहा भी है—

आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं, निर्मूल्य त्वत्प्रसादतः।
धर्मध्यानं प्रपद्याहं, लप्स्ये निःश्रेयसं क्रमात्।।

अर्थात् हे भगवन्! आर्त-रौद्र इन दो दुर्ध्यानों को आपके प्रसाद से निर्मूल करके मैं धर्मध्यान को प्राप्त करके क्रम से मोक्ष को प्राप्त करूँगा।

सारांश यह है कि आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये चार प्रकार के जो ध्यान हैं, वे चारों गतियों को प्राप्त कराने में अपना सहयोग प्रदान करते हैं अर्थात् आर्तध्यान से तिर्यंच—पशुगति, रौद्रध्यान से नरकगति, धर्मध्यान से देव और मनुष्य गति तथा शुक्लध्यान से सिद्धगति की प्राप्ति होती है।

पूर्ण ध्यान किसे हो सकता है?—उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार तो संसार के प्रत्येक प्राणी को हर समय कोई न कोई ध्यान रहता ही है, तथापि इनमें प्रारंभ के दो (आर्त-रौद्र) ध्यान संसार के कारण हैं और "**परे मोक्ष हेतू**" सूत्र से धर्मध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। धवला ग्रंथ में दशवें गुणस्थान तक भी धर्मध्यान माना है और शुक्लध्यान तो उत्तम संहननधारी महामुनियों के तथा केवली भगवान के ही होता है।

गृहस्थजन भी ध्यान का अभ्यास कर सकते हैं!—ज्ञानार्णव ग्रंथ में श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि "**आकाश में पुष्प खिल सकते हैं और गधे के सींग हो सकते हैं किन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम में शुक्लध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है।**" फिर भी धर्मध्यान की सिद्धि के लिए गृहस्थाश्रम में भी ध्यान का अभ्यास और भावना तो करनी ही चाहिए।

संसार में अनेक प्रकार की भौतिक चिन्ताओं में उलझे मन को कुछ विश्रान्ति देने के लिए श्रावकों को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन ध्यानों का अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि इन पिण्डस्थ आदि ध्यानों

की सिद्धि तो कठिन है फिर भी प्रतिदिन किया गया अभ्यास, भावना, संतति और चिन्तन इन नामों की सार्थकता को तो प्राप्त कर ही लेता है और कालान्तर में वही अभ्यास ध्यान की सिद्धि में सहायक बन जाता है।

ऊपर कहे गये धर्मध्यान के अंतिम भेद संस्थान-विचय के ही ये पिण्डस्थ आदि चार भेद माने गये हैं, सो यहाँ क्रमानुसार पिण्डस्थ ध्यान के बारे में ही बताया जा रहा है।

कहाँ बैठकर ध्यानाभ्यास करें?—मन चूँकि अत्यन्त चंचल है अतः उसे नियंत्रित करने एवं ध्यान की ओर उन्मुख करने के लिए जिनमंदिर पूर्ण उपयुक्त स्थान होते हैं। यदि मंदिर की सुविधा उपलब्ध नहीं है, तो घर के किसी एकांत स्थान (पूजाघर-चैत्यालय) में बैठ सकते हैं अन्यथा किसी पार्क आदि खुले स्थान का कोई हिस्सा भी ध्यान करने के लिए उचित रहेगा। जहाँ आप ५ मिनट से लेकर शक्ति अनुसार १ घंटे तक भी बैठने में स्वाधीनता और निर्विकल्पता का अनुभव कर सकें उस स्थान का चयन कर लें तथा भूमि पर चटाई या दर्भासन (डाभ या शुद्ध आसन) बिछाकर ध्यान करने हेतु बैठ जावें। केवल भूमि पर बैठकर ध्यान न करें।

ध्यान के समय मुख पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर करें क्योंकि पूर्व से निकलने वाले सूर्य की तेजस्वी किरणों की तरंगें प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों प्रकार से मन-मस्तिष्क को और ऊर्जा प्रदान करती हैं जो आत्मा में तेजस्विता के साथ-साथ शारीरिक स्वस्थता को भी देने वाली हैं। इसी प्रकार उत्तर दिशा मनोरथसिद्धि में सहायक मानी गई है जो अपनी ओर अभिमुख हुए मानव की समस्त समस्याओं का समाधान करके उसमें नवजीवन का संचार करती है।

किस मुद्रा में बैठें?—ध्यान के लिए पद्मासन मुद्रा सर्वश्रेष्ठ मानी गई है, वह ब्रह्मचर्यसिद्धि के लिए रामबाण औषधि के समान है। इसके लिए पहले बायाँ पैर दाहिनी जाँघ पर रखते हैं पुनः दाहिना पैर बायीं जाँघ पर रखकर, बाएँ हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रखकर भगवान के समान शांत मुद्रा में बैठकर आँखों को कोमलता से बंद करें।

यदि इस पद्मासन से बैठने में अधिक तकलीफ महसूस हो तो अर्धपद्मासन (बायाँ पैर नीचे और दाहिना पैर उसकी जाँघ पर रखकर) से बैठें अथवा सुखासन से भी बैठकर ध्यानाभ्यास किया जा सकता है।

ध्यान का शुभारंभ ॐ की ध्वनि से करें—शरीर की सुषुम्ना नाड़ी एवं मस्तक के ब्रह्म भाग को जागृत करने हेतु "ॐ" बीजाक्षर का नाद परम आवश्यक है। ध्यान को प्रारंभ करने हेतु सर्वप्रथम स्थिरतापूर्वक नौ बार इस ॐकार की ध्वनि करें। ध्वनि के उच्चारण में जहाँ कंठ, तालु, होंठ, नासिका आदि इन्द्रिय एवं उपांगों का अवलम्बन लेना होता है, वहीं ध्वनि के उन क्षणों में अपनी अन्तर्दृष्टि नाभिस्थान पर होनी चाहिए। उस समय अनुभव में नाभिस्थान से उठते हुए आध्यात्मिक तेजपुंज की एक लकीर ऊपर उठती हुई धीरे-धीरे ॐ के साथ मस्तक के रन्ध्र (ब्रह्म) भाग तक जाएगी, यही आध्यात्मिक ऊर्जा आत्मिक शक्ति को प्रदान करती है।

ॐ की यह ध्वनि यदि दिन में तीन बार (प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल) पूर्ण विधि के साथ की जाए तो माइग्रेन, साइनस, ब्लडप्रेशर आदि अनेक बीमारियों का इलाज बिना दवाई लिए हो जाता है। इसके कई साक्षात् उदाहरण भी देखने को मिले हैं। इस ध्वनि के पश्चात् आत्मिक शान्ति हेतु ध्यान के कुछ सूत्रपदों का उच्चारण करें—

(१) ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहं (शक्तिरूप में मेरी आत्मा अनन्तज्ञानरूप है)

(२) परमानन्दस्वरूपोऽहं (मेरी आत्मा में परम आनंद का स्रोत प्रवाहित हो रहा है)

(३) चिच्चैतन्यस्वरूपोऽहं (शुद्ध चैतन्य स्वभाव से युक्त मेरी आत्मा है)

(४) चिन्मयज्योतिस्वरूपोऽहं (चैतन्य की परमज्योति से मैं समन्वित हूँ)

(५) चिच्चिंतामणिरूपोऽहं (चैतन्यरूप चिन्तामणिरत्न से युक्त मेरी आत्मा है)

(६) शुद्धबुद्धस्वरूपोऽहं (शुद्ध बुद्ध स्वभाव से मैं समन्वित हूँ)

(७) नित्यनिरंजनरूपोऽहं (निश्चयनय से समस्त कर्मरूपी अंजन—कालिमा से मैं रहित हूँ)

पुनः अपने मन में पूर्ण स्वस्थता का अनुभव करते हुए पिण्डस्थ ध्यान के लिए तैयार हो जाएँ अर्थात् पिण्ड—शरीर में स्थित आत्मा का चिन्तन करना, पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। इसमें पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ये पाँच धारणाएँ होती हैं।

(१) पार्थिवी धारणा (चित्त की चंचलता में रुकावट)— शरीर पर कम से कम परिग्रह हो और निराकुल चित्त होकर पद्मासन, अर्धपद्मासन अथवा सुखासन से चटाई पर बैठकर इस धारणा के अन्तर्गत विचार कीजिए—

मध्यलोक प्रमाण एक राजू (असंख्यातों मील का) विस्तृत बहुत बड़ा गोल क्षीरसमुद्र है अर्थात् जम्बूद्वीप से लेकर अंतिम स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त असंख्यात योजन का क्षीरसागर ध्यान में देखें। दूध के समान सफेद जल से वह समुद्र लहरा रहा है और समुद्र के बीचोंबीच में एक लाख योजन (४० करोड़ मील) विस्तार वाला खिला हुआ एक दिव्य कमल है जिसमें एक हजार पत्ते हैं, वे सब पत्ते सुवर्ण के समान चमक रहे हैं। कमल के बीच की कर्णिका सुमेरुपर्वत के समान ऊँची उठी हुई है, वह पीले रंग की है और अपनी पराग से दशों दिशाओं को पीत प्रभा से सुशोभित कर रही है।

भव्यात्माओं! जैन आगम की भाषा में ऊपर समुद्र और कमल आदि का प्रमाण बताया है, इसका सारांश यह है कि आप अपने चिन्तन में जितना बड़ा से बड़ा समुद्र देख सकें, देखें और उसके बीच में एक हजार आठ पंखुड़ियों का कमल देखें। मन को सुमेरु के समान ऊँचा मानकर कमल की कर्णिका को ऊँची उठी हुई देखें।

पुनः आप देखिए कि उस कर्णिका पर एक श्वेत वर्ण का ऊँचा सिंहासन है, उस पर मैं भगवान आत्मा के रूप में विराजमान होकर ध्यान में तल्लीन हूँ। यहाँ भावों की उच्चता ही कर्मों की निर्जरा कराएगी, आध्यात्मिक ज्योति से आत्मा प्रकाशित हो जाएगी। यही आध्यात्मिक ऊर्जा है जिससे शारीरिक और मानसिक शक्ति प्राप्त होती है।

इस समय आप मन ही मन निम्न पंक्तियाँ पढ़ें—

मेरा तनु जिनमंदिर उसमें, मन कमलासन शोभे सुन्दर।
उस पर मैं ही भगवान स्वयं, राजित हूँ चिन्मय ज्योतिप्रवर।।

मैं शुद्ध बुद्ध हूँ सिद्ध सदृश, कर्मांजन का कुछ लेप नहीं।
मैं नमूँ उसी शुद्धात्मा को, मेरा पर से संश्लेष नहीं।।

(इसके साथ ही शांति और शिथिलता का सुझाव दीजिए। शान्त..... शिथिल.....)

अनंतर आप ऐसा चिंतवन कीजिए कि मेरी आत्मा सम्पूर्ण राग-द्वेषमय संसार को और समस्त कर्मों को नष्ट करने में सक्षम है। ऐसा बार-बार विचार करते हुए अपने उपयोग को उसी में तन्मय कर दीजिए। यहाँ ध्यान के निम्न सूत्र पदों को पढ़ लीजिए—

''ज्ञानपुंजस्वरूपोऽहं, नित्यानंदस्वरूपोऽहं, सहजानंदस्वरूपोऽहं, परमसमाधि-स्वरूपोऽहं, परमस्वास्थ्यस्वरूपोऽहं।''

इस चिन्तनधारा के साथ प्रथम पार्थिवी धारणा समाप्त हुई और अब द्वितीय धारणा के लिए अगला दिन निर्धारित कीजिए ताकि एक दिन का अभ्यास दीर्घकालीन न होने पाए, अन्यथा मस्तिष्क पर भार अनुभव होने लगेगा।

(२) ''आग्नेयी धारणा'' (कर्मों को जलाने की एक प्रक्रिया)—इस धारणा के अन्तर्गत चिन्तन कीजिए कि मेरे नाभिस्थान में सोलह दलों वाला खिला हुआ एक सफेद कमल है। उस कमल की कर्णिका पर "ह्रँ" बीजाक्षर पीली केशर से लिखा हुआ देखिए पुनः दिशा के क्रम से प्रत्येक दलों (पत्तों) पर केशर से ही अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, इन सोलहों स्वरों को लिख लें। पुनः इन सोलहों स्वर एवं ह्रँ बीजाक्षर पर अपने मन को केन्द्रित करके इनका ध्यान कीजिए।

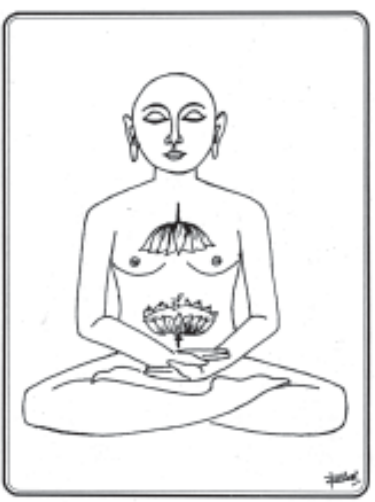

मन को अशुभ से शुभ की ओर ले जाने की यह एक उत्तम प्रक्रिया है, इस समय शारीरिक और मानसिक स्थिरता की परम आवश्यकता है अतः चंचल चित्तरूपी बंदर को एकदम अनुशासित रखिए, तब आपको ये अक्षर और कर्णिका का महामंत्र स्पष्ट दिखने लगेगा। इसके आगे आप देखें कि इसी कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान पर औंधा मुँह करके (नीचे को लटकता हुआ) एक मटमैले रंग का आठ दल का कमल बना हुआ है, उसके आठों दल पर क्रम से ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तराय कर्म इन आठों कर्मों के नाम काले रंग से लिखे हुए हैं।

पुनश्च ध्यान की अगली शृँखला में देखें और अनुभव करें कि नाभिकमल की कर्णिका के "ह्रँ" महामंत्र के रेफ से धुँआ निकल रहा है, कुछ ही क्षणों में उस धुँए में से अग्नि के स्फुलिंगे (चिंगारियाँ) निकलने लगीं, तब अग्नि की लौ ऊपर को उठकर आठ कर्म वाले कमल को जलाने लगी और धीरे-धीरे वही अग्नि ज्वाला बनकर मस्तक के ऊपर पहुँच गई, पुनः वह अग्नि त्रिकोणाकार मण्डल के आकार में परिवर्तित हो गई अर्थात् अग्नि की

एक लकीर मस्तक के दाईं ओर, एक बाईं ओर गई और नीचे दोनों लकीरों के मिल जाने से शरीर का त्रिकोणाकार अग्निमंडल बन जाता है। इस समय यह चिन्तन करें कि धधकती हुई यह अग्नि अंदर में तो कमलपत्रों को जला रही है और बाहर में औदारिक शरीर को भस्म कर रही है।

चिन्तन के इन क्षणों में घबड़ाहट बिल्कुल नहीं होना चाहिए क्योंकि इस ध्यान के माध्यम से अनेक भवों में संचित पापकर्म तो नष्ट होंगे ही, साथ में तमाम शारीरिक रोगों का विनाश होकर स्वस्थता का अनुभव भी होगा।

अब आगे देखें कि अग्नि मंडल के त्रिकोणाकार की तीनों लकीरों में "रं रं रं" ऐसे अग्निबीजाक्षर लिखे हुए हैं और तीनों कोणों पर स्वस्तिक बने हैं तथा स्वस्तिक के पास भीतरी भाग में "ॐ र्हं" ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए हैं। पुनः चेतावनी दी जा रही है कि जलती हुई अग्नि को देखकर मन को विचलित नहीं करना है क्योंकि आत्मा चिच्चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक है अतः अग्नि के द्वारा वह कभी जल नहीं सकती है, यह तो अशुभ कर्मों को जलाने का एक तरीका है और इसमें सफलता प्राप्त करते ही आपको परम स्वस्थता की अनुभूति होगी।

इस धारणा में ध्यान की समापन बेला में अब पुनः देखिए कि वह अग्नि धीरे-धीरे शांत हो गई है, जिससे हमारी आत्मा पर राख का पुंज इकट्ठा हो गया है पुनः पाँच दीर्घ श्वांस लेते हुए आज के ध्यान को निम्न वाक्य बोलते हुए समाप्त कीजिए—

"मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मुझे कोई रोग नहीं है।" (तीन बार बोलें)

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान के प्रकरण में दो धारणाओं का यहाँ वर्णन किया गया है। आगे की धारणाएँ अगले दिन के ध्यान में करें।

नोट—उपर्युक्त ध्यान के प्रयोग से अनेक भाइयों को ब्लडप्रेशर, शुगर एवं हार्ट की बीमारियों में आशातीत लाभ मिला है एवं कई बहनों ने माइग्रेन, सिरदर्द, साइनस एवं शरीर के दर्दों में काफी आराम का अनुभव किया है अतः पाठकगण भी इसे दिन में एक, दो अथवा तीन समय प्रयोग करके अपने अनुभव से हमें अवगत करावें तो ध्यान की सार्थकता का परिचय अन्य लोगों को भी प्राप्त हो सकेगा।

अब इसी शृँखला में प्रस्तुत हैं पिण्डस्थ ध्यान की अगली धारणाएँ—

१. सर्वप्रथम आप मंदिर जी की स्वाध्यायशाला में अथवा घर के किसी एकांत स्थान में स्थिरचित्त होकर ध्यान के लिए पद्मासन, अर्धपद्मासन या सुखासन से बैठकर आँखें कोमलता से बंद करें।

२. बाएँ हाथ की हथेली पर दाएँ हाथ की हथेली रखकर शरीर को तनावमुक्त करें। पृष्ठ रज्जु बिल्कुल सीधी हो, न अधिक अकड़न न अधिक झुकाव हो किन्तु निराकुल, शान्तचित्त होकर बैठें।

३. इसके पश्चात् ॐ की नव बार ध्वनि निकालते हुए दीर्घ श्वांस का अभ्यास करें, पुनः मानसिक स्थिरता के लिए ध्यान के कुछ सूत्रपदों का उच्चारण कीजिए—

अनन्तज्ञानस्वरूपोऽहं, अनन्तदर्शनस्वरूपोऽहं, अनन्तवीर्यस्वरूपोऽहं, सहजानन्दस्वरूपोऽहं।

अब ध्यान की धारा में अपने चित्त को प्रवाहित कीजिए और पार्थिवी तथा आग्नेयी धारणा के अन्तर्गत जो-जो आपने चिन्तन किया था कि क्षीरसागर के मध्य ऊँचे कमल की कर्णिका पर एक सिंहासन के ऊपर मैं एक स्वच्छ अन्तरात्मा के रूप में विराजमान हूँ और चिन्तन के आधार पर मुझे अपने को परमात्मा बनाना है।

(३) श्वसना (वायवी) धारणा—अब आप देखिए कि आकाश में चारों तरफ से प्रलयकारी तेज हवा चलने लगी। यह हवा मेरूपर्वत को भी प्रकम्पित कर देने को आतुर है किन्तु आप चिन्ता मत कीजिए क्योंकि आपकी ध्यानस्थ आत्मा को यह वायु अणुमात्र भी हिला नहीं सकती है। वायुमण्डल गोल आकाररूप से परिणत हो गया है, इस मण्डल में जगह-जगह **'स्वाय-स्वाय'** ये वायु के बीजाक्षर सफेद रंग से लिखे हैं।

आगे देखें कि वह प्रलयंकारी वायु मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गई है और वह त्रिकोणाकार शरीर पर ढकी हुई भस्म को उड़ा रही है अर्थात् इस हवा से कर्मों की रज उड़ गई और आत्मा स्वच्छ हो गई है। इस वायवी धारणा के समय निम्न मंत्र का चिन्तन कीजिए।

''ॐ ह्रीं अर्हम् श्रीजिनप्रभंजनाय कर्मभस्मविधूननं कुरु कुरु स्वाहा।''

पुनः अनुभव करें कि यह वायु रुक गई है और हवा की हलचल समाप्त हो गई है। मैं अब ज्ञान का पुंज बन गया हूँ, सम्पूर्ण अज्ञानता मेरे हृदय से दूर हट गई है।

इतना चिन्तन भी आपको बहुत शांति तथा सुख प्रदान करेगा अतः मात्र यह अनुभव कीजिए कि—मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ मुझे कोई रोग नहीं है। तीन बार पुनः महामंत्र का स्मरण करते हुए तीन बार दीर्घ स्वासोच्छ्वास लें और आँख खोलकर, हाथ जोड़कर, पंचपरमेष्ठियों को नमन करते हुए निम्न पद्य बोलें—

संसार के भ्रमण से अतिदूर हैं जो,
ऐसे जिनेन्द्रपद में नित ही नमूँ मैं।
सम्पूर्ण सिद्धगण को सब साधुओं को,
वंदूँ सदा सकल कर्म विनाश हेतू।।१।।

पुनः अगली वारुणी धारणा में प्रवेश करें।

(४) वारुणी धारणा—अब चिंतन करें कि आकाश में बादल छा गए हैं, बिजली चमक रही है और देखते ही देखते मूसलाधार बरसात शुरू हो गई है। आकाशमण्डल में चारों ओर "पं पं पं" बीजाक्षर लिखे हुए हैं।

वर्षा की अमृत सदृश बूँदें मेरी आत्मा का प्रक्षालन कर रही हैं। इस दृश्य का चिन्तन करते हुए निम्न मंत्र पढ़ें—

''ॐ ह्रीं अर्हम् श्रीजिनपर्जन्याय कर्ममलप्रक्षालनं कुरु कुरु स्वाहा।''

इस प्रकार वर्षा से शुद्ध होकर मेरी आत्मा स्फटिक के समान शुद्ध हो रही है। मंत्र पढ़िए—**ॐ ह्रीं शुद्धात्मने नमः, ॐ ह्रीं विश्व रूपात्मने नमः, ॐ ह्रीं परमात्मने नमः**। अब आगे पंचम तत्त्वरूपवती धारणा का अवलम्बन लीजिए—

(५) तत्त्वरूपवती धारणा—उपर्युक्त मंत्रों के उच्चारण के पश्चात् शरीर में शिथिलता एवं शांति का सुझाव देते हुए मन को स्थिर करें, पुनः चिन्तन करें कि मेरी आत्मा सप्तधातु से रहित पूर्णचन्द्र के समान प्रभाव वाली सर्वज्ञ के सदृश बन गई है। अब मैं अतिशय से युक्त, पंचकल्याणकों की महिमा से समन्वित होकर देव, दानव, धरणेन्द्र आदि से पूजित हो गया हूँ। अनन्तर मैं आठ कर्मों से रहित निर्मल पुरुषाकार नित्य निरंजन परमात्मा बन गया हूँ। यह चिन्तन करते-करते आप पिण्डस्थ ध्यान की चरम सीमा तक पहुँच गये हैं।

अपने पिण्ड—शरीर के अंदर स्थित आत्मा का ध्यान ही पिण्डस्थ ध्यान है। इसका निश्चल ध्यान करने वाले योगीजन अन्य लोगों से दुःसाध्य ऐसे मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेते हैं तो अन्य शारीरिक सुखों की तो बात ही क्या है। जिस प्रकार से सूर्य के उदित होते ही उल्लू पलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार से इस पिण्डस्थ ध्यानरूपी धन के समीप होने पर विद्या, मण्डल, मंत्र, यंत्र, इंद्रजाल के आश्चर्य, सिंह, सर्प तथा दैत्य आदि निःसारता को प्राप्त हो जाते हैं एवं भूत, पिशाच, ग्रह, राक्षस आदि कुछ भी उपद्रव करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। ऐसा इस ध्यान का अचिन्त्य प्रभाव जानना चाहिए।

मेरे हृदयाम्बुज में नितप्रति, चिन्मय ज्योती भगवान रहे।
मेरे अन्तर में आनंदघन, अमृतमय पूर्ण प्रवाह बहे।।
वह ही आनन्द घनाघन हो, कलिमल को दूर करे क्षण में।
सब दूरित सूर्य का ताप शमन, कर शाश्वत शांति भरे मुझमें।।

पुनः आँखें खोलकर हाथ जोड़कर परमात्मा को नमन करते हुए ध्यान को सम्पन्न कीजिए।

अब पदस्थ ध्यान का वर्णन प्रारंभ किया जाता है

पदस्थ ध्यान क्या है?—पवित्र मंत्रों के अक्षर पदों का अवलम्बन लेकर उसमें तल्लीन हो जाना पदस्थ ध्यान कहलाता है। इसके बहुत भेद हो जाते हैं जो कि विभिन्न मंत्रों पर आधारित हैं।

पिण्डस्थ ध्यान को पदस्थ से पूर्व क्यों बतलाया है?—गृहस्थाश्रम के अनेकों प्रपंचों में उलझे हुए मन को कोई भी एक मंत्र पर किंचित् क्षण के लिए भी टिका नहीं सकता है और मन को खाली बैठना भी आता नहीं, अतः वह इधर-उधर के चक्कर में ही पुनः घूमने लगता है अतः उसके लिए जितनी भी सामग्री दी जाएगी, उतना ही अच्छा है क्योंकि उतनी देर तक तो कम से कम वह बाहर के विषयों से अपने को हटाकर इन धारणाओं के चिन्तन में ही उलझेगा, जो अच्छा ही है। यदि एक पद पर ही मन को स्थिर करना सरल होता तो आचार्य पहले

पदस्थ ध्यान को कहकर फिर पिण्डस्थ को कहते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पिण्डस्थ ध्यान का ही पहले अभ्यास करना चाहिए। अनन्तर उसमें परिपक्व हो जाने के बाद पदस्थ ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

ॐ का ध्यान

पदस्थ ध्यान कैसे प्रारंभ करें?—सर्वप्रथम आप शुद्ध मन से शुद्ध वस्त्र धारण कर किसी एकांत स्थान अथवा पार्क जैसे खुले स्थान पर पद्मासन, अर्धपद्मासन अथवा सुखासन से बैठ जाएँ। शरीर पर पहने हुए वस्त्रों के अतिरिक्त समस्त परिग्रह को त्यागकर स्वाधीनता का अनुभव करते हुए तन-मन में शिथिलता का सुझाव दें और हाथ जोड़कर प्रार्थना करें—

तर्ज-मैं चंदन बनकर तेरे.....

'हे प्रभु! मैं अपने आतम, में ऐसा रम जाऊँ।
संसार के बंधन से, मैं मुक्त हो जाऊँ।। हे प्रभु.।।
संकल्प विकल्पों का यह, सागर संसार है।
सागर की तरंगों से अब, मैं ऊपर उठ जाऊँ।। हे प्रभु.।।१।।
दुःखों की पर्वतमाला, कब टूट पड़ेगी मुझ पर।
उस पर्वत पर हे भगवन्! मैं कैसे चढ़ पाऊँ।। हे प्रभु.।।२।।
आतम सुख के अमृत में, मैं डूब गया अब स्वामी।
उसका आस्वादन लेकर, "चन्दनामती" सहज सुख पाऊँ।। हे प्रभु.।।३।।

इसके पश्चात् बाएँ हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली रखकर, आँखें कोमलता से बंद करके भगवान के समान शान्तमुद्रा में बैठ जाएं और ॐकार का नाद करते हुए निम्न मंत्रों का उच्चारण करते हुए आत्मशांति का अनुभव करें—

१. ॐ अर्हत्स्वरूपोऽहं २. ॐ तीर्थस्वरूपोऽहं ३. ॐ जिनस्वरूपोऽहं ४. ॐ सिद्धस्वरूपोऽहं ५. ॐ आत्मस्वरूपोऽहं।

पुनः अपनी अन्तर्यात्रा प्रारंभ कर दें, इस यात्रा का लक्ष्य बिन्दु है—ॐ बीजाक्षर। कल्पना कीजिए कि मेरे ठीक सामने केशरिया वर्ण का एक "ॐ" मंत्र विराजमान है। इसी ॐ पर मन को केन्द्रित करें, ॐ के प्रत्येक अवयव में केशरिया रंग भरा हुआ देखें। अनुभव करें.....मन को बाहर न जाने दें.....शिथिलता का सुझाव देते हुए ध्यान की अगली शृँखला में प्रवेश करें और चिन्तन करें कि—

"ॐ" यह प्रणवमंत्र है, यह पंचपरमेष्ठीवाचक मंत्र समस्त द्वादशांग का वाचक है। इसमें यथास्थान पाँचों परमेष्ठियों को विराजमान करते हुए उनके दर्शन करें—ॐ के अंदर प्रथम सिरे पर "अरिहंत" भगवान को देखें और

"णमो अरिहंताणं" पद का स्मरण करते हुए भावों से ही अरिहंत परमेष्ठी को नमन करें और आगे चलें अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला पर, जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं। आठों कर्मों से रहित, निराकार — अशरीरी सिद्ध भगवान की प्रतिमा पर मन को एकाग्र करते हुए आप "णमो सिद्धाणं" पद का स्मरण करें और उन्हें नमन करते हुए अपने मनवांछित कार्य की सिद्धि करें।

पुनश्च तीसरे परमेष्ठी आचार्य देव हैं, उनके दर्शन करने के लिए ॐ के मध्य भाग पर मन को लाएं और चिन्तन करें कि पिच्छी-कमण्डलु से सहित एक दिगम्बर मुनिराज यहाँ विराजमान हैं, ये ही चतुर्विध संघ के नायक आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके चरणों में श्रद्धापूर्वक नमन (भावों से ही) करें और "णमो आइरियाणं" पद का मानसिक उच्चारण करते हुए "ॐ" की मात्रा चतुर्थ उपाध्याय परमेष्ठी को दिगम्बर मुनि मुद्रा में अध्ययन-अध्यापन करते हुए देखें। इनके दर्शन से अज्ञान का नाश एवं ज्ञान का विकास होगा, "णमो उवज्झायाणं" के उच्चारणपूर्वक उनके चरणों में भाव नमस्कार करें और अंतिम परमेष्ठी सर्व साधुओं के दर्शन करने हेतु "ॐ" के निचले भाग में अपनी यात्रा का पड़ाव डालें। पुनः चिन्तन करें कि यहाँ सामायिक अवस्था में लीन महान सन्त-साधु विराजमान हैं, जो संसार-शरीर-भोगों से पूर्ण विरक्त हैं। उनके दर्शन करते हुए मन को केन्द्रित कर दें, उनकी वीतरागी मुद्रा पर और निम्न पंक्तियाँ पढ़ते हुए तल्लीन हो जायें ताकि मन कहीं बाहर न जाने पावे —

हे गुरुवर! तेरी प्रतिमा ही, तेरा अन्तर दर्शाती है।
यह नग्न दिगम्बर मुद्रा ही, प्राकृतिक रूप दर्शाती है।।

अर्थात् जिनकी काया से ही बिना कुछ बोले भी मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन हो रहा है ऐसे साधुपरमेष्ठी के चरणों में नतमस्तक होकर "णमो लोए सव्वसाहूणं" का उच्चारण करें और अपनी आत्मा में विलक्षण आध्यात्मिक ऊर्जा की प्राप्ति का अनुभव करें। दो मिनट के लिए मन को यहीं स्थिर कर दें, शरीर में शिथिलता एवं शांति का सुझाव दें, पुनश्च —

परमेष्ठियों की शक्ति से समन्वित अनन्तशक्तिमान् ॐ मंत्र के चारों ओर एक गोलाकार से निकलती हुई सूर्य की किरणों का दर्शन करें अर्थात् एक सूर्यबिम्ब में विराजमान ॐ बीजाक्षर पर चित्त को केन्द्रित करें, तब सूर्य जैसा प्रकाश मन-मस्तिष्क में भरता महसूस होगा एवं उस समय अनुभव करें —

"मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मुझे कोई रोग नहीं है" (तीन बार इस वाक्य को बोलें) पुनः महामंत्र के स्मरणपूर्वक तीन बार दीर्घ श्वासोच्छ्वास लें और आँखों को अभी बंद रखते हुए निम्न श्लोक का उच्चारण करें —

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धाः कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो मम मंगलम्।।

इस मंगलपाठ के अनन्तर हाथ जोड़कर पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करते हुए आँखें खोलें। इस प्रकार पदस्थ ध्यान में ॐ बीजाक्षर की यह संक्षिप्त ध्यान प्रक्रिया बतलाई गई है। आगे इसी तरह से ह्रीं, क्लीं, अर्हं, असिआउसा आदि बीजाक्षरों को भी अपने उत्तमांगों में स्थापित करके इनका ध्यान भी किया जा सकता है।

ह्रीँ का ध्यान

ध्यान की उपयोगिता — स्वास्थ्य का पहला लक्षण मेरुदण्ड लचीला और स्वस्थ रहे। मेरुदण्ड को लचीला रखने के लिए मेरुदण्ड की क्रियाएँ और सीधा बैठना आवश्यक है। मेरुदण्ड के मात्र सीधा रहने से प्राणधारा का सन्तुलन होने लगता है, जिससे व्यक्ति शक्तिशाली और प्राणवान बनता है। दीर्घ श्वांस से एकाग्रता आती है और गुस्सा शांत होता है। योगनिद्रा से तनाव में कमी और शांति मिलती है। सकारात्मक सोच और मंगल भावना से मैत्री का विकास होता है। योग और मुद्राओं से स्वभाव बदलता है।

ह्रीं क्या है? ह्रीँ एक बीजाक्षर वर्ण है। इस एक ह्रीँ के अन्दर चौबीस तीर्थंकर समाहित हैं जो कि भिन्न-भिन्न वर्ण के हैं।

उसका ध्यान प्रारंभ करें, सर्वप्रथम आप शुद्ध मन से शुद्ध वस्त्र धारण कर किसी एकांत स्थान अथवा पार्क जैसे खुले स्थान पर पद्मासन, अर्धपद्मासन अथवा सुखासन से बैठ जाएं। शरीर पर पहने हुए वस्त्रों के अतिरिक्त समस्त परिग्रह को त्यागकर स्वाधीनता का अनुभव करते हुए तन-मन में शिथिलता का सुझाव दें और हाथ जोड़कर प्रार्थना करें—

तर्ज-आवाज देकर तुम्हें....

चलो मन को अन्तर की यात्रा कराएं।
भटकते विचारों को मन से हटाएँ।।

मेरी आतमा सत्य शिव सुन्दरम् है।
कुसंगति से उसमें हुआ मति भरम है।।
पुरुषार्थ कर शुद्ध आतम को ध्याएँ।
भटकते विचारों को मन से हटाएं।।१।। चलो.....

न हम हैं किसी के न कोई हमारा।
सभी से जुदा आतमा है निराला।।
उसे "चन्दनामति" स्वयं निज में पाएँ।
भटकते विचारों को मन से हटाएं।।२।। चलो.....

इसके पश्चात् बाएं हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली रखकर आँखें कोमलता से बंद करके भगवान के समान शांत मुद्रा में बैठ जाएं और ऊँकार का नाद करते हुए निम्न मंत्रों का उच्चारण करते हुए आत्मशांति का अनुभव करें—

१. श्री सुखसम्पन्नोऽहं २. ह्री गुणसम्पन्नोऽहं ३. धृतिगुणसम्पन्नोऽहं ४. श्रुतगुणसम्पन्नोऽहं ५. कीर्तिसम्पन्नोऽहं।

पुनः अपनी अन्तर्यात्रा प्रारंभ कर दें, इस यात्रा का लक्ष्य बिन्दु है—**ह्रीँ बीजाक्षर**। चौबीस तीर्थंकरों को नमन करते हुए ध्यान का प्रथम चरण प्रारंभ करें—

१. ध्यान का प्रथम चरण—सबसे पहले चित्त के द्वारा 'ह्रीँ' पद लिखें। ह्र, ई की मात्रा, कला (लाइन) अर्ध चन्द्राकार, बिन्दु। पूरा ह्रीँ देखें.... अनुभव करें...दिख रहा है। शांत...दर्शन करें। (१-२ मिनट)

२. ध्यान का द्वितीय चरण—यह ह्रीँ पद पाँच रंगों से युक्त है। कहाँ कौन सा वर्ण है, देखें.....लाल वर्ण की कला देखकर पुनः सर्वप्रथम **पीत वर्ण का ह्र** देखें। दो लाइनों में लिखे गए **ह्र** के अन्दर तपाए हुए स्वर्ण के समान पीला-पीला रंग भरा हुआ है। देखें.....अनुभव करें....दिख रहा है। शांत.....दर्शन (१ मिनट)।

पुनः ईकार की मात्रा (ी) हरे रंग की देखें। दो लाइनों में खींची हुई इस मात्रा के अंदर मरकत मणि के समान हरा रंग भरा हुआ है। देखें.....दिख रहा है.....अनुभव करें.....शांत....दर्शन (१ मिनट)

इसके पश्चात् लाइन **(कला—)** लाल वर्ण की देखें। दो लाइनों से युक्त इस कला के अंदर मूँगे के समान लाल-लाल रंग भरा हुआ है। देखें...अनुभव करें...दिख रहा है...शांत..दर्शन (१ मिनट)

अब आगे चित्त को सभी बाह्य विकल्पों से खींचकर अंदर की ओर ले आएं और ह्रीं के दाईं ओर ऊपर **श्वेत वर्ण का अर्ध चन्द्र** देखें। चमकता हुआ अर्ध चन्द्रमा बिल्कुल दूध जैसा सफेद। अनुभव करते हुए देखें.....दिख रहा है। इस चन्द्रमा को देखने से चित्त—हृदय धवल चाँदनी के सदृश स्वच्छ-निर्मल हो जाएगा। शांत.....दर्शन (१ मिनट)

अब श्वेत चन्द्रमा के ऊपर गोल नीली बिन्दु देखें जिसके अंदर नीलमणि के समान नीला रंग भरा हुआ है। म् का उच्चारण कराने वाली **गोल बिन्दी (०)** पूर्ण मनोयोग से देखने का प्रयास करें। देखें.....दिख रहा है। शांत.....दर्शन (१ मिनट)

यह पूरी पंचवर्णी ह्रीँ एक बार पूरी तौर से देख जाएं। शांत.....दर्शन।

३. ध्यान का तृतीय चरण—पंचवर्णी ह्रीँ में क्रम-क्रम से चौबीसों तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में विराजमान करें। सर्वप्रथम पीले **'ह्र'** के अंदर पीतवर्ण के सोलह तीर्थंकर हैं। देखें....ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, शीतल, श्रेयांस, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुंथु, अरह, मल्लि, नमि और वर्धमान। चित्त को एकाग्र करके सोलह तीर्थंकरों को पद्मासन मुद्रा में देखने का प्रयास करें। देखें.....दिख रहे हैं....शांत.....।

पुनः हरी ईकार मात्रा के अंदर हरितवर्ण के २ तीर्थंकर—सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ को विराजमान करें। देखें....अनुभव करें। दिख रहा है.....शांत.....दर्शन।

इसके पश्चात् क्रमानुसार लालवर्ण की कला (लाइन) के अंदर लाल वर्ण के दो तीर्थंकर—पद्मप्रभु और वासुपूज्य भगवान को विराजमान करें। देखें.....अनुभव करें.....शांत.....दिख रहा है।

अब श्वेत वर्ण के अर्धचन्द्र में चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत इन दो तीर्थंकरों को विराजमान करके देखें। शांत.....देखें.....दिख रहा है।

अन्त में नीली बिन्दु में नीलवर्ण के तीर्थंकर नेमिनाथ, मुनिसुव्रत को विराजमान करें। देखें.....दिख रहा है।

इस प्रकार क्रम से पूरी पंचवर्णी ह्रीँ के अंदर क्रम-क्रम से विराजमान समस्त तीर्थंकरों को एक बार देख जाएं। शांत.....शांत.....। चित्त की यात्रा पूरी होने वाली है। देखें....अनुभव करें.....पूरा ह्रीँ दिख रहा है।

ध्यान का अंतिम चरण— 'मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ मुझे कोई रोग नहीं है" (तीन बार इस वाक्य को बोलें पुनः महामंत्र के स्मरणपूर्वक तीन बार दीर्घ श्वासोच्छ्वास लें। श्वांस छोड़ते समय पेट अंदर और श्वांस भरते समय पेट बाहर और आँखों को अभी बंद रखते हुए निम्न श्लोक का उच्चारण करें—)

शाम सबेरे दो घड़ी तू, ह्रीं का ध्यान लगाया कर।
चौबीसों तीर्थंकर को तू, मन मंदिर में ध्याया कर।।टेक.।।

स्वर्णाक्षर ह्र के अन्दर, वृषभाजित संभव अभिनन्दन।
सुमती शीतल श्रेयो जिनवर, विमल अनंत धर्म वंदन।।

शांति कुंथु अर मल्लि जिनेश्वर, नमिप्रभ वर्धमान स्वामी।
हरित वर्ण ईकार सुपारस, पारस-चिन्तामणि नामी।।

लाल कला में पद्मप्रभ अरु, वासुपूज्य मन लाया कर।
चौबीसों तीर्थंकर को तू, मन मंदिर में ध्याया कर।।१।।

ह्रीं के बायीं ओर श्वेत है, अर्धचन्द्र आकार शिला।
श्वेत चन्द्रप्रभु पुष्पदन्त की, वाणी से मन कमल खिला।।

नीली गोल बिन्दु है ऊपर, उसमें नेमी मुनिसुव्रत।
आत्मशांति दाता चौबीसों, प्रभू 'चंदनामति' सुखप्रद।।

ह्रीं पंचवर्णी को प्रतिदिन, हृदय कमल में लाया कर।
चौबीसों तीर्थंकर को तू, मन मंदिर में ध्याया कर।।२।।

इस गीत के अनन्तर हाथ जोड़कर चौबीसों भगवन्तों को नमस्कार करते हुए आँखें खोलें। इस प्रकार पदस्थ ध्यान में ह्रीँ बीजाक्षर की यह संक्षिप्त ध्यान प्रक्रिया बतलाई गई है।

आप उपर्युक्त ध्यान प्रक्रिया से शारीरिक एवं आत्मिक लाभ प्राप्त करें, यही हार्दिक भावना है।

इस पदस्थ ध्यान में इन मंत्रों का ध्यान करना ही कहा है अर्थात् इन मंत्रों को हृदय, ललाट, नाभि, मस्तक, कंठ आदि स्थानों में स्थापित करके उस पर उपयोग को स्थिर करना चाहिए।

जाप्य— यदि आप ऐसा ध्यान करने में असमर्थ हैं तो आप इन मंत्रों की जाप्य भी कर सकते हैं। जाप्य करने के वाचक, उपांशु और मानस ऐसे तीन भेद हैं। वाचक जाप में शब्दों का उच्चारण स्पष्ट होता है। उपांशु में भीतर ही भीतर शब्द कंठ स्थान में गूंजते रहते हैं, बाहर नहीं निकल पाते हैं किन्तु मानस जाप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है, हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतवन चलता रहता है। यही क्रिया ध्यान का रूप धारण करती है। वाचक जाप से सौ गुणा अधिक पुण्य उपांशु जाप से होता है और उससे हजार गुणा

अधिक पुण्य मानस जाप से होता है।

महामंत्र के जाप में प्राणायाम विधि का विधान है अर्थात् णमोकार मंत्र के तीन अंश करिए ''णमो अरहंताणं'' इस पद के उच्चारण के साथ नाक से श्वांसवायु को ऊपर ले जाइये (पेट फुलाते हुए) और 'णमो सिद्धाणं'' इस पद के उच्चारण के साथ श्वांस वायु को बाहर निकालिये। इसी तरह 'णमो आइरियाणं' में श्वांस खींचना और 'णमो उवज्झायाणं' में श्वांस को छोड़ना तथा 'णमो लोए' में श्वांस भरना और 'सव्व साहूणं' पद में छोड़ना। इस तरह एक णमोकार महामंत्र के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं।

मुनि-आर्यिकाओं की देववंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि प्रत्येक क्रियाओं में स्वासोच्छ्वास की गणना से ही महामंत्रपूर्वक कायोत्सर्ग करने का विधान है तथा श्रावकों के लिए भी ऐसा ही विधान है अतः इस महामंत्र का नव बार जाप करने से २७ बार उच्छ्वास होते हैं एवं १०८ जाप करने से ३०० उच्छ्वास हो जाते हैं। यह महामंत्र सर्वश्रेष्ठ अपराजित मंत्र है। ऐसे ही 'अरहंत सिद्ध' 'अ सि आ उ सा' 'नमः सिद्धेभ्यः' आदि अनेकों मंत्र हैं।

शांतिमंत्र — ॐ ह्रीं श्री शांतिनाथाय जगत् शांतिकराय सर्वोपद्रव शांतिं कुरु कुरु ह्रीं नमः।

शांति की इच्छा करते हुए सदैव इस मंत्र का जाप करना चाहिए। अंगुलियों पर जाप करना या मणियों की अथवा सूत की माला से भी जाप कर सकते हैं। प्लास्टिक या लकड़ी की माला से जाप नहीं करना चाहिए। जाप करना पदस्थ ध्यान नहीं है किन्तु उस ध्यान के लिए प्रारंभिक साधन मंत्र हैं।

रूपस्थध्यान — अरिहंत भगवान के स्वरूप का विचार करना अर्थात् भगवान समवसरण में द्वादश सभाओं के मध्य विराजमान हैं। उनका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत — सिद्धों के गुणों का चिंतन करना अर्थात् सिद्ध भगवान अमूर्तिक, चैतन्यस्वरूप, पुरुषाकार निरंजन परमात्मा हैं, वे लोकाग्र में सिद्ध शिला पर विराजमान हैं। तत्पश्चात् अपने आपको सिद्धस्वरूप समझकर उसी में लीन हो जाना, सो यह रूपातीत ध्यान है।

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चारों प्रकार के ध्यानों का अभ्यास करने से शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है।

(2)

कौन करते हैं उत्तम ध्यान

ज्ञानार्णव ग्रन्थ में आचार्य श्रीशुभचन्द्र स्वामी ने ध्यान का वर्णन करते हुए कहा है—

शतांशमपि तस्याद्य, न कश्चिद्वक्तुमीश्वरः।
तदेतत्सुप्रसिद्ध्यर्थं, दिंगमात्रमिह वर्ण्यते।।

अर्थात् द्वादशांग सूत्र में जो ध्यान का लक्षण विस्तार सहित कहा गया है, उसका शतांश—सौवां भाग भी आज कोई कहने में समर्थ नहीं है, फिर भी उसकी प्रसिद्धि के लिए यहाँ दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया जाता है।

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानरूप चार भेद वाले ध्यानों में से प्रथम तो दोनों ध्यान हेय कहे हैं एवं अंतिम दो ध्यानों में से योग्यतानुसार उन्हें प्राप्त करने का उपाय बतलाया है। इसी ग्रंथ में आगे प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—

ध्याता ध्यानमितस्तदंगमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वितं।
ध्येयं तद्गुणदोषलक्षणयुतं नामानि कालः फलम्।।
एतत्सूत्रमहार्णवात्समुदितं यत्प्राक्प्रणीतं बुधैः।
तत्सम्यक्परिभावयन्तु निपुणा अत्रोच्यमानं क्रमात्।।

अर्थात् पूर्वकाल के ज्ञानी पुरुषों ने—पूर्वाचार्यों ने ध्यान करने वाला ध्याता, ध्यान, ध्यान के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित समस्त अंग, ध्येय तथा ध्येय के गुण-दोष लक्षण सहित ध्यान के नाम, ध्यान का समय और ध्यान का फल ये सब ही जो सूत्ररूप महासमुद्र से प्रगट होकर बुद्धिमानों के द्वारा पूर्व में कहे गए के अनुसार ही यहाँ वर्णित किए हैं। ध्यान के इच्छुक प्राणियों को समुचितरूप से इन सब बातों को जानकर पुरुषार्थ में रत होना चाहिए। ध्यान के इन विशेष अंगों के साथ ही संक्षेप में ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का फल इन चतुष्टयरूप भेदों को प्रमुखता से जानना चाहिए।

इसमें सबसे पहले ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला कैसा हो, इसकी जानकारी दी जाती है—

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः, शान्तचित्तो वशी स्थिरः।
जिताक्षः संवृतो धीरः, ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते।।

जैनशासन में ऐसे ध्याता की प्रशंसा की गई है कि जो मोक्ष की इच्छा रखने वाले वास्तविक मुमुक्षु हों, संसार से विरक्त हों, क्षोभरहित शांतचित्त हों, जिसका मन अपने वश में हो, जिसके अन्दर शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता हो, जितेन्द्रियता हो, संवरयुक्त—आते हुए अशुभ कर्मों को रोकने की जिनमें क्षमता हो और धैर्ययुक्त हों। इन आठ गुणों से युक्त मनुष्य वास्तविक ध्यान की सिद्धि करने में सक्षम हो सकते हैं।

इन गुणों को धारण करने का यहाँ अभिप्राय यह है कि सर्वप्रथम जिसे मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा नहीं होगी

वह मोक्ष के कारणस्वरूप ध्यान की साधना कैसे कर सकता है ? दूसरी बात, संसार से विरक्त हुए बिना ध्यान में चित्त नहीं लग सकता है। तीसरे, व्याकुलमन से ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है इसलिए क्षोभरहित शांतचित्त होना आवश्यक है। चौथी बात, मन को वश में किए बिना ध्यान कैसे लगेगा ? अतः पुरुषार्थपूर्वक मन को वश में करना चाहिए। पांचवे नियम के अनुसार शरीर की स्थिरता रखने से ही ध्यान में मन लगता है। छठी बात यह है कि इन्द्रियों को जीते बिना किसी भी प्रकार से ध्यान की संभावना नहीं रहती है अतः जितेन्द्रियता गुण का पालन आवश्यक है। सातवें, संवरयुक्त होने का इसलिए माना है कि यदि खान-पानादिक में मन अस्थिर हो जावेगा तो आते हुए अशुभ कर्मों को रोकने की क्षमता कैसे जागृत होगी ? तथा आठवें धैर्य गुण के द्वारा उपसर्ग आदि आने पर भी ध्यान से च्युत न होने से ध्यान की अपूर्व शुद्धि स्वीकार की गई है।

इस प्रकार मोक्षपद प्राप्ति के लक्ष्य वाले समीचीन ध्यान को करने की योग्यता परिग्रहरहित मुनियों में ही बताते हुए गृहस्थों के लिए इस ध्यान का निषेध भी किया है—

खपुष्पमथवाशृंगं, खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेपि, ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे।।

अर्थात् आकाश में पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं, कदाचित् किसी देश वा काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश या काल में संभव नहीं है।

यहाँ चूँकि मोक्ष के साधनरूप शुक्लध्यान को बताया है इसलिए यह साक्षात् योग्यता मुनियों में ही मानी है और गृहस्थों में धर्मध्यानरूप ध्यान का अभ्यासमात्र संभव है, उनके शुक्लध्यान का पूर्णरूप से निषेध पाया जाता है किन्तु शुक्लध्यान प्राप्ति की इस असमर्थता से गृहस्थों को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि धर्मध्यान के अन्तर्गत भी अनेक प्रकार की ध्यानसाधना उनके लिए भी सुलभ है, उसके द्वारा अपने चित्त को पवित्र करना चाहिए।

मुक्तक

सुसंस्कारों की बगिया में सुगंधित पुष्प खिलते हैं।
वे होते भाग्यशाली हैं जिन्हें संस्कार मिलते हैं।।
पशू भी गुरु के सम्बोधन से नेक इंसान बनते हैं।
तो क्यों संस्कार से इंसान नहिं भगवान बनते हैं।।
गर्भ से ही तभी संस्कार मंत्रों से किये जाते।
उन्हीं संस्कारों से हम शांतिसागर ज्ञानमति पाते।।

(3)

ध्यान करने वाला ध्याता कैसा होता है ?

तत्त्वार्थ सूत्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है—

''उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्''

अर्थात् एकाग्रचिन्तानिरोध रूप उत्तम ध्यान उत्कृष्ट संहनन वाले मनुष्यों के अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इस प्रकार का ध्यान विशेष मुनिगण ही कर सकते हैं तथा ध्यान का अभ्यासमात्र सभी मनुष्य कर सकते हैं।

ज्ञानार्णव ग्रंथ में आचार्य श्री शुभचन्द्र स्वामी ने भी ध्याता की प्रशंसा करते हुये बताया है—

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं, स हि ध्याता प्रशस्यते।।३।।
सत्संयमधुरा धीरै, र्न हि प्राणात्ययेऽपि यैः।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य, ते हि ध्यानधनेश्वराः।।४।।

अर्थ—जिस मुनि का चित्त कामभोगों से विरक्त होकर और शरीर में स्पृहा को छोड़कर स्थिरीकृत हुआ है, उसी को निश्चय से प्रशंसनीय ध्याता कहा है।

जिन मुनियों ने महान मुनिपने को अंगीकार करके प्राणों का नाश होते हुये भी समीचीन संयम की धुरा को नहीं छोड़ा है, वे ही ध्यानरूपी धन के ईश्वर—स्वामी होते हैं क्योंकि संयम से च्युत होने पर ध्यान नहीं होता है।

यहाँ जिनेन्द्र भगवान की वाणी के अनुसार सकलसंयमी मुनिराज ही उत्तम ध्यान—शुक्लध्यान के अधिकारी माने गये हैं। यही कारण है कि संसार, शरीर, भोगों से विरक्त मुनिराजों का सानिध्य प्राप्त करने की बारम्बार प्रेरणा दी गयी है। शुद्धात्मा को प्राप्त करने हेतु ज्ञानार्णव ग्रंथ में आठ प्रकार के निर्देश बताये गये हैं—

—मन्दाक्रान्ता छन्द—

आत्मायत्तं विषयविरतं तत्त्वचिन्तावलीनं।
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णम्।।
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं।
कृत्वाऽऽत्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम्।।२८।।

अर्थ—हे सुबुद्धि! अपने को सर्वप्रथम तो आत्मायत्त कर—पराधीनता से छुड़ाकर स्वाधीन कर। दूसरी बात, इन्द्रियों के विषयों से मन को विरक्त कर। तीसरी बात, तत्वचिन्ता में मन को लीन कर। चौथे, सांसारिक व्यापार से मन को रहित—निश्चल कर। पाँचवे, आत्महित में लग जा। छट्ठे, निर्वृत अर्थात् क्षोभरहित होकर आत्मा को आनन्द से परिपूर्ण कर। सातवें, मन को ज्ञान में आरूढ़ कर। आठवें, शम यम दम तप में अवकाश मिले ऐसा करके फिर दिव्यबोध, केवलज्ञान के अधिपतिपने को प्राप्त कर अर्थात् इन आठ कार्यों से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऐसे गुणों को प्राप्त करने वाले मुनीश्वरों की दुर्लभता के विषय में भी वर्णन आया है—

—शार्दूलविक्रीडित छन्द—

दृश्यन्ते भुवि किं न ? ते संख्याव्यतीताश्चिरम्।
ये लीलाः परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिःपरम्।।
तं साक्षादनुभूय नित्य परमानन्दाम्बुराशिं पुन।
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः।।२९।।

अर्थात् इस पृथ्वी पर परमेष्ठी की नित्यप्रति केवल वचनों से चिरकालपर्यन्त लीलास्तवन को विस्तृत करने वाले कृतबुद्धि क्या गणना से अतीत नहीं हैं ? अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का कथन करने वाले तो बहुत अधिक हैं किन्तु जो अविनश्वर व उत्कृष्ट आनन्द के समुद्रस्वरूप उस परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करके संसार के परिभ्रमण को नष्ट करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं और वे दुर्लभ हैं।

यद्यपि इस पंचमकाल में ऐसे योगीश्वर देखने में नहीं आते, तो भी उनके गुणानुवाद सुनकर स्मरण करने से भी भव्य जीवों का मन पवित्र होता है। इस विषय को साररूप में समझाने हेतु लेखक कवि ने लिखा है—

रत्नत्रय को धार जो, शम दम यम चित देंय।
ध्यान करै मन रोकिकै, धन ते मुनि शिव लेंय।।

इस प्रकार से ध्यान की उपयोगिता के वर्णन में जैनाचार्यों ने रत्नत्रय की प्रमुखता बतलाकर मुनिराजों को उसका साक्षात् अधिकारी बतलाया है, पुनः क्रम-क्रम से यथायोग्य चारित्र धारण करने वाले पुरुष एवं स्त्रियों में भावविशुद्धि के अनुसार ध्यान की योग्यता पाई जाती है अतः ध्यातापने को प्राप्त करने हेतु जीवन में शक्ति अनुसार देशसंयम, सकलसंयम को अवश्य धारण करना चाहिए।

मुक्तक

अरे देखो कि पत्थर में भी जब प्रतिमा प्रगट होती।
वे मंत्रों से हो संस्कारित पूज्य भगवन् कहलाते।।
जरा सोचो कि पत्थर भी जब भगवान बन सकता।
तो मानव क्यों न संस्कारित हो भगवान बन सकता।।
अरे हर जीव आत्मा में इक भगवान बैठा है।
उसे ही प्रगट करने को गुरु उपदेश सच्चा है।।

(4)

ध्यानी मुनि के साम्यभाव से जन्मजात विरोधी प्राणी भी शान्त होते हैं

आचार्य श्री शुभचन्द्रजी मुनियों के साम्यभाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हैं—

प्रायः कुछ लोगों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि मुनिगण सम्मोहन आदि के द्वारा अपने पास आए हुए क्रूर प्राणी को शांत करके अपनी महिमा प्रदर्शित करते हैं इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि—

शाम्यति योगिभिः क्रूराः जन्तवो नेति शंक्यते।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैंबलाहकैः।।

अर्थात् योगीगण क्रूर जीवों को उपाय करके शान्त करते हैं ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे दावानल से जलता हुआ वन स्वयमेव मेघ बरसने से शान्त हो जाता है उसी प्रकार मुनियों के तप के प्रभाव से स्वयं ही क्रूर जीव समतारूप प्रवर्तने लग जाते हैं, योगीश्वर उनको प्रेरणा कदापि नहीं करते।

इसी बात को अन्य उदाहरणों के माध्यम से भी कहते हैं—

जिस प्रकार शरदऋतु में अगस्त्य तारा के संसर्ग होने से जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार समतायुक्त योगीश्वरों की संगति से जीवों के मलिन चित्त भी प्रसन्न हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा जगत में किरणों से सघन झरता हुआ अमृत बरसाता है, सूर्य तीव्र किरणों के समूह से अन्धकार का नाश करता है, पृथ्वी समस्त भुवनों को धारण करती है तथा पवन इस समस्त लोक को धारण करता है उसी प्रकार मुनीश्वर महाराज भी साम्यभावों से जीवों के समूह को साम्यभावरूप करते हैं। इतना ही नहीं, आचार्यश्री कहते हैं कि इन मुनियों की शरण में आकर जन्मजात वैरी क्रूर जन्तु भी आपस में एक दूसरे पर अनुग्रह करने लगते हैं यथा—

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं।
मार्जरी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगीम।।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्मवोन्ये त्यजन्ति।
श्रित्वा साम्कैकरूढ़ प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहं।।

अर्थात् क्षीण हो गया है मोह जिसका और शान्त हो गया है कलुष कषायरूप मैल जिसका, ऐसे सम भावों में आरुढ़ हुए योगीश्वर को आश्रय करके हरिणी तो सिंह के बालक को अपने पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती व प्यार करती है और गाय व्याघ्र के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है, मार्जारी (बिल्ली) हंस के बच्चे को स्नेह की दृष्टि से वशीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरनी सर्प के बच्चे को प्यार करती है इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्मजात वैर को छोड़कर मदरहित हो जाते हैं, यह साम्यभाव का ही प्रभाव है।

इन साम्यभावधारक मुनियों की ऐसी साम्य प्रवृत्ति होती है कि चाहे कोई इनकी पूजा करे या कोई इनका अनादर करे, सबके प्रति इनका समान आशीर्वाद रहता है। छहढाला में भी हम पढ़ते हैं—''**अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन**''। इन्हीं भावों को यह छंद प्रस्तुत करता है—

एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः,
क्रुद्ध कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी,
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम्।।२७।।

अर्थात् जिस मुनि की ऐसी वृत्ति हो कि कोई तो नम्रीभूत होकर पारिजात के पुष्पों से पूजा करता है और कोई मनुष्य क्रुद्ध होकर मारने की इच्छा से गले में सर्प की माला पहनाता है, इन दोनों में ही जिसकी सदा रागद्वेषरहित समभावरूप वृत्ति हो, वही योगीश्वर समभावरूपी क्रीड़ावन में प्रवेश करता है और ऐसे समभावरूप क्रीड़ावन में ही केवलज्ञान के प्रकाश होने का अवकाश है।

इसका एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण आप लोग पढ़ते, सुनते और जानते ही हैं कि एक बार राजा श्रेणिक ने जैनधर्म के विद्वेषवश एक दिगम्बर जैन महामुनि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया। कुछ समय पश्चात् रानी चेलना ने जब यह दृश्य देखा तो वह बहुत दुखी हुई और उन्होंने शीघ्र ही मुनि के गले से सर्प को निकालकर अलग किया और शुद्ध प्रासुक औषधि के द्वारा मुनि का उपचार किया। रानी ने राजा श्रेणिक को उनकी गलती का एहसास कराया, राजा श्रेणिक को बहुत पश्चाताप हुआ।

मुनिराज का ध्यान समाप्त होने के बाद राजा श्रेणिक और रानी चेलना दोनों ही मुनिराज के समीप पहुँचे, उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया तब मुनि ने उन दोनों को वात्सल्यमयी समान आशीर्वाद प्रदान किया। राजा श्रेणिक को बहुत ही अधिक आश्चर्य हुआ, वे तो सोच रहे थे कि मैंने मुनिराज के गले में सर्प डाला है तो मुनिराज अवश्य ही मुझसे नाराज होंगे लेकिन जब उन्होंने उन महानात्मा का ऐसा सरल समतारूप देखा तो वे बार-बार उनके चरणों में नतमस्तक हुए तथा जैनधर्म के परम भक्त बन गए।

वास्तव में धन्य हैं ऐसे साधुओं का धैर्य, उनकी सहनशीलता! राग द्वेष आदि विकार जिनसे कोसों दूर हैं ऐसे महामुनियों को बारम्बार नमन।

(5)

मिथ्यादृष्टि के ध्यानसिद्धि संभव नहीं है!

श्री शुभचन्द्राचार्य ने "ज्ञानार्णव" नामक ग्रंथ में ध्यान का प्रमुखता से विचेन किया है। ज्ञान + अर्णवः अर्थात् ज्ञान का समुद्र। कहने का तात्पर्य यह है कि ध्यान के द्वारा ही ज्ञानरूपी समुद्र में गोता लगाया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रंथ में ध्यान का वर्णन करते–करते आचार्यश्री कहते हैं कि आकाश में पुष्प और गधे के सींग कदाचित् हो सकते हैं परन्तु गृहस्थों को किसी भी स्थिति में शुक्ल ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसी ग्रंथ में कहा गया है कि मिथ्यादृष्टियों को भी ध्यान की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है। यथा—

दुर्दशामपि न ध्यान–सिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते।
गृण्हतां दृष्टिवैकल्याद् वस्तुजातं यदृच्छया।।१८।।

अर्थात् दृष्टि की विकलता से वस्तुसमूह को अपनी इच्छानुसार ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टियों के ध्यान की सिद्धि स्वप्न में भी नहीं होती है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि मिथ्यादृष्टि गृहस्थावस्था का त्याग करके मुनि हो जाए तो क्या उसको ध्यान की सिद्धि हो सकती है ?

इसके समाधान में आचार्यश्री कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि को गृहस्थावस्था छोड़कर मुनि होने पर भी ध्यान की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वे पूर्वापर विरुद्ध पदार्थों के स्वरूप में समीचीनता (सत्यता) मानने वाले हैं अर्थात् अन्य मत में सत्ता–यथार्थता नहीं है। सब ही अन्यमती पाखण्डी सर्वथा एकान्तता से दूषित हैं जबकि वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है अतः वे उनके यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ हैं, स्याद्वाद के जाने बिना विरोध आदि दूषणों का परिहार उनसे नहीं किया जा सकता है क्योंकि मिथ्यादृष्टियों में कोई–कोई तो वस्तु को नित्य ही मानते हैं और कोई–कोई अनित्य ही सिद्ध करते हैं परन्तु यह जगत् नित्य–अनित्य दोनों स्वरूप है। भावार्थ यह है कि सांख्य, नैयायिक, वेदान्त और मीमांसक मत वाले तो आत्मा को सर्वथा नित्य तथा जगत् को अविद्यादिक के विलास से विभ्रमरूप अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि "आत्मा को अनित्य मानने से आत्मा का नाश होकर नास्तिकता का मत आता है और नित्यानित्य दोनों स्वरूप मानने से विरोधादिक दूषण आते हैं।" इस प्रकार अपनी कपोल कल्पना करके आत्मा को सर्वथा नित्य ही मानते हैं और बौद्धमती वस्तु को क्षणिक तथा अनित्यस्वरूप मानते हैं, नित्य मानने को अविद्या कहते हैं और नित्यानित्य मानने में विरोधादि दूषण कहते हैं किन्तु सबको जानना चाहिए कि वास्तव में वस्तु का स्वरूप जो नित्य–अनित्य रूप है, वह स्याद्वाद से ही सिद्ध होता है उसमें विरोध आदि कोई दूषण नहीं आते। खेद है कि ऐसा स्वरूप अन्यमती समझते नहीं हैं और अपनी बुद्धि से कल्पना करके जिस तिस प्रकार सिद्धि करके सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु वास्तव में विचार किया जावे तो उनके ध्याता, ध्यान, ध्येयादि की सिद्धि नहीं होती इसलिए उनका कहना सब प्रलापमात्र जानना चाहिए। सो ही आगे कहते हैं—

वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्किं ध्येयं क्व च भावना।
ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैवकेवलम्।।२२।।

अर्थात् उक्त मिथ्यादृष्टि अन्य मतावलम्बियों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञानरूप अभाव से ध्येय कहाँ और भावना कहाँ ? इस कारण उनका ध्यान करना केवल प्रयासमात्र ही है।

जैसा कि हम तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र पढ़ते हैं—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है इसी बात की पुष्टि करते हुए श्री शुभचन्द्राचार्य आगे कहते हैं—

ज्ञानवादी मात्र ज्ञान से इष्टसिद्धि मानते हैं, कई वादी मात्र दर्शन से और कोई-कोई मात्र चारित्र से ही इष्ट की सिद्धि मानते हें और कितने ही वादी अपने सिद्धान्त के गर्व से संसार की सन्तति के नाश की परिपाटी में विज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों में से दो-दो को इष्ट कहते हैं अर्थात् कोई तो दर्शन और ज्ञान को ही मानते हैं, किसी ने दर्शन और चारित्र ही माना है और कोई-कोई ज्ञान और चारित्र को ही मानते हैं इन वादियों में तीन वादियों ने तो एक-एक को नष्ट किया और तीन वादियों ने दो-दो को नष्ट किया। इनके अतिरिक्त एक को ये तीनों ही नहीं रुचते, इस प्रकार मिथ्यामतियों के सात भेद हुए।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसने ज्ञान और दर्शन दो को ही मोक्ष का मार्ग माना उसने तो एक चारित्र को नष्ट किया, जिसने ज्ञान और चारित्र माना उसने एक दर्शन को नष्ट किया और जिसने दर्शन और चारित्र ये दो माने उसने एक ज्ञान को नष्ट किया। इसी प्रकार जिसने एक दर्शन को ही माना उसने ज्ञान चारित्र को नष्ट किया और जिसने एक ज्ञान को ही माना उसने दर्शन और चारित्र को नष्ट किया और जिसने एक चारित्र को ही माना उसने दर्शन और ज्ञान पर पानी फेर दिया। इस प्रकार छह पक्ष तो ये हुए और एक नास्तिक का पक्ष है जो इन तीनों में से किसी को नहीं मानता है, इस प्रकार सात पक्ष मिथ्यादृष्टियों के हैं।

इसी बात को आचार्यश्री अन्य ग्रन्थ के एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

"ज्ञानहीने क्रियापुंसि परं नारभते फलम्।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः।।१।।

ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम्।।२।।

हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः।।३।।

अर्थ—ज्ञानहीन पुरुष की क्रिया फलदायक नहीं होती। जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई है वह अन्धा पुरुष चलते-चलते जिस प्रकार वृक्ष की छाया को प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्या उसके फल को भी पा सकता है ? कदापि नहीं।।१।। पंगु में तो वृक्ष के फल का देख लेना प्रयोजन को नहीं साधता और अंधे में फल जानकर तोड़ने रूप क्रिया प्रयोजन को नहीं साधती। श्रद्धारहित के ज्ञान और क्रिया दोनों ही (दवाई के समान) प्रयोजनसाधक

नहीं हैं, इस कारण ज्ञान, क्रिया और श्रद्धा तीनों एकत्र होकर ही वांछित अर्थ की साधक होती हैं।।२।। क्रियारहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञानी की क्रिया नष्ट हुई। देखो, दौड़ता-दौड़ता तो अन्धा नष्ट हो गया और देखता-देखता पंगु नष्ट हुआ।

भावार्थ—एक वन में आग लगी तब एक अंधे ने इधर-उधर दौड़ने की क्रिया तो की किन्तु दृष्टि के बिना आग में गिरकर जल गया और पंगु (लंगड़ा) किधर को आग है और किधर को रास्ता है, सब देखता तो है परन्तु दौड़ा नहीं गया इस कारण अग्नि में जलकर मर गया। इस कारण ज्ञान, श्रद्धा और क्रिया इनसे ही प्रयोजन की सिद्धि होती है।।३।।

भजन

शाम सबेरे दो घड़ी, तू आतम ध्यान लगाया कर।
यही तपस्या है बड़ी, तू राग और द्वेष हटाया कर।।टेक.।।

सोचा कर तू मन में मैं हूँ, कौन कहाँ से आया हूँ।
क्या करना था मुझे यहाँ पर, क्या कुछ कर मैं पाया हूँ।
जाना है किस ठोर को तू, दिल में ख्याल ये लाया कर।।यही तपस्या..।।1।।

पाप और पुण्य किया है कितना, रोज हिसाब लगाया कर।
पाप अगर हो जाए अधिक तो, उस पर पश्चाताप कर।।
और कभी फिर भूल कर भी, वह न पाप कमाया कर।।यही तपस्या..।।2।।

पाप कर्म को छोड़ो भाई, पुण्य कर्म को कर दीजे।
पाप कर्म संसार का कारण, यह दृढ़ निश्चय कर लीजे।।
पाप कर्म को छोड़कर तू, भाव विशुद्ध बनाया कर।।यही तपस्या..।।3।।

मैं न किसी का कोई नहि मेरा, तन से भी मैं न्यारा हूँ।
रागद्वेष नहि भाव हमारा, दर्शन ज्ञान भंडारा हूँ।।
ऐसा दिल में सोचकर तू, परपद में नहिं जाया कर।।यही तपस्या..।।4।।

मैं ही ब्रह्मा मैं ही विष्णु, मैं ही तो परमेश्वर हूँ।
मेरा आतम है परमातम, मैं शुद्धात्म जिनेश्वर हूँ।।
ऐसा दिल में सोचकर तू, निज पद में ही आया कर।।यही तपस्या..।।5।।

अध्याय-12

समयसार-एक अध्ययन

(1)

समयसार के अनुसार गृहस्थ भी परस्पर में आचार्यत्व करते हैं

आत्मा और पुद्गल इन दो के आधार पर संसार टिका हुआ है। संसारी प्राणी भेदज्ञान के बिना आत्मा से विमुख होकर अज्ञानी संज्ञा को प्राप्त है इसीलिए वह विषय भोगों की प्रति आकर्षित होकर अपने आत्मज्ञान से शून्य हो रहा है। वह एकत्वस्वरूप आत्मा सबको सुलभ नहीं है, इस बात को सूचित करते हुए आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबन्धकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।४।।

अर्थ—काम-भोग सम्बन्धी कथायें सभी जीवों को सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई हैं। केवल पर से भिन्न एक रूप आत्मा की उपलब्धि सुलभ नहीं है।

इस संसार में ये सभी संसारी जीव संसारचक्र के मध्य में स्थित हैं, अनन्तों बार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव रूप पंच परावर्तनों के द्वारा सतत ही परिभ्रमण कर रहे हैं।

उपर्युक्त गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि "जिसने सर्व जगत् को अपने एकछत्र शासन से वश में किया हुआ है ऐसे महान् मोहरूपी पिशाच के द्वारा बैल के सदृश जोते जा रहे हैं। अतिशय रूप से वृद्धिंगत हुई जो तृष्णा, उसके संताप से जिनका अन्तरंग संतप्त हो रहा है, उस त्रास से संतप्त होकर मृगतृष्णा के समान आचरण करते हुए इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ लगा रहे हैं। और तो क्या ? परस्पर में एक दूसरे के प्रति आचार्यत्व को कर रहे हैं अर्थात् सभी एक दूसरे को भी इन्द्रिय विषयों में फंसने का ही उपदेश देते रहते हैं।"

आगे आचार्यश्री पुनः कहते हैं कि "परेषामात्मज्ञानमनुपासनाच्च न कदाचिदपिश्रुतपूर्व—अर्थात् स्वयं आत्मतत्व से अनभिज्ञ होने से और आत्मज्ञानी परम गुरुजनों की उपासना न करने से संसारी जीवों ने पूर्व के कदाचित् भी इस आत्मतत्वस्वरूप एकत्व को न तो सुना ही है, न पूर्व में कदाचित् इसका परिचय ही किया है और न ही कभी पूर्व में इसका अनुभव ही किया है अतः एक एकत्वरूप आत्मतत्व सुलभ नहीं है।"

समयसार की इस चतुर्थ गाथा की हिन्दी "ज्ञानज्योति टीका" में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती

माताजी एक विशेषार्थ में लिखती हैं—

जिस प्रकार अरहट के घटी यंत्र में जोते गये बैल उसी में घूमा करते हैं, उन्हें किसान जोते रहता है उन्हें श्रम से प्यास की बाधा भी होती है और उसकी शांति के लिए पानी की तरफ दौड़ने की कोशिश भी करते हैं उसी प्रकार से ये सभी संसारी प्राणी संसार रूपी चक्र में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव रूप पंच परावर्तनों को अनादिकाल से लेकर अब तक अनंतों बार कर चुके हैं। मोहरूपी पिशाच के द्वारा प्रेरित हुए या बांधे गये होने से पराधीन हैं, विषयों की चाह रूपी दाह उत्पन्न होती रहती है उसको बुझाने के लिए विषयों की ओर ही दौड़ लगाते रहते हैं फिर भी इनकी प्यास बुझती नहीं है।

इतना होने पर भी ये जीव परस्पर में एक-दूसरे को इन विषयों का ही उपदेश देते रहते हैं। यही कारण है कि इन सभी संसारी जीवों के लिए ये काम, भोग से सम्बन्धित कथायें नवीन नहीं हैं। इन जीवों ने हमेशा ही इनको सुना है, इनका परिचय किया है और अच्छी तरह से इनका अनुभव भी किया है फिर भी आज तक कभी भी इनसे किसी जीव को तृप्ति नहीं मिली है किन्तु एकत्वस्वरूप जो शुद्ध आत्मतत्व है वह यद्यपि प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप है फिर भी कषायों के निमित्त से वह अत्यन्त तिरोभूत हो रहा है। यही कारण है कि उसका ज्ञान नहीं हो पा रहा है। जिन्होंने उस आत्मतत्व को जाना है ऐसे अरहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और साधुगण उनकी उपासना न करने से इन जीवों ने उस आत्मतत्व के स्वरूप को न कभी सुना है, न परिचय किया है और न अनुभव ही किया है इसीलिए वह सुलभ नहीं है किन्तु अतीव दुर्लभ है।

इसमें परमेष्ठी की उपासना से ही आत्मतत्व का बोध होना प्रबल निमित्त की महत्ता को सूचित करता है। यहाँ कोई कहे कि कामभोग से सम्बन्धित कथा से पाँचों इन्द्रियों के विषय लिये जाते हैं। उसमें जिनप्रतिमा का दर्शन, उपदेश श्रवण आदि भी तो चक्षु इन्द्रिय व कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। ये भी श्रुत, परिचित, अनुभूत हैं किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि मूल में "सव्वस्स वि" पाठ है, ये सभी के लिए सुलभ नहीं हैं, हजारों लाखों में किन्हीं को ही प्राप्त होते हैं।

दूसरी बात यह है कि मूलाचार में आचार्यदेव ने पंचेन्द्रियनिरोध नाम के पाँच मूलगुणों के बाद ही छह आवश्यक मूलगुणों में देवदर्शन, उपदेशश्रवण आदि को लिया है अतः ये इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। ये कामभोग कथा में कथमपि गर्भित नहीं किये जा सकते।

षट्खंडागम, गोम्मटसार कर्मकांड आदि ग्रन्थ बन्ध कथा में शामिल नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि जीव के कर्मबन्ध को निरूपित करने वाले ग्रन्थ और उनके फल का वर्णन करने वाले ग्रन्थ ये सभी द्वादशांग के अन्तर्गत हैं। कर्मप्रवाद पूर्व में कर्मों का विस्तृत विवेचन है और आत्मप्रवाद न पूर्व परिचय में आये हैं और न अनुभव में ही आये हैं इसीलिए उनका ज्ञान भी दुर्लभ ही है सुलभ नहीं है तथा अपायविचय धर्मध्यान में अशुद्ध आत्माओं के लिए ही संसार से निकालने का उपाय चिंतवन किया जाता है और विपाकविचय धर्मध्यान में भी कर्मों के उदय-सत्व-बन्ध आदि की दशाओं का चिंतवन किया जाता है।

ये धर्मध्यान भी चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें तक पाये जाते हैं अतः यहाँ पर इन ग्रन्थों के स्वाध्याय को सुलभ व हेय नहीं समझना चाहिये किन्तु कर्मबन्ध को कराने वाली और उनके फलस्वरूप नर-नारकादि पर्यायों में ले जाने वाली जो कथाएँ हैं उनको सुलभ समझकर उनका निषेध समझना चाहिये।

यहाँ पर श्री जयसेनाचार्य ने निर्विकल्प अवस्था रूप परम समाधि में ही निश्चय रत्नत्रय से परिणत आत्मतत्व को "एकत्व" कहा है और उसकी दुर्लभता बताई है जो कि शुक्लध्यान रूप है अतः उस ध्यान में यह उपर्युक्त बन्ध कथा भी छूट जाती है और उस अपूर्व अवस्था के आने पर अपूर्व आदि गुणस्थानों में जाकर यह जीव उस शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लेता है कि जिसको पहले कभी भी नहीं पाया था।

सार यह निकलता है कि यह एकत्वस्वरूप आत्मतत्व अतीव दुर्लभ है इसका अनुभव निर्विकल्प ध्यान में अप्रमत्त मुनि ही करते हैं। चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि उसकी श्रद्धा करते हुए उसके अनुभव करने का और प्राप्त करने का पुरुषार्थ ही करते रहते हैं अतः हम सबको भी उस आत्मतत्व का श्रद्धान करते हुए यथाशक्ति संयम पालन का पुरुषार्थ करना चाहिये ताकि शीघ्रातिशीघ्र उस एकत्व विभक्त आत्मा का आनन्द प्राप्त कर सकें।

भजन

तर्ज-मैं..... -आर्यिका चन्दनामती

मैं समयसार को निज आतम में ध्याऊँगा,
बन अन्तरात्म शुद्धात्म भावना भाऊँगा।
ये क्या है ? परमागम है, आध्यात्मिकता का साधन है।
यह कुन्दकुन्द का कुन्दन है, जिससे होता मन पावन है।। ये क्या है....।। टेक.।।

प्रभु कुन्दकुन्द ने समयसार को समझाया,
आत्मा का सहज स्वरूप ग्रन्थ में दरशाया।
ये क्या है ? प्रभु महिमा है, आतम स्वभाव की गरिमा है।
ये जीवों का कल्याण करे, संसार जलधि से पार करे।। ये क्या है.....।।1।।

श्रावक गृहस्थ में भी वैरागी बन करके,
शुद्धात्म अवस्था किंचित् भी नहिं पा सकते।
ये क्या है ? जिनवाणी है, जन-जन की यही कल्याणी है।
मुनिधर्म हमें सिखलाती है, आत्मा का सार बताती है।। ये क्या है.....।।2।।

अशुभोपयोग को तज हम शुभ में लग जावें,
यह भाव 'चंदनामती' शुद्धता पा जावें।
ये क्या है ? जिनभक्ती है, बस समयसार की शक्ती है।
जो जन इसका श्रद्धान करें, वे निज स्वरूप का पान करें।। ये क्या है.....।।3।।

(2)

निश्चयनय व्यवहार के द्वारा ही कथनीय है !

निश्चय और व्यवहार इन दो नयों के द्वारा जिनागम में आत्मतत्व का वर्णन किया गया है। निश्चयनय से आत्मतत्व का अनुभव होता है न कि कथन, उसके कथन हेतु तो व्यवहार नय का ही आश्रय लेना पड़ता है। जैसे कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार रूपी व्यवहार कथन के माध्यम से वीतरागी मुनिराजों को निर्विकल्प आत्मा में लीन होने का उपदेश दिया है।

गाथा नं ८ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसएसणमसक्कं।।

अर्थात् जैसे म्लेच्छ पुरुष को म्लेच्छ भाषा के बिना तो उपदेश का ग्रहण कराना शक्य नहीं है वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना भी अशक्य है।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका लिखते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है—

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति ..... इसका अर्थ है कि "जैसे कोई म्लेच्छ पुरुष है उसको किसी ब्राह्मण ने "स्वस्ति हो" ऐसा कहा तब वह "स्वस्ति" शब्द के वाच्यवाचक सम्बन्ध के ज्ञान से शून्य होने से उसका कुछ भी अर्थ न समझता हुआ मेढ़े की तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहा कि इसने क्या कहा है ? तब उस ब्राह्मण की भाषा और म्लेच्छ की भाषा को जानने वाले किसी अन्य ने उसे म्लेच्छ भाषा के आश्रय से समझाया कि "स्वस्ति" इस पद का यह अर्थ है कि "तुम्हारा कल्याण हो" । उस समय उसकी आँखों में आनन्द के अश्रु आ गए और वह उस अर्थ को समझकर अतिशय प्रसन्न हो गया। उसी प्रकार से ये सभी संसारी जन भी "आत्मा" ऐसा कहने पर वास्तविक रूप जो आत्मा का स्वरूप है उसके ज्ञान से शून्य होने से उसके अर्थ को कुछ भी न समझते हुए मेढ़े के समान ही टकटकी लगाकर देखते ही रह जाते हैं पुनः जब कोई महामुनि जो व्यवहार और परमार्थ के पथ पर अग्रसर हैं वे उस अज्ञानी प्राणी को "आत्मा" शब्द का अर्थ समझा देते हैं तब वे संसारी प्राणी आत्मा का अर्थ समझकर अन्तःकरण में उठने वाली शुद्धात्म तरंगों का आनन्द प्राप्त करते हैं।

यहाँ म्लेच्छ के स्थान पर जगत् के जीवों को समझना तथा म्लेच्छ भाषा के स्थान पर व्यवहार नय को जानना चाहिये। व्यवहार नय चूँकि परमार्थ का प्रतिपादक है इसलिये ग्रहण करने योग्य है किन्तु जैसे ब्राह्मण को म्लेच्छ के समान आचरण करना योग्य नहीं है उसी प्रकार व्यवहारनय भी शुक्लध्यानी महामुनियों के लिए अनुसरण करने योग्य नहीं है।

इस गाथा की टीका की "ज्ञानज्योति" हिन्दी टीका करते हुए पू. गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने "विशेषार्थ" में लिखा है—कि "जब व्यवहार नय बंध पर्याय का या भेद का कथन करने वाला है तब उसका उपदेश क्यों देना ? उपदेश तो सदा सर्वोत्कृष्ट ही होना चाहिये इसलिए आप एक परमार्थ रूप निश्चयनय का

ही उपदेश दीजिये ? इस पर आचार्य कहते हैं कि शिष्य! व्यवहारनय के बिना निश्चयनय के विषयभूत परमार्थ का उपदेश ही असम्भव है। यहाँ पर भेदरत्नत्रय को व्यवहार कहा है और अभेद रत्नत्रय को परमार्थ या निश्चय संज्ञा दी है तथा भेद का कथन करने वाला जो व्यवहार नय है वह ऐसा ही है जैसे म्लेच्छ को समझाते समय उसकी म्लेच्छ भाषा का प्रयोग। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक सविकल्प अवस्था है, भेद रत्नत्रय का पालन हो रहा है, सराग चारित्र है वहाँ एक सरागसंयमी मुनियों के लिए भी व्यवहार नय का उपदेश होता है और वह उपदेश उन्हें परमार्थ रूप अभेदरत्नत्रय को प्राप्त कराने वाला है किन्तु जो निर्विकल्प समाधि रूप अभेद अवस्था में पहुँच चुके हैं ऐसे परमोपेक्षा संयमी मुनियों के लिए केवल परमार्थ का उपदेश है उनके लिए व्यवहार बिल्कुल हेय समझना चाहिये।"

यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बोले बिना अपनी बात समझाई नहीं जा सकती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी व्यवहारिक भाषा में ही ग्रन्थों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने सरागी मुनियों को जहाँ समयसार में वीतरागी बनने की प्रेरणा दी है वहीं "प्रवचनसार" में उनकी व्यवहार चर्या बताते हुये कहा है—

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणां, जिणिन्द पूजोवदेसो य।।

अर्थात् छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती सरागी—व्यवहार रत्नत्रयधारी साधु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का उपदेश दें, शिष्यों का संग्रह तथा उनका पोषण करें एवं श्रावकों को जिनेन्द्र भगवान की पूजा आदि करने का भी उपदेश दें।

इससे यह प्रतिभासित होता है कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं भी इन क्रियाओं को करते हुये सामायिक आदि काल में ही वीतराग आत्मा में लीन होते थे। बिना शिष्य संग्रह किये उनका संघ कैसे बनता और संघस्थ शिष्यों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी भी आचार्य को निर्वाह करनी पड़ती है तभी स्वस्थ शिष्य परम्परा चलती है। उन्होंने स्वरचित भक्ति में भी जगह-जगह भगवान् से अपने संघ के लिए बोधिलाभ और समाधि की याचना की है। गृहस्थों के लिए भी उन्होंने **रयणसार** ग्रन्थ रचकर दान और पूजा उनके प्रमुख कर्त्तव्य बताए हैं।

समयसार ग्रन्थ के रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य इस पंचमकाल के ही थे और पंचमकाल के मुनियों को ही सरागी से वीतरागी बनने का उपदेश दिया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में वीतरागी मुनि थे, आज भी विद्यमान हैं एवं आगे भी होंगे। बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज इस बात के जीवन्त प्रमाण रहे हैं जिन्होंने सर्प के उपसर्ग को ध्यान के बल पर जीता, घण्टों तक उनके शरीर पर क्रीडा करता हुआ सर्प भी उन्हें ध्यान और वैराग्य से विचलित नहीं कर सका था। इसी प्रकार अगणित चीटियों ने एक बार उनके शरीर पर घाव कर दिये थे, उसे शान्तिपूर्वक सहन किया तब उन्हें "चारित्रचक्रवर्ती" की पदवी प्राप्त हुई थी। वे अन्त तक भी अपने प्रवचन में श्रावकों को सम्बोधित करते हुये कहते थे कि—

"बाबा नो संयम धारण करा, भीऊ नका, भीऊ नका" अर्थात् बन्धुओं! संयम धारण करो, डरो मत-डरो मत।

पर उपदेश के लिए भाषा का प्रयोग आवश्यक है तथा जिस प्रदेश में जायें उस प्रान्तीय भाषा का ज्ञान भी आवश्यक है अन्यथा वक्ता और श्रोता दोनों ही दिग्भ्रमित हो जाते हैं।

राजस्थान के जयपुर शहर में एक बार उत्तर प्रदेश का एक व्यक्ति पहुँचा। वहाँ आचार्य श्री वीरसागर महाराज का संघ विराजमान था अतः वे सज्जन आहारदान देने एक श्रावक के घर गये। आहार के पश्चात् घर वालों ने उनसे कहा—"भाई जी! अण्डे ही जीम लीजो"। उन्होंने मना करते हुये अपना सिर हिला दिया कि मैं तो शुद्ध शाकाहारी हूँ अण्डा कैसे खा लूँगा ? फिर घर के श्रावक ने पूछा—"तो भाई! अण्डे कोनी खाओला तो कोड़े खाओला ? अब तो वे और घबरा गये कि "अण्डा नहीं खाऊंगा तो कोड़े की मार खानी पड़ेगी"। फिर वे जल्दी वहाँ से भागे और मध्याह्न में एक महाराज जी के सामने सारी बात बताते हुये कहने लगे कि यहाँ जैन लोग अण्डे खाते हैं और नहीं खाने वालों को इस प्रकार बुरी तरह से प्रताड़ित करते हैं। उस समय संघ में खूब मजाक हुई, महाराज ने बताया कि आप राजस्थानी भाषा नहीं जानते हैं इसीलिए अर्थ का अनर्थ हुआ है किन्तु वे श्रावक तो आपको आदरपूर्वक अपने यहाँ भोजन करने का आमंत्रण दे रहे थे, पुनः वे पूछ रहे थे कि अण्डे अर्थात् यहाँ नहीं जीमोगे (खाओगे) तो कोड़े अर्थात् कहाँ भोजन करोगे, लेकिन आप गलत भाव समझकर भाग आये। वे उत्तर प्रदेश वाले सज्जन बड़े शर्मिन्दा हुये, अपनी अज्ञानता पर पश्चाताप करने लगे।

जब एक प्रदेश की भाषा को नहीं जानने वाला दूसरा प्रान्तीय पुरुष व्यवहारिक क्रिया में इतना दिग्भ्रमित हो सकता है तथा दोनों प्रान्तों की भाषा जानने वाले मुनिश्री के द्वारा समझाए जाने पर आल्हाद का अनुभव करता है तब शुद्धात्म तत्व की भाषा न समझने वालों को उनकी व्यवहार भाषा में समझाने पर कितना हर्ष होगा, इसका अनुमान साधारण मानव नहीं लगा सकता है इसीलिए आचार्यश्री ने उपर्युक्त गाथा में अनार्य भाषा का प्रयोग किया है। यहाँ अनार्य भाषा को व्यवहारनय समझना चाहिये और व्यवहारनय के अवलम्बन को लेकर निश्चयनय के विषयभूत आत्मतत्व को समझना चाहिये।

कविता

देखने के लिए दो आँखें प्रकृती ने बनाई है।
हमारे आपके चेहरों की सुन्दरता बढ़ाई है।।
ये दुनिया खूबसूरत है इसे देखो नजर भरके।
मगर फंसना नहीं उसमें बात ये भी बताई है।।

प्रभू को देख लो यदि तो सफल ये नेत्र हो जावें।
इन्द्र ने सहस्र नेत्र करके प्रभू के दर्श कर पाये।
दो आँखों से नयन भरकर अंग अंग निरख लो तुम।
जनम मानव का हो सार्थक देवगति बंध कर लो तुम।।

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

(3)

यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति गुरू बिना संभव नहीं है

आत्मा के रहस्य को बतलाने वाले समयसार ग्रन्थ का गुरुमुख से अध्ययन करने पर ही आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी का अभिप्राय समझा जा सकता है अन्यथा वह महान शास्त्र शस्त्र का कार्य करके मानव को घायल कर देता है।

गाथा नं. ३८ में आचार्य भगवन्त महामुनियों को संबोधित करते हुए कहते हैं—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणभइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।

अर्थ—मैं एक हूँ, निश्चित ही शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ और सदा अरूपी हूँ। अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है।

इसकी आत्मख्याति टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—

यो हि नामानादिमोहोन्मत्त .....

अर्थात् जो यह आत्मा अनादिकालीन मोह से उन्मत्त होने से अत्यन्त अज्ञानी हुआ था सो उसे संसार से विरक्त ऐसे गुरु ने—दिगम्बर मुनि ने बार-बार समझाया तब जैसे-तैसे बड़े प्रयत्न से यह समझकर "जैसे अपने हाथ की मुट्ठी में सोना रखा था उसे भूलकर फिर उसे याद कर देख लेवे" इस न्याय से अपनी परमेश्वरीस्वरूप आत्मा को जानकर श्रद्धान करके और उसी में आचरण रूप उसमें तन्मय होकर अच्छी तरह आत्माराम हो गया। तब चिंतन करने लगा कि "मैं नियम से अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष चैतन्य मात्र ज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ"।

उपर्युक्त कथन शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से किया गया है। इसके विशेषार्थ में गणिनीप्रमुख आर्यिका शिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है—

"अनादिकाल से यह जीव मोह के उदय से अज्ञानी हो रहा था। जब दिगम्बर मुनिराज श्रीगुरु ने करुणा करके आत्मा का बोध कराया तब इसने यह समझ लिया कि "मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शनमय हूँ, अमूर्तिक हूँ, मेरा अन्य अणुमात्र भी परद्रव्य कुछ नहीं है" ऐसा भाव होने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकता हुई। मतलब पहले भेदरत्नत्रय को ग्रहण कर छठे गुणस्थान में प्रवृत्ति रूप चारित्र को पालने लगा पश्चात् अभेद रत्नत्रय के बल से श्रेणी में आरोहण कर पूर्णज्ञानी बन गया, तब मोहकर्म का जड़मूल से नाश हो गया।

जैसे समुद्र की आड़ में कुछ आ जाये तब जल नहीं दिखता और जब आड़ दूर हो जाए तब प्रकट दिखता हुआ सब लोगों को प्रेरणा देने योग्य हो जाता है कि आओ! इसमें डुबकी लगाओ। वैसे ही यह आत्मा मोह से भ्रमित होकर आच्छादित हो रहा था तब इसका प्रारूप नहीं दिखता था पुनः जब भ्रम दूर हुआ तब इसका स्वरूप प्रगट हुआ अतः आचार्यदेव प्रेरणा देते हैं कि यह आत्मा ज्ञान से लबालब भरा हुआ होने से महान समुद्र है। इसमें शांत रस रूप जल भरा हुआ है। इस ज्ञानसमुद्र में आप सभी लोग एक साथ निमग्न हो जाओ, खूब अवगाहन कर अनादिकालीन संसार ताप को दूर कर पूर्ण सुख का अनुभव करो।"

इस गाथा की टीका में स्वयं अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है कि निर्विण्ण गुरु के द्वारा प्रतिबोधित किए जाने पर मैं ज्ञानी हुआ हूँ। यहाँ निर्विण्ण गुरू से रत्नत्रयधारी आचार्य कुन्दकुन्द आदि दिगम्बर मुनि ही विवक्षित हैं। बिना गुरू के ज्ञान नहीं होता ऐसा "ज्ञानार्णव" में भी कहा है। यथा—

न हि भवति निर्विगोपक मनुपासित गुरुकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य।।

अर्थात् जिसने गुरुकुल की—मुनिसंघ की उपासना नहीं की, उसका विज्ञान—भेदज्ञान-कला या चतुराई प्रशंसा करने योग्य नहीं है किन्तु निन्दा सहित होता है। देखो! गुरू से नहीं सीखने वाला मयूर नृत्य करते समय अपना पृष्ठ भाग उघाड़ कर नृत्य करता है इसीलिए गुरुमुख से शास्त्रों का अध्ययन करना आवश्यक बताया गया है।

श्री जयसेनाचार्य ने तो व्यवहारनय और निश्चयनय की उपेक्षा को पुनः-पुनः कहा है इसलिए शुद्धनय से ही मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावस्वरूप हूँ ऐसा निर्णय करना चाहिये पुनः व्यवहार नय के अवलंबन से आत्मा को शुद्ध करने के उपायभूत भेदरत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिये तभी इस ग्रंथ को पढ़ने की सार्थकता है।

भजन

तर्ज-इक रोज तो चलना है..... **-आर्यिका चन्दनामती**

जिनवाणी सुन प्राणी, शिवमार्ग बताती है।
जन-जन की कल्याणी, प्रभु द्वार दिखाती है।। टेक.।।

क्रोधादि कषायों ने, तुझे जग में भ्रमाया है।
अनमोल रत्न चेतन, विषयों में गंवाया है।।
बनो शीघ्रमोक्षगामी, यह सार सुनाती है।
जन-जन की कल्याणी, प्रभु द्वार दिखाती है।।1।।

सोचो निज जीवन में, हमने क्या जाना है।
पर परिणति चिन्तन में, आतम सुख माना है।।
अज्ञान छोड़ ज्ञानी, यह ज्ञान सिखाती है।
जन-जन की कल्याणी, प्रभु द्वार दिखाती है।।2।।

स्वाध्याय परम तप से, दृष्टी सम्यक् होती।
चारित्र ज्ञान गंगा, भवि के कल्मष धोती।।
'चंदनामती' प्रभु की, वाणी समझाती है।
जन-जन की कल्याणी, प्रभु द्वार दिखाती है।।3।।

(4)

व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है

समयसार में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

जो हि सुए णहि गच्छइ, अप्पाणमिणं तु केवलं सुध्दं।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोयप्पईवयरा।।९।।
जो सुयणाणं सव्वं, जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं, जम्हा सुयकेवली तम्हा।।१०।।

अर्थ—जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, लोक को प्रकाशित करने वाले ऋषिगण उनको श्रुतकेवली कहते हैं और जो संपूर्ण श्रुतज्ञान को जानते हैं जिनेन्द्रदेव उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं क्योंकि सर्व ज्ञानमयी आत्मा ही है इसलिए वह श्रुतकेवली है।

परम पूज्य आचार्यदेव श्री अमृतचन्द्रसूरि इसी बात को स्पष्ट करते हुए "आत्मख्याति" टीका में लिखते हैं कि—"यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति सश्रुतकेवलीति.....इसकी ज्ञानज्योति हिन्दी टीका में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है कि "जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, इस प्रकार का कथन तो परमार्थ है और जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान (द्वादशांग) को जानता है वह श्रुतकेवली है इस प्रकार का कथन व्यवहार है। अब प्रश्न यह होता है कि यहाँ पर निरूपित किया जाने वाला सर्व ही ज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? अनात्मा तो कह नहीं सकते क्योंकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में पाँचों द्रव्य अचेतन होने से ये सभी अनात्मा ही हैं अतः इनका ज्ञान के साथ तादात्म्य हो नहीं सकता है। इस कारण अन्य प्रकार का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है ऐसा सिद्ध हो जाता है, पुनः श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है यह बात भी निश्चित हो जाती है और ऐसा सिद्ध हो जाने पर जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है ऐसा जो कथन है सो परमार्थ ही है। इस प्रकार से ज्ञान और ज्ञानी को भेद से कहने वाला जो व्यवहारनय है उसके द्वारा भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है किन्तु उससे अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जाता। दूसरी बात यह है कि "जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है" इस प्रकार से परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से "जो सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है" इस प्रकार का व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपने स्वरूप को प्रतिष्ठित कराता है।

यह बात तो निश्चित ही है कि व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है किन्तु निश्चयपूर्वक व्यवहार नहीं होता है अतएव यहाँ पर जो टीकाकार ने कहा है सो ठीक ही है। आज इस पंचमकाल में द्वादशांग श्रुतज्ञान उपलब्ध नहीं है उसका अंश रूप ही श्रुतज्ञान उपलब्ध है अतः जब कोई व्यवहार श्रुतकेवली ही नहीं हो सकते हैं तो पुनः निश्चय श्रुतकेवली कैसे हो सकते हैं ? द्वादशांग के वेत्ता श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु स्वामी अन्तिम श्रुतकेवली माने गए हैं। उनके बाद में सम्पूर्ण श्रुत के धारक "श्रुतकेवली" कोई नहीं हुए हैं। स्वयं कुन्दकुन्ददेव भी श्रुतकेवली

नहीं थे। इस कथन से जो यहाँ पर ऐसा कहा है कि "आत्मा को जानने वाले निश्चय श्रुतकेवली हैं " उसका अभिप्राय यही है कि जो आत्मा का अनुभव करने वाले हैं, निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर जानने वाले हैं वे ही परमार्थ श्रुतकेवली हो सकते हैं अन्य सामान्य मुनि या श्रावक आदि नहीं।

सारांश यह है कि छठे गुणस्थान में व्यवहार श्रुतकेवली होते हैं क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि को द्वादशांग का ज्ञान असम्भव है। मात्र ग्यारह अंग तक का ज्ञान ही उन्हें हो सकता है अतः वे पूर्ण श्रुतज्ञान के अभाव में व्यवहार श्रुतकेवली नहीं हैं। श्रावक के व असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के अंग पूर्व रूप श्रुतज्ञान होता ही नहीं है अतः वे जब व्यवहार श्रुतकेवली ही नहीं हो सकते हैं तब निश्चय की बात तो बहुत ही दूर है। निश्चय श्रुतकेवली तो सातवें या आठवें गुणस्थान से माने जाते हैं चूँकि उन्हीं के शुक्लध्यानरूप भावश्रुतज्ञान होता है।

इसी बात को श्री जयसेनाचार्य ने अपनी "तात्पर्यवृत्ति" टीका में भी सरल शब्दों में स्पष्ट किया है। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने इन दोनों आचार्यों की टीका को एक साथ समन्वयात्मक दृष्टि से हिन्दी टीका में प्रस्तुत किया है जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों के सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है, हाँ! केवल कठिन सरल भाषा का अन्तर जरूर है। समयसार ग्रंथ (हस्तिनापुर के दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान से प्रकाशित) का स्वाध्याय ऐसी अनेक भ्रान्तियों का निवारण करने में अति सहायक सिद्ध होता है। उसमें उपर्युक्त दोनों गाथाओं की टीका का उपसंहार करते हुए वर्णन आया है कि—

"यहाँ दो बातें विशेष जानने योग्य हैं, एक तो उत्थानिका में कहा है कि "कथं व्यवहारस्य परमार्थ प्रतिपादकत्वमिति चेत्" व्यवहार नय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर इन दो गाथाओं का अवतार हुआ है। इससे यह समझ में आता है कि द्रव्यश्रुत के आधार के बिना भावश्रुत नहीं हो सकता है। व्याकरण में भी द्रव्य शब्द के ही भाव अर्थ में "त्व" या "ता" प्रत्यय लगता है जैसे सुवर्णस्य भावः "सुवर्णत्व" या "सुवर्णता" अर्थात् जब सुवर्ण होगा तभी उसका सुवर्णपना कहा जा सकेगा। श्री जयसेनाचार्य ने तो स्पष्ट कह दिया है कि "सुदणाणं द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानं आदा आत्मा भवति" अर्थात् द्रव्यश्रुतज्ञान के आधार से उत्पन्न हुआ भावश्रुतज्ञान ही आत्मा है इसलिए द्वादशांग के ज्ञाता द्रव्यश्रुतकेवली हुए बिना कोई भावश्रुतकेवली नहीं हो सकते हैं। महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है "शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः" आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद्-ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञान श्रुतकेवली के ही होते हैं।

दूसरी बात यह विशेष है कि यहाँ "यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्मध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः।" जैसा पूर्वपुरुष—मुनियों को शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान था वैसा इस समय नहीं है किन्तु यथायोग्य धर्मध्यान है। इससे यह स्पष्ट है कि पंचमकाल में धर्मध्यान के ध्याता साधु होते ही हैं, उनका निषेध नहीं किया जा सकता है।

(5)

समयसार में मुनियों को रत्नत्रय धारण करने की प्रेरणा

समयसार ग्रन्थ में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने मुख्यरूप से तो शुद्धात्म तत्त्व का ही वर्णन किया है किन्तु अनेक स्थानों पर मूल गाथाओं में उन्होंने 'मुनी' अथवा 'साधु' शब्द ग्रहण करके इस बात को प्रद्योतित किया है कि नग्न दिगम्बर मुनिराज ही व्यवहार क्रियाओं के पश्चात् निश्चय में लीन होकर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं। सो ही वे गाथा नं० १६ में प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं—

दंसणणाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

शेर छन्द—

साधू व मुनि के लिए ज्ञान चरण औ दर्शन।
है नित्य सेवितव्य नय व्यवहार का कथन।।
निश्चय से ये तीनों ही आत्म के स्वरूप हैं।
दोनों नयों से आत्मतत्त्व प्राप्यरूप है।।

अर्थात् गाथा का अभिप्राय यहाँ यह है कि मुनियों को नित्य ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र का सेवन करना चाहिए और पुनः ये तीनों भी निश्चयनय से आत्मा ही हैं, ऐसा जानो।

इसकी आत्मख्याति टीका का हिन्दी अनुवाद करते हुए पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है—

"जिस किसी भाव से यह आत्मा साध्य और साधन रूप हो, उसी भाव से यह नित्य ही उपासना के योग्य है, इस प्रकार से स्वयं विचार करके दूसरों के लिए व्यवहारनय से ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि मुनि को नित्य ही ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र उपास्य हैं—सेवन करने योग्य हैं। पुनः परमार्थ से—निश्चयनय से ये तीनों भी एक आत्मा ही हैं क्योंकि ये आत्मा से भिन्न अन्य वस्तु नहीं हैं। जैसे—किसी देवदत्त नामक पुरुष के जो ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं वे उसके स्वभाव का उल्लंघन नहीं करने से देवदत्त स्वरूप हैं, उस देवदत्त से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है। उसी प्रकार से आत्मा में भी जो रत्नत्रय है वे आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही है उससे भिन्न नहीं है इसीलिए यह निष्कर्ष निकला कि एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है ऐसा स्वयमेव प्रकाशित हो रहा है।"

आत्मा की इस स्थिति का वर्णन श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कलश काव्यों में मेचक और अमेचक कहकर किया है। यहाँ मेचक का अर्थ अनेक रूप है और अमेचक का अर्थ एकरूप बताया है कि आत्मा व्यवहार नय से मेचक तीन रूप से परिणत रत्नत्रय स्वभावी है तथा वही आत्मा निश्चयनय से अमेचक एक अभेद रत्नत्रय स्वरूपी ही है, पुनः वे कहते हैं कि "इस भेदाभेद विकल्प को छोड़ो, वास्तव में आत्मा की सिद्धि रत्नत्रय के सिवाय अन्य प्रकार से कथमपि सम्भव नहीं है।"

इसी विषय को श्री जयसेनाचार्य ने अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में सरलता से खुलासा किया है। दोनों टीकाओं से सम्बन्धित समयसार ग्रन्थ का अध्ययन जिज्ञासुओं को अवश्य करना चाहिए।

विशेषार्थ में हिन्दी टीकाकर्त्री सिद्धान्त पक्ष को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं—

''यहाँ गाथा में ''साहुणा'' पद है इससे यह स्पष्ट है कि यह रत्नत्रय मुनियों के ही होता है, उससे पूर्व चौथे और पाँचवे गुणस्थान में नहीं होता है। अविरत गुणस्थान में तो चारित्र है ही नहीं, पाँचवें में अणुव्रत रूप से देशचारित्र है वह यहाँ विवक्षित नहीं है। श्रीकुन्दकुन्द देव ने इस गाथा में छठे गुणस्थान के योग्य व्यवहार रत्नत्रय को और सातवें आदि गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होने वाले निश्चय रत्नत्रय को सेवन करने के लिए प्रेरणा दी है।

आत्मख्याति टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इन्हीं व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय की चर्चा की है पुनः कलशकाव्यों में भी प्रमाण से दोनों को कहकर व्यवहारनय-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय को कहा है। इसी गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि व्यवहार नय से साधु को व्यवहार रत्नत्रय सेवन करने योग्य है और निश्चयनय से निर्विकल्प ध्यान में निश्चयरत्नत्रय स्वयं हो जाता है।

श्रावक इन भेद-अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करने की भावना करे और अपने पद के योग्य अणुव्रत—एक, दो प्रतिमा से लेकर सात प्रतिमा अथवा ग्यारह प्रतिमा तक के व्रतों को धारण कर अपनी शक्ति बढ़ाये। अव्रती सम्यग्दृष्टि अणुव्रती बनने का पुरुषार्थ करे और भेद रत्नत्रयधारी मुनियों की भक्ति, पूजा, उपासना करते हुए उन्हें नवधाभक्ति से आहार देते हुए अपने गार्हस्थ जीवन को सफल करे यही सनातन प्राचीन परम्परा है।''

इसीलिए समयसार को प्रमुख रूप से पढ़ने और धारण करने का अधिकार मुनियों को ही है तथा श्रावक उसे पढ़कर श्रद्धान और ज्ञान ही कर सकते हैं, यह अभिप्राय हुआ।

मुक्तक

जैसे सरवर में कमल, जैसे भोजन में नमक, जग में अहिंसा धरम, उनके प्राण होते हैं-2।
वैसे अपने जिनमंदिर, प्रभु की प्रतिमा से सुन्दर, भक्ति के हैं समन्दर, हमारे प्राण होते हैं-2।।1।।
गीतों में सुरीला कंठ, एवं पक्षियों के पंख, नारी का पातिव्रत धर्म, उनकी शोभा होते हैं-2।
वैसे सन्तों का सत्संग, ज्ञानियों का ज्ञानरंग, ज्ञानमति माता के संग, हमारी शोभा होते हैं-2।।2।।
इन्द्रिय विषयों से वैराग्य, साधु-साध्वी में अनुराग, रत्नत्रय के प्रति राग, मुक्ति मार्ग होते हैं-2।
जिनवाणी का स्वाध्याय, चेतन आत्मा का अध्याय, पढ़ना है आवश्यक कार्य, इससे ज्ञानी होते हैं-2।।3।।

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

(6)

समयसार में अज्ञानी को सम्बोधन

छहढाला में पं. श्री दौलतरात जी ने कहा है कि—

''मोहमहामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।''

अर्थात् अनादिकाल से यह जीव मोहरूपी मदिरा को पी करके अपने आत्मस्वरूप को भूला हुआ है इसीलिए दुःखी होकर चतुर्गति में परिभ्रमण कर रहा है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव भी समयसार में कहते हैं—

अण्णाणमोहिदमदी, मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा, जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।

सव्वण्हुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।

जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वुत्तुं जे, मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं।।२५।।

अर्थात् अज्ञान से मोहित बुद्धि वाला जीव इन सम्बद्ध और असम्बद्ध पुद्गल द्रव्यों को मेरा कहता है उसी प्रकार यह बहुत भावों से सहित हो रहा है किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान में देखा गया यह जीव सदा ही उपयोग लक्षण वाला है वह पुद्गलद्रव्य कैसे हो सकता है ? जो कहता है कि यह मेरा है, यदि वह पुद्गलद्रव्य रूप हो जावे तो अन्य पुद्गल जीवरूप हो जायेगा तब तो यह कहना शक्य होगा कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है।

इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—

''युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन—स्वीकुर्वाणः पुद्गल द्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते रे द्वरात्मन्! आत्मसंपन् जहीहि जहीहि परमाविवेकस्मरसतृणाभ्यवहारित्वं।''

उसकी हिन्दी टीका करती हुई पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी लिखती हैं—

''पुद्गलद्रव्य—अचेतन परद्रव्यों को'' ''यह मेरा है'' अज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है। अत्यन्त आच्छादित हुए अपने स्वभाव से इसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है, महा अज्ञान से इसका हृदय अपने आप ही विमोहित हो रहा है। ऐसे ही अज्ञानी जीव को समझाते हुए आचार्य कहते हैं—

''रे दुरात्मन् ! अरे आत्मघाती ! आत्मवंचक ! तू छोड़, छोड़! परम अविवेक से अतिगृद्धि को करके तृणसहित भोजन को छोड़ अर्थात् जैसे तृणसहित सुन्दर भोजन को हस्ती आदि पशु खाते हैं, ऐसे खाने का स्वभाव छोड़ दे। सर्वज्ञ के ज्ञान से प्रकट हुआ यह जीव द्रव्य नित्य ही उपयोग स्वभावरूप है

तब भला वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? कि जिससे तू ''यह पुद्गल द्रव्य मेरा है'' ऐसा अनुभव करता है।

यह सम्पूर्ण प्रकरण समयसार ग्रन्थ में पढ़ने योग्य है कि आचार्यश्री किस प्रकार से मुनियों को सम्बोधन करते हुए उन्हें आत्मा में स्थिर करने हेतु उनकी भर्त्सना भी करते हैं जो कि उनका वात्सल्यमय अधिकार भी है।

एक कलश काव्य में भी उन्होंने कहा है—

मालिनी छन्द—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतुहाली सन्, अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तं।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं।।२३।।

अर्थात् हे वत्स! तू किसी तरह मर-पचकर भी तत्त्वों का कौतूहली होता हुआ इस शरीर के पड़ोसी—आत्मा का एक मुहूर्त तक भी अनुभव कर, जिससे कि अपनी आत्मा को प्रकाशरूप परद्रव्यों से पृथक् देखकर इस शरीर या पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व के मोह को—विपरीत भाव को शीघ्र ही छोड़ सके।

वास्तव में द्रव्यदृष्टि से यह जीव शुद्ध, बुद्ध, चिच्चमत्कार रूप एक ज्ञानदर्शनस्वभावी ही है, पर्यायदृष्टि से पुद्गलमय शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी स्वयं कभी जड़—अचेतन नहीं हुआ है इसीलिए कलश काव्य में मर पचकर भी तत्त्वचर्चा में रस लेने की प्रेरणा दी गई कि हे आत्मन्। अपनी आत्मा को तू शरीर का पड़ोसी समझ ले और मुहूर्त मात्र—४८ मिनट भी स्थिर होकर आत्मा का अनुभव कर।

यह निश्चयनय की अवस्था मुनियों की अत्यन्त उच्चश्रेणी है जिसे अध्यात्म ग्रन्थों के माध्यम से जाना जाता है। इससे पूर्व भी हमें करणानुयोग के शास्त्रों से आत्मा और पुद्गल के सम्बन्ध को जानना होगा, जैसा कि गोम्मटसार कर्मकांड में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा भी है—

पयडी सील सहाओ, जीवंगाणं अणाइसम्बन्धो।
कणयोवले मलं वा, ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।।

अर्थात् स्वर्णपाषाण जिस प्रकार खान से निकलने पर अशुद्ध—मलयुक्त रहता है उसे पुरुषार्थपूर्वक ही शुद्ध करके स्वर्णत्व प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है पुरुषार्थपूर्वक संयम और तप के द्वारा शुद्ध परमात्मा बनाया जा सकता है।

(7)

समयसार भी आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध मानता है

यूँ तो आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार में कहा है—

पयडी सील सहाओ, जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा, ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।।

अर्थात् जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है और यही उनका स्वभाव बन गया है। जिस प्रकार खान से निकले हुए स्वर्णपाषाण के ऊपर मल चढ़ा रहता है उसी प्रकार इस जीवात्मा के ऊपर भी अनादि से कर्ममल चढ़ा हुआ है।

जैसे, पुरुषार्थ के बल पर उस सोने को तपाकर शुद्ध किया जाता है अर्थात् उससे किट्टकालिमा को अलग कर दिया जाता है उसी प्रकार पुरुषार्थपूर्वक संयम और तप के द्वारा आत्मा को कर्मकालिमा से भिन्न करके शुद्ध परमात्मा बनाया जा सकता है।

यद्यपि आत्मा चैतन्य जीव है और कर्म पुद्गल हैं। दोनों एक दूसरे से छत्तीस के आंकड़े के समान भिन्न हैं फिर भी दोनों का एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध माना गया है और पुद्गल कर्म आत्मा को सुख-दुख देते हैं इस बात को अध्यात्मग्रन्थ समयसार भी स्वीकार करता है। जैसा कि ४५ नं. की गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं—

अट्ठविहं पि य कम्मं, सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ, दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।

अर्थात् ये आठों प्रकार के भी सभी कर्म पुद्गलमय हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं क्योंकि जिस विपाक के समय उदय में आने वाले कर्म का फल दुःख है ऐसा कहा गया है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इस गाथा की आत्मख्याति टीका में खुलासा किया है, जिसकी हिन्दी टीका करते हुए पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी लिखती हैं—

"जो इन राग द्वेष आदि भावों को उत्पन्न करने वाले आठों प्रकार के ज्ञानावरण आदि भी कर्म हैं, वे समस्त ही पुद्गलमय हैं ऐसी निश्चित ही सर्वज्ञदेव की वाणी है। उस कर्म का उदय चरम सीमा को प्राप्त होने पर "फल" नाम से कहा जाता है, वह अनाकुलता लक्षण सुख नामक आत्मा के स्वभाव से विलक्षण होने से दुःख ही है। ये अध्यवसान आदि भाव आकुलता लक्षण वाले होने से उस दुःख के अन्तर्गर्भित ही हैं इसलिए ये चैतन्य से सम्बन्धित होने का भ्रम उत्पन्न कराते हैं तो भी ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गल के ही स्वभाव हैं ऐसा समझना चाहिए।

चैतन्यरूप का प्रतिभास होने पर भी ये रागादि परिणाम पुद्गल के स्वभाव कैसे हो सकते हैं ? किसी की ऐसी आशंका होने पर आचार्य श्री जयसेन स्वामी भी उपर्युक्त गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखते हैं—

"सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतराग सर्वज्ञा ब्रुवंति कथयंति।....."

जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—आठ प्रकार के पुद्गलमय कर्मों का जो कार्य है वह अनाकुलता लक्षण परमार्थ सुख से विलक्षण होने से आकुलता का उत्पादक दुःखरूप ही है और जो ये रागादि परिणाम हैं वे भी आकुलता के उत्पादक दुःख लक्षण वाले ही हैं इसलिए ये रागादि भाव पुद्गल के कार्य होने से शुद्ध निश्चयनय से पौद्गलिक ही हैं।

यहाँ रागादि भावों को भी पौद्गलिक कह दिया है किन्तु इन भावों का उपादान कारण आत्मा ही है, पुद्गल ही है, पुद्गल तो निमित्त मात्र हैं फिर भी निश्चयनय की अपेक्षा यह कथन है क्योंकि यहाँ पुद्गल के निमित्त से होने से ये पौद्गलिक कह दिये गये हैं। श्रीजयसेनाचार्य ने अपनी टीका में अंतिम पंक्ति में खोल दिया है कि ये विभाव भाव पुद्गल द्रव्य के कार्य हैं चूँकि उन्हीं पौद्गलिक कर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं अतः शुद्ध निश्चयनय से ये पौद्गलिक हैं ऐसा समझना चाहिए। आगे स्वयं आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने इन्हें जीव के बतलाए हैं क्योंकि वे भी जानते थे कि कहीं संसारी प्राणी इतने कथन मात्र से एकांती दुराग्रही न बन जावें।

उनका कथन है कि—व्यवहारनय से ये सभी अध्यवसान आदि भाव जीव हैं, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है क्योंकि जैसे म्लेच्छ भाषा के द्वारा म्लेच्छों को वस्तु का स्वरूप समझाया जाता है वैसे ही व्यवहारनय के द्वारा व्यवहारीजनों को परमार्थ का उपदेश देना भी तीर्थप्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसको बतलाना न्याय ही है। इस व्यवहार के बिना तो परमार्थ से शरीर और जीवात्मा का भेद देखा जाता है अर्थात् निश्चयनय से जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं अतः राख के समान त्रस और स्थावर जीवों का निःशंक-स्वच्छंद होकर घात कर देने पर भी हिंसा नहीं होगी और हिंसा के न होने से कर्मबन्ध का भी अभाव हो जावेगा उसी प्रकार से रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मों से बंध रहा है यह कर्मबन्धन से छुड़ाने योग्य है ऐसा जो कथन है वह भी नहीं बनेगा क्योंकि परमार्थ से तो राग, द्वेष, मोह से जीव भिन्न ही है अतः मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का अभाव हो जावेगा और जब मोक्ष का उपाय नहीं होगा तब मोक्ष का भी अभाव हो जावेगा।

गाथा का सारांश यही है कि जिन कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से आत्मा के साथ चला आ रहा है उसे व्यवहारनय के अवलम्बन से ही संयम-तप आदि पुरुषार्थ के द्वारा जीव से अलग करके शुद्ध निश्चयनय को प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त करना चाहिए।

(8)

आगम के दर्पण में व्यवहारनय

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये पुद्गल के गुण हैं, इस पुद्गल से बना हुआ जो शरीर है वह पौद्गलिक है इसीलिए शरीर आदि का उपादान कारण पुद्गल ही है अतः इसका जीव के साथ जो सम्बन्ध है वह संयोग सम्बन्ध ही है, उसके लिए दूध और पानी का उदाहरण सार्थक है किन्तु जीव के जो राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि विभाव भाव हैं उनका उपादान कारण आत्मा ही है, द्रव्य कर्मों के उदय निमित्त कारण हैं फिर भी यहाँ उन्हें भी संश्लेष सम्बन्ध रूप ही कहा है क्योंकि शुद्धनय की अपेक्षा से यह अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार ही है। दूसरी बात यह है कि शुद्ध, सिद्ध जीवों में ये विभाव भाव नहीं हैं फिर भी अशुद्ध जीव में व्यवहारनय से हैं, ऐसा समझना चाहिए।

पुनः व्यवहारनय अविरोधी कैसे हैं ? यह बात आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव समयसार की ५८वीं गाथा में कहते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।

अर्थ—मार्ग में लुटते हुए पुरुष को देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुट गया है किन्तु कोई मार्ग नहीं लुटता है उसी प्रकार जीव में कर्म और नोकर्मों के वर्ण को देखकर 'जीव का यह वर्ण है' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार से कहा है। ऐसे ही गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर और संस्थान आदि ये सभी व्यवहार से जीव के हैं ऐसा निश्चय के दृष्टा कहते हैं।

आज भी देखा जाता है कि किसी बस या ट्रेन में डकैतों द्वारा लूटपाट हो जाने पर लोग कह देते हैं कि अमुक बस या ट्रेन लुट गई जबकि वाहन लुटने की बजाय उसमें सवार यात्री ही लूटे गये हैं फिर भी व्यवहार से ऐसा कथन करने से लोग अभिप्राय समझ लेते हैं कि किसी बदमाश ने अमुक बस के यात्रियों को लूट लिया है। इस व्यवहारिक भाषा का प्रयोग आचार्यों ने आत्मतत्त्व को बतलाने में भी किया है।

उपर्युक्त गाथा की आत्मख्याति टीका में श्रीअमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत....." अर्थात् जैसे मार्ग में चलते हुए किन्हीं धनिक पथिक को चोरों द्वारा लुटते हुए देखकर वहाँ मार्ग में रहने वाले चोरों के निमित्त से उपचार से व्यवहारी लोग ऐसा कह देते हैं कि "यह मार्ग लुटता है" किन्तु निश्चय से देखा जाये तो आकाश के प्रदेश विशेष लक्षण वाला जो कोई भी मार्ग है वह नहीं लुटता है।

इसके विशेषार्थ में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने समयसार की ज्ञानज्योति हिन्दी टीका में लिखा है कि—

"जीव के वर्ण आदि हैं अथवा जीव का या किन्हीं तीर्थंकर का स्वर्ण वर्ण वाला शरीर है, इत्यादि कथन तथा जीव के राग, द्वेष, मोह, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का वर्णन श्री अर्हंतदेव ने किया है न कि हम तुम जैसे सामान्य मनुष्यों ने, अतः यह सत्य है असत्य नहीं है। यद्यपि यह सब कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से ही है

फिर भी व्यवहारनय झूठा नहीं है। हाँ, वह औपाधिक भावों को ग्रहण करता है इसीलिये कथंचित् निश्चयनय की अपेक्षा से उसे 'असत्य' कह भी सकते हैं किन्तु विषय को सही-सही कहने से यह सत्य ही है। दूसरी बात यह है कि जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित होने से यह सत्य ही है। सम्पूर्ण द्वादशांग का विस्तार भी तो जीव के इन औपाधिक भावों को ही कहता है अन्यथा 'जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।' जीव भिन्न है और पुद्गल भिन्न है इतना मात्र ही तत्त्वों का संग्रह रूप सार है। ऐसा श्रीपूज्यपादस्वामी ने कहा है इसी प्रकार निश्चयनय का वर्णन भी श्री जिनेन्द्रदेव ने ही किया है उस दृष्टि से तो जीव के साथ इनका तादात्म्य सम्बन्ध न होने से ही जीव के ये सब नहीं हैं ऐसा कथन है। वास्तव में दोनों नयों को समझकर ही अपेक्षाकृत वस्तु के स्वरूप को कहने वाले सम्यग्दृष्टि माने गए हैं।''

इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव ने व्यवहारनय का समर्थन किया है अतः द्रव्यानुयोग के दर्पण में निश्चयनय को समझने हेतु व्यवहारनय का अवलम्बन भी आवश्यक है ऐसा समझना चाहिए।

भजन

तर्ज-जन्म मानव का पाया है..... **-आर्यिका चन्दनामती**

गौतम गणधर की वाणी सुनो,
ज्ञान अमृत के स्वादी बनो।
वीर प्रभु दिव्यध्वनि को सुनो,
अपने आतम में उसको गुणो।।टेक.।।
आज हम सबका यह पुण्य है, पाया धरती पे नर जन्म है।
इसमें जिन भक्ति ही मुख्य है, गुरु की वाणी दे शिव सौख्य है।
वीर वाणी का अमृत चखो,
गुरु गौतम के श्रुत को सुनो।। गौतम.।।1।।
आयुष्मन्तों ! सुना मैंने है, ये वचन गणधर स्वामी कहें।
मुनि-श्रावक ये दो धर्म हैं, शक्तिसम इनका पालन करें।।
सुदं मे आउस्संतो सुनो,
श्रुत का चिन्तन करो औ गुनो।।गौतम.।।2।।
गणिनी श्री ज्ञानमती माता ने, गणधर वाणी बताई हमें।
उसको प्रतिदिन पढ़ें हम सभी, ''चंदनामति'' अमर हो कृती।।
वीर प्रभु के चरण में नमो,
गुरु गौतम के भी पद नमो।।गौतम.।।3।।

अध्याय-13
वास्तु शिल्प

मंदिर एवं मकान आदि के विधिवत् निर्माण का नाम है—वास्तु एवं शिल्प। वास्तु एवं शिल्प का अर्थ बताने की कला अर्थात् मकान या मंदिर को शास्त्रोक्त विधि से बनाने की कला वास्तु शिल्प संबंधी शास्त्र बतलाते हैं। यूँ तो प्राचीनकाल से ही युग की आदि में भगवान ऋषभदेव ने इस धरती पर मानव को कर्मभूमि की आदि में जीवन जीने की कला के अन्तर्गत षट् क्रियाएँ (असि-मसि-कृषि-विद्या-वाणिज्य एवं शिल्प) सिखाई थीं। उसमें शिल्पकला के अन्तर्गत मंदिर-मकान आदि सब कुछ बनाने की विधि थी, उसी विधि के अनुसार उनके निर्माण होते चले आ रहे हैं, फिर भी वर्तमान में वास्तु शिल्प का प्रचलन कुछ अधिक ही हो गया है।

वास्तुविद्या जहाँ मनुष्य के लिए सुख-शांति का आधार मानी गई है, वहीं कभी-कभी कुछ अधकचरे शिल्पज्ञों के द्वारा उसका दुरुपयोग किये जाने के कारण आज अनेक परिवार एवं समाज बड़े दुखी और अशान्त देखे जाते हैं।

जैनाचार्यों ने प्रतिष्ठा ग्रंथों में जिनमंदिर के निर्माण का वर्णन करते हुए लिखा है—

जैनचैत्यालयं चैत्यमुत-निर्मापयन् शुभम्।
वाञ्छन् स्वस्य नृपादेश्च, वास्तुशास्त्रं न लंघयेत्।।१०।। (प्रतिष्ठा सारोद्धार)

अर्थात् अपना स्वयं का हित चाहने वाले को तथा साथ में राजा और प्रजा का कल्याण चाहने वाले को जिनमंदिर, जिनप्रतिमा और उनके उपकरण आदि वास्तुशास्त्रों के अनुसार ही बनाने चाहिए। वास्तुशास्त्र के नियमों का किञ्चित् भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

जैसा कि कहा भी है-

प्रासादो मण्डपश्चैव, विना शास्त्रेण यः कृतः।
विपरीतं विभागेषु, योऽन्यथा विनिवेशयेत्।।
विपरीतं फलं तस्य, अरिष्टं तु प्रजायते।
आयुर्नाशो मनस्तापः पुत्र-नाशः कुलक्षयः।।

शास्त्रप्रमाण के बिना यदि देवालय, मण्डप, गृह, दुकान और तलभाग आदि का विभाग किया जाएगा तो उसका फल विपरीत ही मिलेगा, अरिष्ट होगा, असमय में आयु का नाश होगा, पुत्रनाश, कुल-क्षय और मनस्ताप होगा।

शिल्पशास्त्रियों ने कहा है कि-

अशास्त्रं मन्दिरं कृत्वा, प्रजा-राजा-गृहं तथा।
तद्गृह-मशुभं ज्ञेयं, श्रेयस्तत्र न विद्यते।।

अर्थात् शास्त्रविधि से रहित देवमन्दिर, राजा एवं प्रजा आदि किसी के भी घर बनाये जायेंगे तो वे गृह अशुभ

ही जानना। उस घर में निवास करना श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

समाज तो शिल्पज्ञान से और प्रतिष्ठा आदि के मुहूर्तज्ञान से प्रायः अनभिज्ञ है किन्तु जो इस विषय के विद्वान् हैं वे भी (**दीक्ष्ये विघ्नं प्रतिष्ठिते सिंहस्थिते सर्व-विसर्जनीयम् । रवौ सौम्यायने कुर्याद् देवानां स्थापनादिकम् एवं शुभे मासे सिते पक्षे वर्तिते चोत्तरायणे**) इन मूहुर्त विधानों की उपेक्षा कर अपनी-अपनी सुविधानुसार कार्य करने में संलग्न हैं। इसी का फल है कि आज अधिकतम मानव दुखी देखे जाते हैं।

वसुनन्दी जैसे महान् आचार्यों ने और पं. आशाधरजी जैसे विद्वानों ने भी प्रतिष्ठाशास्त्र लिखे हैं जिनमें यथाशक्य शिल्पविज्ञान, प्रतिमा विज्ञान एवं मुहूर्त आदि का विषय भी दिया गया है, आचारसार ग्रंथ के कर्ता **वीरनन्दी स्वामी** ने तो **शिल्प संहिता** नाम का पूरा ग्रंथ ही लिखा है, वह भी आज के विद्वानों को पढ़ना चाहिए।

मनुष्य अपनी सुख-शान्ति के प्रयोजन के लिए गृहों का और आत्मकल्याण की सिद्धि के लिए मन्दिरों का निर्माण कराते हैं। शिल्पविज्ञों ने कहा भी है कि-

आलयं सर्व-भूतानां, विजयाय जितात्मनाम्।
धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां, प्राप्ति-हेतुश्च कामदः।।

जिनालय प्राणी के आश्रय के स्थान हैं। जितेन्द्रिय महापुरुषों की कीर्ति तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के कारणभूत और सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं।

'डूबते को तिनके का सहारा' इस नीति के अनुसार इस कलिकाल में आत्मशान्ति प्रदान करने में यही आयतन प्रमुख हैं अतः इसका निर्माण कार्य और प्रतिष्ठा कार्य शास्त्रानुकूल ही होना चाहिए।

जैसे अनेक व्यक्ति फूल के पौधों से अपनी इच्छा एवं रुचि के अनुसार फूल चुन-चुन कर अनेक प्रकार के पुष्पपात्रों की संरचना करते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्रमुखोद्भूत 'वत्थुविज्जय' अर्थात् वास्तु विद्या का लेखन, पठन-पाठन एवं प्रकाशन अनेक विद्वानों ने और शिल्पज्ञों ने अनेक प्रकार से किया है।

भवन के लिए भूमिचयन, शल्यशोधन, भवन निर्माण के दिशागत निर्देश, भवन निर्माण मुहूर्त, भवनों के प्रकार, अशुभ गृहों के लक्षण और फल, चौदह प्रकार के वेधों के लक्षण, गृहों का द्वार विवेचन, घर में कौन सा स्थान कहाँ है अर्थात् पानी, रसोई, बैठक, पूजास्थान, अध्ययन स्थान, तिजोरीस्थान कहाँ तथा किस दिशा में होने चाहिए, आदि विषय अनेक वास्तुशास्त्रों में बहुत अच्छे ढंग से समझाये गये हैं। घर ही नहीं व्यवसाय स्थल, दुकान तथा विद्यालय आदि को भी इसमें सम्मिलित किया जाता है। साथ ही अशुभ ग्रहों के दोष के निवारण हेतु परिहार बताकर पीड़ित लोगों को एक नई आशा मिलती है।

देवपूजा के लिए जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, वीतरागी दिगम्बर गुरुओं के धर्मोपदेश हेतु प्रवचन हाल, स्वाध्याय के निमित्त सरस्वती-भवन एवं अपने निवास और मुनिराजों आदि के आहारदान के लिए उत्तम गृह का निर्माण गृहस्थ के कर्त्तव्यों में सम्मिलित है। अपने न्यायोपार्जित अर्थ के सदुपयोग और शुद्ध आहार-विहार के ये उत्कृष्ट साधन हैं।

मंदिर और भवन निर्माण में जो भूमि खनन एवं शिलान्यास की विधि शुभ मुहूर्त में की जाती है, उसका एक उदाहरण स्मरणीय है।

'अयोध्या' तीर्थंकर ऋषभदेव आदि अनेक तीर्थंकरों की जन्मभूमि शाश्वत तीर्थ है। वहाँ मुगलकाल में एक

दिगम्बर जैन मंदिर के स्थान में मस्जिद का निर्माण करा दिया गया था। कालान्तर में वहाँ के हाकिम के पास जाकर एक दिगम्बर जैन कार्यकर्ता ने निवेदन किया कि "इस मस्जिद के स्थान पर पहले दिगम्बर जैन मंदिर था। उसके प्रमाणस्वरूप जमीन के नीचे नींव में पूजा-सामग्री विद्यमान है।" हाकिम ने भूमि खुदवाकर जब वह पूजा-सामग्री देखी, तो तत्काल उस स्थान पर जिनमंदिर निर्माण की आज्ञा दे दी। आज भी हम शिलान्यास में ताम्रकलश, दीपक आदि नींव में रखते हैं। प्रशस्तियंत्र भी वहाँ स्थापित करते हैं।

आध्यात्मिक शान्ति के लिए मंदिर एवं भौतिक सुरक्षा हेतु गृह आदि की निर्माण कला "वास्तुविद्या" है। आचार्य वीरसेन स्वामी "वास्तुविद्या' के सम्बन्ध में लिखते हैं-

"वत्थुविज्जं भूमिसंबंधिणमण्णं पि सुहासुहं कारणं वण्णेदि।"

अर्थ-वास्तुविद्या (जहाँ वास्तु का निर्माण किया जाना है, उस) भूमि से सम्बन्धित तथा अन्य (वास्तुनिर्माण-विधि आदि से सम्बन्धित) शुभ एवं अशुभ का तथा उसके (शुभाशुभ के) कारणों का वर्णन करती है।

अन्यत्र कोशग्रंथों में भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि—**"वास्तुनो गृह-भूमेर्विद्या वास्तुविद्या। वास्तुशास्त्रप्रसिद्धे गुण-दोष-विज्ञानरूपे कलाभेदे।"**-(अभिधान राजेन्द्रकोश)

अर्थ-'वास्तु' अर्थात् भवन और भूमि-दोनों से सम्बन्ध रखने वाली विद्या 'वास्तुविद्या' है। इसमें वास्तुशास्त्र के अनुसार वास्तु के गुणों और दोषों का विशेष ज्ञान कराया जाता है। यह बहत्तर कलाओं का एक भेद मानी गयी है।

'हलायुधकोश' में भी कहा गया है कि-

"वास्तुं संक्षेपतो वक्ष्ये गृहादौ विघ्ननाशनम्।"

अर्थात् संक्षेपतः 'वास्तुविद्या' का अर्थ घर आदि में विघ्नों का निवारण करने वाली विद्या या कला-विशेष ही 'वास्तुविद्या' है।

जैनग्रंथों में मूलतः वास्तुशास्त्रीय नियम-उपनियमों का निर्माण 'जिनमंदिर' की दृष्टि से हुआ है, जिसे नवदेवताओं में परिगणित किया गया है तथा जिसके लिये चैत्यालय, चैत्यगृह आदि संज्ञाओं का प्रयोग भी प्राप्त होता है।

चूंकि गृहस्थजन 'घर' में रहते हैं अतः उनकी सद्बुद्धि रहे, धर्मकार्यों में रुचि-प्रवृत्ति रहे, बाह्य अनुकूलता भी रहे (ताकि परिणाम न बिगड़े) साथ ही उनका स्वयं का, उनके परिजनों का, ग्राम-नगर-राष्ट्र आदि का भी भला हो, इस दृष्टिकोण से घर-मकान आदि सांसारिक प्रयोजन से निर्मित भवनों को भी वास्तुशास्त्र के अनुसार बनवाने की प्रेरणा दी गयी है। सद्गृहस्थ को 'सागार' या 'गृहवासी' कहा गया है, फिर भी उसे धर्मात्मा माना गया है। "भरतजी घर में 'वैरागी" जैसे वाक्यों में भी घर में रहकर भी वैराग्यभाव के पोषण का कथन है। अब यदि घर ही अशुभ होगा, गलत ढंग से निर्मित होगा तो उसमें निराकुलतापूर्वक धर्मध्यान एवं संयम-वैराग्य आदि के प्रशस्तकार्य कैसे संभव हो सकेंगे ? संभवतः इसी दृष्टि से 'घर' को भी शास्त्र की मर्यादा के अनुसार शुभकारक बनाने के लिये वास्तुशास्त्र में सांसारिक उपयोग के भवनों की भूमि एवं निर्माण कार्य संबंधी नियमावली भी बतायी गयी है।

संभवतः इसीलिये **आचार्य उग्रादित्य** ने 'कल्याणकारक' (७/१८) में कहा है—**"तत्रादितो वेश्मविधान-मेव, निगद्यते वास्तु-विचारयुक्तम्।"**

अर्थ—मकान आदि के निर्माण में (अन्य समस्त सामग्री–सहायकों–साधनों आदि के विचार से पूर्व) सर्वप्रथम वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से (भूमिपरीक्षण, भवननिर्माण योजना आदि का) विचार करने का विधान किया गया है।

आचार्यदेव पुनः कहते हैं–

''प्रशस्त दिग्देशकृतं प्रधानमाशागतायां प्रविभक्तभागम्।''

अर्थ—प्रशस्त (शुभ) दिशा एवं प्रशस्त क्षेत्र में वास्तुशास्त्रीय विधि से भवन निर्माण करना चाहिये। उसमें भी जो प्रधान दिशा का श्रेष्ठ भाग है, उसी में विधिवत् निर्माण कार्य होना चाहिये।

'धवला' जैसे विशाल 'जैनतत्त्वज्ञान–कोश' ग्रंथ में भी 'वास्तुशास्त्र' अथवा 'वास्तु विद्या' को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है तथा 'वास्तु' के विभिन्न अंगों के बारे में अनेक प्रकरणवशात् उल्लेख वहाँ प्राप्त होता है। यथा—

(१) ''जिणगिहादीणं रक्खणट्ठप्पासेसु ठविद ओलित्तीओ 'पागार' णाम।''

अर्थ–जिनमंदिर आदि भवनों की रक्षा के लिए उनके चारों पार्श्वों में जो भीत (दीवार) बनायी जाती है, उसे 'प्राकार' या 'परकोटा' कहते हैं।

(२) ''वंदणमालबंधणट्ठं पुरदो ट्ठविद–रुक्खविसेसा 'तोरण' णाम।''

अर्थ–वंदनवार बाँधने के लिए द्वार के आगे (दोनों ओर) जो वृक्ष विशेष लगाये जाते हैं, उन्हें 'तोरण' कहा गया है।

इन दो उल्लेखों से स्पष्ट है कि जिनमंदिर आदि भवनों के चारों ओर परकोटा होना चाहिये तथा इनके द्वारों पर मंगलस्वरूप 'तोरण' एवं 'वंदनवार' आदि की व्यवस्था होनी चाहिये। ज्ञातव्य है कि ये सभी वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से शुभकारक वस्तुएँ मानी गयी हैं।

'वास्तुविद्या' के इतने व्यापक महत्त्व एवं लोकोपयोगित्व को दृष्टि रखते हुये पंडितप्रवर आशाधरसूरि ने प्रतिष्ठाचार्य को अनेक विषयों के साथ 'वास्तुशास्त्र का विशेषज्ञ' होना भी अनिवार्य बतलाया है—

''श्रावकाध्ययन–ज्योति–र्वास्तुशास्त्र–पुराणवित्।''

अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य को श्रावकाचार, ज्योतिषशास्त्र, वास्तुशास्त्र और पुराणग्रंथों का जानकार विशेषज्ञ होना चाहिए।

आचार्य भद्रबाहु कृत भद्रबाहुसंहिता में तो 'वास्तुशास्त्र' के ज्ञान को ज्योतिष से भी महनीय प्रतिपादित किया है—

''ज्योतिषं केवलं कालं, वास्तु–दिव्येन्द्रसम्पदा।''

अर्थ—''ज्योतिष शास्त्र तो मात्र काल सम्बन्धी ही कथन करता है किन्तु वास्तुशास्त्र के अनुपालन से इन्द्र सदृश दिव्य सुख-साधन को प्राप्त होते हैं।

जैनवास्तु शास्त्र में 'ईशान दिशा' (उत्तर–पूर्व) का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है। पं. आशाधर सूरि लिखते हैं—

''पूर्वैशान विदिग्भागे शान्त्यर्थं जगतामिह।'' अन्यत्र भी कहा गया है—''उत्तर–पुव्वा पुज्जा।'' इसकी टीका में स्पष्ट किया गया है कि **''उत्तर–पूर्वा च लोके पूज्या।''** अर्थात् लोकदृष्टि से उत्तरपूर्व दिशा—ईशानकोण को पूज्य माना गया है।

वास्तु-विद्या का महत्त्व

वास्तु-विद्या का अर्थ है 'भवन-निर्माण की कला'। इसी को प्राकृतभाषा में 'वत्थु-विज्जा' कहते हैं। धर्म, ज्योतिष, पूजापाठ आदि ने मिलकर वास्तुविद्या को अध्यात्म से जोड़ दिया, जिससे उसका प्रचार एक आचार-संहिता की भाँति हुआ है। उससे समाज की आस्था जुड़ी है। यही कारण है कि वास्तु-विद्या अतीत की वस्तु होते हुये भी वर्तमान की वस्तु उससे कहीं अधिक हो गई है।

वास्तु-विद्या के प्रति आकर्षण प्राचीनकाल से अब तक बढ़ता ही रहा है। वर्तमान गगनचुंबी भवनों, समुद्राकार बाँधों आदि के निर्माण के वर्तमान सिद्धान्त मूलरूप में वे ही हैं, जो आरम्भ से प्रचलित रहे हैं। लगता है कि वास्तु विद्या के प्राचीन सिद्धान्तों पर प्राचीनकाल में उतना व्यापक निर्माण नहीं हो सका, जितना आज हो रहा है।

आज यह विद्या 'साइंस ऑफ आर्किटेक्चर' के रूप में एक स्वतन्त्र विषय बन चुकी है। कई विश्वविद्यालयों में इस विद्या के अध्यापन के लिए स्वतन्त्र विभाग और महाविद्यालय स्थापित किए गए हैं। इस विषय पर उच्चतम स्तर पर शोधकार्य भी हो रहे हैं। वैज्ञानिक सुविधाओं और औद्योगिक आवश्यकताओं ने वास्तु-विद्या के महत्त्व का प्रमाण दिया है।

निर्माण-कार्य : प्राचीन और आधुनिक

मानव जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी प्रबल क्रान्ति हुई है। प्राचीन परम्पराओं का स्थान अब नई-नई शैलियाँ और निर्माण विधियाँ ले चुकी हैं। निर्माण की सामग्री भी अब आधुनिकतम आविष्कारों से पूरी तरह प्रभावित है। पत्थर का प्रयोग अब सजावट तक सीमित रह गया है। लकड़ी का स्थान प्लास्टिक आदि कृत्रिम पदार्थ लेते जा रहे हैं। सुन्दरता और सुविधा-सम्पन्नता के नए कीर्तिमान स्थापित हो चुके हैं। ज्योतिष, मंत्र तंत्र आदि पर आधारित वास्तु-विद्या के बदले रेखागणित, मौसम विज्ञान, समाज विज्ञान आदि को मान्यता मिल रही है।

जनसंख्या के दबाव ने निर्माताओं को कम से कम भूमि पर अधिक से अधिक आवास गृह जुटाने को विवश कर दिया है इसलिए गगनचुंबी भवन खड़े किए जा रहे हैं, विशाल-विस्तृत कालोनियां और नगर बसाए जा रहे हैं। उद्योग नगरियों का विकास सर्वत्र हो रहा है, आधुनिकतम कारखाने लगाए जा रहे हैं। सार्वजनिक सुविधाओं के साधन जुटाए जा रहे हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक स्थानों के निर्माण की भी यही स्थिति है।

पर्यावरण को सन्तुलित बनाए रखने के लिए वृक्षारोपण और उद्यान निर्माण को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। आकर्षक पर्यटन स्थल अस्तित्व में आ रहे हैं। पशु-पक्षियों के लिए अभयारण्यों का विकास हो रहा है।

परन्तु परम संतोष का विषय है कि भवन निर्माण कला के इस प्रबल परिवर्तन के युग में भी प्राचीन वास्तु विद्या का स्मरण किया जाता है। धर्म और वास्तु विद्या के भूले-बिसरे सम्बन्ध पुनः स्थापित किए जाने लगे हैं। अनेक निर्माता, स्थपति (आर्किटेक्ट) और वास्तुविद् प्राचीन वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का सहारा ले रहे हैं। अनेकानेक गृहस्थ और उद्योगपति अपने भवनों और मकानों के वास्तु-विद्या के अनुरूप सुधार कराते देखे जा सकते हैं। इस मान्यता पर लोगों का विश्वास आज भी है कि दिशा बदलने से दशा बदल सकती है।

'वास्तु' शब्द का अर्थ

'वास्तु' शब्द संस्कृत की 'वस्' क्रिया से बना है, जिसका अर्थ है 'रहना'। मनुष्यों, देवों और पशु-पक्षियों के उपयोग के लिए मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि से बनाया गया स्थान 'वास्तु' है। संस्कृत का 'वसति' और कन्नड़

का 'बसदि' शब्द भी वास्तु के अर्थ में ही है। हिन्दी का 'बस्ती' शब्द भी वास्तु से सम्बद्ध है परन्तु वह ग्राम, नगर आदि के अर्थ में प्रचलित हो गया है।

'तत्त्वार्थ-सूत्र' में आचार्य उमास्वामी ने सोना-चाँदी, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य-भाण्ड से भी पहले क्षेत्र और वास्तु को स्थान देकर वास्तु-विद्या को दो हजार वर्ष पहले जो महत्त्व दिया था, वह आज भी विद्यमान है।

'वास्तु' और 'स्थापत्य' शब्दों की एकरूपता

'वास्तु' का ही अर्थ देने वाला संस्कृत शब्द है 'स्थापत्य'। वह 'स्था' क्रिया से बना है, जिसका अर्थ है रहना, ठहरना, टिकना आदि। इसके लिए अंग्रेजी में 'आर्किटेक्चर' और उर्दू में 'इमारत' शब्द हैं। चार उपवेदों में से एक का नाम है 'स्थापत्य-वेद', 'हिन्दी-शब्दसागर' के अनुसार इसे विश्वकर्मा ने 'अथर्ववेद' से निकाला था।

वास्तु-विद्या और 'कला' की समानता

द्वादशांग जिनवाणी के बारहवें अंग 'दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्वों में क्रियाविशाल नामक तेरहवें पूर्व में विविध कलाओं और विधाओं का समावेश है, जिनमें 'वास्तु विद्या' भी एक है। 'समवायांग सूत्र' के अनुसार **चौंसठ कलाओं में छप्पनवीं से इकसठवीं तक की छह कलाएँ वास्तव में वास्तुविद्या की ही विभिन्न शाखाएँ हैं।** उनके नाम हैं : स्कंधावर-मान (सैन्य शिविरों की लंबाई-चौड़ाई), नगर-मान, स्कंधावार-निवेश, वास्तु निवेश और नगर-निवेश। कालान्तर में वास्तु-विद्या एक स्वतंत्र विषय बन गई, तब भी ये छहों रूप कलाओं में सम्मिलित बने रहे।

विद्याओं और कलाओं में कई दृष्टियों से समानता है, दोनों की अधिष्ठात्री देवी 'सरस्वती' है, जिसका एक नाम है 'ब्राह्मी। तीर्थंकर ऋषभनाथ की ज्येष्ठ पुत्री का नाम भी ब्राह्मी था, उसने लिपि-विद्या का प्रवर्तन किया था। उस सरस्वती और इस ब्राह्मी में और भी कई बातों में एकरूपता है अतः कहा जा सकता है कि "वास्तु विद्या का प्रवर्तन ब्राह्मी से हुआ था।"

वास्तु-विद्या : अतीत पर विहंगम दृष्टि

मनुष्य की तीन मौलिक आवश्यकताएँ हैं : रोटी, कपड़ा और मकान-यह कथन इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से है। मनोविज्ञान की दृष्टि से पाँचवीं शताब्दी में आचार्य पूज्यपाद ने 'इष्टोपदेश' में लिखा था "जो जहाँ रह रहा हो, वह वहीं रम जाता है, वह जहाँ रम जाता है, वहाँ से कहीं और नहीं जाना चाहता।"

उनसे भी पूर्व प्रथम शती ई. में आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में दान के जो चार प्रकार बताए थे, उनमें एक आवास भी है, यह धार्मिक दृष्टि है। प्राकृतिक गुफाओं को काट-छाँटकर वनवासी साधुओं के रहने योग्य बनाने की परम्परा इसीलिए चली। दक्षिण भारत में, विशेषतः कर्नाटक में मंदिरों के साथ 'मुनि-वास' बनाने की प्रथा आज भी है इसीलिए वहाँ मन्दिर को 'बसदि (बसति)' कहते हैं।

आवास के धार्मिक महत्त्व से मंदिर स्थापत्य का विकास हुआ होगा। दसवीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन ने 'षट्खण्डागम' की अपनी 'धवला' नामक टीका में संकेत किया था कि "वास्तु-विद्या में भूमि के सन्दर्भ में शुभाशुभ फलों का विधान होता है।" पौराणिक आख्यानों से स्थापत्य के आकार-प्रकार में विविधता आई। इसमें सहायता की 'लोक-विद्या' (कॉस्मोलॉजी) ने, जिसमें मध्यलोक, नन्दीश्वर द्वीप, जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, विदेह

क्षेत्र, मेरु पर्वत आदि की अद्‌भुत अपूर्व रचनाओं के विस्तृत वर्णन हैं।

श्री उमास्वामी आचार्य ने अपने श्रावकाचार में अनेकानेक विषयों के अन्तर्गत वास्तु के सम्बन्ध में श्लोक नं. ११२-११३ में कहा है—

पूर्वस्यां श्रीगृहं कार्य आग्नेयां तु महानसम्।
शयनं दक्षिणस्यां तु नैऋत्यामायुधादिकम्।।११२।।
भुक्तिक्रिया पश्चिमस्यां वायव्ये धन संग्रहः।
उत्तरस्यां जलस्थानमैशान्यां देवसद्‌गृहम्।।११३।।

अर्थ—श्रावक को अपने घर के विभाग इस प्रकार बनाने चाहिये—'पूर्व दिशा की ओर शोभागृह (बैठक का कमरा), आग्नेय दिशा में रसोईघर, दक्षिण दिशा में शयन करने का स्थान, नैऋत्य दिशा में आयुधशाला, पश्चिम दिशा में भोजनगृह, वायव्य दिशा में धन संग्रह करने का घर, उत्तर दिशा में जलस्थान (परण्डा) और ईशान दिशा में देवस्थान बनाना चाहिये।"

इसी प्रकार इसमें गृहचैत्यालय बनाने का पूरा नियम बताया है—

गृहे प्रविशता वामभागे शल्यविवर्जिते।
देवतावसरं कुर्यात्यार्द्धहस्तोर्द्ध भूमिके।।९८।।
नीचैर्भूमिस्थितं कुर्याद्‌देवतावासं यदि।
नीचैर्नीचैस्तोवश्यं संतत्यापि समं भवेत्।।९९।।

अर्थात् गृह में प्रवेश करते समय जिस दिशा में अपना बायां अंग हो, घर के उसी भाग में चैत्यालय बनवाना चाहिये। चैत्यालय शल्यरहित उत्तम भूमि में बनवाना चाहिये अर्थात् जिस भूमि में हड्‌डी आदि किसी मलिन पदार्थ के रहने का सन्देह न हो ऐसे स्थान में चैत्यालय नहीं बनना चाहिये। उस चैत्यालय में वेदी की ऊँचाई डेढ़ हाथ होनी चाहिये। यदि वेदी की ऊँचाई डेढ़ हाथ से कम होगी तो वह बनवाने वाला अपनी संतति के साथ ही नीचता को प्राप्त होगा अर्थात् वेदी की ऊँचाई डेढ़ हाथ होनी चाहिये। इससे न तो ऊँची होनी चाहिये और न नीची होनी चाहिये।

यहाँ पर विशेष रूप से जिनमंदिर और अपने रहने के मकान बनाने हेतु वास्तुशिल्प का अतिसंक्षेप में परिचय दिया गया है। विस्तृत वर्णन वास्तुशास्त्रों से पढ़ें अथवा वास्तुशास्त्रियों से सलाह करके ही कोई निर्णय लेवें। आजकल कुछ स्थानों पर वास्तुशिल्प के नाम पर अनेक प्राचीन शिखरबन्द मंदिरों को पूरा तोड़कर धराशायी किया जा रहा है, कई श्रेष्ठियों के मकान-कोठी-बंगला, ऑफिस, दुकान आदि वास्तुदोष के शिकार बनकर तोड़े-फोड़े जा रहे हैं.....आदि, किन्तु उसके पीछे वास्तविकता ज्ञात करने पर तथ्य प्राप्त होता है-वास्तुशास्त्रों का अधकचरा ज्ञान। अतः सभी से मेरा यही कहना है कि प्राचीन शिखरबन्द मन्दिरों को तोड़ने का अतिसाहस न करके उनके पुरातत्व को सदैव सुरक्षित रखें और पुराने पूर्वजों द्वारा निर्मित मकानों में भी अच्छे अधिकृत वास्तुशास्त्रियों से सलाह करके बिना तोड़-फोड़ किये भी उनमें किञ्चित सुधार के द्वारा धन का अपव्यय बचाया जा सकता है।

अध्याय-14

सम्यक्त्व उत्पत्ति के कारण

अनादिकाल से यह प्राणी संसार में मिथ्यात्व के कारण चतुर्गति के दुःख उठा रहा है। जब पुण्य योग से उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है तब संसार सीमित हो जाता है। एक बार जीव को सम्यग्दर्शन होने के बाद वह अधिक से अधिक उनंचास (४९) भव में और कम से कम २-३ भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

वह अमूल्य सम्यग्दर्शन क्या चीज है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें जानना है। सरल भाषा में दर्शन का अर्थ है देखना और सम्यक् का अर्थ है समीचीन रूप से अर्थात् वस्तु के स्वरूप को ज्यों का त्यों श्रद्धान करना, उस पर विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन है।

जैसे—दृष्टि (आंख) में कोई विकृति आ जाने पर औषधि आदि के द्वारा उसका इलाज किया जाता है और वह विकृति समाप्त होने पर आंखें स्वस्थ हो जाती हैं। उसी प्रकार से आत्मा के दर्शन गुण में अनादिकाल से व्याप्त विकृति को दूर कर देने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

सम्यग्दर्शन किसको होता है ? कब होता है ? कैसे होता है ? इस विषय से परिचित होना भी आवश्यक है।

वह सम्यग्दर्शन भव्य जीव को ही होता है, अभव्य को नहीं। काललब्धि आदि के मिलने पर ही होता है, उसके बिना नहीं और अन्तरंग-बहिरंग कारणों के मिलने पर ही होता है, बिना कारण के नहीं होता है।

हम और आप भव्य हैं या अभव्य ? काललब्धि आई है या नहीं ? इसका निर्णय तो सर्वज्ञ के सिवाय अन्य कोई कर नहीं सकता है, क्योंकि कोई अभव्य जीव ग्यारह अंग का ज्ञानी और निर्दोष निरतिचार चारित्र का पालन करने वाला महातपस्वी मुनि होकर ही नवमें ग्रैवेयक में जा सकता है, हम और आप जैसे आज के साधारणजन नहीं। उसमें किस रूप से मिथ्यात्व रहता है उसका निर्णय साधारणजन नहीं कर सकते हैं, वह तो सर्वज्ञगम्य ही है।

सम्यग्दर्शन के भेद—

सम्यग्दर्शन मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक।

औपशमिक सम्यग्दर्शन और उसकी उत्पत्ति के कारण ?

अनादि मिथ्यादृष्टि को सबसे प्रथम बार जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसी को उपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाले चारों गतियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। प्रथम बार होने वाले उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

धवला ग्रन्थ में सम्यक्त्व के लिए पाँच प्रकार की लब्धियों का निरूपण किया गया है। यथा—

१. क्षयोपशम लब्धि २. विशुद्धिलब्धि ३. देशनालब्धि ४. प्रायोग्यलब्धि ५. करण लब्धि। ये पाँच लब्धियाँ सम्यक्त्व उत्पत्ति में मूल कारण मानी गई हैं। इनमें पहली चार तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को होती हैं किन्तु करण लब्धि भव्य जीव को सम्यक्त्व होने के समय ही होती है।

क्षयोपशम लब्धि—कर्मों के मैल रूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि समूह है उनका अनुभाग जिस काल में समय-समय पर अनंतगुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशुद्धि लब्धि—क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने का कारणरूप शुभ परिणाम, उसकी जो प्राप्ति है वही विशुद्धि लब्धि है क्योंकि अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से संक्लेश की हानि और विशुद्धि की वृद्धि होना स्वाभाविक है।

देशना लब्धि—छह द्रव्य और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशना लब्धि कहते हैं।

प्रायोग्य लब्धि—सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अन्तः कोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर करणलब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं।

करण लब्धि—स्थिति और अनुभागों के कांडक घात को बहुत बार करके गुरु उपदेश के बल से अथवा उसके बिना भी अभव्य जीवों के योग्य विशुद्धियों को व्यतीत करके भव्य जीवों के योग्य अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा वाली विशुद्धि में भव्य जीव परिणत होता है। इस करण लब्धि के तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इन तीनों करणों का काल अन्तर्मुहूर्त है। अन्तिम अनिवृत्तिकरण काल के समाप्त होते ही अनादि मिथ्यादृष्टि के दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन पाँच प्रकृतियों का उपशम होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है।

उपशम सम्यक्त्व का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त बाद समाप्त होकर पुनः संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यंचों में उसी भव में नहीं हो सकता है चूँकि इसका अन्तराल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण ?

अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व प्रगट होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

इसमें भी पूर्वोक्त पाँच लब्धियाँ तो कारण होती ही हैं किन्तु सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होना यह मुख्य कारण है। यह सम्यक्त्व चारों गतियों के भव्य पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक जीवों के हो सकता है।

क्षायिक सम्यक्त्व के कारण—कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य केवली, श्रुतकेवली या तीर्थंकर के पादमूल में दर्शनमोहनीय का क्षय करना प्रारम्भ करता है किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियों में से किसी में भी हो सकती है अर्थात् इनमें से किसी के पादमूल में मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है।

यह क्षायिक सम्यक्त्व देव, तिर्यंच, नारकी, भोगभूमिया मनुष्य तथा कर्मभूमि की महिलाओं को नहीं होता है क्योंकि इसकी योग्यता केवल कर्मभूमिया, द्रव्य पुरुषवेदी मनुष्य को ही प्राप्त है।

षट्खंडागम ग्रन्थ के प्रणेता श्री पुष्पदन्ताचार्य जी ने कहा है कि जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन, देवर्द्धिदर्शन और वेदनानुभव ये सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य कारण हैं, जो चारों गतियों में

योग्यतानुसार प्राप्त होते हैं।

जिनसूत्र और उसके जानने वाले महर्षिगण भी सम्यक्त्व उत्पत्ति के बाह्य कारण हैं, ऐसा श्री कुन्दकुन्द देव ने कहा है।

दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होना अन्तरंग कारण है।

पाँच लब्धियों में से देशनालब्धि बाह्य कारण है और क्षयोपशम, विशुद्धि तथा प्रायोग्यलब्धि अन्तरंग कारण है फिर भी इन चार लब्धियों को तो सामान्य कारण माना गया है और अन्तिम करण लब्धि के होने पर नियम से सम्यक्त्व होता ही होता है और वह अन्तरंग कारण है।

आचार्य श्री उमास्वामी के अनुसार निसर्गज और अधिगमज के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का भी माना गया है इनमें भी देशना लब्धि अवश्य पाई जाती है तथा अन्तरंग व बहिरंग कारण आज केवली और श्रुतकेवली नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन की पहचान—

अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिल जाने पर जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तो उस प्राणी के परिणामों में स्वयमेव निर्मलता आती है और कषायपाहुड़सुत्त ग्रन्थ में श्रीगुणधर आचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार से कहा है—

सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

भगवती आराधना, धवला की प्रथम पुस्तक तथा गोम्मटसार जीवकांड में यह गाथा ज्यों की त्यों अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ दृष्टिगोचर होती है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि शिष्य गुरू की असत्य बात पर भी यदि श्रद्धा करता है तो वह सम्यग्दृष्टि है, भले ही गुरु अज्ञानी होने से अथवा अल्पज्ञानी होने से मिथ्यादृष्टि होवें।

पुनः उपर्युक्त गाथा का खुलासा करते हुए आचार्य श्रीशिवकोटि ने कहा है—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जन्तं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी।।

इसका मतलब यह है कि पुनः कोई गुरु के द्वारा सूत्र से सम्यक्त्व अर्थ को दिखाने पर भी यदि श्रद्धा नहीं करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वाचार्य द्वारा रचित जिनवाणी के सूत्र देखकर अपनी मिथ्या धारणाओं को बदल देना ही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य होता है।

अध्याय-15

परमात्म प्रकाश-एक दृष्टि में

आचार्य श्री योगीन्द्रदेव (१३ वीं शताब्दी में हुए) द्वारा रचित परमात्मप्रकाश ग्रन्थ वास्तव में एक आध्यात्मिक ग्रन्थ होने के साथ ही ज्ञानपिपासुओं के लिए विशेष स्वाध्याय योग्य ग्रन्थ है। उसी परमात्मप्रकाश के कुछ अंश यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं, सर्वप्रथम मंगलाचरण में आचार्यश्री कहते हैं—

जे जाया झाणग्गियएँ कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्प णवेवि।।१।।

अर्थात् जो भगवान ध्यानरूपी अग्नि से पहले कर्मरूपी कलंक—मैल को भस्म करके नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं उन सिद्धों को नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाश ग्रन्थ कहता हूँ।

अपभ्रंश भाषा के इस दोहा छन्द में श्रीयोगीन्द्रदेव ने जिस ध्यानावस्था से समन्वित परमात्माओं को नमन किया है, श्री ब्रह्मदेव सूरि ने अपनी संस्कृत टीका में उस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"ध्यानशब्देन आगमापेक्षया वीतरागनिर्विकल्प शुक्लध्यानं, अध्यात्मापेक्षया वीतरागनिर्विकल्प रूपातीत ध्यानं।" तथा चोक्तं—

पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्।।

अर्थात् "वह ध्यान कैसा है" इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि आगम (सिद्धान्तग्रंथ) की अपेक्षा तो वीतराग निर्विकल्प शुक्लध्यान है और अध्यात्म की अपेक्षा वीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है। दूसरी तरह भी कहा है कि—

णमोकार मंत्र आदि मंत्रपदों का जो ध्यान है वह "पदस्थ" कहलाता है। पिण्ड (शरीर) में ठहरा हुआ जो निज आत्मा है उसका चिंतवन "पिण्डस्थ" है, सर्वचिद्रूप (सकलपरमात्मा) जो अरिहंतदेव हैं उनका ध्यान "रूपस्थ" कहा जाता है और निरंजन (सिद्ध भगवान) का ध्यान "रूपातीत" है।

वस्तु के स्वभाव से देखा जावे तो शुद्ध आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमयी जो निर्विकल्पसमाधि है उससे उत्पन्न हुआ वीतराग परमानंद समरसीभाव सुखरस का आस्वाद ही जिसका स्वरूप है ऐसा ध्यान का लक्षण जानना चाहिए।

इस अध्यात्म ग्रन्थ में नमस्कार शब्द का खुलासा करते हुए भी टीका में बतलाया है कि "यह नमस्कार शब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है और केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्मरणरूप भावरूप नमस्कार कहा जाता है। यह द्रव्य और भावरूप नमस्कार व्यवहारनय से साधक दशा में कहा है तथा शुद्धनिश्चयनय से वंद्य-वंदक भाव नहीं पाया जाता है।"

इससे यह ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वाचार्यों ने परोपकार की भावना से जब ग्रन्थों की रचना की तब वे भी व्यवहारनय का आश्रय लेकर निश्चय स्वरूप आत्मा की भावना ही करते थे न कि वे मात्र निश्चय में लीन रहा करते थे। जैसा कि द्वितीय गाथा से भी श्रीयोगीन्द्रदेव की व्यवहार भक्ति का परिज्ञान होता है—

ते वंदऊ सिरि सिद्धगण होसहिं जे वि अणंत।
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत।।२।।

अर्थात् मैं उन सिद्ध समूहों को नमस्कार करता हूँ जो आगामी काल में अनंत होंगे। कैसे होंगे ? परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे। क्या करते हुए ? रागादि विकल्परहित परमसमाधि का सेवन करते हुए भविष्य में अनंत सिद्ध परमेष्ठी होंगे।

इसका अर्थ यह हुआ कि शक्तिरूप में परमात्मतत्त्व की सत्ता को स्वीकार करते हुए आचार्यदेव ने भविष्यत्कालीन सिद्ध परमेष्ठियों को भी नमन करते हुए अपनी सहृदयता का परिचय प्रदान किया है। इसमें हम सभी की आत्माओं को भी नमन हो जाता है क्योंकि भव्यत्व की अपेक्षा हम लोगों की आत्मा भी भावी सिद्ध परमात्मा है। यही भाव एक कवि ने भी अपने भजन की एक पंक्ति में कहा है—

मेरा नम्र प्रणाम है,

जग के उन सब मुनिराजों को मेरा नम्र प्रणाम है।।
सिद्धों की श्रेणी में आने वाला जिनका नाम है।
जग के उन सब मुनिराजों को बारम्बार प्रणाम है।।

इसी प्रकार अगले तृतीय-चतुर्थ दोहे में वर्तमानकालीन एवं भूतकालीन सिद्धों को नमस्कार किया है। यहाँ तृतीय दोहे में एक बात विशेष दृष्टव्य है—

ते हउँ वंदउँ सिद्धगण अच्छहिं जे वि हवंत।
परम समाहि महग्गियएँ कम्मिंधणइँ हुणंत।।३।।

अर्थात् उन सिद्ध समूहों को नमस्कार करता हूँ जो वर्तमान समय में परमसमाधिरूप महाअग्नि में कर्मरूपी ईंधन को भस्म करते हुए आत्मतत्त्व में स्थित हैं।

इसकी टीका में स्पष्ट किया है कि पाँच महाविदेहों में आज भी जो वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन मुनिगण सिद्धपद को प्राप्त कर रहे हैं उन्हें वर्तमान सिद्ध परमेष्ठी के रूप में मेरा नमस्कार है। यहाँ निर्विकल्प समाधि को मूल गाथासूत्र में अग्नि की उपमा प्रदान करते हुए आचार्यश्री ने कर्मों के ईंधन का होम—हवन करना बताया है। इससे सिद्ध होता है कि हवन सदैव अग्नि में ही होता आया है इसीलिए निर्विकल्प समाधिरूप तपस्या को अग्नि तथा कर्मों के लिए ईंधन—लकड़ी की उपमा प्रसिद्ध हुई है अतः पूजा विधानों में पूर्णाहुति हवन करने की विधि पूर्णतया आगमसमस्त ही जानना चाहिए, उसमें सन्देह करके जो लोग बिना अग्नि जलाए थाली में ही चावलों से हवन करने लगते हैं उसे हवन संज्ञा कथमपि नहीं दे सकते हैं।

आदिपुराण भाग-२ में भगवान ऋषभदेव के निर्वाणगमन के पश्चात् चौकोन कुण्ड में हवन करने का विधान आया है। प्रतिष्ठापाठ आदि ग्रन्थों में भी अग्नि में हवन करने का वर्णन आता है।

चतुर्थ दोहे की टीका में सिद्धों की गुरुता का वर्णन करते हुए श्री ब्रह्मदेव सूरि ने लिखा है कि "जो भारी होता है वह गुरुतर होता है और जल में डूब जाता है किन्तु तीन लोक के गुरु होते हुए भी भगवान संसार में डूबते नहीं हैं अर्थात् वे मोक्ष जाने के बाद संसार में पुनः कभी वापस नहीं आते हैं तथा तीनों लोकों में सबसे बड़े गुरु कहलाते हैं।"

जैनधर्म में ईश्वर की वीतरागी सत्ता को स्वीकार करते हुए उनका पुनरागमन नहीं माना गया है इसीलिए कुछ लोग इसके वास्तविक रहस्य को न समझकर जैनधर्म को नास्तिकधर्म भी मान लेते हैं किन्तु इन ग्रन्थों के स्वाध्याय से जिज्ञासुओं की शंका का समाधान अवश्य हो जाता है।

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की प्रस्तावना में इसी अभिप्राय को अंग्रेजी में भी स्पष्ट करते हुए लेखक ने लिखा है—

``Who have consumed the fuel of Karmas with the fire of great meditation, who dwell in Nirvana never falling back into the ocean of transmigration though supremely weighty with knowledge, and who being self established clearly visualize everything here both the physical and superphysical existence.

निष्कर्ष रूप में यहाँ यह समझना चाहिए कि प्रत्येक संसारी प्राणी के शरीर के अन्दर शक्तिरूप में एक परमात्मतत्त्व छिपा हुआ है किन्तु कर्मों ने उसकी शक्ति को ढक दिया है इसलिए ध्यान की अग्नि से उन कर्म ईंधन को नष्ट करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

अब भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करते हुए कहा है—

ये परमप्प णियंति मुणि परम समाहि धरेवि।
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवे वि।।७।।

अर्थात् जो मुनि परम समाधि को धारण करके सम्यग्ज्ञान के द्वारा परमात्मा को देखते हैं, रागादि विकल्प रहित परमसमाधि से उत्पन्न हुए परम सुख के रस का अनुभव करने के लिए उन आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को नमस्कार करके मैं परमात्म प्रकाश का व्याख्यान करता हूँ।

ग्रन्थकर्ता आचार्यदेव के इस दोहे की टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि ने आचार्य परमेष्ठी के पंचाचारों को भी निश्चय–व्यवहार दोनों प्रकार से वर्णित करते हुए लिखा है—

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसम्बन्धः द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं.....

अर्थात् अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से (जो उपचरित नहीं है किन्तु मिथ्या है उस नय से) द्रव्यकर्म, नोकर्म का सम्बन्ध होता है उससे रहित और अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक का सम्बन्ध है। उससे तथा मतिज्ञानादि विभाव गुण के सम्बन्ध से रहित और नर—नारकादि चतुर्गति रूप विभावपर्यायों से रहित जो चिदानन्द चिद्रूप एक अखंड स्वभाव शुद्धात्मतत्त्व है वही सत्य है। उसी को परमार्थरूप समयसार कहना चाहिए। वही सब प्रकार से आराध्य है, उससे भिन्न जो वस्तु है वह सब त्याज्य—त्याग करने योग्य है ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन "दर्शनाचार" कहा जाता है। उसी निजस्वरूप में संशय–विमोह–विभ्रम रहित जो स्वसंवेदन–

ज्ञानरूप ग्राहक बुद्धि है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है उस रूप आचरण को "ज्ञानाचार" कहा है। उसी शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त संकल्प-विकल्प रहित जो नित्यानन्दमय निजरस का आस्वाद, निश्चल अनुभव है वह सम्यक्चारित्र है, उसका जो आचरण और उस रूप परिणमन है वह "चारित्राचार" है। उसी परमानंद स्वरूप में परद्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज आनंदरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन "तपश्चरणाचार" है तथा उसी शुद्धात्मस्वरूप में अपनी शक्ति को प्रगटकर आचरणरूप परिणमन है वह "वीर्याचार" कहलाता है। इस प्रकार निश्चय पंचाचार का लक्षण बताया गया है। अब व्यवहार का लक्षण भी कहते हैं—

निःशंकाद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः .....

अर्थात् निःशंकित को आदि लेकर अष्ट अंगरूप बाह्य दर्शनाचार, शब्दशुद्ध, अर्थशुद्ध आदि आठ प्रकार के बाह्य ज्ञानाचार, पंचमहाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्राचार, अनशनादि बारह तपरूप तपाचार और अपनी शक्ति प्रगट कर मुनिव्रत का आचरण व्यवहार वीर्याचार है। यह व्यवहार पंचाचार परम्परा से मोक्ष का कारण है और निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वभाव जो शुद्धात्मतत्त्व है उसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्य की इच्छा का निरोध और निज शक्ति का प्रगट करना ऐसा यह निश्चय पंचाचार साक्षात् मुक्ति का कारण है। ऐसे निश्चय-व्यवहाररूप पंचाचारों का जो स्वयं पालन करते हैं और शिष्यों से उनका पालन करवाते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठियों की मैं वन्दना करता हूँ।

इसी प्रकार आगे इसी टीका में उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी की वन्दना करते हुए पंच परमेष्ठियों की भक्ति का उपदेश दिया है पुनः अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट के निवेदन पर शुद्धात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

अप्पा ति-विह मुणेवि लहु, मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ, जो परमप्प सहाउ।।१२।।

अर्थ—हे प्रभाकर भट्ट ! तू आत्मा को तीन प्रकार का जानकर बहिरात्मस्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़ और जो परमात्मा का स्वभाव है उसे स्वसंवेदनज्ञान से अन्तरात्मा होता हुआ जान, वह स्वभाव केवलज्ञान से परिपूर्ण है।

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया था कि स्वसंवेदन अर्थात् अपने द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव करने में वीतराग विशेषण लगाना आवश्यक क्यों है ? क्योंकि स्वसंवेदनज्ञान तो रागरहित ही होगा। इसका समाधान श्रीगुरु करते हैं कि—

विषयों के आस्वादन से भी उन वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान होता है परन्तु वह रागभाव से दूषित है इसलिए निजरस का आस्वाद नहीं है और वीतराग दशा में स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, आकुलतारहित होता है। वह स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पाँचवे गुणस्थान वाले गृहस्थ के भी होता है किन्तु चूँकि वहाँ पर सराग देखने में आता है इसलिए रागसहित अवस्था के निषेध करने हेतु वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की संज्ञा से उसे संबोधित किया गया है। अनन्तानुबन्धी कषाय से युक्त मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा कहलाता है अतः उसके तो स्वसंवेदनज्ञान अर्थात् सम्यक्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होने से सम्यग्ज्ञान तो हो गया परन्तु कषाय की तीन चौकड़ी (अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान,

संज्वलन के क्रोध-मान-माया-लोभ रूप चार-चार भेद) बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं होता और श्रावक के पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है इसलिए रागभाव कुछ कम हुआ, वीतरागभाव बढ़ गया, इस कारण स्वसंवेदनज्ञान भी प्रबल हुआ परन्तु दो चौकड़ी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ। मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है इसलिए रागभाव तो निर्बल हो गया तथा वीतराग भाव प्रबल हुआ, वहाँ पर स्वसंवेदनज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ परन्तु चौथी चौकड़ी बाकी है इसलिए छठे गुणस्थान वाले मुनि सराग संयमी हैं उनमें वीतराग संयमी जैसा प्रकाश नहीं है। सातवें गुणस्थान में चौकड़ी मन्द हो जाती है, वहाँ पर आहार-विहार क्रिया नहीं होती है, वे ध्यान में आरूढ़ रहते हैं। वे मुनि जब सातवें से छठे गुणस्थान में आते हैं तब वहाँ पर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छठा-सातवां गुणस्थान करते रहते हैं क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों का काम अन्तर्मुहूर्त होता है।

इस गाथा के अंग्रेजी भावार्थ में भी लेखक ने सरल शब्दों में स्पष्ट किया है कि—

``The souls attain liberation through Right Faith (or vision) Knowledge and conduct which really speaking consist respectively in seeing. knowing and conduction one self by oneself. From the ordinary point of view Right Faith, Knowledge and Conduct constitute the means of Moksha, but really speaking the soul itself is all the three. The Atman sees, knows and realizes himself by himself, therefore the Atman himself is the cause of Moksha. Proper knowledge of the soul constitutes of Right Faith, knowledge anc Conduct leads to spiritual purity.

उपर्युक्त गाथा के विशेषार्थ में पंडित श्री दौलतराम जी ने आगे के अष्टम से तेरहवें गुणस्थान तक की प्रकृतियों के नाश का क्रम बतलाकर अन्त में कहा है कि चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो जीव अंतरात्मा कहलाते हैं, उसमें प्रत्येक गुणस्थान में क्रमशः वृद्धिरूप भावों की शुद्धता पाई जाती है और पूर्ण शुद्धता परमात्मा (तेरहवें गुणस्थानवर्ती) के ही पाई जाती है। ऐसा सारांश समझना चाहिए।

''परमात्म प्रकाश'' नामक ग्रंथ वास्तव में अपने नाम के अनुसार ही परमात्मा को प्रकाशित करने वाला है। इसमें पूज्य आचार्य श्री योगीन्द्रदेव ने विशेष रूप से यही बताया है कि जिस प्रकार दूध में घी बनने की तथा बीज में वृक्ष बनने की शक्ति मौजूद है ठीक उसी प्रकार हम सबकी आत्मा में भी परम आत्मा अर्थात् भगवान आत्मा बनने की शक्ति विद्यमान है।

आत्मा के भेदों को बतलाते हुए आचार्यश्री कहते हैं—

मूढु वियक्खणु बंभु परु, अप्पा तिविहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढु हवेइ।।

अर्थात् आत्म के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमें से प्रथम बहिरात्मा का लक्षण कहते हैं कि जो देह को ही आत्मा मानता है वह प्राणी बहिरात्मा है वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानन्द सुखामृत को नहीं पाता और अज्ञानी है इस प्रकार यह बहिरात्मा तो त्याज्य—अर्थात् आदर योग्य नहीं है।

आगे परमसमाधि में स्थित देह से भिन्न ज्ञानमयी आत्मा को जो जानता है वह अन्तरात्मा है अर्थात् जो पुरुष परमात्मा को शरीर से अलग एवं केवलज्ञान से पूर्ण जानता है वही परमसमाधि में तिष्ठता हुआ अंतरात्मा अर्थात् विवेकी है। कहने का तात्पर्य यही है कि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से अर्थात् इस जीव के साथ परवस्तु का संबंध अनादिकालीन मिथ्यारूप होने से व्यवहारनय से देहमयी है तो भी निश्चयनय से सर्वदा देहादिक से भिन्न है और केवलज्ञानमयी है ऐसा निज शुद्धात्मा को वीतराग निर्विकल्प सहजानंद शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परमसमाधि में स्थित होता हुआ जानता है वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है, पुनः परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि सब परद्रव्यों को छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवलज्ञानमय पा लिया है वही परमात्मा है, जिसने ज्ञानावरणादि कर्मों को नाश करके और सब देहादिक परद्रव्यों को छोड़ करके केवलज्ञानमयी आत्मा को प्राप्त किया है उसको शुद्धमन से परमात्मा जानो अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि जिसने देहादिक समस्त परद्रव्य को छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादिक भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनों से रहित केवलज्ञानमयी अपनी आत्मा का लाभ कर लिया है, ऐसे आत्मा को तू माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य वगैरह समस्त विभाव परिणामों से रहित निर्मलचित्त से परमात्मा जान। इस प्रकार आत्मा के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् अब आचार्यश्री मुक्ति को प्राप्त हुए केवलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्मा के व्याख्यान की मुख्यता से अग्रिम गाथा कहते हैं—

तिहुयण वेदिउ सिद्धि गउ, हरि हर झायहिं जो जि।
लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ सो जि।।

इस गाथासूत्र में आचार्यश्री अपने शिष्य प्रभाकरभट्ट को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि इन्द्र, नारायण, रुद्र वगैरह बड़े–बड़े महापुरुष भी उन तीन लोकवंदनीक और केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपने को प्राप्त जिस परमात्मा का ध्यान करते हैं, अपने मन को वीतराग निर्विकल्प नित्यानन्द स्वभाव परमात्मा में स्थिर करके उसी को हे प्रभाकरभट्ट! तू परमात्मा जानकर चिंतवन कर। सारांश यह है कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्मा के समान रागादि रहित अपने शुद्ध आत्मा को पहचान, वही साक्षात् उपादेय है अन्य सब संकल्प–विकल्प त्यागने योग्य हैं। अब संकल्प विकल्प का स्वरूप कहते हैं कि जो बाह्य वस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब, बांधव वगैरह सचेतन पदार्थ तथा चाँदी, सोना, रत्न मणि के आभूषण वगैरह अचेतन पदार्थ हैं इन सबको अपने समझे कि ये मेरे हैं ऐसे ममत्व परिणाम को संकल्प जानना तथा मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि हर्ष–विषादरूप परिणाम होना वह विकल्प है।

आगे नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी परमानन्द स्वभाव शांत और शिवस्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् पुनः कहते हैं कि जिस भगवान के सफेद, काला, लाल, तिक्त, कटु, कषायरूप पाँच रस नहीं हैं जिसके भाषा अभाषारूप शब्द नहीं है, सात स्वर नहीं हैं, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, लघु, मृदु, कठिनरूप आठ तरह का स्पर्श नहीं है और जिसके जन्म–जरा नहीं है तथा मरण भी नहीं है उसी चिदानन्द शुद्धस्वभाव परमात्मा की निरंजन संज्ञा है। फिर वह निरंजनदेव कैसा है—जिस सिद्ध परमेष्ठी के गुस्सा नहीं है, मोह तथा कुल, जाति वगैरह आठ तरह का अभिमान नहीं है, जिसके माया व मान कषाय नहीं है और जिसके ध्यान के स्थान नाभि, हृदय, मस्तक वगैरह नहीं हैं, चित्त के रोकने रूप ध्यान नहीं है ऐसे निज शुद्धात्मा को तू जान। भावार्थ यही है कि अपनी

प्रसिद्धता, महिमा, अपूर्व वस्तु का मिलना और देखे सुने भोग इनकी इच्छा रूप सब विभाव परिणाम को छोड़कर अपने शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्प समाधि में ठहरकर उस शुद्धात्मा का अनुभव करे।

इस प्रकार विस्तारपूर्वक शुद्धता के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यश्री योगीन्द्रदेव पुनः वेद, शास्त्र, इन्द्रियादि परद्रव्यों के अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधि के गोचर ऐसे परमात्मा के स्वरूप को प्रतिपादित करते हैं—

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं, जो जिय मणहु ण जाइ।
णिम्मल झाणहँ जो विसउ, सो परमप्पु अणाइ।।

केवली की दिव्यवाणी से, महामुनियों के वचनों से तथा इन्द्रिय और मन से भी जो शुद्धात्मा जाना नहीं जाता है अर्थात् वेद, शास्त्र ये दोनों शब्द अर्थस्वरूप हैं। आत्मा शब्दातीत है तथा इन्द्रिय, मन विकल्परूप हैं और मूर्तिक पदार्थ को जानते हैं वह आत्मा निर्विकल्प है, अमूर्तिक है इसलिए इन तीनों से नहीं जान सकते। जो आत्मा निर्मल ध्यान के गम्य है वही आदि अंत रहित परमात्मा है।

वस्तुतः परमात्म प्रकाश नामक ग्रन्थ को पढ़ते-पढ़ते मन अत्यन्त प्रफुल्लित हो जाता है और आत्मा वैराग्यभाव से ओत-प्रोत हो जाती है तो मुझे लगता है कि जब आचार्य श्री योगीन्द्रदेव ने इस महान ग्रंथ का लेखन किया होगा तब वे कितनी प्रसन्नता का अनुभव करते होंगे इसका अनुमान हम और आप नहीं लगा सकते। इसमें उन्होंने बहिरात्मा से लेकर परमात्मा तक हर प्रकार के जीवों को सम्बोधित किया है। यहाँ आचार्यश्री क्या कहते हैं ? देखिए—

किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि निर्विकल्पसमाधि में सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है ? उसका उत्तर कहते हैं—जहाँ पर वीतराग है वहीं निर्विकल्प समाधिपना है, इस रहस्य को समझाने के लिए अथवा जो रागी होकर भी कहते हैं कि हम निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं उनके निषेध के लिए वीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधि का कथन किया गया है अथवा सफेद शंख की तरह स्वरूप प्रगट करने के लिए कहा गया है अर्थात् जो शंख होगा वह श्वेत ही होगा उसी प्रकार जो निर्विकल्प समाधिमय होगा वह वीतरागरूप ही होगा, पुनः यह परमात्मा व्यवहारनय से इस देह में ठहर रहा है लेकिन निश्चयनय से अपने रूप में ही तिष्ठता है ऐसी आत्मा को कहते हैं—

देहादेहहिं जो वसई, भेयाभेय णएण।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ, किं अण्णे बहुएण।।

अर्थात् जो आत्मा व्यवहारनय से तो देह से अभेदरूप अर्थात् तन्मय है और निश्चयनय से सदा काल से अत्यन्त जुदा है, अपने स्वभाव में स्थित है उसे ही हे जीव! तू परमात्मा जान। कहने का तात्पर्य यही है कि देह में रहता हुआ भी निश्चय से जो देहस्वरूप नहीं होता वही निज शुद्धता उपादेय है।

पुनः आचार्यश्री कहते हैं कि जीव और अजीव दो अलग-अलग हैं, इन दोनों में लक्षण के भेद से भेद है अतः जीव और अजीव को एक मत समझो अथवा यों कह सकते हैं कि जो पर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि विकार हैं उनको अपने से पर समझो और आत्मा को अपना जानो।

श्री समयसार नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ में कहा है—"अरसं" इत्यादि इसका सारांश यह है कि जो आत्मद्रव्य है वह मिष्ट वगैरह पाँच प्रकार के रस से रहित है, श्वेत आदि पाँच तरह के वर्ण से रहित है, सुगंध, दुर्गंध इन दो तरह की गंध उसे नहीं है वह आत्मद्रव्य दृष्टिगोचर नहीं है, चैतन्यगुण से सहित है, शब्द से रहित है, लिंग रहित है और उसका कुछ भी आकार नहीं दिखता। यहाँ आकार के छह भेदों को बताते हैं—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक। इन छह प्रकार के आकारों से रहित जो निज वस्तु है उसे पहचानना चाहिए इसके विपरीत आत्मा से भिन्न जो अजीव पदार्थ है उसके लक्षण दो तरह से हैं एक जीव सम्बन्धी दूसरा अजीव सम्बन्धी। जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप है वह तो जीव संबंधी है और पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप अजीव सम्बन्धी हैं इसलिए जीव से भिन्न अजीवरूप जो भी पदार्थ हैं उन्हें अपना नहीं समझना चाहिए। यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीव में ही उपजते हैं इससे जीव के कहे जाते हैं परन्तु वे भी कर्मजनित हैं, परपदार्थ के सम्बन्ध से हैं अतः इन्हें भी अपना मत समझो।

यहाँ पर जीव और अजीव दो पदार्थ कहे गए हैं। उनमें से शुद्ध चेतना लक्षण को धारण करने वाला शुद्धात्मा ही ध्यान करने योग्य है, यह सारांश हुआ है। आगे उसी शुद्धता के ज्ञानादिक लक्षणों को विशेष रूप से कहते हैं—

अमणु अणिंदिउ णाणमउ, मुत्ति विरहिउ चिमित्तु।
अप्पा इंदिय विसउ णवि, लक्खणु एहु णिरुत्त।।

जो शुद्ध आत्मा विकल्पजालमयी मन से रहित है, अनिन्द्रिय है, केवलज्ञान स्वरूप है, अमूर्तिक है, अन्य द्रव्यों में नहीं पाई जाने वाली शुद्ध चेतनास्वरूप है, इन्द्रियों के गोचर नहीं है और वीतराग स्वसंवेदन से ग्रहण करने योग्य है उसे निःसन्देह आत्मा समझना चाहिए और आत्मा उपादेय है तथा आराधने योग्य है। यह तो सच है कि जो भी भव्य प्राणी संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर शुद्धात्मा का ध्यान करता है उसके संसाररूपी बेल नाश को प्राप्त हो जाती है। इसी बात को गाथा के माध्यम से स्पष्ट करते हैं—

भव तणु भोय विरत्त मणु, जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी, संसारिणि तुट्टेइ।।

अर्थात् जो जीव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर शुद्धात्मा का चिंतवन करता है उसकी मोटी से मोटी भी संसाररूपी बेल नष्ट हो जाती है क्योंकि आचार्यश्री का कहना है कि जो देहरूपी देवालय में रहता है वही शुद्ध निश्चयनय से परमात्मा है।

व्यवहारिक आचरण के द्वारा उसको प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। आगे एक बहुत ही सुन्दर बात बताई गई है कि शुद्धात्मा से भिन्न इस देह में रहता हुआ भी देह को नहीं स्पर्श करता है और देह भी उसको नहीं छूती है—

देहे वसंतु वि णवि छिवई, णियमे देहु वि जो जि।
देहे छिप्पई जो वि णवि, मुणि परमप्पउ सो जि।।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो देह में रहता हुआ भी निश्चयनय से शरीर को नहीं स्पर्श करता है और देह

से वह भी नहीं छुआ जाता है अर्थात् न तो जीव देह को स्पर्श करता है और न देह जीव को स्पर्श करती है वही शुद्ध परमात्मा है। इसके विपरीत किसी को "परमात्मा" यह संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि जो शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत क्रोध, मान, माया, लोभरूप विभाव परिणाम हैं उनका उपार्जन करके शुभ-अशुभ कर्मों से बनाई हुई देह में निवास करता हुआ भी निश्चयनय से देह को नहीं स्पर्श करता है और परमात्मा है उसी स्वरूप को वीतराग निर्विकल्प समाधि में तिष्ठकर चिंतवन करना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य योगीन्द्रदेव के अनुसार प्राणीमात्र को निश्चयनय की श्रद्धा के साथ-साथ व्यवहारनय के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए।

पुण्य से क्या-क्या मिलता है?

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्यात्,
बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः।
पुण्यं च दानदमसंयमसत्यशौच-
त्यागक्षमादि शुभचेष्ठितमूलमिष्टम्।।1।।
पुण्यात् सुरा सुरनरोरग भोगसाराः,
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्,
आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिल सौख्यमग्र्यम्।।2।।

इस संसार में पुण्य से ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्य के बिना सुख नहीं हो सकता। दान देना, इंद्रियों को वश में करना, संयम धारण करना, सत्य बोलना, लोभ नहीं करना और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओं से अभिलषित पुण्य की प्राप्ति होती है।

सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र के अभिलषित भोग, लक्ष्मी, दीर्घायु, अनुपमरूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्री का साम्राज्य, इन्द्रपद जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता, ऐसा अरहंत पद और अंतरहित समस्त सुखदायी श्रेष्ठ निर्वाणपद, इन सभी की प्राप्ति एक पुण्य से ही होती है।

-भगवज्जिनसेनाचार्य

अध्याय-16

षट्खण्डागम-सिद्धान्तचिंतामणि टीका एक दिव्य उपहार

(सोलहों ग्रंथों की टीका का संक्षिप्त सार)

चिन्तामणि रत्न के समान फलदायी सिद्धान्त-चिंतामणिटीका—

भव्यात्माओं! जैसे चिन्तामणि रत्न के बारे में सुना जाता है कि वह चिंतित फल को प्रदान करने वाला होता है, जिसे प्राप्त करके मानव भौतिक सुख-संपत्तिवान् बन जाता है। उसी प्रकार से जिन सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन करके स्वाध्यायी जन मनवांछित ज्ञान की पिपासा को शान्त कर लेते हैं। उन ग्रंथों की नूतन टीका का नाम है— सिद्धान्तचिंतामणिटीका।

अपनी मौलिक विचारधारा को आधार बनाकर स्वतंत्र ग्रंथ का लेखन कर लेना तो सरल माना जा सकता है किन्तु पूर्वाचार्यों की सूत्ररूप वाणी का आधार लेकर उनके मनोभावों को दृष्टि में रखकर पूर्वापर आगम से अविरुद्ध वचनरूपी मोतियों की माला पिरोते हुए किसी सैद्धान्तिक सूत्रग्रंथ की टीका लिखना अत्यंत दुरूह कार्य है।

इसकी कठिनता तो मात्र वे विशिष्ट प्रबुद्धजन ही जान सकते हैं जिन्होंने या तो उन टीकाग्रंथों का सूक्ष्मता से अवलोकन किया हो अथवा कोई ऐसा दुरूह लेखनकार्य किया हो। नीतिकारों ने इस विषय में कहा भी है—

विद्वान् एव विजानाति, विद्वज्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानाति, पुत्रप्रसववेदनाम्।।

अर्थात् बन्ध्या स्त्री जिस प्रकार पुत्रप्रसव की वेदना को नहीं जान सकती है, उसी प्रकार विद्वान् के अतिरिक्त साधारण मनुष्य ग्रंथलेखन के परिश्रम का अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं।

हमारे पूर्वाचार्यों ने अपने ध्यान आदि में से समय निकालकर महान् परिश्रमपूर्वक लेखन करके जैनवाङ्मय का सारतत्त्व भव्यात्माओं के लिए प्रदान किया है। उनमें से ही भगवान महावीर की दिव्यध्वनि से प्राप्त अंगपूर्वों का ज्ञान जब लुप्तप्रायः होने लगा तब श्रीधरसेनाचार्य की कृपाप्रसाद से आचार्ययुगल श्री पुष्पदंत एवं भूतबलि जी ने सूत्र ग्रंथों की रचना करके "षट्खंडागम" नामक सिद्धांतशास्त्र का निर्माण किया।

समय के अनुसार जहाँ संक्षेप रुचि वाले शिष्यों का अभाव होने लगा वहीं स्थूलबुद्धि के धारक मनुष्यों में उन सूत्रों का सरल अर्थ जानने की जिज्ञासा भी उत्पन्न हुई। पुनः आज से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व "श्रीवीरसेन" नाम के महान् ज्ञानी आचार्य हुए जिन्होंने सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ प्राकृत और संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करके "षट्खंडागम" सूत्रों पर "धवला" नाम की टीका का लेखन किया। वर्तमान में इसी टीका

के नाम पर ही षट्खण्डागम ग्रंथ की पहचान हो रही है और अपने नाम के अनुरूप ही धवलाग्रंथ ज्ञानियों के मन को धवल-पवित्र करने में अमृत के समान है।

इन "षट्खंडागम" सूत्र ग्रंथों पर अन्य किन-किन आचार्यों के द्वारा टीका आदि लिखी गई हैं, यह प्रस्तुत ग्रंथ के मूल विषयवस्तु में दर्शाया गया है।

एक अतिशयकारी टीका का पुनः प्रादुर्भाव—बीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक निश्चितरूप से परमसौभाग्यशाली मानना होगा जब भारतदेश ने पौद्गलिकशक्ति के फलस्वरूप अनेक वैज्ञानिक प्रगतियों के साथ ही आजादी की स्वर्णजयंती वर्ष में पोखरन (राज.) के परमाणु विस्फोट के द्वारा अपनी स्वतंत्रता का अर्थ भी दुनिया के समक्ष प्रस्तुत करके दिखा दिया ऐसे युग में आध्यात्मिक शक्तियों ने भी अपना विकसित रूप प्रगट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

पुस्तक १

आचार्य पुष्पदंत-भूतबलि द्वारा रचित इन षट्खंडागम सूत्रों पर श्रीवीरसेनाचार्य के पश्चात् किसी भी आरातीय आचार्य अथवा विद्वान् ने लेखनी चलाने का उपक्रम नहीं किया था, वह उद्यम बीसवीं सदी की ऐतिहासिक साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने कर दिखाया है। जैसा कि उन्होंने स्वयं ग्रंथ की प्रारंभिक भूमिका में अपने प्रतिज्ञावाक्य में कहा है—

"अस्य षट्खंडागमग्रंथराजस्य षट्टीकाः श्रूयन्ते, परन्तु वर्तमानकाले एका धवलाख्या एव टीका उपलभ्यते। अस्याः टीकाया आधारेणैव विशेषतया स्वस्य ज्ञातुमर्हाणि प्रकरणान्युद्धृत्योद्धृत्य क्वचित्प्राकृतपंक्तीः क्वचित्प्राकृतपंक्तीनां संस्कृतछायां कृत्वा.....अन्येषामपि ग्रंथानां विशेषोद्धरणानि अपि संगृह्य मयेयं सिद्धांतचिंतामणिर्नामधेया टीका लिख्यते।"

अर्थात् इस षट्खंडागम ग्रंथ की छह टीकाएँ सुनी जाती हैं किन्तु वर्तमान में एकमात्र धवला नाम की टीका ही उपलब्ध है। इस धवला टीका के आधार से ही स्वयं विशेष जानने की इच्छा से अनेक प्रकरणों को वहाँ से ज्यों के त्यों उद्धृत करके, किन्हीं प्राकृत पंक्तियों की संस्कृत छाया करके, कुछ विषयों को संक्षिप्त करके, किन्हीं प्रसंगोपात्त विषयों को सरल करने के लिए अन्य ग्रंथों के विशेष उद्धरणों को भी संग्रहीत करके मेरे द्वारा यह "सिद्धांतचिंतामणि" नाम की टीका लिखी जा रही है।

सरलता एवं पापभीरुता का अद्वितीय उदाहरण—उपर्युक्त पंक्तियों में टीककर्त्री की स्पष्टवादिता वास्तव में उनकी पूर्ण ईमानदारी एवं पापभीरुता का परिचायक है किन्तु आज प्रायः अनेक लेखकों की कृतियों में यह बेईमानी धड़ल्ले से देखी जा रही है। कितने ही लेखक-लेखिकाएँ, सम्पादक आदि अत्यंत प्राचीन आचार्यों की कृति में भी संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन करने में बिल्कुल भी डरते नहीं हैं प्रत्युत् इस कार्य में अपने को उनसे अधिक व्याकरणज्ञानी महसूस करते हैं। कई हिन्दी अनुवादक साधु-साध्वी भी मूल कृति का नाम ही बदल कर नया नाम दे रहे हैं जो अत्यंत विचारणीय विषय है और परमार्थ से नैतिक अपराध का द्योतक है।

टीकाकर्त्री के ज्ञानगाम्भीर्य को मैंने स्वयं पग-पग पर अनुभव किया है, क्योंकि इस टीका का हिन्दी

अनुवाद करते समय अनेक स्थानों पर मैंने अवलोकन किया कि मूलग्रंथ के विषय को जनसामान्य तक सरलतापूर्वक पहुँचाने के लिए उन्होंने अनेक उच्चकोटि के ग्रंथों में से प्रसंगोपात्त उद्धरण दिये हैं, फिर भी वे ग्रंथ के प्रारंभ में अपनी लघुता ही प्रदर्शित करती हुई कहती हैं—

''नायं मम प्रयासः स्वविद्वत्ताप्रदर्शनार्थं, प्रत्युत् स्वज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमवृद्ध्यर्थं सिद्धांतसूत्रग्रंथे प्रवेशकरणार्थं स्वात्मनि परमाह्लादमुत्पादयितुं चायं उपक्रमः क्रियते।..... .....क्वायं द्वादशांगांशमहार्णवः सिद्धान्तागमः? क्व च लवमात्रज्ञानधारिणी अल्पबुद्धिः?.....

अर्थात् स्वयं को अल्पबुद्धि कहकर उन्होंने इस टीका को और भी महिमामण्डित कर दिया है। इसके पठन से पाठकों में भी स्वयमेव नम्रता की कलिका प्रस्फुटित होकर सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकेगा जो कि आगमग्रंथों के स्वाध्याय का फल माना गया है।

सूत्रों का समुचित हिसाब समुदायपातनिका में है—पूरे ग्रंथ का आलोढन करने के बाद इस टीका का लेखन सचमुच में उत्कृष्टता का द्योतक है। जो कार्य मूल ग्रंथ में देखने को नहीं मिलता है वह इसमें माताजी ने मूल मंगलाचरण सूत्र से पहले ही दे दिया है कि बीस प्ररूपणाओं में से इस सत्प्ररूपणा ग्रंथ में तीन महाधिकार हैं और उनमें कुल एक सौ सतत्तर (१७७) सूत्र हैं जो अनेक अंतरस्थलों में विभक्त हैं।

सभी महाधिकारों के प्रारंभ में अंतरस्थलों की संख्या तथा सूत्रों की संख्या को बतलाकार ही विषयवस्तु का शुभारंभ किया गया है ताकि स्वाध्यायी सरलता से समझ सकें कि इस अधिकार में क्या विषय है। जैसे प्रथम महाधिकार की समुदायपातनिका का संक्षिप्त नमूना देखें—

''अत्रापि प्रथममहाधिकारे ''णमो'' इत्यादि मंगलाचरण-रूपेण प्रथमस्थले गाथासूत्रमेकं।....एवं षट्खंडागमग्रंथराजस्य सत्प्ररूपणायाः पीठिकाधिकारे चतुर्भिरन्तरस्थलैः सप्तसूत्रैः समुदायपातनिका सूचितास्ति।''

अर्थात् इन पंक्तियों में यह स्पष्ट हो गया कि प्रथम ''पीठिका'' नामक महाधिकार में चार अंतराधिकार हैं। जिनके माध्यम से इस अधिकार में मंगलाचरण रूप णमोकार महामंत्र का विस्तृत विवेचन, गुणस्थान एवं मार्गणाओं का वर्णन एवं आठ अनुयोगद्वारों का कथन किया गया है।

टीकाकर्त्री का यह श्रमसाध्य कार्य सराहनीय तो है ही, आगे ग्रंथ पर शोध करने वाले जिज्ञासुओं के लिए ये समुदायपातनिकाएँ कुंजी के समान सहायक भी सिद्ध होंगी।

मंगलाचरण ही प्रथम सूत्र है—अनादिनिधन णमोकार महामंत्र को मूल मंगलाचरण बनाकर ग्रंथकर्ता ने उसे ही प्रथम गाथासूत्र माना है और आगे के सूत्रों का प्रारंभ दो नम्बर से किया है। यूँ तो वीरसेनस्वामी ने भी धवला टीका में मंगलाचरण का अच्छा विस्तारीकरण किया है फिर भी इस नूतन टीका में णमोकार मंत्र के ३५ अक्षर, ५८ मात्रा एवं स्वर-व्यञ्जन आदि का सुंदर विवेचन है। इस मंत्र के माध्यम से जिन पंचपरमेष्ठियों का स्मरण किया जाता है, मैंने हिन्दी टीका में उनके मूलगुणों का भी यथास्थान वर्णन दिया है। इन कतिपय विशेषताओं से सहित यह मंगलाचरण प्रकरण विशेष रूप से पठनीय बन गया है।

णमोकारमंत्र अनादि मंत्र कैसे है?—इस महामंत्र प्रकरण में निबद्ध और अनिबद्ध मंगल का स्वरूप

पढ़ते समय कभी-कभी मन दिग्भ्रमित होने लगता है कि णमोकार मंत्र संभवतः इसी षट्खंडागम ग्रंथ के कर्त्ता द्वारा निर्मित किया गया होगा। किन्तु इस टीका के पढ़ने के बाद उस संदेह का पूर्णतया निवारण हो जाता है क्योंकि टीकाकर्त्री ने णमोकार——एक अनुचिंतन पुस्तक में वर्णित धवला टीका की निम्न पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया है कि-

''यः सूत्रस्यादौ सूत्रकर्त्रा णिबद्धः——संग्रहीतः न च ग्रथितः देवतानमस्कारः स निबद्धमंगलं। यः सूत्रस्यादौ सूत्रकर्त्रा कृतः——ग्रथितः देवतानमस्कारः स अनिबद्धमंगलं। अनेन एतज्ज्ञायते——अयं महामंत्रः मंगलाचरण——रूपेणात्र संग्रहीतोऽपि अनादिनिधनः, न तु केनापि रचितो ग्रथितो वा।''

अर्थात् इस मंगलाचरण में णमोकार मंत्र को आचार्य श्रीपुष्पदंत स्वामी ने स्वयं बनाया नहीं है बल्कि उसका संग्रह किया है इसलिए वह अनादिनिधन मंत्र उपर्युक्त पंक्तियों से शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त संस्कृत पंक्तियाँ धवला की मुद्रित प्रति में तो नहीं हैं किन्तु ''णमोकार मंत्र——एक अनुचिंतन'' पुस्तक के लेखक ने किसी प्रति में प्राप्त किया है सो उनके अनुसार ही यहाँ भी दी गई हैं।

इस णमोकार मंत्र को सादि एवं अनादि दोनों रूप मानने की परम्परा भी है, विद्वज्जन उसके प्रमाण स्वयं देखें।

श्रीसकलकीर्ति भट्टारक के द्वारा रचित उसी ''णमोकारमंत्र कल्प'' पुस्तक का उद्धरण भी अपनी टीका में देते हुए महामंत्र की अनादिनिधनता सिद्ध की है——

महापंचगुरोर्नाम, नमस्कारसुसम्भवम्।
महामंत्रं जगज्जेष्ठमनादिसिद्धमादिदम्।।

अर्थात् पंचपरमेष्ठियों को नमस्कारस्वरूप महामंत्र संसार में सबसे महान् और अनादिसिद्ध मंत्र है।

इस मंत्र से ८४ लाख मंत्रों का उद्भव माना जाता है, षट्खंडागम ग्रंथ में मंगलाचरण के स्थान पर इसका प्रयोग करना वास्तव में महामंत्र की महानता को और भी असंख्यगुणित कर देता है।

इस ग्रंथ की सिद्धांतचिंतामणि टीका का ज्यों-ज्यों अवलोकन करेंगे, त्यों-त्यों इसमें नये-नये विषयों का संकलन प्राप्त होगा, जैसे कि मूलग्रंथ रचना के हेतुओं का प्रतिपादन करते हुए परिमाण का भी वर्णन करते हुए लिखा है कि——

साम्प्रतं हेतुरुच्यते। तत्र हेतुर्द्विविधः, प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति।.....प्रतिसमयसंख्यात-गुणश्रेण्या कर्म निर्जरा च.....। तत्र परम्परा प्रत्यक्षं शिष्यप्रशिष्यादिभिः सततमभ्यर्चनम्।.....अथवा जिनपालितो निमित्तं, हेतुर्मोक्षः, शिक्षकाणां हर्षोत्पादनं निमित्तहेतुकथने प्रयोजनं।

अर्थात् ग्रंथ अध्ययन के हेतुओं में मोक्षप्राप्ति का हेतु तो सबसे प्रबल है एवं जिनपालित नामक अपने भानजे के निमित्त से इस ग्रंथ को रचने का अभिप्राय भी आचार्यदेव ने इसमें स्पष्ट कर दिया है। इससे जहाँ श्रीपुष्पदंताचार्य का श्रुतसरिता को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करने का भाव झलकता है, वहीं अपने गृहस्थावस्था के परिवारजनों को भी त्यागमार्ग में प्रवृत्त करने की अभिलाषा भी स्पष्ट प्रतिभासित होती है। उनकी इस परम्परा का निर्वहन संयोगवश इस टीका रचयित्री ने भी अतिशय रूप से किया है क्योंकि उन्होंने जैसे अनेक संसारी

प्राणियों को शिक्षा-दीक्षा देकर मोक्षमार्ग में लगाया, उसी प्रकार अपने गृहस्थ परिवारजनों को भी भरपूर प्रेरणा देकर उन्हें त्यागपथ पर अग्रसर किया है। जैसे—उनकी माँ मोहिनी जी ने आर्यिका दीक्षा लेकर अपना "रत्नमती" नाम सार्थक किया तथा एक बहन मनोवती जी आर्यिका श्री अभयमती जी के रूप में रही हैं और उनकी दूसरी बहन कु. माधुरी (मैं स्वयं) आर्यिका चंदनामती बनकर उनकी छत्रछाया में रत्नत्रयाराधना कर रही हूँ। इसी प्रकार से एक गृहस्थ भ्राता ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन भी इसी पथ पर चल रहे हैं जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा भविष्य की उज्ज्वलता को दर्शाती है।

यहाँ प्रसंगोपात्त मैंने इस विषय का संक्षेप में उल्लेख किया है चूँकि मुझे भी टीकाकर्त्री श्री ज्ञानमती माताजी की लघु भगिनी होने के सौभाग्य के साथ-साथ उनकी इस संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करने का पुण्य भी प्राप्त हुआ है। जैनवाङ्मय की अविच्छिन्नता में पूज्य मातुश्री का अपूर्व योगदान है जिसे युग कभी विस्मरण नहीं कर सकता है।

उपर्युक्त हेतु प्रकरण के अनंतर उन्होंने सत्प्ररूपणा की इस टीका में ग्रंथ का परिमाण देते हुए कहा है कि श्रुत, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा संख्यात तथा अर्थ की अपेक्षा अनंत है।

वह अनंत श्रुतरूप वाङ्मय अरिहंत और सिद्ध अवस्था के अतिरिक्त छद्मस्थों में तो होना कदापि सम्भव ही नहीं है अतः उसका श्रद्धान मात्र करना ही हम सबके लिए श्रेयस्कर है।

विभिन्न अपेक्षाओं से ग्रंथकर्ताओं का निर्णय—यद्यपि पूर्व कथनों से यह ज्ञात हो चुका है कि इस षट्खंडागम ग्रंथ के कर्ता श्रीपुष्पदंत-भूतबलि आचार्य हैं फिर भी धवला टीकाकार के बुद्धि कौशल की विशेषतावश इस टीका में भी पूज्य माताजी ने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन चार निक्षेपों की अपेक्षा कर्त्ता का निरूपण करते हुए भगवान महावीर स्वामी को द्रव्यदृष्टि से अर्थकर्त्ता माना है, क्षेत्र की अपेक्षा राजगृह के विपुलाचल पर्वत को, काल की अपेक्षा श्रावण कृष्णा प्रतिपदा (एकम्) तिथि को तथा भाव की अपेक्षा अनंतचतुष्टय एवं नवलब्धि से परिणत तीर्थंकर देव को ही अर्थकर्त्ता स्वीकार किया है।

इसी संदर्भ में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को युग का आदिदिवस भी बतलाया है तथा तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से वीरजिनेन्द्र को ही अर्थकर्त्ता सिद्ध किया है क्योंकि उनकी दिव्यध्वनि ग्रंथरचना की मूल नींव है। इस विषय में टीकाकर्त्री की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"अस्यामवसर्पिण्यां चतुर्थकाले किंचिन्न्यूनचतुस्त्रिं-शद्वर्षशेषे सति वर्षाणां प्रथममासे श्रावणमासे कृष्णपक्षे प्रतिपत्तिथौ धर्मतीर्थस्योत्पत्तिर्जाता, भगवतो महावीरस्य दिव्यध्वनिराविर्बभूव। इयमेव तिथिः युगादिः कथ्यते। .....अष्टादशमहाभाषा सप्तशतकलघुभाषामय-दिव्यध्वनेः स्वामी भगवान् महावीरो समवसरणे असंख्यभव्य-जीवानां धर्मोपदेशको बभूव।"

भगवान महावीर के पश्चात् इस धरती पर कोई तीर्थंकर महापुरुष नहीं हुए हैं और उनके उपदेश के बाद ही दिगम्बर जैनाचार्यों ने ग्रंथ लेखन की परम्परा शुरू की है इसीलिए उन्हें अर्थकर्त्ता मानने में कोई विवादास्पद स्थितियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं।

इसी श्रृंखला में तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर श्रीइंद्रभूति गौतम को ग्रंथकर्त्ता सिद्ध करते हुए श्रीवीरसेनस्वामी

की प्राकृत पंक्तियाँ उद्धृत की हैं कि—

''.....पुणो तेणिन्दभूदिणा भावसुदपज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण रयणा कदा।''

अर्थात् ''उन इंद्रभूति गौतम ने भावश्रुतपर्यायज्ञान से परिणत होकर एकमुहूर्त मात्र में बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रंथों की रचना कर दी।'' इसीलिए उन गणधरस्वामी को ग्रंथकर्त्ता माना गया है।

बारह अंगों में क्या विषय है?—जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि द्वादशांगरूप मानी गई है उसका विवेचन करते हुए पूज्य माताजी ने पृथक्-पृथक् सब अंगों के स्वरूप बताये हैं और उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, जैसे—प्रथम आचारांग के वर्णन में मुनियों के आचार से संबंधित प्रश्नोत्तर में अन्य ग्रंथ का प्रमाण देते हुए कहा है—

प्रश्न—''कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये, कधं भुंजेज्ज भासेज्ज जदो पावं ण बज्झई।।''

अर्थात् शिष्य ने गुरु से पूछा कि हे भगवन्! मैं कैसे चलूँ, कैसे बैठूँ, कैसे शयन करूँ, कैसे भोजन करूँ, कैसे बोलूँ, जिससे कि मुझे पाप का बंध न होने पावे।

पुनः उत्तर रूप में भी इसी प्रकार का पद्य कहा है—

उत्तर—''जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये। जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई।।''

अर्थात् हे शिष्य! तू यत्नाचारपूर्वक (सावधानीपूर्वक प्रमाद रहित होकर) अपनी समस्त क्रियाएँ करेगा तो तुझे पाप का बंध नहीं होगा।

इसी प्रकार से सप्तम उपासकाध्ययन नामक अंग में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है और दशवें प्रश्नव्याकरण अंग में आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी नाम की चार कथाओं के वर्णन में एक सर्वोपयोगी वाक्य आया है कि—

''अत्रमध्ये या विक्षेपिणी कथा, सा सर्वेषां समक्षे न कथयितव्या। यः कश्चिद् जिनवचनं न जानाति सः कदाचित् परसमयप्रतिपादनपरां इमां कथां श्रुत्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्तर्हि तस्य विक्षेपिणी-कथामनुपदिश्य तिस्त्रः कथाः एव वक्तव्याः सन्ति।''

अर्थात् ''यह बात विद्वानों के समझने की है कि दूसरों पर भिन्न-भिन्न मतों की पूर्वपक्ष आक्षेपजनक विरोधात्मक कथा सभी के सामने नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो कोई प्राणी जिनागम की कथाओं को ठीक से नहीं जानता है वह कदाचित् मिथ्यात्व की ओर उन्मुख भी हो सकता है अतः ऐसे लोगों के सामने शेष तीन कथाओं का वर्णन ही करना चाहिए।''

वर्तमान में उन बारह अंगों का अंश हमारे जिनागम में उपलब्ध है, साक्षात् अंग और पूर्वरूप कोई ग्रंथ दिगम्बर जैनशासन में नहीं है।

इसी अंग एवं पूर्व के प्रकरण में राजवार्तिक ग्रंथ के आधार से अंगप्रविष्ट का भी सुंदर वर्णन आया है।

श्रुतदेवी की प्रतिमा आगमसम्मत है—जिनेन्द्रवाणी को शास्त्रों में श्रुतदेवी की उपमा प्रदान की गई है। प्रसंगोपात्त इस ग्रंथ में मंगलाचरण की टीका को ही आगे बढ़ाते हुए प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ का प्रमाण उद्धृत किया है—

बारह अंगंगिज्जा, दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।
चोद्दसपुव्वाहरणा, ठावे दव्वा य सुयदेवी।।

इसके पश्चात् ७ श्लोकों में इस स्तोत्र के अंदर पूरे द्वादशांग का वर्णन है जो अवश्यमेव पठनीय है क्योंकि उत्तर भारत में सरस्वती की प्रतिमाओं को जिनमंदिरों में विराजमान करने का प्रचलन नहीं है। सो धवलाटीका में श्रीवीरसेनाचार्य का निम्न प्रमाण भी दृष्टव्य है जो इस ग्रंथ की सिद्धांतचिंतामणि टीका में दिया गया है—

बारहअंगंगिज्जा वियलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया।
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुयदेवया सुइरं।।

इस प्रकार अन्य रचनाकारों के भी एक-एक पद्य को उद्धृत करते हुए सरस्वती के १६ नाम बताये हैं, यथा—

भारती, सरस्वती, शारदा, हंसगामिनी..... इत्यादि।

इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से हस्तिनापुर तीर्थ के जम्बूद्वीप स्थल पर जिनमंदिर में सरस्वती माता की सुंदर प्रतिमा विराजमान है जिनके मस्तक पर विराजित अरिहन्त भगवान् की प्रतिमा साक्षात् दिव्यध्वनि रूप श्रुतदेवी का दिग्दर्शन कराती है। इस विषय में विज्ञजनों को कोई शंका नहीं करनी चाहिए।

अविच्छिन्न गुरुपरम्परा—गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त कर भविष्य में उसकी अविच्छिन्न परम्परा चलाने का प्रमुख श्रेय तो श्रीगौतमगणधर स्वामी को है। श्री इंद्रनन्दि आचार्य कृत श्रुतावतार के अनुसार सकलश्रुतधारक, चौदह पूर्व ज्ञानधारी, ग्यारह अंग दशपूर्व ज्ञानधारी, अंग-पूर्वों के एकदेश ज्ञाता आदि आचार्यों की क्रम परम्परा का वर्णन करते हुए श्रुतावतार की संक्षिप्त कथा भी दी है जिससे षट्खंडागम का उद्भव कथानक ज्ञात होता है।

षट्खंडागम को स्थायित्व रूप किसने प्रदान किया—हमारे पूर्वाचार्यों ने जंगल की गुफाओं में, जिनमंदिरों तथा मठों में रहकर अनेक ग्रंथों का लेखन ताड़पत्रों के ऊपर सुई से किया है और मंदिरों में ही उन ग्रंथों का रख-रखाव होता था। छापाखानों की परम्परा चलने के बाद भी श्रावकों के प्रमाद या अज्ञानता का ही निमित्त रहा होगा जिससे प्राचीन ग्रंथ प्रकाश में न आ सके और वे दीमक आदि कीड़ों का भोजन बनते रहे। पुनः उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में जन्म लेने वाले प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज ने अपने ग्रंथों की यह दुर्दशा देखकर श्रावकों को षट्खंडागम आदि सिद्धांतग्रंथों को ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण कराने की तथा प्रकाशित करने की पावन प्रेरणा प्रदान की। उस प्रेरणा का उल्लेख पूज्य माताजी ने अपनी टीका में करते हुए गुरुदेव के प्रति अपार श्रद्धा व्यक्त की है। यथा—

''अस्मिन् विंशतिशताब्दौ प्रथमाचार्येण.....एकदा बारामतीनगर्यां गुरुभक्तानां.... .... सिद्धांतश्रुतसंरक्षण-चिंतया.....ताम्रपत्राणामुपरि टंकोत्कीर्णार्थं अन्येषामपि पूर्वाचार्यप्रणीतग्रंथानां प्रकाशनार्थं च प्रेरणाकृता।

इसी गुरुप्रेरणा के आधार पर वीर निर्वाण संवत् २४७१ में एक संस्था की स्थापना हुई जिसका नाम रखा गया—''श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था''। पुनः इस

संस्था के माध्यम से सिद्धांतग्रंथों का संरक्षण एवं प्रकाशन आदि महान् कार्य हुए हैं अतः उन आचार्यदेव के उपकार को संसार में कभी भुलाया नहीं जा सकता है।

श्रुतज्ञान की विशेषता—सिद्धांतग्रंथों में जहाँ मति-श्रुतज्ञानों को "परोक्षज्ञान" कहा है, वहीं न्यायदर्शन में मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी बताया है। केवलज्ञान क्षायिक होने से सकलप्रत्यक्ष माना गया है किन्तु अंग-पूर्वरूप श्रुत को पढ़कर जो श्रुतकेवली होते हैं उनका ज्ञान भी केवलज्ञान के समान ही निर्मल होता है। उसी श्रुतज्ञान के वर्णन में पूज्य माताजी ने अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक रूप दो भेद करके श्रुतज्ञान को पर्याय, पर्यायसमास आदि बीस भेदों में विभक्त किया है और विस्तार से उनके लक्षणों का भी निरूपण किया है, इसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड की तत्त्वप्रबोधिनी संस्कृत टीका का आधार लिया है जो प्रसंगोपात्त सैद्धान्तिक ज्ञान को वृद्धिंगत करने में परम सहायी प्रतीत होता है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती पद की सार्थकता—अपने चक्ररत्न से षट्खण्ड पृथ्वी पर विजय करके जैसे भरत आदि अनेक सम्राटों ने चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया है उसी प्रकार छह खण्डरूप आगम के ज्ञाता आचार्यों को भी "सिद्धांतचक्रवर्ती" की पदवी से अलंकृत करने की परम्परा रही है और जो तीन खण्डरूप आगम के जानकार हुए उन्हें "त्रैविद्यदेव" की पदवी से विभूषित किया जाता है। इसका वर्णन भी इस सिद्धांतचिंतामणि टीका में आया है कि धवला टीका के पश्चात् हुए आचार्य श्री नेमिचंद्र मुनिराज को "सिद्धांतचक्रवर्ती" की उपाधि थी। जब उन ग्रंथों को पढ़ने वाले आचार्य ने सिद्धांतचक्रवर्ती का पद प्राप्त कर लिया तब उनके रचयिता पुष्पदंत-भूतबलि किस पद के योग्य रहे होंगे यह तो केवलीगम्य ही है अर्थात् उन अगाध ज्ञानी संतों को मेरा कोटि-कोटि नमन है।

ग्रंथ की प्रमाणता—"वक्तृप्रामाण्याद्वचनं प्रमाणम्" इस सूत्र वचन के अनुसार वक्ता की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता भी स्वीकार की गई है। षट्खण्डागम ग्रंथ प्रामाणिक क्यों है? इस सम्बंध में टीका में श्रीवीरसेनाचार्य की पंक्तियाँ भी उद्धृत की गई हैं—

"सांप्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमर्हन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवग्रथित शब्दसंदर्भं प्रवाहरूपतया-निधन-तामापन्नम-शेषदोषव्यतिरिक्त्वादकलंकमुत्तरसूत्रं पुष्पदंतभट्टारकः प्राह"-

अर्थात् इस ग्रंथ का विषय साक्षात् अर्हंत भगवान् की दिव्यध्वनि से जुड़ा हुआ है और उसी की अनिधन परम्परा को प्राप्त समस्त दोषों से रहित पवित्र सूत्र का व्याख्यान श्रीपुष्पंदतभट्टारक करते हैं।

धवला टीका का अनुसरण करते हुए इस टीका में भी टीकाकर्त्री ने जगह-जगह सूत्रनिर्माता के लिए "भट्टारक" शब्द का प्रयोग किया है सो "भट्टारक" शब्द से वर्तमान के वस्त्रधारी भट्टारकों को न लेकर प्रत्युत् उत्कृष्ट पूज्यता के प्रतीक तीर्थंकर महावीर, गौतम गणधर एवं दिगम्बर आचार्यों को ही ग्रहण किया है।

इन ग्रंथों का स्वाध्याय अकाल में न करें—प्रायः देखा जाता है कि स्वाध्यायीजन हर वक्त ग्रंथ को पढ़ना चाहते हैं किन्तु सिद्धांत रहस्य के प्रतिपादक सूत्रग्रंथों को अकाल में नहीं पढ़ना चाहिए, यह प्रतिपादन धवला पुस्तक ९ के आधार से इस टीका में किया है जो प्रत्येक स्वाध्यायी के लिए अवश्य पठनीय है।

यदि कोई साधु इन व्यवहारिक क्रियाओं का पालन न करके अकाल में भी सूत्रग्रंथों का स्वाध्याय कर लेते हैं तो उनके लिए अनेक दोष तो हैं हीं, वे दुर्गति के पात्र भी बनते हैं इन बातों का खुलासा हिन्दी टीका में किया

गया है।

इसी प्रकरण में एक "दिक्शुद्धि" नाम से कथन बड़ा ही रोचक और पठनीय है जिसमें आचार्य श्रीकुंदकुंदकृत मूलाचार ग्रंथ के आधार से बताया है कि—

पूर्वान्ह, अपरान्ह और प्रदोष काल (पूर्व रात्रि) के स्वाध्याय करने में दिशाओं के विभाग की शुद्धि के लिए नव, सात और पाँच बार गाथा—णमोकार मंत्र को पढ़े।

वर्तमान में प्रायः इस दिक्शुद्धि की ओर स्वाध्यायीजनों का ध्यान नहीं जाता है किन्तु पूज्य माताजी को मैंने सदैव देखा है कि जब कभी वे धवला, जयधवला, महाधवला आदि सैद्धांतिक सूत्रग्रंथों का स्वाध्याय भी करती हैं तो अपनी वसतिका के बाहर निकलकर अथवा अंदर ही ब्राह्ममुहूर्त में वैरात्रिक (पिछली रात्रि का) स्वाध्याय के अनंतर चारों दिशाओं की शुद्धि हेतु "नमोऽस्तु पौर्वाण्हकाले सिद्धान्तवाचना करणार्थं पूर्वदिक्शुद्धिम् करोम्यहं" ऐसा पढ़कर २७ श्वासोच्छ्वासपूर्वक ९ बार णमोकार मंत्र एक दिशा में पढ़ती हैं और इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाओं में भी उपर्युक्त वाक्य बोलकर ९-९ बार मंत्र पढ़ती हैं। पुनः रात्रिक प्रतिक्रमण और पौर्वाण्हिक सामायिक के बाद पौर्वाण्हिक स्वाध्याय का काल आता है उस समय विधिवत् कृतिकर्मपूर्वक (श्रुत-आचार्यभक्ति सहित) स्वाध्याय करके उसके समापन के बाद तत्काल अपराण्हकालीन सिद्धांत वाचना हेतु उपर्युक्त तरीके से ही दिक्शुद्धि करने के लिए ७-७ बार णमोकार मंत्र चारों दिशाओं में करती हैं पुनः यदि पूर्वरात्रि में भी उन्हीं सूत्रग्रंथों का पठन अथवा लेखन करना हुआ तो दैवसिक प्रतिक्रमण से पूर्व ५-५ बार णमोकार मंत्र पढ़कर दिक्शुद्धि करती हैं और यदि रात में नहीं किया तो यह दिक्शुद्धि नहीं करती हैं।

इसी क्रम को पूज्यश्री ने मुझे भी इन ग्रन्थों के अनुवादकाल में बताया जिसका अनुसरण करते हुए मैंने पूर्ण दिक्शुद्धिपूर्वक ही इस अनुवादकार्य को किया है। इस टीका रचना से पूर्व भी जब-जब संघ में षट्खंडागम ग्रंथों का सामूहिक स्वाध्याय चला तो भी माताजी ने स्वयं तथा हम शिष्यों को इस दिक्शुद्धि को करने की प्रेरणा दी है।

इस विषय में कोई भी प्रश्न या तर्क महत्त्व नहीं रखते हैं क्योंकि शास्त्रोक्त विधि का पालन करने से अपने ज्ञान में निर्मलता आती है और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है इसमें संदेह नहीं है।

इसी प्रकरण में मुनियों के समान आर्यिकाओं को भी इन सिद्धांतग्रंथों के पठन की आज्ञा आचार्यों ने प्रदान की है जो उनके द्वारा ग्रहण किये गये उपचार महाव्रतों की महिमा का ही परिचायक है।

मार्गणाओं का निरूपण—सत्प्ररूपणा नामक ग्रंथ में चतुर्थ सूत्र में चौदह मार्गणाओं के नाम देते हुए उनका प्रकरण प्रारंभ हुआ है और गोम्मटसार जीवकांड के आधार से मार्गणाओं का लक्षण दिया गया है।

आठ अनुयोगद्वारों से गुणस्थान निरूपण—जैसे—अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करने के लिए जम्बूद्वीप के मुख्य द्वार विजय आदि द्वारों में प्रवेश करना पड़ता है उसी प्रकार चौदह गुणस्थानों का दिग्दर्शन कराने हेतु ग्रंथकार ने सातवें सूत्र में ८ अनुयोगद्वार बताए हैं तथा इससे पूर्व पाँचवें सूत्र की टीका में अनुयोग के पाँच पर्यायवाची नाम बताये हैं—अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्त्तिका।

इस सत्प्ररूपणा ग्रंथ में मूल रूप में तीन महाधिकार बतलाये गये हैं सो सातवें सूत्र के पश्चात् ही प्रथम

महाधिकार का समापन हुआ है और आठवें सूत्र से द्वितीय अधिकार में सत्प्ररूपणा के भेद-प्रभेदों का वर्णन प्रारंभ हुआ है।

सावद्यक्रियाओं का उपदेश देने पर भी जिनेन्द्रदेव सदोष नहीं माने जाते हैं!—गुणस्थान वर्णन की श्रृँखला में जहाँ मिथ्यात्व को पूर्णरूपेण हेय बताकर जीवों को सम्यक्त्व ग्रहण की प्रेरणा दी गई है वहीं १३वें सूत्र में ''संयतासंयत'' नामक पाँचवें गुणस्थान का कथन करते हुए पाक्षिक प्रतिक्रमण की पंक्तियों के आधार से यह विषय स्पष्ट किया है कि ''जो श्रावक पाँच अणुव्रतों का पालन करते हैं वे स्वर्गसुख का अनुभव करते हुए अधिक से अधिक सात-आठ भवों को ग्रहण करके नियम से निर्वाणपद को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।''

इसी प्रकार कसायपाहुड़ महाग्रंथ की जयधवला टीका की पंक्तियों को इस सिद्धांतचिंतामणि टीका में उद्धृत करके ''जिनेन्द्रदेव के द्वारा श्रावक धर्म का उपदेश दिये जाने पर भी वे सावद्य दोष के भागी नहीं होते हैं'' यह बतलाया है। हिन्दी टीका में इसका विशेष खुलासा है सो पाठकजन पढ़ें एवं अपने श्रावकोचित धर्म का पालन भी यथाशक्ति करने की प्रेरणा प्राप्त करें।

आचार्यों की पापभीरुता का नमूना देखें—वर्तमान में प्रायः देखा जाता है कि ग्रंथों में यदि कहीं कोई दो प्रकार की मान्यता होती है तो पढ़ने वाले या समझाने वाले किसी एक पक्ष का दुराग्रह पकड़कर दूसरे को गलत सिद्ध कर देते हैं किन्तु षट्खंडागम ग्रंथ की धवला टीका में आचार्य श्रीवीरसेनस्वामी का उदाहरण इस विषय में सर्वथा अनुकरणीय है, जब उन्होंने चारों गतियों में गुणस्थान व्यवस्था का उल्लेख किया तो एक प्रकरण के अंतर्गत दोनों आचार्यों के मत को मान्य किया है कि ''क्षपक श्रेणी में कर्मों की क्षपणविधि करता हुआ कोई जीव नवमें गुणस्थान में पहले सोलह कर्मों को नष्ट करके बाद में आठ कषायों को क्षय करता है'' यह तो षट्खण्डागम का उपदेश है एवं कषायप्राभृत के अनुसार ''वह पहले आठ कषायों का क्षपण करता है उसके बाद सोलह कर्मों को नष्ट करता है'' इन दो वचनों में है तो कोई एक ही सत्य वाक्य, किन्तु श्रीवीरसेनस्वामी कहते हैं कि इस विषय में सत्य-असत्य तो ''सुदकेवली केवली वा जाणदि'' अर्थात् केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं अतः उनके अभाव में हमें तो दोनों आचार्यों के वचन मानना चाहिए।

पूज्य माताजी स्वयं भी इसी पक्ष को मान्यता प्रदान करती हैं इसीलिए उन्होंने अपनी इस टीका में इस प्रकरण का पूरा प्रश्नोत्तर देते हुए अंत में अपना भाव व्यक्त किया है कि—

''एतत्प्रश्नोत्तरैः विज्ञायते, पूर्वाचार्यैः लिखितशास्त्राणि प्रमाणमेव। तेषां मध्ये यत् किमपि परस्परविरोधिवाक्यं भवेत् तदा द्वयोरपि वाक्ययोः श्रद्धानं कर्तव्यं, न च एकस्य प्रामाण्यं अन्यस्य अप्रामाण्यं वक्तव्यमिति।''

वास्तव में प्रत्येक पाठक को इन विषयों में पापभीरुता अवश्य रखना चाहिए क्योंकि किसी एक पक्ष को मान्यता प्रदान कर देने से नरक-निगोद जैसी गतियों का बंध भी होने की संभावना रहती है।

जैसे रामायण की मुख्य नायिका सती सीता के लिए भी जैन आगम में ही दो मत हैं। श्री गुणभद्राचार्य द्वारा रचित उत्तरपुराण में सीता को रावण की पुत्री माना है और रविषेणाचार्य रचित पद्मपुराण में सीता को राजा जनक

की पुत्री कहा है। दोनों ही कथानक अपने-अपने स्थान पर सत्य प्रतीत होते हैं किन्तु दोनों में से किसी एक को हम छद्मस्थजन प्रामाणिकता की कोटि में नहीं रख सकते क्योंकि केवली-श्रुतकेवली के चरणसानिध्य में ही इन सन्देहास्पद विषयों का निर्णय हो सकता है।

द्रव्य-भाव वेद का सूक्ष्म रहस्य — यह षट्खंडागम ग्रंथ सैद्धांतिक रहस्यों की कुञ्जी है जो हीरे के काँटे के समान जौहरियों की परख का विषय है। इसके एक-एक सूत्र में गागर में सागर ही नहीं बल्कि राई में सागर के सदृश अर्थ भरा हुआ है। जैसे, सूत्र नं.-९३ का नमूना देखें —

"सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।।९३।।

सूत्रार्थ — मनुष्यिनियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।।९३।।

अर्थात् द्रव्य से पुरुषवेदी जीव के यदि भाव से स्त्रीवेद भी है तो वे चौदहों गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं इसमें कोई बाधा नहीं है। दिगम्बर जैनशासन में द्रव्यस्त्रीवेदियों के मोक्ष नहीं माना गया है चाहे वे भाव से पुरुषवेदी क्यों न हों तथा द्रव्यपुरुषवेदी भाव से स्त्रीवेद सहित होते हुए भी मोक्ष प्राप्त करते हैं। उपर्युक्त सूत्र की टीका में खुलासा किया है कि "एषा वेदविषमता तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ चैव न देवनारकाणामिति न च भोगभूमिषु" अर्थात् वेदों की यह विषमता (द्रव्य-भाव में पृथक्-पृथक्) कर्मभूमि के तिर्यंच और मनुष्यों में ही देखी जाती है, शेष देव-नारकी और भोगभूमि में यह वेदविषमता नहीं होती है, वहाँ द्रव्य और भाव दोनों में एक समान ही वेदव्यवस्था पाई जाती है।

इस प्रकरण का अच्छा स्पष्टीकरण गोम्मटसार एवं धवला के अनुसार इस टीका में किया है जो पठितव्य ही नहीं विशेष स्मरणीय है क्योंकि द्रव्य और भाववेदों के बारे में जानना अति आवश्यक है ताकि पाठकों की सैद्धान्तिक दिग्भ्रम अवस्था का पूर्णतया निराकरण हो सके।

स्त्रियाँ एकान्त से निंद्य नहीं हैं! — वेदमार्गणा के अंतर्गत १०१ नं. के सूत्र की टीका में माताजी ने स्त्रीवेद का लक्षण बताते हुए गोम्मटसार जीवकाण्ड के आधार से स्त्रियों की प्रवृत्ति छादनशील कही है किन्तु तीर्थंकर भगवान की माता आदि नारियों में सामान्य स्त्रीजन्य दोषों का अभाव रहता है।

पुनः ज्ञानार्णव ग्रंथ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि —

सतीत्वेन महत्त्वेन, वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद्, भूषयन्ति धरातलम्।।

अर्थात् अपने सतीत्व से, महानता से, शील से, विनय और विवेक से अनेक स्त्रियाँ इस धरातल को विभूषित करती हैं।

द्रव्यस्त्रीवेद की अपेक्षा इस वर्णन से यह जानना चाहिए कि जो नारियाँ आर्यिका दीक्षा लेकर अपनी कर्मनिर्जरा में प्रवृत्त होती हैं उनकी पूजा तो चक्रवर्ती आदि भी करते हैं तथा भावस्त्रीवेद से तो शुक्लध्यान एवं मोक्ष की प्राप्ति तक में भी कोई बाधा नहीं है यह इस वेद मार्गणा का सार बताया है।

भगवान चंद्रप्रभ के निर्वाणकल्याणक के पवित्र दिवस (फाल्गुन शु. सप्तमी-२५ फरवरी १९९६) को

टीका की पूर्णता ने मानो पूज्य माताजी के चरमलक्ष्य की सिद्धी ही कर दी थी। अगले दिन से अष्टान्हिका पर्व प्रांरभ होने वाला था अतः ८ दिन तक सिद्धांत ग्रंथ का अस्वाध्याय काल होने से षट्खंडागम सूत्र ग्रंथ का लेखन नहीं हो सकता था, शायद इसीलिए माताजी ने कुछ शीघ्रता करके समापन का भाव बना लिया था जिसका लाभ मिल गया पिड़ावा को और अपराह्न में २ से ३.३० बजे तक वहाँ ''पार्श्वनाथ समवसरण'' का शिलान्यास समारोह चल रहा था और माताजी टीका की पूर्णता करते हुए पंचपरमेष्ठी के स्मरणपूर्वक अपने एवं जगत् के मंगल की कामना कर रही थीं।

इस प्रकार से इस ग्रंथ की टीका के इतिहास में पिड़ावा का नाम इस तरह से जुड़ गया जैसे षट्खंडागम के साथ ''अंकलेश्वर'' का नाम जुड़ा है।

इसे सरस्वती की कृपा ही माननी होगी! पूज्य माताजी ने अपने मंगलाचरण के श्लोक नं. १३ में यद्यपि यह प्रतिज्ञाभाव प्रगट किया है कि ''षट्खंडागम के प्रथम खण्ड की प्रथम पुस्तक सत्प्ररूपणा ग्रंथ की संस्कृतटीका लिखने का मैंने संकल्प किया है'' उन्होंने प्रथम खण्ड की छहों पुस्तकों पर टीका लिखने का प्राथमिक विचार किया हो। उस समय शायद माताजी ने सोचा ही नहीं होगा कि इतनी जल्दी यह कार्य सम्पन्न हो जाएगा किन्तु मात्र १३५ दिन में १६३ पृष्ट में प्रथम ग्रंथ की टीका समापन हो गई और उसके बाद आगे का कार्य भी माताजी ने शुरू कर दिया।

मंगलाचरण की इसी श्रृँखला में श्लोक नं.१६ के अंदर माताजी ने सरस्वती माता को भी नमन किया है कि हे सरस्वती मातः ! मेरा यह प्रयास निर्विघ्न सम्पन्न हो। पुनः जब २७ नवम्बर १९९५ को संघ का मांगीतुंगी की ओर मंगलविहार का निर्णय हुआ तो माताजी को इस विषय की कुछ चिंता अवश्य हुई कि अब मेरे लेखन में व्यवधान आएगा लेकिन उसी रात स्वप्न में पूज्य माताजी को सरस्वती माता के साक्षात् दर्शन हुए जिसमें उन्होंने सरस्वती माता से वार्तालाप भी किया एवं उन्होंने माताजी से कहा कि ''ज्ञानमती जी ! तुम चिंता मत करो, तुम्हारे लेखनकार्य में कोई बाधा नहीं आएगी।'' माताजी ने प्रातः मुझसे बताया कि आज जीवन में प्रथम बार मुझे सरस्वती माता के साक्षात् दर्शन हुए हैं। उनके इस कथन से मुझे यह आभास हो गया था कि माताजी का यह दुरूह कार्य अवश्य शीघ्र सम्पन्न होगा और हुआ भी यही अर्थात् उनका लेखन कार्य रास्ते में बराबर चलता रहा। सर्वप्रथम २७ नवम्बर से लेकर १४ फरवरी १९९६ तक उत्तर भारत की भीषण सर्दी के कारण हम लोगों ने दिन में केवल एक समय (मध्यान्ह १ बजे से ४ बजे तक) पद विहार का कार्यक्रम रखा अतः प्रातःकाल विहार न होने के कारण नित्यक्रिया के पश्चात् ७ से ९ बजे तक उनका लेखन हो जाता था पुनः १५ फरवरी १९९६ से कोटा के पश्चात् दोनों समय का विहार होने लगा तब लेखन कुछ कम तो हुआ लेकिन रुका नहीं। हमारे पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि ''ज्ञानमती माताजी अपने जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग कैसे करती हैं''। सुबह ७ बजे से ८ बजे तक लेखन के बाद वे विहार करके लगभग १० बजे तक गन्तव्य स्थान तक पहुँच जातीं वहाँ आहार, सामायिक के बाद तत्काल विहार करना पड़ता था अतः रात्रिविश्राम के स्थल पर पहुँचने पर ४ से ५ बजे तक भी वहाँ प्रायः वे अपरान्हिक स्वाध्याय के रूप में लेखन कर लेती थीं। इस अंतराल में यदि कभी संघ की ब्रह्मचारिणी बहनों के सामान की गाड़ी नहीं पहुँचती, वे लोग देर से आतीं तो माताजी को अपना बस्ता नहीं मिलता

अतः उन्हें कुछ बेचैनी—आकुलता होती, हम लोग कभी हँसी में कह देते कि माताजी! कभी तो कुछ देर आप खाली भी बैठकर मस्तिष्क को शांति दे दिया करें, तो माताजी कहतीं कि "मुझे तो अपने स्वाध्याय और लेखन से ही अपूर्व शांति मिलती है।" उनकी आकुलता को देखकर कई बार हमें साथ चलने वाले महानुभाव के हाथ में या मोटरसाईकिल द्वारा उनका बस्ता जल्दी भेजना पड़ता था। समय की इस सदुपयोगिता के कारण ही आज आप सभी को पूज्य माताजी द्वारा रचित सैकड़ों ग्रंथ उपलब्ध हो रहे हैं। इसी प्रकार आगे मांगीतुंगी तक उनका लेखनकार्य बराबर चला पुनः वहाँ से विहार करने के समय एक दिन फिर स्वप्न में सरस्वती माता ने दर्शन देते हुए कहा कि "देखो! ज्ञानमती जी! मैंने तुमसे कहा था न कि तुम्हारा कार्य नहीं रुकेगा। अब तो तुम संतुष्ट हो ?" प्रातः माताजी ने मुझे फिर अपना स्वप्न बताया सो मैं सोचने लगी कि आज साक्षात् रूप में यदि देवी-देवता आते होते तो जरूर पुष्पदंत-भूतबलि के समान माताजी की भी पूजन करके उनकी महानता संसार को बताते किन्तु अभी वे परोक्ष रूप में ही अपना सहयोग प्रदान कर माताजी में शक्ति भर रहे हैं अन्यथा प्रवचन सभाओं में तथा अनेक वार्तालापों के मध्य भी बैठकर ऐसी दुरूह संस्कृत टीका लिखना सबके बस की बात तो नहीं है।

मंगल विहार के मध्य अनेक स्थानों पर तो माताजी के लिखते समय के रंगीन फोटो एवं वीडियो रिकार्डिंग भी करवाए गये जो जम्बूद्वीप स्थल पर सुरक्षित रखे हैं।

भगवान शांतिनाथ के नाम में भी असीम शक्ति है—हस्तिनापुर की पावन वसुन्धरा भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ इन तीन तीर्थंकरों के चार-चार कल्याणकों से महान् है उसी भूमि पर बैठकर माताजी ने इस षट्खण्डागम ग्रंथ की टीका का शुभारंभ करते हुए श्री शांतिनाथ भगवान को अपने मनमंदिर में विराजमान करते हुए लिखा है—"इष्टः सर्वक्रियान्तेऽसौ शान्तीशो हृदि धार्यते।"

इस पंक्ति का स्पष्टीकरण यद्यपि हिन्दी टीका में विशेष रूप से किया गया है फिर भी यहाँ मैं बताना चाहती हूँ कि भगवान शांतिनाथ से पूर्व तीर्थंकर पुष्पदंतनाथ से धर्मनाथ के बीच में सात बार धर्मतीर्थ का व्युच्छेद हुआ है पुनः शांतिनाथ तीर्थंकर से यह धर्मतीर्थ परम्परा आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।[१] इसीलिए उनके नाम को हृदय में धारण करने वाली पूज्य ज्ञानमती माताजी का लेखनकार्य अविच्छिन्न-निर्विघ्न चला है और आगे भी चलता रहा, तभी शीघ्र ही षट्खण्डागम की सोलहों पुस्तकों की "सिद्धांतचिन्तामणि" टीका सम्पन्न होकर विद्वत्समाज के समक्ष आ गई है।

जिस प्रकार से तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ के मूल सूत्रों पर श्री अकलंकदेव, पूज्यपाद स्वामी, विद्यानंदिस्वामी, श्रुतसागरसूरि आदि अनेक आचार्यों ने अलग-अलग टीकाएँ रची हैं उसी प्रकार से षट्खण्डागम ग्रंथ के मूल सूत्रों पर अनेक टीकाओं की श्रृँखला में यह "सिद्धांतचिंतामणि" नाम की स्वतंत्र मौलिक टीका है जो भव्यों को सिद्धान्त का ज्ञान सुगमता से कराने में पूर्ण सक्षम है।

विभिन्न कृतियों को देखने से भ्रम स्वयं दूर हो जाता है!—पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित, अनूदित एवं काव्यमयी रचनाओं को देखकर संभव है कि कुछ पूर्व पाठकों के समान आपमें से भी किसी पाठक को शंका हो जाए कि बालविकास एवं धार्मिक उपन्यासों की रचयित्री ज्ञानमती माताजी कोई और होंगी, भक्तिसंगीत की धुनों पर आधारित इंद्रध्वज-कल्पद्रुम आदि पचासों पूजा-विधानों की लेखिका ज्ञानमती जी

दूसरी हैं तथा अष्टसहस्री जैसे सर्वोच्च न्यायग्रंथ के हिन्दी अनुवाद की प्रौढ़ता, संस्कृत श्लोकों में लिखित ''आराधना'' ग्रंथ के श्लोकों में भरा रहस्य, नियमसारप्राभृत ग्रंथ की संस्कृत स्याद्वादचंद्रिका टीका आदि की रचना करने वाली कोई सतयुग की ज्ञानमती माताजी होंगी किन्तु अब आपको यह समझते देर नहीं लगेगी कि बालसाहित्य से लेकर इस सिद्धान्तग्रंथ तक को लिखने वाली एक ही ज्ञानमती माताजी हैं इनके द्वारा लिखित प्रायः सभी पाण्डुलिपियाँ हस्तिनापुर जम्बूद्वीपस्थल पर रत्नत्रयनिलय और जम्बूद्वीप पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, जिनके दर्शन कर पण्डित कैलाशचंद जैन सिद्धांतशास्त्री आदि ने अत्यंत आश्चर्य एवं हर्ष व्यक्त किया था एवं जिनके नाम के साथ 'जम्बूद्वीप की पावन प्रेरिका'' का प्रमुख संकेत जुड़ा हुआ है, वे बीसवीं शताब्दी की प्रथम बालब्रह्मचारिणी आर्यिकारत्न हैं, जैन साहित्यजगत् की प्रथम लेखिका साध्वी हैं, अनेक तीर्थों की उद्धारिका हैं तथा देश भर में प्रवर्तित हुए जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति रथ, भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार रथ एवं भगवान महावीर ज्योति रथ प्रवर्तन, विश्वशांति कलश यात्रा रथ प्रवर्तन की पावन प्रेरिका हैं और विद्वानों की भाषा में इनकी प्रमुख पहचान निम्न शब्दों में की जाती है—

''ज्ञानमती माताजी तेरी यही निशानी।
एक हाथ में पिच्छी दूजी में जिनवाणी।।''

जैन धर्म के अलंकार ग्रंथ (वाग्भट्टालंकार) में रचनाकार ने ग्रंथ लेखकों एवं कवियों के गुण-अवगुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

प्रतिभाकारणं तस्य, व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास-इत्याद्यकविसंकथा।।

अर्थात् प्राचीन कवियों का मत है कि ''प्रतिभा'' काव्योत्पत्ति का हेतु है, ''व्युत्पत्ति'' से उस (काव्य) में शोभा का आधान होता है और अभ्यास से शीघ्र ही काव्यरचना सम्भव होती है।

इसी में और भी बातें बताई हैं कि—

अनर्थक, श्रुतिकटु, व्याहतार्थ, अलक्षण, स्वसंकेत-प्रक्लृप्तार्थ, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य ये आठ दोष जिस पद में आ जाएँ उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों से सहित तथा दोषों से रहित गद्य-पद्य रचना का भाव ही पूज्य माताजी की कृतियों में स्पष्ट झलकता है। यह उनकी विशेष प्रतिभाशक्ति ही माननी होगी कि बालोपयोगी साहित्य में उनका बच्चों के प्रति आकर्षण झलकता है, युवाओं के लिए उपयोगी उपन्यास साहित्य को पढ़कर उनकी युवा भावना का परिचय मिलता है कि कैसे युवाओं को धर्म के प्रति आकर्षित किया जा सकता है, पुनः जब आगे बढ़कर प्रौढ़ ग्रंथों को देखते हैं तो माताजी का जहाँ विद्वानों के प्रति प्रौढ़ दृष्टिकोण झलकता है वहीं ज्ञान का अथाह सागर उनके अंदर हिलोरें भरते नजर आता है। ग्रंथ रचने वालों के ज्ञान की चरमसीमा संस्कृत-प्राकृत रचनाओं के द्वारा ज्ञात होती है जिसे आप प्रस्तुत टीका ग्रंथ में साक्षात् देख रहे हैं अतः अब शोधकर्ताओं को दिग्भ्रमित होने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है।

किन पूर्वाचार्यों की झलक इस टीका में है ?—सबसे पहले सन् १९७२ में समयसार ग्रंथ की श्रीजयसेनाचार्यकृत ''तात्पर्यवृत्ति'' नामक संस्कृतटीका का अध्ययन माताजी ने जब हम लोगों को करवाया तो

उसकी सरलता एवं शैली से अत्यंत ऊँचा आध्यात्मिक विषय भी समझ में आने लगा। पुनः सन् १९७६ में ''बृहद्द्रव्यसंग्रह'' में श्री ब्रह्मदेव सूरि की टीका में तो आशातीत आनंद की अनुभूति हुई, धीरे-धीरे प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रंथों का अध्ययन चला और ''परमात्मप्रकाश'' ग्रंथ में श्रीब्रह्मदेवसूरि की टीका द्वारा जो जिनागम का रहस्य खुलता है वह वास्तव में अकथनीय है।

जब इस ''सिद्धांतचिंतामणि'' टीका का मैंने सूक्ष्मता से अवलोकन किया तो लगा कि श्री जयसेनाचार्य एवं ब्रह्मदेवसूरि की टीका शैली की पूरी-पूरी छाप इसमें देखने को मिलती है। ठीक उसी प्रकार से अधिकारों के प्रारंभ में सूत्रों की समुदायपातनिका, टीका में पदखण्डनारूप से व्याख्या, पुनः मूलसूत्र में वर्णित एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति आदि देकर अंत में भावार्थ में टीका का सम्पूर्ण सार स्पष्ट किया गया है।

जैन व्याकरण के एक विशेष सूत्र का भी इस टीका में प्रयोग हुआ है! श्री शर्ववर्म आचार्य द्वारा रचित ''कातंत्ररूपमाला'' नाम से संस्कृत व्याकरण ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद भी पूज्य माताजी ने सन् १९७३ में किया है। वर्तमान में समस्त साधु संघों में उसका बड़ी तेजी से अध्ययन-अध्यापन चल रहा है। यह व्याकरण अपने आपमें पूर्ण सर्वांगीण है जिसे पढ़कर कोई भी जनसाधारण संस्कृतज्ञान में परिपक्वता प्राप्त कर सकता है।

इस व्याकरण के प्रारंभिक संधि प्रकरण में ''विरामे वा'' सूत्र आया है जिसका अर्थ है—''विराम में पदान्त मकार का अनुस्वार विकल्प से होता है'' अर्थात् पदान्त में मकार और अनुस्वार दोनों हो सकते हैं। जैसे-देवानाम्, देवानां आदि।

यह वैकल्पिक नियम इस कातंत्र व्याकरण के अतिरिक्त अन्यत्र किसी भी व्याकरण में नहीं है, सर्वत्र विराम में अनुस्वार नहीं करने का विधान है अतः इसी व्याकरण में यह विशेष नियम है। इस नियम का प्रयोग पूज्य माताजी ने अपनी समस्त संस्कृत रचनाओं में कहीं न कहीं किया है। प्रस्तुत ''सिद्धांतचिन्तामणि'' टीका में भी कई स्थान पर पदान्त में मकार की जगह अनुस्वार लिखा है सो विद्वज्जन इसे व्याकरण की अशुद्धि न समझ कर जैनव्याकरण के विशेष नियम का अनुकरण करें यही मेरा अनुरोध है।

पुस्तक २

द्वितीय पुस्तक में मूल ग्रंथकर्ता का एक भी सूत्र नहीं है केवल सत्प्ररूपणा से संदर्भित आलाप अधिकार है जो कि धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य द्वारा रचित है। इस जीवस्थान नाम के प्रथम खंड में सत्प्ररूपणा नामक प्रकरण के अंतर्गत बीस प्ररूपणाओं का वर्णन है। जिसमें गुणस्थान एवं मार्गणाओं में बीस प्ररूपणाओं के आलापों का वर्णन किया गया है।

श्री वीरसेनाचार्य ने प्ररूपणा का लक्षण बताते हुए कहा है कि २० प्ररूपणाओं में पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणों के द्वारा विश्लेषित करके जीवों की जो खोज की जाती है वही प्ररूपणा नाम से जानी जाती है। ये २० प्ररूपणाएँ निम्न हैं—

गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया।।

गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग इस प्रकार ये बीस प्ररूपणाएँ कही गई हैं।

यहाँ गुणस्थानों और मार्गणाओं में बीस प्ररूपणाओं के नाम एवं आलापों का कथन करने वाले दो महाधिकार हैं। उसमें भी प्रथम महाधिकार के अंतर्गत गुणस्थानों में बीस प्ररूपणाओं का कथन करते हैं जिसमें २७ कोष्ठक हैं और द्वितीय महाधिकार में चौदह मार्गणाओं के अंतर्गत ५१८ कोष्ठक हैं। इस प्रकार दोनों महाधिकारों के मिलाने पर कुल ५४५ कोष्ठक हो जाते हैं।

पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है—

''अतएवास्यां प्ररूपणायां एकमपि सूत्रं नास्ति केवलं धवलाटीकयैव असौ प्ररूपणा-धिकारोऽस्ति। तस्या धवलाटीकाया आधारं गृहीत्वा मया सिद्धांतचिन्तामणिटीका रचिता''।

अतएव इस प्ररूपणा ग्रंथ में एक भी सूत्र नहीं है, केवल धवलाटीका के आधार को लेकर मैंने यह सिद्धान्तचिन्तामणि टीका लिखी है।

बीस प्ररूपणाओं में १४ मार्गणाओं का विस्तृत वर्णन—

सत्प्ररूपणा के अंतर्गत एक सौ सतहत्तर सूत्रों में गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति और चौदह मार्गणाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, अब प्राण, संज्ञा और उपयोग इन तीन प्ररूपणाओं का अर्थ इसमें कहते हैं। इसमें चौदह मार्गणाओं में पर्याप्ति और जीवसमास नाम की प्ररूपणा काय और इन्द्रिय मार्गणा में अंतर्भूत हो जाती हैं तथा श्वासोच्छ्वास, वचनबल और मनोबल इन तीन प्राणों का भी इसी मार्गणा में अन्तर्भाव होता है। किस मार्गणा के अंतर्गत कौन सी प्ररूपणाएं हैं इसका विस्तार से वर्णन पूज्य माताजी ने पृ.७ व ८ पर उद्धृत किया है।

चौदह गुणस्थानों में सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त जीवों की स्थिति को २७ कोष्ठकों के द्वारा उनके आलाप कहे गये हैं। चौदह गुणस्थानों से परे एक अतीत गुणस्थान भी है वही सिद्धों का परमस्थान है।

चौदह मार्गणाओं के नाम निम्न गाथा द्वारा बताए गए हैं।

गइ इंदिये सुकाये, जोगे वेदे कषाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा, भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।।

(गोम्मटसार जीवकांड)

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये १४ मार्गणाएँ हैं।

चौदह मार्गणाओं में प्रत्येक मार्गणा के प्रारंभ में पूज्य माताजी ने मंगलाचरण करके उस-उस विषय का प्रतिपादन किया है। गतिमार्गणा में किस प्रकार जीव चारों गतियों में भ्रमण कर किन-किन गुणस्थानों को प्राप्त करता है इसका वर्णन है। नरकगति तथा देवगति में प्रारंभ के ४ गुणस्थान ही होते हैं क्योंकि यहाँ जीव में देशसंयम अथवा सकल संयम की योग्यता ही नहीं पाई जाती है।

प्रथम नरक से लेकर सातवें नरकपर्यन्त सभी नारकी जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार गुणस्थानों में अवस्थान करते हैं। चूँकि षट्खण्डागम की धवलाटीका में चारों ही गतियों में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानी है

अतः नरकों में भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानी है। तिर्यंचों में १४ में से अधिकतम ५ गुणस्थान हो सकते हैं, इसलिए यहाँ ५ गुणस्थानों की संभावित प्ररूपणाओं का कथन किया है। मनुष्यगति में बीस प्ररूपणाओं के ४० कोष्ठक हैं—

मनुष्य ४ प्रकार के माने हैं—१. सामान्य मनुष्य २. पर्याप्त मनुष्य ३. मनुष्यिनी (स्त्रियाँ) ४. अपर्याप्त मनुष्य।

सामान्य मनुष्यों में चौदहों गुणस्थान होते हैं। मनुष्यगति एक ऐसा चौराहा है जहाँ से चारों गतियों के रास्ते खुलते हैं। यही कारण है कि मनुष्य बड़े से बड़ा पाप करके नरक-निगोद भी प्राप्त कर सकता है तथा अधिक से अधिक पुण्यमयी कार्यों से स्वर्ग तथा मोक्ष जैसे शाश्वत पद को भी प्राप्त कर सकता है इसलिए मनुष्य पर्याय को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्यगति की उपर्युक्त प्ररूपणाओं के माध्यम से सर्वप्रथम प्रत्येक प्राणी को अपनी स्थिति से अवश्य परिचित होना चाहिए कि मुझे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य की जो अवस्था प्राप्त हुई है उसमें हमें कैसा पुरुषार्थ करना चाहिए जिससे आगे मोक्षमार्ग प्रशस्त हो सके।

इसलिए पूज्य माताजी ने गति आलाप के अंत में कहा है—

गत्यालापानधीत्याहं, चतुर्गतिविनिर्गतं।
शुद्धात्मानं सुध्यायामि यथा स्यात्पंचमी गतिः।।

अर्थात् गति आलापों को ज्ञात करके मैं चतुर्गति से निकलने की एवं शुद्धात्मा के ध्यान की इच्छा करता हूँ जिससे पंचम गति—सिद्धगति की प्राप्ति होवे।

काय मार्गणा के सार रूप में पूज्य माताजी ने बहुत सुंदर पंक्तियाँ लिखी हैं कि मनुष्य शरीर को प्राप्त कर देहरूपी देवालय में विराजमान निज शुद्ध परमात्मा को शुद्ध निश्चयनय से निश्चित करके व्यवहार नय से तपश्चरण करते हुए काय को कृश करके अपनी आत्मा को पुष्ट करना चाहिए। योगमार्गणा में ५३ संदृष्टियों के माध्यम से ५ प्रकार के शरीर को धारण करने वाले जीवों के आलापों का वर्णन है। लेश्या मार्गणा में कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल इन छहों लेश्याओं में ७४ कोष्ठकों में विभिन्न आलाप कहे गये हैं। इस आलाप अधिकार की भव्यमार्गणा में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने मंगलाचरण में अपनी आत्मा को भव्यत्व गुण के द्वारा सिद्धपद को प्राप्त कराने की भावना व्यक्त की है। जिसे मैंने विशेषार्थ में खोला है कि भव्यत्व और अभव्यत्व जीव के ये दो पारिणामिक भाव होते हैं जिसमें कोई पुरुषार्थ नहीं प्रत्युत प्राकृतिक शक्ति ही कार्यकारी होती है अर्थात् जिस आत्मा में मोक्ष जाने की शक्ति है वह भव्य है तथा जिसमें कर्मों से मुक्त होने की शक्ति नहीं है वे अभव्य कहलाते हैं। ३ कोष्ठकों के माध्यम से अभव्यसिद्धि जीवों के सामान्य, पर्याप्त व अपर्याप्त आलाप दर्शाए हैं। सम्यक्त्व मार्गणा में सम्यग्दर्शन के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि तीनों लोकों और तीनों कालों में सम्यग्दर्शन के समान हितकारी और कुछ भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव ही देवेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थंकर जैसे महान पद को धारण कर सकता है।

संज्ञा मार्गणा में १६ कोष्ठक हैं। मन सहित जीव संज्ञी कहलाता है। एकेन्द्रिय से लेकर ४ इन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में संज्ञी-असंज्ञी दो प्रकार होते हैं जिनमें मनुष्य संज्ञी ही होते हैं अतः हमें सदैव अपने मन में हित-अहित का चिंतन करते हुए हित की ओर अपनी प्रवृत्ति को लगाना चाहिए। संज्ञीमार्गणा

में मन की विशेष उपयोगिता को बताया है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने आहार मार्गणा के प्रकरण में कहा है—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम।।६६४।।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक नामकर्म में से किसी एक के उदय से उस शरीर, वचन और द्रव्यमन के योग्य नोकर्मवर्गणाओं के ग्रहण का आहार है। अंतिम आहार मार्गणा में ३९ कोष्ठक हैं।

अंत में पूज्य माताजी ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए लिखा है कि व्यवहारनय से तो सभी संसारी जीव चारों गतियों में भ्रमण करते हैं, अशुद्ध हैं, बीस प्ररूपणाओं द्वारा अन्वेषण किये जाते हैं किन्तु निश्चय नय से अथवा शक्तिरूप से सभी जीव शुद्ध हैं, सिद्ध के समान ज्ञान-दर्शन से युक्त हैं। ऐसा जानकर इस सत्प्ररूपणा के अंतर्गत "बीस प्ररूपणाधिकार" ग्रंथ को पढ़कर अपनी आत्मा के साथ अनादि से लगे हुए आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर इस पंचमकाल में धर्मध्यान का सहारा लेना चाहिए तथा शुक्लध्यानरूप अपनी शुद्धात्मा का ध्यान मुझे कब शीघ्र प्राप्त हो, यही भावना बारम्बार करना चाहिए।

अन्त्य मंगलाचरणरूप टीका का समापन—

भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ तीर्थंकर के ४ कल्याणकों से पवित्र पावन तीर्थ हस्तिनापुर में सन् १९९७ वी.नि. सं. २५२५ माघ शु. ५ (बसंत पंचमी) को पूज्य माताजी ने इस टीका को पूर्ण किया तथा अंत मंगलाचरण में अर्हंत, सिद्ध परमेष्ठी को, मुनियों को तथा सरस्वती माता को हृदय में धारण कर केवलज्ञान लक्ष्मी की प्राप्ति हेतु प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को नमस्कार किया तथा जो तीर्थंकर भगवान के श्रीविहार में आगे-आगे उनकी विभूति के समान गमन करती हैं और जिनके साथ हाथ में कमल धारण करने वाली लक्ष्मी देवी भी हैं ऐसी सरस्वती माता सदा जयशील होवें, ऐसी कामना की है।

इस द्वितीय पुस्तक की हिन्दी टीका के लेखन में भी जगह-जगह पर विशेषार्थ के माध्यम से उन-उन विषयों को विस्तार से समझाकर और सरल किया गया है। षट्खण्डागम जैसा महान ग्रंथ जिसके कठिन विषय को समझना सामान्य श्रावक के लिए अत्यंत दुरूह कार्य था। पूज्य गणिनी ज्ञानमती माताजी ने उसकी सरल संस्कृत टीका की और हिन्दी टीका के माध्यम से उसे और भी सरस बनाने का प्रयत्न किया है। जिस ग्रंथ की मात्र श्रुतपंचमी के दिन हम पूजा-अर्चना कर अपने को धन्य मान लेते थे, अब उस ज्ञानरूपी अमृत का पान करने का अवसर भी हमें पूज्य माताजी की कृपाप्रसाद से प्राप्त हो रहा है।

पूज्य माताजी इतिहास का निर्माण करने वाले महापुरुषों में से हैं जिनके अनेक ऐतिहासिक कार्यों ने उन्हें चिरस्मरणीय बनाया है। हमारा भारत देश साहित्य के भंडारस्वरूप था पर इसका संरक्षण न हो पाने के कारण कई अमूल्य धरोहरें काल के गाल में समाहित हो गईं।

जैसा कि एक कवि ने कहा भी है—

अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है।
निर्बल है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।।

ज्ञानज्योति को जन-जन में प्रकाशित करने वाली पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी दीर्घ जीवन को प्राप्त कर सदैव अपने ज्ञानरूपी अमृत से हम सभी को सिंचित करती रहें, यही हमारी प्रार्थना है।

पुस्तक ३

प्रथम खण्ड के तृतीय ग्रंथ में क्रमानुसार द्रव्यप्रमाणानुगम और क्षेत्रानुगम नाम के दो अनुयोगद्वारों का विवेचन है। यहाँ से श्री भूतबली आचार्य द्वारा रचित सूत्र प्रारंभ होते हैं। द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अनुयोगद्वार में इस विषय का स्पष्टीकरण किया है कि इसमें जीवद्रव्य के प्रमाण का ज्ञान कराया गया है अर्थात् यहाँ यह बतलाया है कि सम्पूर्ण जीवराशि कितनी है तथा उसमें भिन्न-भिन्न गुणस्थानों व मार्गणास्थानों में जीवों का प्रमाण क्या है। स्वभावतः यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस अगाध विषय का वर्णन हमारे पूर्वाचार्यों ने किस आधार पर किया है? इसके उत्तर में बताया है कि षट्खण्डागम का विषय महावीर भगवान की दिव्यध्वनि से निःसृत द्वादशांगवाणी के अंगभूत चौदहपूर्वों में से द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के कर्मप्रकृति नामक एक अधिकारविशेष से लिया गया है। उसमें से भी द्रव्यप्रमाणानुगम की उत्पत्ति इस प्रकार है—

कर्मप्रकृति पाहुड़ के कृति, वेदना आदि चौबीस अधिकारों में छठे अधिकार का नाम है—बंधन। इसमें बंध का वर्णन किया गया है। इस बंधन के चार अर्थाधिकार हैं—बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान। इनमें से बंधक नामक द्वितीय अधिकार के एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल आदि ग्यारह अनुयोगद्वार हैं। इन ग्यारह अनुयोगद्वारों में से पाँचवां अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाण नाम का है और वहीं से यह द्रव्यप्रमाणानुगम लिया गया है।

इस अनुयोगद्वार के प्रथम सूत्र में द्रव्यप्रमाणानुगम के ओघ और आदेश द्वारा निर्देश करने की सूचना देकर दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवे सूत्रों में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के जीवों का प्रमाण क्रमशः द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा बतलाया है। छठवें सूत्र में द्वितीय से पाँचवे गुणस्थान तक के जीवों का तथा आगे के सातवें और आठवें सूत्र में क्रमशः छठे और सातवें गुणस्थानों का द्रव्य-प्रमाण बतलाया है। उसी प्रकार ९वें और १०वें सूत्र में उपशामक तथा ११वें व १२वें में क्षपकों और अयोगकेवली जीवों का तथा १३वें व १४वें सूत्र में सयोगिकेवलियों का प्रवेश और संचय-काल की अपेक्षा से प्रमाण कहा गया है।

सिद्धान्तचिन्तामणि टीका लिखने वाली पूज्य ज्ञानमती माताजी ने वर्तमान समय की उपलब्ध सैद्धान्तिक सम्पत्ति का भरपूर उपयोग किया है, इस ग्रंथ के अवलोकन से ही यह पूर्णतः ज्ञात हो सकता है।

एक मुहूर्त में कितने उच्छ्वास होते हैं यह भी एक मतभेद का विषय हुआ है। इसमें एक मत यह है कि एक मुहूर्त में केवल ७२० प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास होते हैं किन्तु धवलाकार ने कहा है कि यह मत न तो एक स्वस्थ पुरुष के श्वासोच्छ्वासों की गणना करने से सिद्ध होता है और न केवली द्वारा भाषित प्रमाणभूत अन्य सूत्र से इसका सामंजस्य बैठता है। उन्होंने एक प्राचीन गाथा उद्धृत करके बतलाया है कि **एक मुहूर्त के उच्छ्वासों का ठीक प्रमाण ३७७३ है और इसी प्रमाण द्वारा सूत्रोक्त एक दिवस में १,१३,१९० प्राणों का प्रमाण सिद्ध होता है।** पूर्वोक्त मत से तो एक दिन में केवल २१,६०० प्राण होंगे, जो किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं है।

उपशामक जीवों की संख्या के विषय में उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति, ऐसी दो भिन्न मान्यताएं इसमें दी हैं। प्रथम मतानुसार उक्त जीवों की संख्या ३०४ तथा द्वितीय मतानुसार उनसे ५ कम अर्थात् २९९ है। इस मतभेद की प्ररूपक दो गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। उनमें एक तीसरा मत और स्फुटित होता है, जिसके अनुसार उपशामकों की संख्या पूरी ३०० है। इन मतभेदों पर यहाँ कोई ऊहापोह नहीं किया गया है, केवल मात्र उनका उल्लेख ही किया है।

यद्यपि धवला टीका समन्वित षट्खण्डागम की मुद्रित प्रतियों में तृतीय ग्रंथ के अंदर केवल द्रव्यप्रमाणानुगम अनुयोगद्वार का ही विवेचन है किन्तु प्रस्तुत सिद्धांतचिन्तामणि टीका समन्वित षट्खण्डागम के तृतीय ग्रंथ में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने द्रव्यप्रमाणानुगम और क्षेत्रानुगम इन दो अनुयोगद्वारों का विवेचन किया है अतः आगे चतुर्थ ग्रंथ में स्पर्शनानुगम और कालानुगम नाम के दो अधिकारों का ही वर्णन है। इसमें पूज्य माताजी ने गणित की जटिलता को अत्यल्प करके शेष विषय को धवला टीका एवं अन्य ग्रंथों के आधार से स्पष्ट किया है।

इस सिद्धान्तग्रंथ में चूँकि अलौकिक गणित की प्रधानता है अतः टीका के अंदर अनेक स्थानों पर श्रेणी, प्रतर, रज्जू, योजन, सागर, पल्य आदि शब्दों का ग्रहण करना स्वाभाविक है। यहाँ प्रसंगोपात्त इनके कुछ लक्षण दिये गये हैं ताकि जनसामान्य भी इन कठिन शब्दों के अर्थ से परिचित हो सके।

वास्तव में तो षट्खण्डागम जैसे दुरूह ग्रंथ का अध्ययन करने के इच्छुक स्वाध्यायीजनों को इसके अध्ययन से पूर्व गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड एवं लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि का स्वाध्याय अवश्य कर लेना चाहिए ताकि षट्खण्डागम के विषय की सूक्ष्मता तक पहुँचा जा सके।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या के वर्णन में सूत्र नं. ७३ की टीका में टीकाकर्त्री पूज्य माताजी ने ''चतुर्गति की अपेक्षा सम्यग्दृष्टियों में कहाँ-कहाँ बहुभाग अधिक संख्या है और कहाँ-कहाँ हीन है ?'' यह बतलाते हुए उन्होंने सम्यग्दृष्टियों के ३२ स्थानों को प्रदर्शित किया और अन्त में सार बताया है कि ''**देवगति में सबसे अधिक समयग्दृष्टि होते हैं, उससे कम तिर्यंचगति में, उससे कम नरकगति में और उससे भी कम मनुष्यगति में होते हैं।'' इसमें प्रमुख कारण मनुष्यों की अल्प संख्या है क्योंकि मनुष्य २९ अंक प्रमाण ही हैं और देव-नारकी आदि असंख्यात हैं।**

तीन लोक के सम्पूर्ण जीवों में सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की संख्या सबसे अधिक है। यहाँ यह बात विशेष ज्ञातव्य है।

इस प्रकार के अनेक अमूल्य सिद्धान्तों को अपने में समेटे हुए द्रव्यप्रमाणानुगम के १९२ सूत्रों की सिद्धान्तचिंतामणि टीका लिखकर पूज्य माताजी ने वास्तव में हम सभी भव्यात्माओं के लिए सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्रदान कर दिया है। आगे इसी ग्रंथ के क्षेत्रानुगम का विषय भी ९२ सूत्रों की टीका में सरलता के साथ अभिव्यक्त किया है। उस क्षेत्रानुगम में मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों से एवं मार्गणास्थानों से जीवों का क्षेत्र जानने के लिए सर्वप्रथम पाँच प्रकार के लोक का वर्णन जानना अति आवश्यक है।

प्रिय पाठक बंधुओं ! ये तो मैंने इस ग्रंथ के प्रतिपादित विषय में से बिन्दु सदृश कतिपय सैद्धान्तिक प्रसंगों

को यहाँ प्रस्तुत करके मात्र आपके स्वाध्याय की रुचि को बढ़ाने का प्रयास किया है कि आप आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली के साक्षात् वचनरूप सूत्रों को पढ़कर असंख्य कर्मों की निर्जरा करें तथा उनके बीजरूप भावों को अभिव्यक्त करने वाली इस सिद्धान्तचिन्तामणि टीका का स्वाध्याय करके अपने सम्यग्ज्ञान की वृद्धि करते हुए अभीक्ष्णज्ञानोपयोग एवं बहुश्रुतभक्ति भावना का फल प्राप्त करें।

पूज्य माताजी ने तृतीय पुस्तक की टीका महाराष्ट्र के मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र में ३० अप्रैल १९९६, वैशाख शु. १२ (वीर नि. सं. २५२२) को लिखना प्रारंभ किया और १८ जुलाई १९९६, द्वितीय आषाढ़ शु. ३ को चांदवड़ (महाराष्ट्र) में द्रव्यप्रमाणानुगम के ८३ पृष्ठ लिखकर पूर्ण कर लिए पुनः उसी दिन (१८ जुलाई १९९६ को) ही क्षेत्रानुगम की टीका का लेखन प्रारंभ कर दिया, जो ८ अगस्त १९९६, श्रावण कृ. १० को मात्र २० दिन में ४८ पृष्ठ लिखकर पूर्ण किया। इस प्रकार १०० दिनों में १३१ पृष्ठों की यह "सिद्धान्तचिंतामणि" टीका मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र पर एवं महाराष्ट्र प्रान्त के कतिपय नगरों में लिखी गई।

इस प्रकार १०० दिनों में अर्थात् ३ माह १० दिन के अन्तर्गत जो लेखन हुआ, उसमें भी प्रतिमाह २ अष्टमी, २ चतुर्दशी, १ अमावस और १ पूर्णिमा इन ६ दिनों में तो सिद्धान्त ग्रंथ स्वाध्याय का अकाल होने के कारण षट्खण्डागम खोला ही नहीं गया अर्थात् २ माह १० दिन में १२ दिन लेखन नहीं हुआ और १८ जुलाई से ८ अगस्त के मध्य ८ दिन (२३ जुलाई से ३० जुलाई) अष्टान्हिका पर्व में भी स्वाध्याय का अकाल होने से लेखन नहीं हुआ अतः १०० दिनों में से २० दिन घटाने से १०० — २०=८० दिन शेष बचे, इनमें भी कई दिन मालेगांव में आयोजित शिक्षण-शिविर की व्यस्तता होने के कारण लेखन आदि अल्प हो गया किन्तु कुल मिलाकर लगभग ढाई माह में २८४ सूत्रों की टीका लिखना अपने आपमें अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसे इनके श्रुतज्ञान की विशेष महिमा की कहनी पड़ेगी अन्यथा साधारण व्यक्ति तो ऐसे असाधारण कार्यों की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं।

मुझे इस बात का महान गौरव है कि पूज्य माताजी ने इस संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करने हेतु मुझे आदेश दिया इसलिए मैंने उनके गरिमापूर्ण शब्दों का शाब्दिक अर्थ करने का किंचित् प्रयास किया है।

पुस्तक ४

षट्खण्डागम ग्रंथराज के प्रथम खंड की चतुर्थ पुस्तक में स्पर्शनानुगम और कालानुगम इन दो अनुयोगद्वारों का वर्णन किया गया है। स्पर्शनानुगम में दो महाधिकार वर्णित हैं पुनः कालानुयोगद्वार में भी दो महाधिकार हैं।

स्पर्शनप्ररूपणा में यह बतलाया गया है कि भिन्न-भिन्न गुणस्थान वाले जीव तथा गति आदि भिन्न-भिन्न मार्गणास्थान वाले जीव तीनों कालों में कितना क्षेत्र स्पर्श कर पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि क्षेत्र और स्पर्शन प्ररूपणाओं में विशेषता इतनी ही है कि क्षेत्रप्ररूपणा तो केवल वर्तमानकाल की ही अपेक्षा रखती है किन्तु स्पर्शन प्ररूपणा में अतीत और अनागतकाल का भी अर्थात् तीनों कालों का क्षेत्रमान ग्रहण किया जाता है।

चतुर्थ पुस्तक के प्रारंभ में पूज्य माताजी ने मंगलाचरण में लिखा है—

शुक्लध्यानाग्निना दग्ध्वा, कर्मेन्धनानि संयताः।
सिद्धिं प्रापुर्नमस्तेभ्यः शुक्लध्यानस्य सिद्धये।।

शुक्लध्यान की अग्नि के द्वारा जिन संयतों ने कर्मरूपी ईंधन को जलाकर भस्म कर दिया है, उन सभी संयतों को शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए मेरा नमस्कार है।

स्पर्शनानुगम की टीका में पूज्य माताजी ने दिया है कि—सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों ने अतीतकाल की अपेक्षा कुछ कम आठ बटे चौदह भाग स्पर्श किए हैं।' उदाहरण के लिए जैसे सीताचर जीव ने अच्युत स्वर्ग के प्रतीन्द्र की पर्याय में सोलहवें स्वर्ग से छह राजू नीचे आकर तीसरे नरक में दो राजू पर्यंत जाकर अर्थात् आठ राजू नीचे जाकर लक्ष्मणचर एवं रावणचर के नारकी जीवों को सम्बोधित किया। यह विहारवत्स्वस्थान के द्वारा स्पर्श करने का उदाहरण है।

इसी प्रकार स्पर्शनानुगम के प्रथम महाधिकार के अंतिम सूत्र में लिखा है—

सजोगिकेवलीहि केवडियं खेत्तं फोसिदं? लोगस्स असंखेज्जदिभागो, असंखेज्जा वा भागा, सव्वलोगो वा।।१०।।

अर्थात् सयोगिकेवली भगवन्तों ने कितना क्षेत्र स्पर्श किया है ? लोक का असंख्यातवाँ भाग, असंख्यात बहुभाग और सर्वलोक स्पर्श किया है।

पूज्य माताजी ने इसकी टीका में लिखा है—इदमत्र तात्पर्यं.....अर्थात् यहाँ तात्पर्य यह है कि निजशुद्ध स्वसंवेदनज्ञान से अथवा अध्यात्म ध्यान के द्वारा निज शुद्धबुद्ध परमात्मा का स्पर्श करके केवलज्ञान को प्राप्त करके पुनः अपने अतीन्द्रिय—अनंत केवलज्ञान के बल से अथवा आत्मा से उत्पन्न ज्ञान की किरणों के द्वारा हम सभी को लोकाकाश तथा अलोकाकाश दोनों का स्पर्श करना चाहिए।

स्पर्शनानुगम के द्वितीय महाधिकार में पूज्य माताजी ने मंगलाचरण में ॐ, ह्रीं एवं अर्हं मंत्रों को नमन करते हुए विषय का शुभारंभ किया है—

ॐ नमः मंगलं कुर्यात्, ह्रीं नमश्चापि मंगलम्।
मोक्षबीजं महामंत्रं, अर्हं नमः सुमंगलम्।।

पुनः चार अन्तराधिकारों में छियालीस सूत्रों के द्वारा मार्गणाओं में स्पर्शनानुगम कहने का अभिप्राय व्यक्त किया है।

स्पर्शनानुगम के द्वितीय महाधिकार में १४ मार्गणाओं का विस्तार से वर्णन करते हुए अन्त में उपसंहार में पूज्य माताजी ने लिखा है कि—इन गति आदि मार्गणाओं में अनादिकाल से भ्रमण कर-करके मैंने किसी प्रकार से जिनधर्मरूपी श्रेष्ठरत्न को प्राप्त कर लिया है अतः अब इन मार्गणाओं से निकलकर पंचमगति—सिद्धगति, अनिन्द्रियपना, अकायत्व—कायरहित अवस्था, योगरहित अवस्था, वेदरहित अवस्था, कषायरहितपना, केवलज्ञान, यथाख्यातसंयम, केवलदर्शन, लेश्यारहित अवस्था, भव्यत्व-अभव्यत्व से रहित अवस्था, क्षायिकसम्यक्त्व, संज्ञी-असंज्ञीपने से रहित अवस्था तथा अनाहारी अवस्थास्वरूप शुद्ध परमात्म पद को प्राप्त करना चाहिए तथा जिन महापुरुषों ने इस परमपद को प्राप्त कर लिया है, उन्हें बारम्बार नमस्कार करना चाहिए।

पुनः कालानुगम नाम के पंचम प्रकरण में दो महाधिकार हैं। कालानुगम प्रकरण को प्रारंभ करते हुए पूज्य माताजी ने सर्वप्रथम मंगलाचरण में लिखा है—

स्तुमः ऋषभसेनादि-वीराङ्गजान्तिमान् मुदा।
यत्प्रसादादयं मार्गो, यास्यत्यक्षुण्णतामिह।।१।।

श्री ऋषभसेन गणधर महामुनि से लेकर अंतिम वीरांगज मुनि तक समस्त मुनिराजों की हम स्तुति करते हैं, जिनकी कृपाप्रसाद से मोक्षमार्ग की अक्षुण्ण परम्परा पंचमकाल के अंत तक चलेगी।

इन कालानुगम के प्रथम महाधिकार में गुणस्थानों का काल प्ररूपण करने वाले बत्तीस (३२) सूत्र हैं, पुनः मार्गणाधिकार नामक द्वितीय महाधिकार में चौदह अन्तराधिकारों के अंदर कुल तीन सौ दश (३१०) सूत्र हैं।

कालानुगम के वर्णन में पूज्य माताजी ने पंचास्तिकाय प्राभृत की एक गाथा उद्धृत की है—

'कालोत्ति य ववदेसो, सब्भाव परूवओ हवइ णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी, अवरो दीहंतरट्ठाई।।

अर्थात् 'काल' इस प्रकार का यह नाम सत्तारूप निश्चयकाल का प्ररूपक है और वह निश्चयकाल द्रव्य अविनाशी होता है। दूसरा व्यवहारकाल उत्पन्न और प्रध्वंस होने वाला है तथा आवली, पल्य, सागर आदि के रूप से दीर्घकाल तक स्थायी है।

इस कालानुगम नाम के पंचम प्रकरण में धवला टीका को प्रमुख करके अन्य अनेक ग्रंथों का आधार लेकर पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने तृतीय अधिकार में तेरह गुणस्थानों में जघन्य और उत्कृष्टरूप से कालानुगम को घटित किया है। सूत्र नं. ३०, ३१,३२ में सयोगकेवली के काल का निरूपण करते हुए बताया है—

सयोगिकेवली जिन कितने काल तक होते हैं? नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल होते हैं।।३०।।
एक जीव की अपेक्षा सयोगिकेवली का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।।३१।।
एक जीव की अपेक्षा सयोगिकेवली का उत्कृष्टकाल कुछ कम पूर्व कोटि है।।३२।।

अर्थात् सयोगिकेवली भगवन्तों का जो काल है उसकी अचिन्त्य महिमा है ऐसा जानकर मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि काल को समाप्त करके अपनी शुद्ध आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न करना चाहिए तथा श्री शुभचन्द्राचार्य के ये वाक्य प्रतिक्षण स्मरण करना चाहिए।

क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या, घटीघातेन भूभृताम्।
क्रियतामात्मनः श्रेयः, गतेयं नागमिष्यति।।

श्लोकार्थ—राजाओं के यहाँ जो घंटा बजता है, वह कहता है कि हे आर्यों! समय क्षणिक है अतः शीघ्र ही आत्मा का कल्याण करो, क्योंकि बीती हुई काल की कला वापस नहीं आएगी।

अर्थात् जो काल बीत गया है, वह तीनों लोकों की सम्पत्ति देने पर भी पुनः वापस नहीं प्राप्त हो सकता है इस प्रकार समय की अमूल्यता जानकर काल—समय की एक भी घड़ी (पल) प्रमाद में व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए।

सिद्धान्त ग्रंथ के पाठक बंधुओं से मेरा यही कहना है कि निष्पक्ष और निश्छद्म भावना से इसका अध्ययन कर अपने ज्ञान को परिमार्जित एवं वृद्धिंगत करें तथा वर्तमान की सरस्वती माता के रूप में विराजमान देश की अमूल्य निधि पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी हम सभी को चिरकाल तक इसी प्रकार का साहित्य प्रदान करती रहें, यही भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना है।

यहाँ पुस्तक ४ के विषय का उपसंहार करते हुए मेरा यही कहना है—

माता तेरे उपकारों का बदला न चुकाया जा सकता।
गुरु एवं माता दोनों का वात्सल्य सरस तुझमें बहता।।
है जनम जनम का पुण्य मेरा जो मुझे मिली तेरी ममता।
मैंने नहिं देखी अन्य किसी में तुझ जैसी अनुपम क्षमता।।१।।
बालक जैसी निश्छलता है उत्साह युवा सम सदा तेरा।
अनुभव में वृद्ध तथा तीनों में सदा खिला रहता चेहरा।।
जीवन का प्रतिपल है स्वर्णिम हर कदम ऐतिहासिक तेरा।
तुझ जैसी अनुपम माता को पा धन्य हुआ जीवन मेरा।।२।।

पुस्तक ५

प्रथम खण्ड के पंचम ग्रंथ में तीन प्ररूपणाएँ वर्णित हैं—अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इससे पूर्व के चार ग्रंथों में जीवस्थान की आठ प्ररूपणाओं में से पाँच प्ररूपणाओं का वर्णन हो चुका है अतः इसमें शेष तीन प्ररूपणाओं का क्रमानुसार कथन है।

१. अन्तरानुगम

विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीव का उस गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थान में चले जाने पर पुनः उसी गुणस्थान की प्राप्ति के पूर्व तक के काल को अन्तर, व्युच्छेद या विरहकाल कहते हैं। सबसे छोटे विरहकाल को जघन्य अन्तर और सबसे बड़े विरहकाल को उत्कृष्ट अन्तर कहते हैं। गुणस्थान और मार्गणास्थानों में इन दोनों प्रकार के अन्तरों के प्रतिपादन करने वाले अनुयोगद्वार को अन्तरानुगम कहते हैं।

पूर्व प्ररूपणाओं के समान इस अन्तरप्ररूपणा में भी ओघ और आदेश की अपेक्षा अन्तर का निर्णय किया गया है अर्थात् यह बतलाया गया है कि यह जीव किस गुणस्थान या मार्गणास्थान से कम से कम कितने काल तक के लिए और अधिक से अधिक कितने काल तक के लिए अन्तर को प्राप्त होता है।

इस ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणिटीका में टीकाकर्त्री पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अन्तरानुगम प्रकरण को दो महाधिकारों में विभक्त किया है। प्रथम महाधिकार में १४ गुणस्थानों में अन्तर का निरूपण है और द्वितीय महाधिकार में १४ मार्गणाओं में अंतर प्रदर्शित किया गया है।

चौदह मार्गणाओं में अन्तरानुगम का कथन करते हुए पूज्य माताजी ने तत्त्वार्थवृत्ति, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाण्ड, धवलाटीका आदि ग्रंथों के आधार से अनेक विषयों का स्पष्टीकरण किया है। इसी शृंखला में उन्होंने भव्यमार्गणा में अन्तरानुगम का कथन करते हुए सूत्र नं. ३३० की टीका में अभव्य जीवों की एक जीव की अपेक्षा निरन्तरता के संदर्भ में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी कृत समयसार प्राभृत ग्रंथ की गाथाओं को उद्धृत किया है—

वदसमिदीगुत्तीओ.....इत्यादि गाथा २९१ से २९३ तक देकर श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीकानुसार

अभव्य जीवों को मिथ्यादृष्टि ही कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि—अभव्य जीव हमेशा ही कर्मचेतना और कर्मफल-चेतनारूप वस्तु का श्रद्धान करता है किन्तु नित्य ज्ञानचेतनामात्र जो आत्मद्रव्य है उसका श्रद्धान नहीं करता है क्योंकि वह नित्य ही भेदविज्ञान के अयोग्य है इसलिए वह कर्मों से मुक्त होने के लिए कारण ऐसे ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म का श्रद्धान नहीं करता है प्रत्युत भोगों के लिए कारण शुभक्रियामात्र ऐसे अभूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है इसलिए यह असत्यार्थ धर्म के श्रद्धान, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन के द्वारा नवमें ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त कर लेता है किन्तु वह कदाचित् भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता है। इस हेतु से इसके सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से श्रद्धान—सम्यग्दर्शन भी नहीं है।

२. भावानुगम में क्या है ?

इस अनुयोगद्वार में कुल ९७ सूत्रों के द्वारा जीवों के भावों का वर्णन किया गया है। गुणस्थान और मार्गणा इन दो महाधिकारों (तृतीय और चतुर्थ) में यह अनुयोगद्वार विभक्त है।

कर्मों के उपशम, क्षय आदि के निमित्त से जीव के जो परिणाम विशेष होते हैं, उन्हें भाव कहते हैं। वे भाव पाँच प्रकार के होते हैं। १. औदयिक भाव २. औपशमिक भाव ३.क्षायिकभाव ४. क्षायोपशमिकभाव और ५. पारिणामिकभाव। कर्मों के उदय से होने वाले भावों को औदयिक भाव कहते हैं। इसके इक्कीस भेद हैं। मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले भावों को औपशमिक भाव कहते हैं, इसके दो भेद हैं। कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भावों को क्षायिकभाव कहते हैं, इसके नौ भेद हैं, कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले भावों को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं, इसके अट्ठारह भेद हैं। इन चारों भावों से विभिन्न कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा न रखते हुए जो भाव होते हैं, उन भावों को पारिणामिक भाव कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—१. जीवत्व २. भव्यत्व और ३. अभव्यत्व।

इन पूर्वोक्त भावों के अनुगम को भावानुगम कहते हैं। इस अनुयोगद्वार में भी ओघ—गुणस्थान और आदेश—मार्गणा की अपेक्षा भावों का विवेचन किया गया है।

भावानुगम में प्रथम सूत्र की सिद्धान्तचिंतामणिटीका में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने औदयिक आदि पाँचों भावों के उत्तर भेदों में धवला टीकाकार एवं तत्त्वार्थसूत्रकार दोनों के अनुसार अन्तर भी बतलाया है कि षट्खण्डागम में पाँचों भाव के ५९ भेद हैं और तत्त्वार्थसूत्र में ५३ भेद हैं। यह अन्तर औपशमिक भाव के भेदों की अपेक्षा है क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में औपशमिक भाव के केवल दो भेद माने हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र, किन्तु यहाँ षट्खण्डागम में औपशमिक भाव के आठ भेद बताए हैं—१. औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र के ७ भेद (४ संज्वलन कषाय और ३ वेदों के उपशम की अपेक्षा ७ भेद) होते हैं। ये ही ६ भाव यहाँ बढ़ जाने से ५३ + ६ = ५९ भेद हो जाते हैं।

अंकलेश्वर का नाम भी जुड़ गया ग्रंथ के साथ—मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र में सन् १९९६ के वर्षायोग के मध्य कार्तिक कृ. षष्ठी, १ नवम्बर को इस चतुर्थ महाधिकार का लेखन प्रारंभ करके पुनः १५ नवम्बर १९९६, कार्तिक शु. पंचमी को पूज्य माताजी ने वहाँ से विहार कर दिया, फिर भी मार्ग में लेखन चलता रहा और कुल छह महाधिकारों में निबद्ध इस पंचम ग्रंथ की टीका को पूज्य माताजी ने षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ के रचयिता श्री

पुष्पदंत-भूतबली आचार्य की चातुर्मास स्थली अंकलेश्वर-गुजरात में मगसिर कृ. सप्तमी, २ दिसम्बर १९९६ को लिखकर पूर्ण किया तो उन्हें अत्यन्त आल्हाद की अनुभूति हुई अर्थात् मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र में १५-९-१९९६, भादों शु. तृतीया को इस ग्रंथ का टीका लेखन प्रारंभ हुआ और अंकलेश्वर-गुजरात में पूर्ण हुआ, इस मध्य मार्ग में अनेक धर्मप्रभावना के कार्यक्रम भी सम्पन्न हुए किन्तु इस लेखन में किंचित् भी व्यवधान नहीं पड़ा।

३. अल्पबहुत्वानुगम में क्या है ? संख्याप्रमाण के आधार पर हीनाधिकतारूप से गुणस्थान तथा मार्गणाओं का वर्णन करने वाला अल्पबहुत्वानुगम नाम का अनुयोगद्वार है। इस अल्पबहुत्व में गुणस्थान और मार्गणाओं में सबसे अल्प कौन हैं ? तथा अधिक कौन हैं ? यही दिखाया गया है क्योंकि अन्य अनुयोग द्वारों के समान यहाँ भी ओघ निर्देश और आदेश निर्देश की अपेक्षा अल्पबहुत्व का निर्णय किया गया है। सामान्यतया ओघ निर्देश से अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में उपशामक जीव प्रवेश की अपेक्षा परस्पर तुल्य हैं तथा शेष सब गुणस्थानों के प्रमाण से अल्प हैं.....इत्यादि कथन के साथ १४वें सूत्र में कहा है कि "मिथ्यादृष्टि जीव सबसे अधिक अनन्तगुणे हैं"।

इस अल्पबहुत्वानुगम के २०वें सूत्र की टीका में टीकाकर्त्री ने कहा है कि तिर्यंचों में क्षायिक सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम नहीं पाया जाता है, क्योंकि वहाँ दर्शनमोहनीय के क्षपण का अभाव देखा जाता है। इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने कषायपाहुड़ के क्षपणाधिकार की जयधवला टीका का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

"दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ।।

अर्थात् दर्शनमोहनीय की क्षपणा के लिए प्रतिष्ठापना नियम से कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य ही करते हैं तथा निष्ठापना सभी जगह होती है।।

अर्थात् जिन्होंने तिर्यंच आयु का बंध कर लिया है ऐसे जो भी मनुष्य क्षायिकसम्यक्त्व के साथ तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं उनके संयमासंयम नहीं होता है, क्योंकि भोगभूमि को छोड़कर उनकी अन्यत्र उत्पत्ति असंभव है इसलिए क्षायिकसम्यग्दृष्टि संयतासंयत जीव असंख्यात ही होते हैं क्योंकि संयमासंयम के साथ क्षायिकसम्यक्त्व पर्याप्त मनुष्यों को छोड़कर दूसरी गति में नहीं पाया जाता है और इसीलिए संयतासंयत क्षायिकसम्यग्दृष्टि आगे कही जाने वाली असंख्यात राशियों से कम होते हैं।

संयममार्गणा के अल्पबहुत्व में एक प्रकरण यहाँ बहुत ही ज्ञानवर्धक है कि आचार्यों के उपदेशानुसार उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाले जीवों से क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले संयमियों की संख्या दोगुनी होती है। यथा—

एकसमयेन तीर्थकराः षट् क्षपकश्रेणिं चटन्ति। दश प्रत्येकबुद्धाः आरोहन्ति, बोधितबुद्धाः अष्टोत्तरशतमात्राः, स्वर्गच्युताः तावन्तश्चैव। उत्कृष्टावगाहनायाः द्वौ क्षपकश्रेणिं आरोहतः। जघन्यावगाहनायाः चत्वारः, मध्यमावगाहनायाः अष्टौ मुनयः क्षपकश्रेणिमारोहन्ति। पुरुषवेदेन अष्टोत्तर-शतमात्राः, नपुंसकभाववेदेन दश, स्त्रीभाववेदेन विंशतियतयश्च। एतेषामर्द्धमात्राः उपशमश्रेणिमारोहन्ति इति गृहीतव्यं।

एक समय में एक साथ छह तीर्थंकर क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। दश प्रत्येक बुद्ध, एक सौ आठ बोधितबुद्ध और स्वर्ग से च्युत होकर आये हुए उतने ही जीव अर्थात् एक सौ आठ जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। उत्कृष्ट

अवगाहना वाले दो जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। जघन्य अवगाहना वाले चार और मध्यम अवगाहना वाले आठ मुनि एक साथ क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। पुरुषवेद के उदय के साथ एक सौ आठ, भाव नपुंसकवेद के उदय से दस और भाव स्त्रीवेद के उदय से बीस जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं। इन पूर्वोक्त मुनियों की संख्या से आधी संख्या प्रमाण मुनि उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रिय पाठक बंधुओं! यद्यपि इस सिद्धान्तग्रंथ का एक-एक शब्द हृदयंगम करने योग्य है जिससे ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होकर श्रुतज्ञान की निधि प्राप्त होगी, फिर भी मैंने यहाँ कतिपय प्रमुख विषयों को उद्धृत किया है। ये विषय भी आपको पूरे ग्रंथ के स्वाध्याय की प्रेरणा प्रदान करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

इस टीका के अन्त में उपसंहार करते हुए पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने लिखा है कि आज (मगसिर कृ. सप्तमी, वीर निर्वाण संवत् २५२३, २ दिसम्बर १९९६) पंचम ग्रंथ के अल्पबहुत्वानुगम अनुयोगद्वार की टीका पूर्ण हो रही है तथा उसके साथ ही षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड में वर्णित आठों अनुयोगद्वारों का लेखन भी सम्पूर्ण हो रहा है अतः मुझे अत्यन्त आनंद की अनुभूति हो रही है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि एक वर्ष छ्यासठ दिन में मैंने एक हजार आठ सौ साठ (१८६०) सूत्रों के द्वारा सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-काल-अन्तर-भाव-अल्पबहुत्व नाम वाले आठ अनुयोगद्वारों की टीका पूर्ण की है।

पुस्तक ६

षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड में सत्प्ररूपणा आदि आठ अनुयोग द्वार एवं नव चूलिका का कथन है जिसमें से ५ ग्रंथों में आठ अनुयोग द्वार पूर्ण हो चुके हैं, छठे ग्रंथ में नव चूलिकाओं का वर्णन है जिसमें कुल ५१५ सूत्र हैं। इस छठे ग्रंथ में दो महाधिकार विभक्त किए गये हैं, उनमें से प्रथम महाधिकार में आठ चूलिकाएँ हैं अतः आठ अधिकार हैं, द्वितीय महाधिकार में गत्यागती नाम की चूलिका है। **प्रथम प्रकृतिसमुत्कीर्तना** नामक अधिकार के अन्तर्गत छ्यालीस सूत्रों के माध्यम से जीव के द्वारा बांधने वाली प्रकृतियों, किन-किन क्षेत्रों में किसके पास कितने दर्शनमोहनीय कर्म का क्षपण करने वाले जीव हैं, सम्पूर्ण चारित्र को प्राप्त होने वाले जीव के मोहनीय कर्म की उपशामना तथा क्षपणा होती है तथा प्रकृतियों के स्वरूप, भेद आदि का विस्तार से वर्णन है। दूसरी **स्थानसमुत्कीर्तन** चूलिका में प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका में प्ररूपित प्रकृतियों के बंध के बारे में बताया गया है, चारों गतियों में आठों कर्मों के उदय से जीव कौन सी आयु का बंध करता है इसका वर्णन करते हुए टीकाकर्त्री ने कहा है कि इसे जानकर अणुव्रती अथवा महाव्रती बनकर मनुष्य पर्याय को अवश्य सफल करना चाहिए। मुख्यतः आत्मा के भावों के फलस्वरूप पुद्गल कर्मवर्गणाएँ और जीव के प्रदेश एक-दूसरे में प्रवेश कर कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्मसिद्धान्त से अनभिज्ञ ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानकर उन्हें दोष देते हैं जबकि वही पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से परिणमन कर जीव को सुख-दुःख देते हैं अतः राग-द्वेषादिरूप विभाव भाव को छोड़कर आत्मा में रमण करने की प्रेरणा इसमें दी गई है। वस्तुतः सिद्धान्तचिंतामणिटीका की लेखिका सरस्वतीस्वरूपा पूज्य माताजी ने स्थान-स्थान पर वर्तमान में उपलब्ध सैद्धान्तिक ग्रंथों का पूर्ण उपयोग करते हुए विषय को अत्यन्त रोचक और सरल बना दिया है जो इसके अवलोकन से ज्ञात होता है। पूर्वाचार्य रचित

अनेकों ग्रंथों का समावेश कर उन्होंने साररूप तथ्य को इसमें पिरोकर मानो मरकत आदि मणियों की सुन्दर माला ही गूँथ दी है।

प्रथम महादण्डक नामक तीसरे अधिकार में दो सूत्रों के माध्यम से प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव के कौन-कौन सी प्रकृतियाँ बंधती हैं और कौन-कौन सी नहीं बंधती हैं, इसका वर्णन है। ३४ बंधापसरणों एवं ५ लब्धियों के बारे में बताते हुए निष्कर्ष रूप में टीकाकर्त्री माताजी कहती हैं कि अनादिकालीन संसार में पर्यटन करते हुए हम और आप सभी ने काललब्धि के बल से पाँचों लब्धियों को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन जैसे महारत्न को प्राप्त किया है अतः आठों अंगों का संरक्षण कर, पच्चीस मल दोषों को छोड़कर निर्दोषरीत्या इस रत्न को संभालते हुए ज्ञान की आराधना से सम्यग्ज्ञान को वृद्धिंगत कर सम्यग्चारित्र का भी स्पर्श करना चाहिए। **द्वितीय महादण्डक** नामक चतुर्थ अधिकार में प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख देव अथवा सातवीं पृथ्वी के नारकी को छोड़कर शेष नारकी जीवों के द्वारा ४४ प्रकृतियों को नहीं बांधने का वर्णन है। **तृतीय महादण्डक** नामक पंचम अधिकार में दो सूत्रों द्वारा सातवें नरक के नारकी जीवों के बंध योग्य प्रकृतियों का वर्णन है। छठे **उत्कृष्टस्थिति बंध चूलिकाधिकार** में किस प्रकार के स्थितिबंध के होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है, इस जिज्ञासा का निराकरण करते हुए कर्मों की स्थिति, आबाधा और निषेक आदि का विस्तृत वर्णन किया है जिसे जानकर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का जब तक जड़मूल से नाश न हो तब तक वैराग्य तथा ज्ञान भावना से कषायों को कृश करना तथा दर्शन एवं चारित्रमोहनीय कर्मों के कारणरूप केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव के अवर्णवाद व कषायों के उदय से होने वाले तीव्र परिणामों से सदैव दूर रहना चाहिए। **जघन्यस्थितिबंध चूलिकाधिकार** नामक सातवें अधिकार में कर्मों की जघन्यस्थितिबंध बताते हुए कोष्ठक आदि के माध्यम से उसे समझाया है। तीर्थंकर प्रकृति बंध, अकाल मरण आदि का विस्तृत विवेचन अनेक ग्रंथों के आधार से करते हुए पूज्य माताजी ने अंत में धवला टीकाकार के ही शब्दों में सिद्धों के अतीन्द्रिय सुख का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। आठवें **सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिकाधिकार** में सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विवेचन है। इस अधिकार में "किस प्रकार से महामुनि कितनी बार संयम को प्राप्त कर सकते हैं, कितनी बार उपशमश्रेणी चढ़कर पुनः कैवल्य अवस्था प्राप्त करते हैं, उनका स्वरूप कैसा है, कैसे आगे वे सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं, कौन से तीर्थंकर ने किस आसन से मोक्ष प्राप्त किया" यह विशेष पठनीय है। इस अध्याय के सार रूप में यही समझना है कि सम्यग्दर्शन की पूर्णता क्षायिक सम्यग्दर्शन या परमावगाढ़ नामक सम्यक्त्व में होती है, ज्ञान की पूर्णता केवलज्ञान में और सम्यक्चारित्र की पूर्णता अयोगिकेवली भगवान के अंतिम समय में होती है अतः सदैव रत्नत्रय की पूर्णता की प्रार्थना करना श्रेयस्कर है।

गत्यागति चूलिका नामक द्वितीय महाधिकार में २४३ सूत्र हैं। चार अन्तराधिकार में विभक्त इस महाधिकार में चारों गतियों में जीव के आने-जाने के द्वार का विस्तृत वर्णन है। कौन सी गति से निकलकर जीव कहाँ-कहाँ जाता है? किस गति के जीव के कितने गुणस्थान हो सकते हैं? किस गति में सम्यक्त्व प्राप्ति के कितने कारण हैं? इत्यादि विषयों को बताते हुए आचार्यश्री ने मनुष्यगति को सर्वश्रेष्ठ बताया है जिसके द्वारा जीव पंचम गति—सिद्धगति को प्राप्तकर गति-आगति के चक्र से छूट जाता है। सिद्ध भगवान के अनंत सुखों का

वर्णन करते हुए अन्त में पूज्य माताजी ने धवला टीकाकार अथवा आचार्यों द्वारा लिखित आगमानुसार इस सिद्धान्त ग्रंथ को अकाल में पढ़ने का निषेध किया है। वस्तुतः अनेक अमूल्य सिद्धान्तों को स्वयं में समेटे, कोहिनूर हीरे के सदृश इस अनमोल टीका को लिखकर पूज्य माताजी ने वास्तव में भव्यात्माओं के लिए इस युग में दिव्यध्वनि रूप सम्यग्ज्ञान का प्रकाश ही प्रदान कर दिया है।

मेरे द्वारा हिन्दी अनुवाद में हो रहे विलम्ब को देखते हुए पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने इस छठे ग्रंथ का स्वयं हिन्दी अनुवाद किया है।

इस प्रकार छह पुस्तकों में षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान की टीका पूर्ण हुई है। इसकी पूर्णता पूज्य माताजी ने अपनी आर्यिका दीक्षास्थली माधोराजपुरा (राज.) में किया है। दीक्षा के पश्चात् ४१ वर्षों की दीर्घकालीन प्रतीक्षा के अनंतर माधोराजपुरावासियों ने गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी को पाकर अभूतपूर्व स्वागत किया था और उनकी दीक्षा की ऐतिहासिक स्मृति में वहाँ गणिनी ज्ञानमती दीक्षा तीर्थ का निर्माण हुआ है।

पुस्तक ७

षट्खण्डागम का द्वितीय खण्ड है—क्षुद्रकबन्ध। इससे पूर्व के छह भागों (छह पुस्तकों) में जीवस्थान नाम का प्रथम खण्ड प्ररूपित किया गया है और एकमात्र सातवीं पुस्तक में खुद्दा बन्ध (क्षुद्रक बन्ध) नाम का पूरा द्वितीय खण्ड समाविष्ट है। यूँ तो इसमें क्षुद्र—संक्षिप्तरूप से कर्मबन्ध का वर्णन है किन्तु आप सभी यह अवश्य सोचेंगे कि इतने बड़े ग्रन्थ में सैकड़ों सूत्रों द्वारा किया गया बंध का वर्णन भला संक्षिप्त क्यों कहा गया है? तो आपको यहाँ जानना है कि श्री भूतबली आचार्य ने बंधविधान का विस्तृत वर्णन छठे महाबंध नाम के खण्ड में किया है उस अपेक्षा से इसे खुद्दा बन्ध या क्षुद्रक बन्ध (लघु) नाम दिया गया है।

द्वादशांग में बारहवें दृष्टिवाद नामक अंग पूर्वगत का जो दूसरा आग्रायणीय पूर्व है उसकी पूर्वान्त आदि चौदह वस्तुओं में से पंचमवस्तु "चयनलब्धि" के कृति आदि चौबीस पाहुड़ों में से 'पाहुड़' बन्धन के बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और बन्ध विधान नाम के चार अधिकारों में से "बन्धक" अधिकार से इस द्वितीय खण्ड "खुद्दाबन्ध" की उत्पत्ति हुई है।

इस ग्रंथ में १३ अधिकारों में कुल १५९४ सूत्र हैं किन्तु प्रमुख रूप से इसमें १२ अधिकार दिये गये हैं उसमें प्रारंभ में बन्धक सत्व प्ररूपणा नाम की पीठिका—प्रस्तावनारूप प्ररूपणा है जिसमें ४३ सूत्र हैं अतः बारह अधिकारों के साथ इस अधिकार के सूत्र भी मिलाकर १५९४ सूत्र संख्या इस क्षुद्रक बन्ध में जानना चाहिए।

षट्खण्डागम के इन सूत्रों पर "सिद्धान्तचिन्तामणि" नाम की संस्कृत टीका आप सभी के लिए एक अपूर्व निधि है जो बीसवीं सदी के अंतिम दशक (सन् १९९७) में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखी गई मौलिक एवं सरल टीका है।

पूज्य माताजी ने मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र यात्रा के मध्य वापस आते हुए इस द्वितीय खंड की टीका का शुभारंभ "श्री पदमपुरा" अतिशयक्षेत्र पर दिनाँक १०-३-१९९७ (फाल्गुन शु. द्वितीया) को भगवान् पद्मप्रभ को नमस्कार करके किया है इसीलिए ग्रंथ के प्रारंभिक मंगलाचरण में पद्मप्रभ का निम्न श्लोक है—

श्री पद्मप्रभदेवाय, विश्वातिशयकारिणे।
नमोऽभीप्सित सिद्ध्यर्थं, ते च दिव्यध्वनिं नुमः।।१।।

अर्थात् विश्व में चमत्कार फैलाने वाले श्री पद्मप्रभ तीर्थंकर भगवान को अपने इच्छित कार्य की सिद्धि हेतु मेरा नमस्कार है तथा उनकी ऊँकारमयी दिव्यध्वनि को भी मेरा बारंबार नमन है।

इस मंगलाचरण के पश्चात् श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित पाँच छन्दों में पद्मप्रभ तीर्थंकर की मनोहारी स्तुति है। पुनः उन्होंने टीका की भूमिका में धवला टीका की पंक्ति उद्धृत करके बताया है कि—

"सव्वतित्थयरेहिंतो पउमप्पहभडारओ बहुसीसपरिवारो तीस सहस्साहिय-तिण्णि लक्खमेत्त मुणिगण परिवुदत्तादो।" एतन्निश्चित्य श्रीपद्मप्रभतीर्थंकर पादारविन्दयोः.....

अर्थात् समस्त तीर्थंकर भगवन्तों में श्री भट्टारक पद्मप्रभ तीर्थंकर का शिष्य परिवार सबसे अधिक था, तीन लाख तीस हजार मुनि उनके समवसरण में थे।

उन्होंने इस टीका में धवला टीका उद्धरणों के साथ-साथ अन्य गोम्मटसार, तत्त्वार्थसूत्र, सहस्रनाम स्तोत्र, तत्त्वार्थराजवार्तिक, अष्टपाहुड़, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्मनंदि पंचविंशतिका आदि अनेक ग्रंथों का आधार लेकर भी इस मौलिक टीकाग्रंथ को सरल और सरस बनाने का प्रयास किया है।

जैसे कालानुगम के मार्गणा अधिकार के समापन में उन्होंने २१६वें सूत्र की टीका का समापन करते हुए पद्मनंदि आचार्य का बहुत सुंदर श्लोक देकर सिद्धपद की महिमा बताई है—

जातिर्याति न यत्र यत्र च मृतो मृत्युर्जरा जर्जरा।
जाता यत्र न कर्मकायघटना को वाग् रुजो व्याधयः।।
यत्रात्मैव परं चकास्ति विशदं ज्ञानैकमूर्तिर्विभुः।
नित्यं तत्पदमाश्रिता निरुपमा सिद्धाः सदा पान्तु वः।।

अर्थात् जहाँ जन्म-मृत्यु के स्वयं मृत—नष्ट हो जाने पर संसार में पुनरागमन नहीं है, जहाँ वृद्धावस्था स्वयं जर्जरित होकर समाप्त हो गई है, जहाँ आत्मा के साथ कर्मों का तथा शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है, जहाँ वचनलापरूप वाणी नहीं है, व्याधियाँ आदि नहीं हैं वहाँ केवल अशरीरी आत्मा मात्र ज्ञानरूप में अनन्तकाल तक अवस्थित रहता है ऐसे उपमारहित सिद्धपरमेष्ठी भगवान हम सबकी रक्षा करें।

इस आत्मरक्षा की भावना से समन्वित पूज्य गणिनी माताजी सदैव अपने मूलगुणों के पालन में सजग रहती हैं। उन्होंने बाल्यकाल से ही पद्मनंदि पंचविंशतिका ग्रंथ को अपने स्वाध्याय का मूल स्रोत बनाया है और इसके अनेकानेक श्लोकों को कण्ठस्थ करके उन्हें अपने वैराग्य में परमसहायक माना है। यह पद्मनंदि पंचविंशतिका ग्रंथ उनकी जन्मदात्री माँ मोहिनी को सन् १९३२ में उनके विवाह में पिता श्री सुखपालदास जी (महमूदाबाद के धर्मनिष्ठ श्रावक) ने दहेज में प्रदान किया था। मोहिनी जी ने गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते ही पिता द्वारा प्रदत्त इस ग्रंथ का स्वयं स्वाध्याय किया पुनः अपनी प्रथम संतान के रूप में सन् १९३४ में जन्मी कन्या मैना को बचपन से ही इसके स्वाध्याय की प्रेरणा दी, जो उन्हें मैना से ज्ञानमती माताजी की अवस्था तक पहुंचाने में प्रबल निमित्त बन गया।

इस ग्रंथ के माहात्म्य से माँ मोहिनी जी ने स्वयं भी गृहस्थ कर्तव्यों के निर्वाह के पश्चात् आर्यिका दीक्षा धारण कर 'रत्नमती' नाम प्राप्त किया और उनके धर्मसंस्कारोंवश उनकी तीन पुत्रियाँ कु. मैना - गणिनी ज्ञानमती माताजी बनीं, कु. मनोवती - आर्यिका अभयमती माताजी हुईं एवं कु. माधुरी (मैं)-आर्यिका चंदनामती बनी तथा एक पुत्र कर्मयोगी ब्रह्मचारी रवीन्द्र कुमार जी भी दशम प्रतिमाधारी गृहविरत उत्कृष्ट श्रावक के रूप में जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर एवं मांगीतुंगी मूर्ति निर्माण कमेटी के पीठाधीश बनकर धार्मिक संस्थाओं का संचालन करते हुए मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हैं। इसके साथ ही ३ पुत्र एवं ६ पुत्रियाँ गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए यथाशक्ति अणुव्रतों सहित देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में तत्पर रहते हैं।

यहाँ प्रसंगोपात्त मैंने पद्मनंदि पंचविंशतिका ग्रंथ के माध्यम से पूज्य ज्ञानमती माताजी की माँ के गृहस्थ जीवन का अतिसंक्षिप्त उल्लेख किया है, इससे आप सभी पाठकों को एक बार उस ग्रंथ के स्वाध्याय की प्रेरणा अवश्य प्राप्त करना है जिससे आपका गृहस्थ जीवन सुखप्रद बनेगा।

इस ग्रंथ का सार समझने हेतु मैं यहाँ संक्षिप्त रूप से ग्रंथ का कुछ विषय प्रस्तुत कर रही हूँ—

बन्धक सत्त्वप्ररूपणा—इस भूमिका रूप प्ररूपणा में चौदह मार्गणाओं के भीतर कौन जीव कर्म बन्ध करते हैं और कौन नहीं करते यह बतलाया गया है। सब मार्गणाओं का भावार्थ यह निकलता है कि जहाँ तक योग अर्थात् मन, वचन, काय की क्रिया विद्यमान है वहाँ तक सब जीव बन्धक हैं, केवल अयोगी भगवान और सिद्ध भगवान अबन्धक हैं।

इस ग्रंथ में एक जगह सूत्र नं. ५३ की टीका में बादर एकेन्द्रिय जीवों के आयु बंध से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के आयु बंध को असंख्यात गुणे अधिक बार कहा है तो वहाँ प्रश्न उठा कि यह कैसे जाना जाता है ? तब पूज्य माताजी ने श्री वीरसेनाचार्य की ही पंक्ति को अपनी टीका में उद्धृत करके कह दिया है कि—"एदम्हादो जिणवयणादो" अर्थात् "इस जिनवचन से ही यह बात जानी जाती है।" इससे यह परिलक्षित हो जाता है कि ये सूत्र जिनवचन ही हैं। इसी प्रकार से पूज्य माताजी ने जगह-जगह धवला टीका की पंक्तियाँ या तो ज्यों की त्यों अपनी टीका में संजोई हैं अथवा कहीं-कहीं प्राकृत टीका के शब्दों को संस्कृत में निबद्ध करके उनके पूरे भाव को प्रगट करने का पुरुषार्थ किया है। इसी अधिकार में सूत्र नं. १४९ की टीका में गर्भ से लेकर आठ वर्ष की आयु में संयम धारण करने वाले मनुष्यों के कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण संयम काल माना गया है और तीस वर्ष की उम्र के पश्चात् परिहारविशुद्धि संयम की प्राप्ति का कथन मत-मतांतर की अपेक्षा इसमें पठनीय है।

कुल १२ अधिकारों से समन्वित क्षुद्रकबंध नाम का यह पूरा द्वितीय खण्ड इस एक ग्रंथ में समाविष्ट है, जिसके आद्योपान्त स्वाध्याय से जिज्ञासुओं को सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त होगा।

इस ग्रंथ की हिन्दी टीका करते समय मुझे परम आल्हाद का अनुभव हुआ। ग्रंथ का कलेवर वृहत्काय होने के कारण हिन्दी करने में समय अधिक तो लग गया किन्तु इस लेखन के मध्य ही मैंने वास्तु विधान, सप्तऋषि विधान, समयसार विधान और सोलहकारण विधानों की रचना (विशेषरूप से अष्टमी-चतुर्दशी एवं पर्व आदि के समय सिद्धांत स्वाध्याय के अनध्यायकाल में) भी करके देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का पुण्यार्जन किया है। मध्य में अनेक उत्सव-महोत्सवों की व्यस्तता में अनुवाद कार्य कई-कई महीने बंद रहा है, फिर भी

इसके हिन्दी अनुवाद से मुझे सिद्धान्त ग्रंथ के स्वाध्याय का अतीव लाभ प्राप्त हुआ है। हिन्दी टीका का लेखन भी अभीक्ष्णज्ञानोपयोगरूप स्वाध्याय ही है अतः इस लेखन में मैंने पूज्य माताजी के आदेशानुसार दिक्शुद्धि, कृतिकर्म आदि का पूरा ध्यान रखते हुए कार्य को सम्पन्न किया है।

पुस्तक ८

षट्खण्डागम का तृतीय खण्ड है—बंधस्वामित्वविचय अर्थात् इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इस खण्ड में कर्मों का बंध करने वाले स्वामियों का वर्णन किया है। यह पूरा तृतीय खण्ड एक ही ग्रंथ में निबद्ध है अतः १६ पुस्तकों में निबद्ध षट्खण्डागम (५ खण्डों की टीका समन्वित) की आठवीं पुस्तक में बंधस्वामित्व का पूरा विषय समाविष्ट है।

ग्रंथ को दो महाधिकारों में विभक्त किया गया है, जिसमें प्रथम महाधिकार में गुणस्थानों के माध्यम से बंधस्वामित्व का वर्णन करने वाले ४२ सूत्र हैं तथा द्वितीय महाधिकार में १४ मार्गणाओं के माध्यम से वर्णन करने वाले २८२ सूत्र हैं।

बंधस्वामित्वविचय नाम के इस ग्रंथ में मुख्य रूप से बताया है कि—मिथ्यादृष्टि जीवों से लेकर दशवें गुणस्थानपर्यंत संयत—मुनि बंधक हैं, शेष इनसे ऊपर के गुणस्थानवर्ती—उपशांतकषाय, क्षीणकषाय महामुनि, सयोगकेवली भगवान एवं अयोगकेवली भगवान तथा सिद्ध भगवान अबंधक हैं। इत्यादि प्रकार से इस ग्रंथ में विस्तार से कथन है।

इस महाग्रंथ—षट्खण्डागम में बंध के ४ प्रत्यय कहे गये हैं।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने भी अध्यात्मग्रंथ समयसार में कहा है—

बंध के करने वाले सामान्य प्रत्यय चार होते हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

श्री उमास्वामी आचार्यदेव के शब्दों में—

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच प्रत्यय बंध के लिए माने हैं।

इसलिए मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्वनिमित्तक बंध सभी आर्षग्रंथों में महान आचार्यों ने कहा ही है।

यदि केवलं कषाययोगौ बंधहेतू स्यातां तर्हि सर्वेषु शास्त्रेषु कथिता इमे चत्वारः प्रत्ययाः न सिद्ध्यन्ति, किन्तु शास्त्रेषु सहस्राधिकवाराणां प्रोक्तानामेतेषां अपलापो न कथमपि शक्यते।

अद्यत्वे केचिदाचार्याः कथयन्ति—

मिथ्यात्वप्रत्ययो न बंधहेतुः अकिञ्चित्करत्वात्।

ते केवलं इमां गाथां दर्शयन्ति—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।।

एतया गाथया अनन्तानन्तेषु संसारिप्राणिषु मिथ्यात्वा-संयमप्रत्ययनिमित्तेन ये कर्मबंधाः

कथितास्तत्सर्वं न सिद्ध्यति अतएव पूर्वापराविरोधेनागमग्रन्थानामर्थो ज्ञातव्यः।

तत्रैव द्रव्यसंग्रहे इयमपि गाथा वर्तते—

मिच्छत्ताविरदिपमाद-जोगकोहादओथ विण्णेया।
पण पण पणदह तियचदु-कमसो भेदा दु पुव्वस्स।।३०।।

अतः पूर्वापरसंबंधो गृहीतव्य एवेति।

अर्थात् यदि केवल कषाय और योग ही बंध के हेतु होंगे, तब तो सभी शास्त्रों में कहे गये ये चारों प्रत्यय सिद्ध नहीं हो सकेंगे किन्तु शास्त्रों में हजारों बार लिखित इन चार प्रत्ययों का अपलाप करना कथमपि—किसी भी प्रकार से शक्य नहीं है, ऐसा समझना।

वर्तमान में—आजकल कोई-कोई आचार्य कहते हैं—मिथ्यात्व प्रत्यय—कारण बंध का हेतु नहीं है, क्योंकि वह अकिंचित्कर है। ये आचार्य द्रव्यसंग्रह की पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस....इत्यादि गाथा को दिखाते हैं कि—

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बंध चार प्रकार का है। योग से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है। यह द्रव्यसंग्रह की गाथा है, इस गाथा से अनन्तानन्त संसारी प्राणियों में जो मिथ्यात्व और असंयमरूप दो प्रत्ययों के निमित्त से बंध कहा गया है वह सभी सिद्ध नहीं होगा, इसलिए पूर्वापर अविरोधी आगम ग्रंथों का अर्थ जानना चाहिए।

उसी द्रव्यसंग्रह में यह भी कहा है—

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय ये क्रमशः पूर्व के—भावास्रव के पाँच, पाँच, पंद्रह, तीन और चार भेद जानना चाहिए इसलिए पूर्वापर संबंध अवश्य लगाना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व के निमित्त से बंध के कारणों को जान करके मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व के माहात्म्य से बंध को क्रमशः घटाते हुए क्षपकश्रेणी में आरोहण करके बंध का विनाश करना चाहिए और जब तक ऐसी अवस्था नहीं प्राप्त होती तब तक रत्नत्रय की आराधना से उसमें भी विशेष रीति से सम्यग्ज्ञान की आराधना से कर्मबंध को कृश करना चाहिए।

कुछ विशेष ज्ञानवर्धक विषय हैं इसमें—षट्खण्डागम के नाम से यद्यपि साधारण व्यक्ति सोचता है कि ये तो बहुत कठिन ग्रंथ हैं, हम इनका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं किन्तु पूज्य माताजी ने वर्तमान में इन ग्रंथों को अपनी स्वतंत्र टीका के माध्यम से इतना सरल कर दिया है कि स्थिर उपयोग के साथ इनका स्वाध्याय करने पर काफी विषय आप भी समझ सकते हैं। पुनश्च इस आठवें ग्रंथ का विषय तो अति रुचिकर और वैराग्यवर्धक है, इसमें मुख्य रूप में कर्म की १४८ प्रकृतियों का स्वरूप और उनके बंध, उदय आदि की सामर्थ्य का वर्णन अवश्यमेव पठनीय है। जैसे कि सूत्र नं. ३५-३६ की टीका में आहारकशरीर के संबंध में कहा है कि—आहारक शरीर और आहारक आंगोपांग (आहारकद्विक) के बंध में चार संज्वलन, नौ नोकषाय और नौ योग ये २२ प्रत्यय—कारण हैं। इनके साथ-साथ तीर्थंकर देव, आचार्य, बहुश्रुत, उपाध्याय और प्रवचन, इनमें अनुराग करना आहारकद्विक का कारण है। इसके अतिरिक्त प्रमाद का अभाव भी आहारकद्विक का कारण है क्योंकि

प्रमादसहित मुनियों में आहारकद्विक का बंध नहीं पाया जाता है। आहारकद्विक का बंध देवगति से संयुक्त होता है क्योंकि अन्य गतियों के साथ उनके बंध का विरोध है। मनुष्य ही इनके बंध के स्वामी हैं क्योंकि अन्यत्र तीर्थंकर, आचार्य और बहुश्रुतविषयक राग संयम सहित पाया नहीं जाता है। आहारकद्विक प्रकृति का बंध सातवें, आठवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी महामुनियों के होता है और उनका उदय छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के होता है।

आजकल कोई-कोई निश्चयाभासी कहते हैं कि—"राग-अनुराग मिथ्यात्व ही है" उन्हें एकान्त दुराग्रह को छोड़कर इन सिद्धान्तवाक्यों को पढ़कर इन पर श्रद्धान करना चाहिए तभी सम्यक्त्व है अन्यथा सम्यग्दर्शन दूर ही रहता है।

'महाबंध' नाम के छठे खण्ड में भी कहा है—

"आहारकद्विक प्रकृतियाँ संयम के कारण से बंधती हैं।"

तीर्थंकरों के दीक्षा आदि कल्याणक महोत्सवों को देखने के लिए, जिनेन्द्रदेव की वंदना के लिए, अकृत्रिम, कृत्रिम जिनमंदिरों में विराजमान अकृत्रिम या कृत्रिम जिनप्रतिमाओं के दर्शन, स्तवन, वंदन के लिए भी आहारक शरीर उत्पन्न होता है। यह आहारक पुतला वहाँ जाकर आ जाता है और तब यहाँ भी मुनि को दर्शन, वंदना आदि का आनंद प्राप्त हो जाता है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड की कर्नाटकवृत्ति टीका में भी कहा है—'जिनवंदना के लिए और जिनमंदिरों की वंदना के लिए' भी आहारक शरीर उत्पन्न होता है। इससे यह जाना जाता है कि तीर्थंकर भगवान की वंदना करने की भावना से भी आहारक शरीर उत्पन्न होता है।

वर्तमानकाल में जो कोई कहते हैं कि—

मुनियों के मन में यदि तीर्थयात्रा की भावना होती है अथवा तीर्थ के ऊपर समाधिमरण की इच्छा होती है तो वे मुनि ही नहीं हैं—द्रव्यलिंगी हैं क्योंकि मुनियों को निर्विकल्प ही होना चाहिए, उनमें जो भी भक्ति, अनुराग के विकल्प हैं वे बंध के कारण ही हैं इसलिए वे 'मुमुक्षु' नहीं हैं—मोक्ष के इच्छुक नहीं हैं।

उनका कथन सत्य नहीं है ।

अहो! ये वृद्धिंगत चारित्र वाले ही संयमी—साधु सातवें, आठवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान की अवस्था में भी आहारकद्विक प्रकृतियों को बांधते हैं। पुनः उन्हीं भावलिंगी मुनियों के ही प्रमत्तसंयत—छठे गुणस्थान में आहारकऋद्धि उत्पन्न होती है।

यह पूरा प्रकरण इस टीका ग्रंथ में पृ. १०७ से ११३ तक पठनीय है जिसे पढ़कर अपनी श्रद्धा को समीचीन बनाना चाहिए। इसी प्रकार आगे सूत्र नं. ३७-३८ की टीका में तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति के बंध के कारणों का सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है—यहाँ यह और विशेष ज्ञातव्य है कि—द्रव्यवेद से पुरुषवेदी तीर्थंकर प्रकृति को बांधते हैं, भाववेद से स्त्रीवेदी अथवा भावनपुंसकवेदी भी बांधते हैं।

कहा भी है पंचसंग्रह ग्रंथ में—

स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में भी तीर्थंकर और आहारक का बंध विरुद्ध नहीं है, उदय का ही पुरुषवेद में नियम है। यहाँ स्त्रीवेद और नपुंसक में भाववेद ही लेना है न कि द्रव्यवेद, क्योंकि द्रव्यवेद से पुरुषवेदी ही होना चाहिए।

इस ग्रंथ के सूत्र नं. ४१ में सोलहकारण भावनाओं के नाम दिये हैं। उनमें और तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सोलहकारण भावनाओं के नामों में थोड़ा सा अन्तर है उसे पूज्य माताजी ने टीका में (पृ. १२० से १४१ तक) दर्शाया है, इसे पढ़कर पाठकगण इन भावनाओं को शक्ति के अनुसार भाएं और क्रमशः तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके पंचकल्याणक वैभव को प्राप्त करें, यही स्वाध्याय का सार होगा।

इसी प्रकार के अनेक महत्वपूर्ण विषयों से यह सिद्धान्तचिंतामणिटीका सचमुच अपने नाम को सार्थक करने वाली है। कई स्थानों पर इसमें प्रथमानुयोग के उदाहरणों ने विषय को सरलतम बनाने में अपना पूरा सहयोग प्रदान किया है। मूलतः आठ कर्मों के १४८ भेदों में १२० कर्मप्रकृतियाँ बंधयोग्य मानी गई हैं, उन्हीं बंधयोग्य प्रकृतियों के सान्तर बंध और निरन्तर बंध इन दो प्रकारों से बंधस्वभाव को इसमें दर्शाया गया है। इसी संदर्भ में सूत्र नं. १५४ की टीका में तीर्थंकर प्रकृति को निरन्तर बंधी बताते हुए कहा है—

तीर्थकरस्य बंधोदयव्युच्छेदसन्निकर्षो नास्ति, सत्त्वा-सत्त्वयोः सन्निकर्षविरोधात्। परोदयो बंधः, मनुष्यगति मुक्त्वान्यत्रोदया भावात्। निरन्तरो बंधः, एकसमयेन बंधो-परमाभावात्।

प्रत्ययाः सुगमाः। मनुष्यगतिसंयुक्तं। देवा नारकाः स्वामिनः। असंयतसम्यग्दृष्टयः अध्वानं। बंधविनाशो नास्ति। साद्यध्रुवौ बंधः।

अर्थात् तीर्थंकर प्रकृति के बंध उदय के व्युच्छेद की सदृशता नहीं है क्योंकि सत् और असत् की तुलना का विरोध है। परोदय बंध होता है क्योंकि मनुष्यगति को छोड़कर अन्य गतियों में तीर्थंकर प्रकृति के उदय का अभाव है इसलिए निरंतर बंध होता है, क्योंकि एक समय से उसके बंधविश्राम का अभाव है। प्रत्यय सुगम हैं। मनुष्यगति से संयुक्त बंध होता है। इसके बंध के यहाँ देव व नारकी स्वामी हैं। बंधाध्वान असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। बंधविनाश नहीं है। सादि व अध्रुव बंध होता है।

इसका आशय यह है कि तीर्थंकर प्रकृति बंध के बाद जीव नियम से एक भव देव का धारण करता है और वहाँ से आकर मनुष्य जन्म धारणकर पंचकल्याणक वैभव को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। कदाचित्-क्वचित् किसी ने पहले नरकायु का बंध करके पुनः तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया है तो वह (राजा श्रेणिक के समान) प्रथम नरक में जा सकता है और वहाँ से आकर मनुष्य भव धारण कर वह भी नियम से पंचकल्याणक वैभव के साथ निर्वाण को प्राप्त करता है। इसी अपेक्षा से देव और नारकियों को इसके बंध का स्वामी कह दिया है किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का उदय केवल मनुष्यगति में तेरहवें गुणस्थान में ही होता है।

दिगम्बर जैन आगमानुसार यह अटल सत्य है कि द्रव्य पुरुषवेदी को ही मुनि अवस्था में निर्वाण की प्राप्ति होती है, द्रव्य स्त्रीवेदी को नहीं किन्तु भाववेद के अनुसार पूरे षट्खण्डागम में अनेक जगह स्त्री-पुरुष वेदियों के कुछ विशेष अधिकार बताये हैं।

पूज्य माताजी ने द्वितीय महाधिकार के साथ ग्रंथ का समापन करते हुए लिखा है कि—

यहाँ इस ग्रंथराज को पढ़ने-पढ़ाने का यही सार है कि—

इन एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियों के मध्य एक तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति ही है जो स्वयं अपनी आत्मा को संसार के दुःखों से निकालने में और अनंत प्राणियों के ऊपर भी अनुग्रह करने में समर्थ है इसलिए जो

भी महापुरुष तीर्थंकर प्रकृति के बंध करने वाले हैं वे ही धन्य हैं। इन तीर्थंकर प्रकृति के बंधकर्ताओं की देव भी और सौधर्म इन्द्र आदि भी वंदना करते हैं, नवकेवललब्धि समन्वित उन सभी तीर्थंकर भगवन्तों को नमस्कार हो, नमस्कार हो।

और हिन्दी टीका को मोक्षसप्तमी (श्रावण शुक्ला सप्तमी) को भगवान पार्श्वनाथ के मोक्षकल्याणक दिवस पर पूर्ण करते हुए सुन्दर सा श्लोक दिया है—

मंगलं पार्श्वनाथोऽर्हन्, त्रयोविंशो जिनेश्वरः।
मंगलं मोक्षकल्याणं, मंगलं मोक्षसप्तमी।।१।।

अर्थात् तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ हम सबका मंगल करें, उनका मोक्षकल्याणक मंगलकारी होवे एवं मोक्षसप्तमी तिथि सबके लिए मंगलदायी होवे।

इसके पश्चात् ग्रंथ के उपसंहार में कुछ विशेष विषय प्रस्तुत कर सोलहकारण भावनाओं का अंतर (षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार) बताया है जो कि विशेष पठनीय है। इसके साथ ही माताजी ने १४८ कर्मों से रहित होने की भावना को साकार करने हेतु चिंतन करने की दृष्टि से १४८ मंत्र बहुत सुन्दर बनाये हैं, जैसे—**ज्ञानावरणीयकर्मरहितोऽहं शुद्धचिन्मयचिन्तामणिस्वरूपोऽहम्, दर्शनावरणीयकर्म-रहितोऽहं, शुद्धचिन्मय चिन्तामणि स्वरूपोऽहम्..... इत्यादि।** जो कि सामायिक एवं ध्यान के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। अंत में अन्त्यवंदना, संस्कृत एवं हिन्दी टीका संबंधी प्रशस्ति आदि को पढ़कर टीकाकर्त्री की गुरु परम्परा, उनकी गृहस्थावस्था की कुल परम्परा, ज्ञानाराधना, धर्मप्रभावना, तीर्थ निर्माण प्रेरणा, साहित्य सृजन आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।

यद्यपि पूज्य माताजी ने सोलह ग्रंथों की संस्कृत टीका सन् १९९५ में प्रारंभ करके सन् २००७ (११ वर्ष ७ मास) में पूर्ण कर लिया था किन्तु उनकी हिन्दी टीका में मेरे द्वारा विलंब होने के कारण उन्होंने इस आठवीं पुस्तक की भी हिन्दी टीका स्वयं कर दी है।

इस आठवीं पुस्तक (तृतीय खण्ड) का यथासंभव पारायण, अवलोकन करके मैंने यहाँ किंचित् विषय प्रस्तुत किया है। पाठकजन इसे पढ़कर पूरे ग्रंथ के हार्द को समझ सकेंगे तो लेखन की सार्थकता होगी।

पुस्तक ९

आग्रायणीय पूर्व के चौदह अर्थाधिकारों में से "चयनलब्धि" नामक पाँचवें अधिकार में जो बीस प्राभृत हैं उनमें से चतुर्थ "महाकर्मप्रकृति प्राभृत" है। उसमें वर्णित चौबीस अनुयोगद्वारों में से नवमीं पुस्तक में मात्र प्रथम "कृति" अनुयोगद्वार ही वर्णित है। इस ग्रंथ के छियालिसवें सूत्र में कृति के सात भेद किये हैं—

१. नामकृति २. स्थापनाकृति ३. द्रव्यकृति ४. गणनकृति ५. ग्रंथकृति ६. करणकृति और ७. भावकृति।

इन कृतियों का वर्णन करके अंत में कहा है कि यहाँ 'गणनकृति' से प्रयोजन है। इस ग्रंथ में श्री भूतबली आचार्य ने "णमो जिणाणं" आदि गणधरवलय मंत्र लिये हैं जो कि भगवान महावीरस्वामी के प्रमुख गणधर श्री गौतमस्वामी द्वारा रचित हैं। यहाँ "णमो जिणाणं" से लेकर "णमो बड्ढमाणबुद्धरिसिस्स" तक चवालिस मंत्र लिए

हैं तथा अन्यत्र मुनियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण एवं "प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी" टीका ग्रंथ तथा भक्तामरस्तोत्र के ऋद्धिमंत्र आदि में अड़तालिस मंत्र हैं।

इस ग्रंथ में कुल ७६ सूत्र (४४ गणधरवलय मंत्र सहित) हैं। इन सूत्रों पर पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा रचित "सिद्धांतचिंतामणि" नाम की संस्कृत टीका का प्रारंभीकरण १६ छन्दों में निबद्ध २१ श्लोकों में भगवान ऋषभदेव की स्तुति से हुआ है।

नवमीं पुस्तक में पूज्य माताजी ने श्री भूतबली आचार्य द्वारा इसमें निबद्ध किये गये ४४ गणधरवलय मंत्रों (श्री गौतमगणधर रचित) की टीका में धवला टीका, तिलोयपण्णत्ति, राजवार्तिक, प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी आदि ग्रंथों के आधार से ऋद्धियों का सुंदर वर्णन करके पद्मपुराण ग्रंथ से ऋद्धिधारी सप्तऋषियों का उदाहरण देकर प्रथमानुयोग को भी इसमें प्रविष्ट कर दिया है ताकि पाठकजन ऋद्धियों का माहात्म्य जानकर ऋद्धिधारी मुनियों की भक्ति से लाभ प्राप्त कर सकें।

इन ४४ सूत्रों के पश्चात् गौतमस्वामी गणधरदेव की तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी के प्रति समवसरण में की गई अप्रतिम भक्ति को प्रदर्शित करते हुए पहले समवसरण का सुंदर वर्णन किया है पुनः भगवान महावीर का गर्भकाल, कुमारकाल, छद्मस्थकाल, केवलीकाल आदि का सप्रमाण वर्णन दिया है जो कि पूरा पठनीय है और अपने द्वारा माताजी ने स्वयं अनुष्टुप् छंद के ४१ श्लोकों में गणधरवलय स्तुति रची है।

गणधरवलयमंत्र समन्वित प्रथम मंगलाचरण अधिकार के पश्चात् आगे इसमें ३२ सूत्रों में निबद्ध कृतिअनुयोगद्वार नाम का द्वितीय अधिकार है, जिसमें सात प्रकार की कृति से समन्वित कर्मप्रकृति-प्राभृत के साथ-साथ जयधवला एवं मूलाचार ग्रंथ के आधार से दिगम्बर मुनि-आर्यिकाओं के अहोरात्रि संबंधी २८ कृतिकर्मों का सुंदर विवेचन है। द्वादशांग श्रुतज्ञान के अन्तर्गत अलग-अलग अंग और पूर्वों का वर्णन विशेष पठनीय है। इस नवमीं पुस्तक के ५४वें सूत्र की टीका में आगम का स्वरूप बतलाकर उसकी वाचना के लिए द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि के वर्णन में कालशुद्धि का विषय सिद्धान्तग्रंथ के स्वाध्यायीजनों के लिए अवश्यमेव दृष्टव्य है, उसी के अनुसार अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या तिथि में और अष्टान्हिका पर्व आदि में सिद्धांत ग्रंथों के स्वाध्याय का निषेध किया गया है। प्रतिदिन के स्वाध्याय में भी चार काल के स्वाध्याय में से वैरात्रिक——पिछली रात्रि के स्वाध्याय में सिद्धांतग्रंथ के पठन का निषेध है और उन तीन समयों में भी स्वाध्याय करने हेतु दिक्शुद्धि आदि करने की जानकारी भी आवश्यक होती है जो इसमें पूज्य माताजी ने मूलाचार-आचारसार आदि ग्रंथों के आधार से प्रामाणिक रूप में दी है। जैसे— मूलाचार के समाचार अधिकार से उन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण गाथा का उल्लेख किया है—

दव्वादिवदिक्कमणं, करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण।
असमाहिमसज्झायं, कलहं वाहिं वियोगं च।।१७१।।

अर्थात् द्रव्यादि शुद्धियों का उल्लंघन करके जो ज्ञान के लोभ से सूत्र ग्रंथों का स्वाध्याय करते हैं वे असमाधि, अस्वाध्याय, पारस्परिक कलह और शिष्यों के वियोग आदि दुःख को प्राप्त करते हैं।

इसका तात्पर्य उन्होंने अपनी टीका में मूलाचार की टीका के आधार से ही दिया है कि—

किंच कालशुद्ध्यादिभिः शास्त्रं पठितं कर्मक्षयाय भवत्यन्यथा कर्मबन्धायेति।

"क्योंकि कालशुद्धि आदिपूर्वक शास्त्र स्वाध्याय कर्मक्षय के लिए होता है अन्यथा वह कर्मबंध का कारण बन जाता है"। पुनः प्रश्नोत्तर से विषय को स्पष्ट कर दिया है—

कानीमानि शास्त्राणि यानिद्रव्यादिशुद्धिभिर्विना पठितं न शक्यन्ते ?

सिद्धान्तग्रन्थान्येव न पठितुं युज्यन्ते शेषशास्त्राणां पठन-पाठनयोर्नास्ति दोषः।

अर्थात् कौन से शास्त्र ऐसे हैं, जो द्रव्यादि की शुद्धि के बिना नहीं पढ़े जा सकते हैं ?

उत्तर—केवल सिद्धांतग्रंथ ही हैं जो द्रव्यादि की शुद्धि के बिना नहीं पढ़ना चाहिए, शेष शास्त्रों के पठन-पाठन में कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार से विविध पठनीय विषयों के साथ यह नवमीं पुस्तक स्वाध्याय के लिए परम उपयोगी कृति है, अन्त में इसकी प्रशस्ति भी पठनीय है जिसे पढ़कर आपको अनुभव होगा कि अनेकानेक धर्मप्रभावना के कार्यों को सम्पन्न कराते हुए भी पूज्य गणिनी माताजी का कैसा अभीक्ष्णज्ञानोपयोग रहा है कि उन्होंने षट्खण्डागम जैसे दुरूह ग्रंथ की टीका भी सहज में लिखकर इस युग में भी आचार्य श्री वीरसेनस्वामी का स्मरण करा दिया है।

पुस्तक १०

इस ग्रंथ में 'वेदना' नाम का द्वितीय अनुयोगद्वार है। इस वेदनानुयोगद्वार के १६ भेद हैं, जिसमें से इस ग्रंथ में प्रारंभ के ५ अनुयोगद्वारों का ३२३ सूत्रों में तीन महाधिकारों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है जबकि धवला टीका में प्रारंभ के ४ अनुयोगद्वारों का वर्णन किया है, उन्होंने पंचम अनुयोगद्वार को ११वीं पुस्तक में लिया है। इस ग्रंथ का शुभारंभ पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने सर्वप्रथम ९ श्लोकों में एवं ८ छंदों में निबद्ध द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ की स्तुति से करके पुनः लोकाग्र पर विराजमान सिद्धों की वंदना से किया है। पुनः षट्खण्डागम की पूरी विषयवस्तु संक्षेप में देकर दशवें ग्रंथ के समस्त सूत्रों की समुदायपातनिका प्रस्तुत की है ताकि हर स्वाध्यायी शीघ्रता से ग्रंथ का स्वरूप प्रारंभ में ही समझ सके।

इस ग्रंथ में 'वेदना' नाम का द्वितीय अनुयोगद्वार है। इस वेदनानुयोग द्वार के १६ भेद हैं—१. वेदनानिक्षेप २. वेदनानयविभाषणता ३. वेदनानामविधान ४. वेदनाद्रव्यविधान ५. वेदनाक्षेत्रविधान ६. वेदनाकालविधान ७. वेदनाभावविधान ८. वेदनाप्रत्ययविधान ९. वेदनास्वामित्वविधान १०. वेदनावेदना-विधान ११. वेदनागतिविधान १२. वेदनाअनंतरविधान १३. वेदनासन्निकर्षविधान १४. वेदनापरिमाणविधान १५. वेदना-भागाभागविधान और १६. वेदनाअल्पबहुत्वविधान।

इन १६ अनुयोगद्वारों में से इस दशवीं पुस्तक में प्रारंभ के ५ अनुयोग द्वारों का वर्णन है।

सिद्धान्त के कठिन विषय को भी पूज्य माताजी ने अन्य ग्रंथों के आधार से सरल बनाने का जो उपक्रम किया है वह निश्चित ही सराहनीय है। जैसे १४३ सूत्रों तक टीका लिखने के बाद "गुणकारानुयोगद्वार गर्भित अल्पबहुत्वद्वार" प्रकरण का समापन करते हुए उन्होंने अपने तात्पर्य अर्थ में लिखा है—

"इमाः सर्वाः वेदनाः सर्वज्ञैरेव गम्यते न च अस्माभिः। वयं तु शारीरिक-मानसिक-आगंतुकादि नानाविधाः वेदनाः अनुभवामः। ताभ्यः कथं मुक्ता भविष्याम इत्येव चिन्तयितव्यम्। तथा तासां वेदनानां अनुभवनेन विमुक्तो

भूत्वा निर्विकल्पे ध्याने स्थानं प्राप्तुं यावत् न शक्नुमः तावत् शक्त्यनुसारेण देशव्रतानि महाव्रतानि वा गृहीतव्यानि भवन्ति। एतन्निश्चयो विधातव्यः।"

अर्थात् ये सभी प्रकार की वेदनाएँ सर्वज्ञ भगवान के द्वारा ही गम्य हैं, हम लोगों के द्वारा इन्हें सूक्ष्मता से नहीं जाना जा सकता है। हम सब तो शारीरिक-मानसिक और आगन्तुक आदि नाना प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करते हैं। उन वेदनाओं से कैसे मुक्ति मिलेगी, यही हमें चिंतन करना चाहिए तथा उन वेदनाओं — कष्टों से छूटकर आत्मा के निर्विकल्प ध्यान में स्थिर होने में जब तक समर्थ न हो सकें तब तक शक्ति के अनुसार देशव्रत अथवा महाव्रतों को ग्रहण करें, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

पूज्य माताजी की संस्कृत टीका में शब्दों का संयोजन प्रायः अत्यन्त सरल है। बड़े-बड़े समासपदों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है और अधिकतम संधि विच्छेदरूप ही वाक्यों की संरचना है ताकि अल्प संस्कृत ज्ञाता को भी विषयवस्तु समझने में समय न लगे।

कुल मिलाकर इस ग्रंथ को समापन करते हुए टीकाकर्त्री ने तात्पर्य यह बताया है कि वेदनाक्षेत्र विधान नाम के अनुयोगद्वार को पढ़कर मनुष्यपर्याय को प्राप्त करके अपने शरीरप्रमाण आत्मप्रदेश रहते हैं। यद्यपि ये प्रदेश संकोच और विसर्पण की अपेक्षा अपने शरीरप्रमाण ही रहते हैं फिर भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा लोकाकाशप्रमाण असंख्यात हैं। केवल केवलीसमुद्घात के काल में ही वे प्रदेश सम्पूर्ण लोक को आपूरित करते हैं, किसी अन्य काल में ऐसा नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार निश्चित करके स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा शुद्ध चिन्मय चिंतामणिस्वरूप स्वात्मतत्त्व का ध्यान करना चाहिए।

इस दशम ग्रंथ की टीका की पूर्णता पूज्य माताजी ने भगवान् नेमिनाथ की जन्मभूमि शौरीपुर तीर्थ पर किया था इसलिए तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान एवं शौरीपुरी तीर्थ का इसमें उल्लेख करते हुए उनकी निर्वाणभूमि गिरनार तीर्थ को भी बारम्बार नमन किया है। प्रसंगोपांत इसमें चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों की १६ जन्मभूमियों के एवं ५ निर्वाणभूमियों के नाम भी समाविष्ट किये गये हैं। ग्रंथ का उपसंहार पठनीय है।

पुस्तक ११

इस ग्रंथ में मुख्य रूप से वेदनाकालविधान और वेदनाभावविधान का वर्णन है।

इसमें कुल ४ महाधिकार हैं अर्थात् वेदनाकालविधान के दो महाधिकार और वेदनाभावविधान में दो महाधिकार बनाये हैं।

प्रथम वेदनाकालविधान नाम के अनुयोगद्वार में पहले नामकाल, स्थापनाकाल, द्रव्यकाल, समाचारकाल, अद्धाकाल, प्रमाणकाल और भावकाल इस प्रकार के ७ भेदों का निर्देश करके इनके और उत्तर भेदों को बतलाया गया है। इसमें तद्व्यतिरिक्तनोआगम द्रव्यकाल के प्रधान और अप्रधान रूप से दो भेद बताए हैं। इनमें जो काल शेष पाँचों द्रव्यों के परिणमन में हेतु है वह प्रधानकाल माना गया है। यह प्रधानकाल कालाणुस्वरूप होकर संख्या में लोकाकाशप्रदेशों के बराबर, रत्नराशि के समान प्रदेशप्रचय से रहित, अमूर्त एवं अनादिनिधन है। अप्रधानकाल सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का बताया है। इनमें दंशकाल (डाँस मच्छरों का समय) तथा मशककाल

(मच्छरों का समय) आदि को सचित्तकाल कहते हैं एवं धूलिकाल, कर्दमकाल, वर्षाकाल, शीतकाल व उष्णकाल आदि अचित्तकाल तथा सदंश शीतकाल आदि को मिश्रकाल से नामांकित किया गया है।

इसी प्रकार समाचार काल को भी लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो भागों में विभक्त किया है। ये सारे विषय इस ग्रंथ में पठनीय हैं। इस वेदनाकालविधान के अन्तर्गत दो चूलिकाओं का वर्णन किया है।

इस ग्रंथ में टीकाकर्त्री ने वेदनाभावविधान की तीन चूलिकाओं को अलग-अलग अधिकारों में विभक्त किया है तथा यथास्थान कहीं-कहीं अपने लेखनस्थलों का भी उनमें उल्लेख करके ग्रंथ को ऐतिहासिक दस्तावेज से परिपूर्ण बना दिया है। यथा—प्रथम चूलिका के प्रारंभ में सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र की वंदना है—

सिद्धान् सर्वान्नमस्कृत्य, सिद्धस्थानं जिनेशिनाम्।
पूज्यं सम्मेदशैलेन्द्रं, भक्त्या संस्तौमि सिद्धये।।१।।

इस प्रकार से २० छंदों में निबद्ध इस वंदना के पश्चात् उन्होंने संस्कृत गद्य की पंक्तियों में लिखा है जिसका हिन्दी भाव यह है कि—

आज मैंने सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर पर्वतराज की वंदना के निमित्त आकर चोपड़ाकुण्ड दिगम्बर जैन मंदिर की धर्मशाला में रहकर सभी कूटों की वंदना संघ सहित करके इस सिद्धांतचिंतामणि टीका का लेखन (चैत्र कृष्णा पंचमी, सन् २००३ में) किया है.... आदि।

तीनों चूलिकाओं की समाप्ति के साथ इस ग्यारहवीं पुस्तक का समापन करते हुए पूज्य माताजी ने तात्पर्य में लिखा है कि—

इस महाग्रंथ को पढ़कर कर्मबंध के कारणों से विरक्त होकर अपने आत्मतत्त्व का चिंतन करना चाहिए। मेरा आत्मा भगवान् आत्मा है, मैं राग-द्वेष और क्रोधादि कषाय एवं पंचेन्द्रिय विषय व्यापार से आत्मा को पृथक् करके कब अपने परमात्मतत्त्व को प्राप्त करूँगा, ऐसी भावना के द्वारा भव्य जीव रत्नत्रय की शुद्धि और सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

पुस्तक १२

वेदनाअनुयोगद्वार में मुख्य सोलह अधिकार माने हैं। उनमें से अंतिम नौ अधिकार (आठवें से सोलहवें तक) इस सिद्धान्तचिंतामणि टीका के १२वें ग्रंथ में हैं अर्थात् इसमें वेदनाप्रत्ययविधान, वेदनास्वामित्वविधान, वेदनावेदनाविधान, वेदनागतिविधान, वेदनाअनन्तरविधान, वेदनासन्निकर्षविधान, वेदनापरिमाणविधान, वेदनाभागाभागविधान और वेदनाअल्पबहुत्व विधान हैं।

पूज्य माताजी ने मंगलाचरण के पश्चात् ग्रंथ की भूमिका में बताया है कि इस बारहवीं पुस्तक में नौ अनुयोगद्वारों का निरूपण करने हेतु पाँच सौं तेंतीस (५३३) सूत्रों में दो महाधिकारों को विभाजित किया है।

इनमें से पाँच अधिकारों में विभक्त प्रथम महाधिकार में पाँच वेदनाओं का वर्णन है एवं द्वितीय महाधिकार के अन्तर्गत चार अधिकारों में शेष चार वेदनाओं का कथन किया है। सर्वप्रथम **वेदनाप्रत्यय-विधान** में नैगम आदि नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की वेदना के बंध कारणों का वर्णन है। इसमें नैगम, संग्रह और

व्यवहारनय की अपेक्षा सब कर्मों की वेदना के बंध में २८ कारण (प्राणातिपात, मृषावाद, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग आदि) ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योग से तथा स्थिति और अनुभागबंध कषाय से होता है। शब्दनय की अपेक्षा किससे किसका बंध होता है यह कहना संभव नहीं है क्योंकि नय में समास का अभाव पाया जाता है (१५वें सूत्र के अनुसार)।

आगे **वेदनास्वामित्वविधान** नामक प्रकरण में ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के स्वामी का वर्णन है। इसके अंदर नयभेदों से स्वामी के भंगों का विषय पठनीय है।

पुनः **वेदनावेदनाविधान** नाम के अधिकार में सर्वप्रथम नैगमनय की अपेक्षा जीव, प्रकृति और समय इनके एकत्व और अनेकत्व का अवलम्बन लेकर ज्ञानावरण वेदना के एक संयोगी, द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी भंगों का प्ररूपण किया गया है.....आदि।

आगे **वेदनागतिविधान** में ज्ञानावरणादि कर्मों की अपेक्षा भेद से क्या स्थित है, क्या अस्थित है, या क्या स्थितास्थित है, इस बात का वर्णन किया गया है। नैगमादि नयों की अपेक्षा घाति और अघाति कर्मों की वेदना स्थित, अस्थित, स्थितास्थित का विचार इसमें किया गया है।

वेदनाअनन्तरविधान नाम के अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होने पर वे उसी समय फल देते हैं या कालांतर में फल देते हैं इस विषय का विवेचन है।

वेदनासन्निकर्षविधान प्रकरण में आठों कर्मों की वेदना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य दोनों रूप बताई गई है।

वेदनापरिमाणविधान में आठों कर्मों के भेदों का विवेचन करते हुए ज्ञानावरण और दर्शनावरण की असंख्यात लोकप्रमाण प्रकृतियाँ क्यों हैं इसका वर्णन करके अन्य सभी कर्मों की प्रकृतियों का परिमाण बताया गया है।

वेदनाभागाभागविधान में प्रकृत्यर्थता, समयप्रबद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्यास की अपेक्षा अलग-अलग ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों के भागाभाग का वर्णन है।

वेदनाअल्पबहुत्वविधान नाम के अधिकार में उपर्युक्त तीनों की अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मों के अल्पबहुत्व का कथन किया गया है।

इस प्रकार सोलहों अनुयोगद्वारों के कथनपूर्वक वेदनाखण्ड नाम का चतुर्थ खण्ड समाप्त हुआ है।

इस बारहवें ग्रंथ के उपसंहार में पूज्य माताजी ने भगवान महावीर की पंचकल्याणक भूमियों एवं प्रथमदेशनाभूमि (कुण्डलपुर, जृंभिका, राजगृही, पावापुरी, गुणावां) का परिचय एवं गौतमगणधर स्वामी का परिचय बहुत ही सुंदर रूप में प्रस्तुत किया है।

इस ग्रंथ के अंत में चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमि वंदना भी बहुत महत्वपूर्ण है।

इन पुण्यवर्धिनी भावनाओं के साथ पूज्य माताजी ने चतुर्थ खण्ड का समापन करके अपने मानसिक आल्हाद को प्रगट किया है। आप सभी पुण्यात्मा भव्य प्राणी इन ग्रंथों का स्वाध्याय करके अपने ज्ञान की वृद्धि करें, यही इसकी सार्थकता होगी।

इन ग्रंथों में से १३ तक का हिन्दी अनुवाद तो हो चुका है, १४वीं की संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद अभी

चल रहा है, इसीलिए १३वीं से १६वीं पुस्तक तक संस्कृत में ही छापने का निर्णय किया गया। पूज्य माताजी की प्रेरणानुसार मैं इन ग्रंथों का अनुवाद क्रमशः कर रही हूँ। जिस ग्रंथ का अनुवाद पूर्ण होगा, उसका पृथक् संस्कृत-हिन्दी टीका सहित प्रकाशन होकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होगा।

पुस्तक १३

षट्खण्डागम के पाँचवें खण्ड का नाम है—वर्गणाखण्ड। यह वर्गणाखण्ड चार ग्रंथों (१३-१४-१५-१६) में निबद्ध है।

यहाँ सर्वप्रथम तेरहवें ग्रंथ के विषय का परिचय आपको प्राप्त करना है कि स्पर्श अनुयोगद्वार से वर्गणाखण्ड का जो प्रारंभ हुआ है, सो इस ग्रंथ में स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अनुयोगद्वारों का वर्णन है।

इसमें 'स्पर्श अनुयोगद्वार' के अन्तर्गत सोलह अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान, स्पर्शक्षेत्रविधान, स्पर्शकालविधान, स्पर्शभावविधान, स्पर्शप्रत्ययविधान, स्पर्शस्वामित्वविधान, स्पर्शस्पर्शविधान, स्पर्शगतिविधान, स्पर्शअनंतरविधान, स्पर्शसन्निकर्षविधान, स्पर्शपरिमाणविधान, स्पर्शभागाभागविधान और स्पर्शअल्पबहुत्व।[२]

पुनश्च प्रथम भेद 'स्पर्शनिक्षेप' के १३ भेद किये हैं—नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनंतरक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बंधस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श[३]।

कर्म अनुयोगद्वार में भी प्रथम ही १६ अनुयोगद्वाररूप भेद कहे हैं—कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता, कर्मनामविधान आदि। पुनश्च कर्मनिक्षेप के दश भेद किये हैं-नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म।

इन १० भेदों में से अधःकर्म का वर्णन कर्मानुयोगद्वार के सूत्र नं. २१-२२ की टीका में पूज्य माताजी ने राजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, कसायपाहुड़, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और भावपाहुड़ आदि ग्रंथों के आधार से बहुत सुन्दर किया है। यहाँ औदारिकशरीर को अधःकर्म शब्द से कहकर उसके उपद्रवण आदि निमित्तों से अपमृत्यु की संभावना बताई है और चरमोत्तम देहधारियों में से उत्तम शरीरधारी चक्रवर्ती और अर्धचक्रियों के भी अकालमरण कहा है।

यथा—**गुरुदत्तपाण्डवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनान्ना-स्त्यनपवर्त्यायुर्नियम- इति न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्त-मस्ति। तथा चोत्तमदेहत्वेऽपि सुभौमब्रह्मदत्तापवर्त्यायुर्दशनात्। कृष्णस्य च जरत्कुमारबाणेनापमृत्युदर्शनात्। सकलार्धचक्र-वर्तिनामप्यनपवर्त्यायुर्नियमो नास्ति इति राजवार्तिकालंकारे प्रोक्तमस्ति।**

अर्थात् तद्भवमोक्षगामी गुरुदत्त मुनि, पाँचों पाण्डव महामुनियों की उपसर्ग के कारण अकालमृत्यु हुई एवं सुभौमचक्रवर्ती, ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती तथा अर्धचक्री, नारायण, प्रतिनारायण आदि के भी अकालमरण के उदाहरण आगम में प्राप्त होते है।।

यह पूरा प्रकरण टीका में पठनीय है इसे पढ़कर जो लोग अकालमरण को नहीं मानते हैं, उन्हें अपनी श्रद्धा समीचीन बनाना चाहिए।

आगे इसमें 'तपःकर्म' के बारह भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'क्रियाकर्म' में—

"तमादाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तियोणदं, चदुस्सिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम[४]।।२८।।"

यह क्रियाकर्म विधिवत् सामायिक—देववंदना में घटित होता है। इसी सूत्र को उद्धृत करके अनगारधर्मामृत, चारित्रसार आदि ग्रंथों में साधुओं की सामायिक को 'देववंदना' रूप में सिद्ध किया है। इसका स्पष्टीकरण मूलाचार, आचारसार आदि ग्रंथों में भी है। 'क्रियाकलाप' जिसका संपादन पं. पन्नालाल सोनी ब्यावर वालों ने किया था उसमें तथा पूज्य गणिनी माताजी द्वारा संकलित (पद्यानुवाद सहित) 'मुनिचर्या' में भी यह विधि सविस्तार वर्णित है। इन प्रकरणों को पढ़ते समय एक अद्भुत ही आनंद का अनुभव होता है।

इस ग्रंथ में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान का बहुत ही सुन्दर विवेचन है।

जिसमें श्रुतज्ञान की व्याख्या में पूज्य माताजी ने प्रतिष्ठातिलक आदि ग्रंथों के आधार से द्वादशांगमयी सरस्वती माता की प्रतिमा बनाने का भी उल्लेख किया है।

अनंतर सर्व कर्मों का वर्णन करके अंत में कहा है कि यहाँ 'कर्म प्रकृति' से ही प्रयोजन है।

इस तृतीय प्रकृति अनुयोगद्वार नामक अधिकार में कर्मप्रकृतियों का वर्णन भी बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें एक तो सूत्र नं. ७८ की टीका में मनःपर्ययज्ञान के क्षेत्र के विषय में धवला टीका के अन्तर्गत सुन्दर विवेचन है और गोत्रकर्म का व्याख्यान सूत्र नं. १३५ में है जिसका इस सिद्धान्तचिंतामणिटीका में आदिपुराण, उत्तरपुराण, त्रिलोकसार, पद्मपुराण, आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्राकृत आचार्यभक्ति आदि के उदाहरणों से करके जैनधर्म के सज्जाति परमस्थान को पूर्ण रूप से पुष्ट किया गया है।

अन्त में इसमें तीनों अनुयोगद्वारों का उपसंहार विशेष द्रष्टव्य है।

पुस्तक १४

प्रिय पाठक बंधुओं! अब मैं चौदहवीं पुस्तक के विषय पर आपका ध्यान आकर्षित करती हूँ।

इस ग्रंथ में केवल एक "बंधन अनुयोगद्वार" (छठे अनुयोगद्वार) का विवेचन है।

बंधन के चार भेद हैं—बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान। यहाँ इस अनुयोगद्वार में बंधक और बंधविधान की सूचना मात्र की है क्योंकि बंधक का विशेष विचार खुद्दाबंध में और बंधविधान का विशेष वर्णन महाबंध में किया है। शेष दो प्रकरण अर्थात् "बंध और बंधनीय" का वर्णन इस "बंधनअनुयोगद्वार" में किया गया है।

इसमें सर्वप्रथम बंध का वर्णन करते हुए कहा है कि—

बंध के ४ भेद हैं—नामबंध, स्थापनाबंध, द्रव्यबंध और भावबंध।

सिद्धान्तचिंतामणिटीका में छठे अनुयोगद्वार का प्रारंभ टीकाकर्त्री ने स्वरचित छठे तीर्थंकर भगवान पद्मप्रभु की स्तुति से किया है। पुनः भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर की पवित्र धरती पर बैठकर प्रारंभ की गई इस ग्रंथ की टीका में अनुष्टुप् छंद के ८ श्लोकों में अर्हन्त-सिद्ध प्रतिमाओं को नमन करके बंधनमुक्त भगवान महावीर को

बारम्बार नमस्कार किया है तथा षट्खण्डागम के वर्गणाखण्ड को लिखने की भावना व्यक्त करते हुए लिखा है—

षट्खण्डागमग्रंथांश्च, भक्त्यानम्य पुनः पुनः।
ग्रन्थोऽयं वर्गणाखण्डो, विव्रियतेऽल्पबुद्धितः।।७।।
सिद्धान्तग्रंथटीकेयं, भूयाच्चिन्तामणिः समा।
सर्वचिन्तामपाकृत्य, चित्ताब्जं मे विकासयेत्।।८।।

अर्थात् यह सिद्धान्तचिंतामणिटीका चिन्तामणिरत्न के समान फलदायी होवे तथा सभी चिन्ताओं को दूर करके मेरे चित्तरूपी कमल को विकसित करे ऐसी इच्छा प्रगट की है।

आगे टीकाकर्त्री ने आप्तमीमांसा ग्रंथ की ४ कारिकाओं को देकर एक महत्वपूर्ण पंक्ति लिखी है—

"अयं षट्खण्डागमो ग्रंथराजः साक्षाद् भगवदर्हद्देववाणी वर्तते अतएव पूर्णतया प्रामाण्यमस्ति।" अर्थात् यह षट्खण्डागम ग्रंथराज साक्षात् अर्हन्त भगवान की वाणी होने से पूर्णरूपेण प्रामाणिक है।

इसमें प्रारंभ में ही (सूत्र कथन से पूर्व) सिद्धान्त ग्रंथों के पठन-पाठन में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धि का वर्णन मूलाचार ग्रंथ के अनुसार दिया है और यह भी आगम प्रमाण से सिद्ध किया है कि उपचार महाव्रती आर्यिकाएँ भी सिद्धान्त ग्रंथों का लेखन-पठन करने की पूर्ण अधिकारी हैं।

१४वीं पुस्तक को लिखते हुए चूँकि पूज्य माताजी का मंगल पदार्पण हस्तिनापुर तीर्थ पर २५ मई सन् २००५ को हो चुका था। वहाँ टायफाइड ज्वर के कारण उनका स्वास्थ्य गंभीर रूप से खराब हुआ था, फिर भी आयुकर्म शेष रहने के कारण तथा आत्मबल अत्यधिक दृढ़ होने की वजह से उन्होंने किंचित् मात्र स्वस्थता प्राप्त होते ही अपने इस टीका के अधूरे कार्य को पूर्ण करने में मनोयोग लगाया और सन् २००५ के वर्षायोग के मध्य उनके सान्निध्य में शरदपूर्णिमा के अवसर पर जम्बूद्वीप का चतुर्थ महामहोत्सव (पंचवर्षीय महामहोत्सव) मनाया गया जिसे उन्होंने सत्प्ररूपणा के पश्चात् "षडनुयोगद्वारप्ररूपणा" के अन्दर उल्लिखित किया तथा उस समय सुमेरुपर्वत की पाण्डुकशिला पर भगवान शांतिनाथ की प्रतिमा का अभिषेक एवं सुमेरुपर्वत में विराजमान सभी सोलहों प्रतिमा का अभिषेक हुआ था जिसका सीधा प्रसारण पूरे देशवासियों ने आस्था टी.वी. चैनल के माध्यम से देखा था। यह अवसर एक अभूतपूर्व था जब पहली बार सुमेरुपर्वत की प्रतिमाओं के अभिषेक का सीधा प्रसारण हुआ था इसीलिए इस प्रकरण में माताजी ने पृथ्वीछंद के निम्न श्लोक को प्रस्तुत करके सुमेरु के माहात्म्य को प्रदर्शित किया है—

सुदर्शनगिरौ तवेश! जननाभिषेकोत्सवे।
सुरासुरगणाः शचीप्रभृतयोऽभिषेकं व्यधुः।।
सुरेन्द्रवनितादयश्च शुभनर्तनं चक्रिरे।
जयेति जय देव! नंद शुभवर्णमालां जगुः।।

इसी प्रकार से इसमें समस्त विषय सुन्दर पठनीय हैं, जिसका स्वाध्याय करके ज्ञानामृत का आस्वादन लिया जा सकता है।

अन्त में वंदना के साथ चौदहवें ग्रंथ का उपसंहार है, पुनः टीकाकर्त्री की प्रशस्ति पढ़कर उनके विषय में

सब कुछ संक्षेप में जाना जा सकता है।

इस प्रकार ग्रंथ की संस्कृत टीकाकर्त्री पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी के श्रीचरणों में कोटि-कोटि वंदन के साथ-

जीयात् श्री ब्राह्मी गणिनी, जीयादन्तिमचन्दना।
जीयात् ज्ञानमती माता, गणिन्यां प्रमुखा कलौ।।१।।

ये युग-युगों तक जयशील रहें, यही भगवान से प्रार्थना करते हुए अगले ग्रंथ के विषय को प्रारंभ करती हूँ।

पुस्तक १५

१५वें ग्रंथ में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय और मोक्ष (७-८-९-१०-११) नाम से पाँच अनुयोगद्वारों को लिया है। इसमें सूत्र केवल निबंधन अनुयोगद्वार तक ही है, जिनकी संख्या कुल २० है। आगे प्रक्रम, उपक्रम, उदय और मोक्ष अनुयोगद्वारों में सूत्र नहीं हैं, मात्र धवला टीका में वर्णित विषय के अनुसार ही इसकी नूतन टीका लिखी गई है।

सर्वप्रथम इसमें वर्णित पाँचों अनुयोगद्वारों के विषय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है, उसके संबंध में जानिये—

निबंधन—'निबध्यते तदस्मिन्निति निबंधनम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो द्रव्य जिसमें संबद्ध है, उसे 'निबंधन' कहा जाता है। उसके नाम निबंधन, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनिबंधन ऐसे छह भेद हैं।

इनमें से नाम, स्थापना को छोड़कर शेष सब निबंधन प्रकृत हैं। यह निबंधन अनुयोगद्वार यद्यपि छहों द्रव्यों के निबंधन की प्ररूपणा करता है तो भी यहाँ उसे छोड़कर कर्मनिबंधन को ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यहाँ अध्यात्म विद्या का अधिकार है[५]।

प्रश्न—निबंधनानुयोगद्वार किसलिए आया है ?

उत्तर—द्रव्य, क्षेत्र, काल और योगरूप प्रत्ययों की भी प्ररूपणा की जा चुकी है, उनके मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप प्रत्ययों की भी प्ररूपणा की जा चुकी है तथा उन कर्मों के योग्य पुद्गलों को भी बताया जा चुका है। आत्मलाभ को प्राप्त हुए उन कर्मों के व्यापार का कथन करने के लिए निबंधनानुयोग द्वार आया है[६]।

उनमें मूलकर्म आठ हैं, उनके निबंधन का उदाहरण देखिये—"उनमें ज्ञानावरण कर्म सब द्रव्यों में निबद्ध है और नोकर्म सर्वपर्यायों में अर्थात् असर्व पर्यायों में—कुछ पर्यायों में वह निबद्ध है[७]।।१।।"

यहाँ 'सब द्रव्यों में निबद्ध है।' यह केवलज्ञानावरण का आश्रय करके कहा गया है क्योंकि वह तीनों कालों को विषय करने वाली अनंत पर्यायों से परिपूर्ण ऐसे छह द्रव्यों को विषय करने वाले केवलज्ञान का विरोध करने वाली प्रकृति है। 'असर्व—कुछ पर्यायों में निबद्ध है' यह कथन शेष चार ज्ञानावरणीय प्रकृतियों की अपेक्षा कहा गया है।

इत्यादि विषयों का इस अनुयोग में विस्तार है।

२. प्रक्रम अनुयोगद्वार के भी नाम, स्थापना आदि की अपेक्षा छह भेद हैं। द्रव्य प्रक्रम के प्रभेदों में कर्म-

प्रक्रम आठ प्रकार का है। नोकर्म प्रक्रम सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है।

क्षेत्रप्रक्रम ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोकप्रक्रम के भेद से तीन प्रकार का है। इत्यादि विस्तार को धवला टीका से समझना चाहिए।

३. उपक्रम अनुयोगद्वार में भी पहले नाम, स्थापना आदि से छह भेद किये हैं पुनः द्रव्य उपक्रम के भेद में कर्मोपक्रम के आठ भेद, नो कर्मोपक्रम के सचित्त, अचित्त और मिश्र की अपेक्षा तीन भेद हैं पुनः क्षेत्रोपक्रम—जैसे ऊर्ध्वलोक उपक्रांत हुआ, ग्राम उपक्रांत हुआ व नगर उपक्रांत हुआ आदि।

काल उपक्रम में—बसंत उपक्रांत हुआ, हेमंत उपक्रांत हुआ आदि। यहाँ ग्रंथ में कर्मोपक्रम प्रकृत होने से उसके चार भेद हैं—बंधन उपक्रम, उदीरणा उपक्रम, उपशामना उपक्रम और विपरिणाम उपक्रम।

इसी प्रकार इन सबका इस अनुयोगद्वार में विस्तार है।

४. उदय अनुयोगद्वार में नामादि छह निक्षेप घटित करके 'नोआगमकर्मद्रव्य उदय' प्रकृत है, ऐसा समझना चाहिए।

वह कर्मद्रव्य उदय चार प्रकार का है—प्रकृति उदय, स्थिति उदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय।

इन सभी में स्वामित्व की प्ररूपणा करते हुए कहते हैं। जैसे—

प्रश्न—पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अंतराय इनके वेदक कौन हैं ?

उत्तर—इनके वेदक सभी छद्मस्थ जीव होते हैं[४], इत्यादि। इस प्रकार से यहाँ संक्षेप में इन अनुयोगद्वारों के नमूने प्रस्तुत किये हैं।

५. मोक्ष—इसमें मोक्ष के चार निक्षेप कहकर नोआगम द्रव्यमोक्ष के तीन भेद किये हैं—मोक्ष, मोक्षकारण और मुक्त।

जीव और कर्मों का पृथक् होना मोक्ष है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये मोक्ष के कारण हैं। समस्त कर्मों से रहित अनंत दर्शन, ज्ञान आदि गुणों से परिपूर्ण, कृतकृत्य जीव को मुक्त कहा गया है[५]।

इस ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि टीका में तीन महाधिकारों में विषयवस्तु बतलाने की प्रतिज्ञा के साथ भूमिका आदि के बाद ८ सूत्रों तक मूलप्रकृति निबंधन का वर्णन है, उसके पश्चात् उनके उत्तर भेदों का निबंधन प्रस्तुत किया है और २० सूत्रों में वर्णित प्रथम महाधिकार का समापन पूज्य माताजी ने अर्हं मंत्र के ध्यान की प्रक्रिया बतलाते हुए किया है।

इसके आगे "प्रक्रमअनुयोगद्वार" नाम से आठवें अनुयोगद्वार का द्वितीय महाधिकार के रूप में प्रारंभीकरण आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ भगवान की स्तुति से किया है। इस अनुयोगद्वार में कोई सूत्र नहीं है। इस द्वितीय महाधिकार को प्रक्रम और अनुपक्रम नाम के दो अधिकारों में विभक्त किया है। उसमें से प्रक्रम के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार हैं। पुनः इनके भेद-प्रभेद बताकर उनके लक्षण कहे हैं।

छह निक्षेपों के पश्चात् जैनशासन की स्याद्वादशैली में एकान्त से नित्यत्व अथवा अनित्यत्व पक्ष के स्वीकार करने वाले मत का खण्डन करते हुए आप्तमीमांसा और अष्टसहस्री ग्रंथ के आधार से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का वर्णन किया है। यहाँ ज्ञातव्य है कि इस ग्रंथ की टीकाकर्त्री पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने सन्

१९६९-७० में न्याय के सर्वोच्च ग्रंथ अष्टसहस्री ग्रंथ की अतिक्लिष्ट संस्कृत टीका का शुद्ध हिन्दी में अनुवाद करके बड़े-बड़े विद्वानों को भी आश्चर्य में डाल दिया है। उनके रग-रग में आज भी १००० वर्ष पूर्व में हुए अष्टसहस्री ग्रंथ के कर्ता आचार्यश्री विद्यानंदि स्वामी रचित अष्टसहस्री की अनेकानेक पंक्तियाँ समाई हुई हैं, जिन्हें वे यथासमय अपनी अन्य संस्कृत-हिन्दी की टीकाओं में प्रयुक्त करती हैं। उससे हमारे पाठकों को सहज में ज्ञात हो सकेगा कि अष्टसहस्री की अनुवादकर्त्री एवं षट्खण्डागम की संस्कृत टीका लिखने वाली एक ही ज्ञानमती माताजी हैं। इसके अतिरिक्त भी इन्होंने अपनी साहित्य रचना के माध्यम से सम-सामायिक आवश्यकताओं की पूर्ति की है, इसीलिए बालक, युवा, नारी, प्रौढ़, स्वाध्यायी, विद्वान् सभी के लिए बाल विकास, जैन बाल भारती, प्रतिज्ञा-परीक्षा आदि धार्मिक उपन्यास, नारी आलोक, जैन भारती, ज्ञानामृत, नियमसार, समयसार, पूजा-विधान साहित्य आदि सभी अति लोकोपयोगी सिद्ध हुए हैं।

इसमें चतुर्थ स्थल में उदीरणा का लक्षण और भेद बताते हुए कहा है कि—"क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में महामुनि के ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा व्युच्छित्ति होती है। नाम और गोत्र कर्म की उदीरणा व्युच्छित्ति तेरहवें गुणस्थान में होती है.....आदि।"

इस अधिकार के अन्त में टीकाकर्त्री ने अधिकार का निष्कर्ष बताते हुए लिखा है—

शुभाशुभकर्मणां फलदानशक्तिः अनुभागोऽस्ति। यद्यपि स्वशुद्धात्मानः कर्मानुभागविहीनाः सिद्धसदृशाः शुद्धाः सन्ति, तथापि अनादिकर्मबंधनबद्धा व्यवहारनयेनाशुद्धाः अपि सन्ति अतः नयद्वयोरवलंबनं गृहीत्वा व्रतशीलतपश्चरणादिभिः स्वात्मा शुद्धीकर्तव्यः।

इतो विशेषः—**उपक्रमानुयोगद्वारस्य षड् निक्षेपाः कथिताः। तत्र द्रव्योपक्रमभेद-प्रभेदेषु कर्मोपक्रमः प्रकृतः। अस्य कर्मोपक्रमस्य चतुर्भेदाः निरूपिताः—बंधनोपक्रमः, उदीरणोपक्रमः, उपशामनोपक्रमः, विपरिणामोपक्रमश्चेति। प्रत्येकभेदस्यापि प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशरूपेणापि चत्वारो भेदा निरूपिताः। अत्रापि प्रकृति भेदे मूलप्रकृति-उत्तरप्रकृति भेदाः कथिताः। इत्यादि भेद-प्रभेदाः कथिताः सन्ति।**

तात्पर्यमत्र—**कर्मबंधनभेद-प्रभेदान् ज्ञात्वा यदि सर्वकर्मपरिमोक्षमिच्छसि तर्हि त्वं पंचेन्द्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पध्यानबलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव, संतुष्टो भव, तृप्तो भव, किं च—नित्यं स्वशुद्धात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षयं मोक्षसुखं भविष्यति इति निश्चित्य स्वशुद्धात्म-तत्त्वमेवोपादेयं कर्तव्यम्।**

अर्थात् कर्मों के भेद-प्रभेद पढ़ने का सार यही है कि उनसे मुक्त होने का प्रयत्न किया जावे। जैसा कि टीकाकर्त्री के दीक्षागुरु महामहिम आचार्य श्री वीरसागर महाराज ने अपने पीठ पर निकले भयंकर अदीठ फोड़े की २ घंटे तक शल्यचिकित्सा (बिना बेहोशी के) कर्मप्रकृतियों के चिन्तन के बल पर करवाई थी। जिसकी कल्पना करने मात्र से रोम-रोम सिहर जाता है कि उन गुरुदेव ने कैसे इतनी पीड़ा अपने निर्बल औदारिक शरीर पर झेली होगी। मैंने आचार्य श्री की पूजन की जयमाला में अपने हार्दिक उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है कि—

तुमने इक बार कर्मप्रकृती के चिन्तन में मन रमा लिया।
फोड़ा अदीठ का वैद्यराज आप्रेशन करके चला गया।।

सोचो तो रोम सिहरते हैं, क्या तुम पत्थर की मूरत थे।
मानव की काया में सचमुच महावीर की सच्ची सूरत थे।।

कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मप्रकृतियों के भेद-प्रभेदों को अप्रयोजनीभूत तत्त्व नहीं कहा जा सकता है, इनके बंध, उदय, उदीरणा, सत्व आदि की व्यवस्था को जानकर ही इनसे छूटा जा सकता है।

आगे इस १५वें ग्रंथ में अंतिम अनुयोगद्वार के रूप में वर्णित ग्यारहवाँ अनुयोगद्वार मोक्षानुयोगद्वार है।

नाम मोक्ष, स्थापना मोक्ष, द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष। आगे इनके भेद-प्रभेद बताकर तात्पर्य में लिखा है—

सर्वकर्मणां मूलोत्तरप्रकृतिभिः स्वात्मनां पृथक्करणं मोक्षः।

यहाँ मोक्ष और मोक्ष के कारणों को तत्त्वार्थसूत्र के "क्षेत्रकालगतिलिंग....." आदि सूत्र के द्वारा १२ अनुयोगद्वारों में प्रस्तुत किया है, जो कि अति सुन्दर पठनीय प्रकरण है।

पुस्तक १६ (अंतिम ग्रंथ)

प्रिय पाठक बंधुओं! अब मैं सोलहवें ग्रंथ के मूल विषय पर आती हूँ, जो कि पंचम खण्ड — वर्गणाखण्ड का अंतिम ग्रंथ है।

'कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय और मोक्ष ये ग्यारह अनुयोगद्वार नवमी पुस्तक से पंद्रहवीं पुस्तक तक आ चुके हैं। अब आगे के १२. संक्रम, १३. लेश्या, १४. लेश्या कर्म १५. लेश्या परिणाम १६. सातासात १७. दीर्घ-ह्रस्व, १८. भवधारणीय, १९. पुद्गलात्त २०. निधत्तानिधत्त २१. निकाचितानिकाचित २२. कर्मस्थिति २३. पश्चिमस्कंध और २४. अल्पबहुत्व ये १३ अनुयोगद्वार शेष हैं। सोलहवीं पुस्तक में इन सबका वर्णन है।

इस ग्रंथ में सूत्र नहीं हैं, मात्र टीका में ही इन अनुयोगद्वारों का विस्तार है।

दो महाधिकारों में विभक्त इस संक्रम अनुयोगद्वार के प्रकरण में पाँच स्थल हैं, जिसमें संक्रम के छह भेद करके कर्मसंक्रम के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशसंक्रम ये चार भेद बताए हैं। इसमें विस्तृत वर्णन के अन्तर्गत विशेष बात कही है कि-

चतुर्णामायुषां संक्रमो नास्ति। कुतः ? स्वाभाविकत्वात्। अर्थात् चारों आयु कर्मों का संक्रम नहीं होता है, क्योंकि ऐसा स्वभाव है।

सातासात अनुयोगद्वार में समुत्कीर्तना आदि पाँच अवान्तर अनुयोगद्वार बताए हैं और कहा है—

सिद्धान्तग्रंथे केवलिनां भगवतामपि एकसाताप्रकृतिबंधः कथ्यते स तु बंधो नाममात्रेणैव।

उक्तं च श्रीनेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तिना—

"समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।"[१०]

किं च—वेदनीयस्य जघन्यापि स्थितिः द्वादशमुहूर्त्ताः।

"अपरा द्वादश मुहूर्त्ता वेदनीयस्य" इति सूत्रवचनात्। ततः स्थित्यनुभागबंधाभावे प्रकृतिप्रदेशबंधौ न किंचित् हानिं कुरुतः। तेन हेतुनैव केवलिनां भगवतां कर्मबंधो नास्ति।

अर्थात् केवली भगावन के एक साता प्रकृति का बंध भी नाम मात्र का है क्योंकि वहाँ स्थिति-अनुभाग बंध न होने से मात्र प्रकृति-प्रदेशबंध कोई हानि नहीं पहुँचाते हैं, इस हेतु से केवली भगवान के कर्मबंध नहीं है, ऐसा भी कह सकते हैं।

हम सभी संसारी जीव हैं अतः साता-असाता दोनों का बंध चल रहा है उसी को रोकने का पुरुषार्थ करने हेतु हमें इन ग्रंथों का खूब स्वाध्याय करना चाहिए।

आगे दीर्घ-ह्रस्व अनुयोगद्वार के भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश के नाम से चार भेद बताए हैं। इन सभी अनुयोगद्वारों के समापन में तात्पर्यार्थ देकर पूज्य माताजी ने उनका सार उसमें भर दिया है। आगे के भवधारणीय, पुदगलात्त, निधत्तानिधत्त, निकाचितानिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कंध और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारों में गागर में सागर के समान सार भरा हुआ है।

इस ग्रंथ के अंतिम २४वें अनुयोगद्वार एवं बारहवें अधिकार का समापन करते हुए टीकाकर्त्री ने सोलहवें ग्रंथ के उपसंहार में पूरे ग्रंथ का निचोड़ रख दिया है, जो कि उनकी विशेष ज्ञानप्रतिभा का द्योतक है। कुल मिलाकर यहाँ आप सभी को जानना है कि—

कृति, वेदना, स्पर्श आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में से 'कृति और वेदना' नाम के मात्र दो अनुयोगद्वारों में 'वेदनाखण्ड' नाम से चौथा खण्ड विभक्त है। पुनश्च 'स्पर्श' आदि से लेकर अल्पबहुत्व तक २२ अनुयोगद्वारों में 'वर्गणाखण्ड' नाम से पांचवां खण्ड लिया गया है। यहाँ तक पाँच खंडों को सोलह पुस्तकों में विभक्त किया है। छठे महाबंध खण्ड में सात पुस्तकें विभक्त हैं जो कि हिन्दी अनुवाद होकर भारतीय ज्ञानपीठ से छप चुकी हैं।

भगवान महावीर की वाणी से संबंध—**इन 'षट्खण्डागम' सूत्र ग्रंथराज का भगवान महावीर की वाणी से सीधा संबंध स्वीकार किया गया है। जैसा कि श्री वीरसेनाचार्य ने नवमी पुस्तक में लिखा है—**

"लोहाइरिए सग्गलोगं गदे.....।

जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयंतस्स।।

श्रीधरसेनाचार्य महामुनीन्द्र जयवंत होवें कि जिन्होंने 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' नाम के शैल—पर्वत को बुद्धिरूपी मस्तक से उद्धृत करके—उठा करके श्रीपुष्पदंत एवं श्री भूतबलि ऐसे दो महामुनियों को समर्पित किया है।

इस सोलहवें ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणिटीका का शुभारंभ पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने २३-१०-२००६, कार्तिक शुक्ला एकम् को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में बैठकर किया तथा ४-४-२००७, वैशाख कृ. दूज को उन्होंने अपने ५२वें आर्यिका दीक्षा दिवस पर भगवान महावीर के कमल मंदिर में हम सबके समक्ष टीका को पूर्ण किया है, उस दिन उन्होंने कहा कि आज मैं परम कृतकृत्यता का अनुभव कर रही हूँ और अपने आध्यात्मिक जीवन पर स्वर्णिम कलशारोहण करने जैसी मुझे प्रसन्नता हो रही है।

प्रिय श्रद्धालु भक्तों! इस षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ के इस १६वें ग्रंथ की विषयवस्तु लिखते हुए मुझे अत्यन्त गौरव की अनुभूति हो रही है कि सन् १९९५ में एक दिन मेरे विनम्र निवेदन पर पूज्य गणिनी मातुश्री ने

षट्खण्डागम ग्रंथ का टीकालेखन प्रारंभ किया और उस दिन उन्होंने कहा था कि मैं प्रथम खण्ड का संकल्प लेकर कार्य शुरू करती हूँ किन्तु उनकी आगमनिष्ठ, सशक्त लेखनी पर सरस्वती माता का इतना प्रभाव देखा गया है कि कल्पनातीत उपलब्धि होने में कोई आश्चर्य नहीं होता है।

यही कारण रहा कि लम्बे-लम्बे प्रवासों के मध्य भी इनका टीका लेखन जादू जैसा चलता रहा और मात्र ११ वर्ष ६ माह की अवधि में सोलहों ग्रंथ की टीका पूर्ण करके उन्होंने "सिद्धान्तचक्रेश्वरी" और 'वाग्देवी' पदवी को वास्तव में सार्थक करके दिखा दिया है।

इनकी हिन्दी टीका अभी पूर्ण नहीं हो पाई है, यही कारण है कि कुछ ग्रंथों को केवल संस्कृत में ही प्रकाशित करने का निर्णय लेना पड़ा। इनमें से १२ ग्रंथ (चार खण्ड) तो हिन्दी टीका सहित छप गये हैं पुनः पंचम खण्ड को २ ग्रंथों (१३-१४) और (१५-१६) में प्रकाशित किया गया है। इन सबका हिन्दी टीका सहित प्रकाशन पृथक्-पृथक् ग्रंथ के रूप में भी शीघ्र आपके समक्ष प्रस्तुत होंगे।

इनकी विषयवस्तु लिखते समय संस्कृत ग्रंथों का पारायण करके भी मुझे अतीव आनंद की अनुभूति हुई है, क्योंकि माताजी की संस्कृत प्रांजल, सरल और सरस होने से सहज ही समझ में आ जाती है।

जैसा कि पूज्य माताजी ने पूरे ग्रंथ में जगह-जगह स्पष्ट कर दिया है कि यह टीका प्रमुख रूप से धवला ग्रंथ के आधार से है तथा इसमें अन्य अनेक ग्रंथों के उद्धरण देकर भी विषय को शीघ्रगाही बनाया गया है अतः यह उनकी मौलिक टीकाकृति के रूप में विद्वज्जगत की शिखामणि के समान है और वैशाख कृ. दूज तिथि को इसे पूर्ण करने के कारण वह इनकी आर्यिका दीक्षा तिथि "श्रुतज्ञानदिवस" के रूप में संसार में अमरता को प्राप्त होवे, यही भगवान जिनेन्द्र से प्रार्थना है।

ज्ञानमत्यार्यिका माता, जीयात् वर्षशतं भुवि।
चन्दनामतिशिष्यायाः, पूर्यात् सर्वं मनोरथं।।

संदर्भ —

१. उत्तरपुराण। २. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र २। ३. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र ४। ४. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १३, सूत्र २८, पृ. ८८। ५. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १५, पृ. ३। ६. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १५, पृ. ३। ७. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १, पृ. ४। ८. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १५, पृ. २८५। ९. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित) पु. १६। १०. गोम्मटसार कर्मकांड।

अध्याय-17

आओ जानें! तेरहद्वीप रचना में क्या-क्या है ?

भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ एवं अरहनाथ इन तीर्थंकर, चक्री एवं कामदेव पद से सुशोभित त्रय तीर्थंकरों की पावन जन्मस्थली हस्तिनापुर की पावन वसुन्धरा पर नवनिर्मित तेरहद्वीप रचना के बारे में आपको जिज्ञासा होगी कि यह क्या है ? कहाँ है ? और इसे धरती पर साकार करने का लक्ष्य क्या है ?

इन सभी प्रश्नों के उत्तर आपको क्रमशः प्राप्त करके तेरहद्वीप की अद्वितीय रचना के दर्शन कर अपूर्व पुण्य संचित करना है। अब सर्वप्रथम जानिये कि तेरहद्वीप रचना क्या है ?

यह जैनधर्म के करणानुयोग ग्रंथों (तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि) में वर्णित जैनभूगोल की रचना है। तेरहद्वीप किसी एक द्वीप का नाम नहीं, वरन् प्रथम जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें रुचकवर द्वीप तक तेरहद्वीपों की व्यवस्था इस रचना में दर्शाई गई है। उन तेरहों द्वीपों को अलग-२ घेरकर एक-एक समुद्र भी रहते हैं अतः तेरह समुद्र भी जानना चाहिए।

उन तेरहों द्वीप और समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं—

१.	जम्बूद्वीप	– लवण समुद्र
२.	धातकीखंड द्वीप	– कालोदधि समुद्र
३.	पुष्करवर द्वीप	– पुष्करवर समुद्र
४.	वारुणीवर द्वीप	– वारुणीवर समुद्र
५.	क्षीरवर द्वीप	– क्षीरवर समुद्र
६.	घृतवर द्वीप	– घृतवर समुद्र
७.	क्षौद्रवर द्वीप	– क्षौद्रवर समुद्र
८.	नंदीश्वर द्वीप	– नंदीश्वर समुद्र
९.	अरुणवर द्वीप	– अरुणवर समुद्र
१०.	अरूणाभास द्वीप	– अरूणाभास समुद्र
११.	कुण्डलवर द्वीप	– कुण्डलवर समुद्र
१२.	शंखवर द्वीप	– शंखवर समुद्र
१३.	रुचकवर द्वीप	– रुचकवर समुद्र

इन तेरहद्वीपों में विशेष ध्यान देने का विषय यह है कि ये सभी द्वीप एक दूसरे को घेरकर गोल और चपटे रूप में स्थित हैं। इनमें से जो तीसरा पुष्कर द्वीप है उसमें बीचोंबीच में गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है इसलिए यहाँ तक का क्षेत्र ढाई द्वीप के नाम से जाना जाता है और मानुषोत्तर पर्वत के आगे मनुष्यों का आवागमन बन्द है

अर्थात् ढाई द्वीपों तक मनुष्य उत्पन्न होते हैं, आगे नहीं। आगे के द्वीपों में मात्र देवता रहते हैं और देवता ही वहाँ आ-जा सकते हैं।

दूसरी बात इन ढाई द्वीपों के अन्दर विशेष जानने की यह है कि धातकीखण्ड और पुष्करार्ध इन दोनों द्वीपों में उत्तर-दक्षिण की ओर दो-दो इष्वाकार पर्वत हैं जिनसे धातकीखण्ड के दो भेद हो जाते हैं पूर्व धातकीखण्ड-पश्चिम धातकीखण्ड। पुष्करार्धद्वीप के भी दो भेद होते हैं—पूर्व पुष्करार्ध-पश्चिम पुष्करार्ध। इस प्रकार जम्बूद्वीप, पूर्व धातकीखण्डद्वीप, पश्चिम धातकीखण्डद्वीप, पूर्व पुष्करार्धद्वीप और पश्चिम पुष्करार्धद्वीप इन पाँच स्थानों की रचना एक समान है अर्थात् इन पाँचों द्वीपों में एक-एक मेरु पर्वत हैं जो कि ढाई द्वीप के पंचमेरु पर्वत कहलाते हैं।

इस तेरहद्वीप रचना का प्रवेश द्वार उत्तरमुखी है, इसके अन्दर प्रवेश करते ही शीशे के बहुत बड़े दरवाजे से पूरी स्वर्णिम रचना के दर्शन होते हैं और हृदय एकदम गद्गद् हो जाता है। ४००० वर्गफुट की गोलाई में इस रचना की स्वर्णमयी छवि देखते ही बनती है। एक बार बड़े दरवाजे के पास से दर्शन करके किसी भी श्रद्धालु का मन तो भरता नहीं है अतः तत्काल वे दरवाजा खोलकर अंदर जाना चाहते हैं किन्तु इस रचना के अन्दर जाकर दर्शन करने की व्यवस्था नहीं है इसलिए लोगों को उसी व्यवस्थानुसार चलना होता है अर्थात् यहाँ भक्तिभावपूर्वक दर्शन करके बाहर के प्रदक्षिणा पथ से पूर्व दिशा की ओर पहुँचकर, इस ओर बने प्लेटफार्म पर चढ़कर कांच के अन्दर के दृश्य देखकर ऐसा लगता है कि साक्षात् स्वर्ग धरती पर उतर आया है। सोने और पंचवर्णी रत्नों के काम वाले बड़े-बड़े पाँचों मेरु पर्वत १६-१६ जिनालयों से युक्त हैं उनके ऊपर की चूलिका नीलवर्ण की है।

पूर्व दिशा से देखने पर बहुत सारे सोने के मंदिर, रंगीन-रंगीन देवभवनों में भगवान और ८० समवसरणों के दर्शन होते हैं। ये हैं—रुचकवर, कुण्डलवर पर्वतों के पूर्व दिशा सम्बन्धी १-१ मंदिर, नंदीश्वर द्वीप के १३ मंदिर, मानुषोत्तर पर्वत का एक अकृत्रिम जिनमंदिर एवं पूर्व पुष्करार्ध द्वीप, पूर्व धातकीखण्ड द्वीप और जम्बूद्वीप की पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्रों के जिनमंदिर और देवभवन। यहाँ तेरहों द्वीप के ४५८ अकृत्रिम मंदिर हैं, वे सोने के कलात्मक काम वाले मंदिर के रूप में विराजमान किये गये हैं तथा रंग-बिरंगे देवभवनों में गृह चैत्यालय हैं, जिनमें किन्हीं के एक ओर साइड में और किन्हीं में नीचे देव या देवी अपने-अपने भवन में बैठे हैं और दूसरी ओर या ऊपर गृहचैत्यालय के रूप में भगवान विराजमान हैं। विदेह क्षेत्रों में जगह कम होने पर भी वहाँ छोटे-छोटे समवसरणों में भी ४-४ भगवान दिख रहे हैं। जैसा कि जैन ग्रंथों में कहा भी है कि धनिया के पत्ते बराबर मंदिर बनाकर सरसों बराबर प्रतिमा विराजमान करने वाले भव्यों को असीम पुण्य का संचय होता है। इस पूर्व दिशा की रचना में १-२ नहीं, पूरे ८० समवसरण हैं जो कि बड़े सुन्दर लगते हैं। इन्हें पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की भावनानुसार कुशल कारीगर ने अष्टधातु से बनाया है।

यूँ तो यह पूरी रचना अष्टधातु की ही बनी हुई है, जिसे पूरी सोने की नहीं समझना चाहिए किन्तु भक्तों की उदात्त भावनानुसार इसमें पंचमेरु पर्वत, ४५८ अकृत्रिम चैत्यालय एवं १७० समवसरणों में सोने का भी काम कराया गया है, शेष सभी जगह यथास्थान विभिन्न रंगीन कलाकृति, बाग-बगीचे, नदी-पर्वत आदि दर्शाए गये हैं। जिस पर्वत का जो वर्ण ग्रंथों में कहा है उसे उसी रंग में दिखाने की प्रेरणा पूज्य माताजी की रही है। पूर्व दिशा के

सभी भगवन्तों को श्रद्धापूर्वक नमन करते हुए आगे चलते हैं तो दक्षिण के प्रदक्षिणा पथ में निर्मित प्लेटफार्म पर चढ़ने पर इधर से पूरी रचना का दक्षिण भाग दिखता है। इधर ढाई द्वीपों के पाँच भरतक्षेत्रों की रचना है अतः ५ तीर्थंकर भगवन्तों के सुन्दर समवसरण में चतुर्मुखी प्रतिमाओं के दर्शन करके मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति करते हैं। प्रायः सभी जगह द्वीपों के, पर्वतों के नाम भी लिखे हैं ऊँचे प्लेटफार्म से पूरी रचना कुछ ज्यादा ही सुन्दर लगती है। इसे जो लोग ठीक से नहीं समझ पाते हैं वे भी रचना का सौंदर्य देखकर अनायास बोल पड़ते हैं—

"अरे वाह! ज्ञानमती माताजी ने तो धरती पर स्वर्ग ही बनाकर दिखा दिया है।" अर्थात् इस प्रकार कहकर और मन में प्रसन्न होकर अन्जान पर्यटक भी अज्ञात रूप से पुण्य का बंध कर लेते हैं। जैसे जबर्दस्ती भी औषधि खाने वाला प्राणी स्वस्थ हो जाता है, अरुचि से मिश्री खाने वाले का भी मुँह मीठा ही होता है, उसी प्रकार अन्जान लोगों के द्वारा भी धर्म, तीर्थ और धर्मायतनों की वंदना करने से उत्तम-हितकर फल की प्राप्ति भी कर ली जाती है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पश्चिम दिशा के प्लेटफार्म से रचना का पश्चिम भाग पूरा दिखाई देता है। सबेरे-सबेरे चूँकि पूर्व दिशा का सूर्य सामने शीशे से प्रवेश करता है, इसलिए सुबह ७ बजे से १ बजे तक पश्चिम के प्लेटफार्म पर खड़े होकर पूरी रचना का जो स्वर्णिम निखार दिखता है वह वास्तव में शब्दों में कहा नहीं जा सकता है।

ऐसे पुण्यमयी क्षणों में आप गद्गद् होकर ये पंक्तियाँ अवश्य गुनगुनाएं—

तर्ज-मेरे देश की धरती.....

हस्तिनापुरी में तेरहद्वीप की रचना स्वर्णमयी है...
हस्तिनापुरी में.....।।
जहाँ खुले गगन में जम्बूद्वीप की, रचना जनमनहारी है।
वहीं जिनमंदिर में तेरहद्वीप की, रचना लगती प्यारी है।।
चउशत अट्ठावन चैत्यालय.....
चउशत अट्ठावन चैत्यालय, में जिनवर बिम्ब विराज रहे।
उस गोलाकार विशाल जिनालय, में स्वर्णिम जिनधाम रहे.....
हस्तिनापुरी में.....।।१।।

इसी प्रकार १ बजे के बाद सूर्य चूँकि दक्षिण-पश्चिम की ओर जाने लगता है अतः पूर्व दिशा के प्लेटफार्म पर देखने वालों की भीड़ जमा रहती है। इन सभी के अतिरिक्त तेरहद्वीप रचना के अन्दर बहुत सारे हरे-हरे वृक्षों में कुछ वस्तुएं लटकती दिख रही हैं। इनके बारे में भी आपको जानना है-

ढाई द्वीपों में ३० भोगभूमियाँ मानी गई हैं उन सभी जगहों पर १०-१० प्रकार के कल्पवृक्ष हैं जिनसे मुँहमांगी वस्तुएं प्राप्त होती हैं। इनमें किसी कल्पवृक्ष में माला-मुकुट लटक रहे हैं, किसी में वीणा-ढोलक हैं, किसी में घन्टे हैं, किसी में मकान हैं और किसी में फल लटक रहे हैं। अब आप स्वयं सोचें कि जहाँ इतने सारे

कल्पवृक्ष और समवसरण आदि हैं वहाँ कोई भी मनवाञ्छित फल प्राप्त कर लेवे तो कौन सी बड़ी बात है। अरे! इस तेरहद्वीप रचना में तो शुरू से ही बड़ा चमत्कार देखने-सुनने को मिल रहा है। इसकी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने के बाद ९ मई २००७ को कोरबा-छत्तीसगढ़ से एक सज्जन ने आकर बताया कि मेरी दुकान पर जिस दिन तेरहद्वीप पंचकल्याणक महोत्सव का निमंत्रण कार्ड प्राप्त हुआ, उसी दिन इतनी अधिक आमदनी हुई, जितनी उससे पहले कभी नहीं हुई थी इसीलिए मैं उस रचना के साक्षात् दर्शन करने हस्तिनापुर आया हूँ। ऐसे ही रोज न जाने कितने लोग अपने-अपने चमत्कारिक अनुभव सुनाते रहते हैं, तब पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी कहती हैं कि-

"जहाँ २१२७ जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं उस रचना के दर्शन करने वालों को हमेशा सब ओर से इक्कीसा फल ही प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह वाली बात नहीं है।"

तीनों प्लेटफार्म से अन्दर की सब तरफ की रचना देख-देखकर निश्चित रूप से बड़ी खुशी होती है क्योंकि सभी दिशाओं में विराजमान भगवन्तों के दर्शन होते हैं और छोटे-छोटे जम्बू-शाल्मलि आदि वृक्षों की शाखाओं पर भी बने जिनमंदिर दिखाई देते हैं। इनमें पाँच भरतक्षेत्रों एवं ऐरावतक्षेत्रों में वर्तमानकालीन ५-५ तीर्थंकर विराजमान हैं। विदेह क्षेत्रों के सीमंधर-युगमंधर आदि विद्यमान बीस तीर्थंकर भी यहाँ विराजमान किये गये हैं। ज्यादा सूक्ष्मता से इस रचना को जानने के लिए तो इसके परिचय की पुस्तक पढ़ना चाहिए और त्रिलोकभास्कर, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रंथों का स्वाध्याय आपको करना पड़ेगा किन्तु यहाँ संक्षेप में इतना अवश्य जानना है कि—

१. इन तेरहद्वीपों के अंतर्गत ढाई द्वीप में पाँच मेरु पर्वत हैं।

२. प्रथम जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें रुचकवर द्वीप तक ४५८ अकृत्रिम-शाश्वत जिनमंदिर हैं।

३. इन स्वर्णिम पाँचों मेरु पर्वतों के १६-१६ जिनमंदिरों में एवं सभी स्वर्णिम जिनमंदिरों में स्वयंसिद्ध भगवन्तों की जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं।

४. इन तेरहद्वीपों में हिमवान् आदि पर्वतों पर एवं पद्म आदि सरोवरों में श्री-ह्री-धृति आदि देवियों के कमल भवनों में कुल ८३० देव-देवी के भवन हैं।

५. जम्बूद्वीप के अतिरिक्त सभी द्वीपों के पर्वतों पर सभी देव-देवियों के भवनों में उन-उनके गृहचैत्यालयों में भगवान की प्रतिमाएं विराजमान हैं।

६. इस रचना के अन्दर जम्बूद्वीप में १ भरतक्षेत्र, १ ऐरावतक्षेत्र है। पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड द्वीप में १-१ भरतक्षेत्र और १-१ ऐरावतक्षेत्र हैं। इसी प्रकार पूर्व पुष्करार्ध द्वीप एवं पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप में १-१ भरतक्षेत्र और १-१ ऐरावतक्षेत्र हैं। ऐसे ५ भरतक्षेत्र एवं ५ ऐरावतक्षेत्र हैं।

७. इस पूरी रचना के अंदर ढाई द्वीपों में १६० विदेह क्षेत्र हैं। उनकी व्यवस्था इस प्रकार है—जम्बूद्वीप में ३२ विदेहक्षेत्र, पूर्व धातकीखण्ड द्वीप में ३२ विदेहक्षेत्र, पश्चिम धातकीखण्ड द्वीप में ३२ विदेहक्षेत्र, पूर्व पुष्करार्ध द्वीप में ३२ विदेहक्षेत्र एवं पश्चिम पुष्करार्ध द्वीप में ३२ विदेहक्षेत्र, अतः ३२×५=१६० की संख्या है।

८. इन सभी १६० विदेह क्षेत्रों में शाश्वत कर्मभूमि की व्यवस्था पाई जाती है। ५ भरतक्षेत्र एवं ५ ऐरावतक्षेत्रों की १० कर्मभूमियाँ मिलाकर कुल १७० कर्मभूमियाँ ढाई द्वीपों में हैं।

९. इन सभी १७० कर्मभूमियों में १७० तीर्थंकर भगवन्तों के समवसरण तेरहद्वीप रचना में दर्शाए गए हैं जिनमें प्रत्येक में ४-४ जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं।

१०. इसी प्रकार ढाई द्वीपों के ५ भरत, ५ ऐरावत क्षेत्रों के अन्य तीर्थंकर तथा विदेहों के विद्यमान २० तीर्थंकर भगवान भी यहां विराजमान हैं तथा अनेक तीर्थंकर एवं सिद्ध भगवन्तों की प्रतिमाएं विराजमान हैं।

११. इन सब दो हजार से अधिक भगवन्तों के दर्शन करके महान पुण्य का संचय करें।

१२. ढाई द्वीप की ३० भोगभूमियों में यथास्थान कल्पवृक्ष हैं जो मुँहमांगा फल देते हैं।

१३. यहाँ पर सरस्वती, लक्ष्मी, पद्मावती एवं अनावृतयक्ष आदि की मूर्तियां भी हैं, वे भी सभी भक्तों को इच्छित फल देने वाले हैं।

तेरहद्वीपों में विराजमान ये सभी भगवान आप सबको मनवाञ्छित फल देने वाले हैं। सर्व अमंगल और विघ्न बाधाओं को दूर करने वाले हैं अतएव इनके दर्शन करके भव्यात्मा अपने इच्छित फलों को प्राप्त करें।

तीर्थंकर भगवान दान पूजा का उपदेश देते हैं

तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो।
वयणं च दाणपूजारंमयरं तं ण लेवेइ।।54।।

तीर्थंकर का विहार संसार के लिए सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकर को पुण्यरूप फल प्राप्त होता है ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरंभ के करने वाले वचन उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं। अर्थात् वे दान पूजा आदि आरंभों का जो उपदेश देते हैं उससे भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।

श्रावकों को दान-पूजा आदि पुण्य कार्य करते ही रहना चाहिए।

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियाइ जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंतो कउ सदोसो।।57।।

जीवों में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से खुले हुए हैं। उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार को खोलता है अर्थात् शुभ-पुण्य आस्रव के कारणभूत कार्यों को करता है वह सदोष कैसे हो सकता है?

—जयधवला, पुस्तक 1, पृ. 105-106

अध्याय-18
कुल देवता के संदर्भ में

"कुल देवताओं की उपासना क्या मिथ्यात्व है ?, उस संदर्भ में दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों के अनुसार ध्यान देना है-

दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों में चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों के साथ-साथ उनके शासन देव-देवियों की प्रतिमाएँ बनाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

तिलोयपण्णत्ति में गाथा नं. ९३४ से ९३९ तक में श्री यतिवृषभाचार्य ने कहा है कि गोमुख आदि चौबीस यक्ष देव और चक्रेश्वरी आदि चौबीस यक्षी देवियाँ चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों के समीप में रहा करते हैं।

प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ (श्री नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक देव विरचित) में इन यक्ष-यक्षिणियों की पृथक्-पृथक् आराधना के अर्घ्य दिये हैं।

इन शासन देव-देवियों की प्रतिमा प्रायः दिगम्बर जैन मंदिरों में प्राचीनकाल से विराजमान देखी जाती हैं और उनकी यथायोग्य भक्ति-पूजा भी समाजों में प्रचलित है। दक्षिण भारत में भी हुम्मच पद्मावती, ज्वालामालिनी आदि के मंदिर हैं।

किन्तु कुल देवता के रूप में इन ग्रंथों के अन्दर कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी इस संदर्भ में सदैव बताती हैं कि मैंने सन् १९५४-५५ में प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज के ३ बार दर्शन किए एवं उनकी सल्लेखना के समय १ महीना कुंथलगिरि में रहने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस समय क्षुल्लिका श्री अजितमती अम्मा ने हमें बताया था कि आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने जो बैलगाड़ियों में भरकर देवी-देवताओं को नदी में विसर्जित करवाया है वे कुलदेवता के रूप में माने जाने वाले जिनागम से बाह्य देव-देवी ही थे अर्थात् शासन देव-देवी (चक्रेश्वरी-पद्मावती-ज्वालामालिनी, क्षेत्रपाल, धरणेन्द्र आदि) के अतिरिक्त जो कुल देवता की तरह से (अमन देवी आदि के नाम से) मानी जाती हैं उनकी पूजन जिनागम के विरुद्ध है अतः केवल शासन देव-देवी, दिक्पाल-क्षेत्रपाल आदि का ही यथोचित पूजन-सम्मान आदि हमारी आर्ष परम्परा में मान्य है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि गृहस्थों के लिए कुछ भी पूज्य नहीं है, ऐसा मानना चाहिए।

शास्त्रों में चार प्रकार के देवताओं का वर्णन करते हुए कहा भी है—

देवाश्चतुर्विधा ज्ञेयाः प्रथमाः सत्यदेवताः।
कुलदेवाः क्रियादेवाश्चतुर्धा वेश्मदेवताः।।१।।

सत्यदेवाः परे पञ्च जिनेन्द्रसिद्धसूरयः।
पाठकसाधुयोगीन्द्राश्चैते मोक्षस्य हेतवः।।२।।

देव चार प्रकार के होते हैं। एक सत्यदेव, दूसरे क्रियादेव, तीसरे कुलदेव, चौथे गृहदेव। मोक्ष के कारण अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पाँच सत्यदेव कहलाते हैं।।१-२।।

छत्रचक्राग्निभेदाच्च क्रियादेवास्त्रयो मताः।
सर्वविघ्नहराः पूज्या हव्यपकान्नदीपकैः।।३।।

छत्र, चक्र और अग्नि इन भेदों से क्रियादेव तीन प्रकार के माने गये हैं, जो सम्पूर्ण विघ्नों को हरण करने वाले हैं और हव्य, पकवान, दीपक आदि के द्वारा पूजनीय हैं।।३।।

वंशे पुरातनैरिष्टा नित्यसौख्यविधायकाः।
चक्रेश्वर्यम्बिकापद्मा इत्यादिकुलदेवताः।।४।।

अपने वंश में पुरातन पुरुषों के द्वारा माने हुए, निरन्तर सुख देने वाले चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि कुलदेव कहे जाते हैं।।४।।

विश्वेश्वरीधराधीशश्रीदेवीधनदास्तथा।
गृहे लक्ष्मीकरा ज्ञेयाश्चतुर्धा वेश्मदेवताः।।५।।

विश्वेश्वरी, धरणेन्द्र, श्रीदेवी और कुबेर ये चार घर में सम्पत्ति बढ़ाने वाले गृहदेवता जानने हैं।।५।।

साक्षात्पुण्यस्य हेत्वर्थं मुक्त्यर्थं मुक्तिदायकाः।
पूज्याः पूज्यैश्च सम्पूज्याः सत्यदेवा जिनादयः।।६।।

जो साक्षात् पुण्य के कारणों के लिए हैं, मुक्ति के लिए हैं और मुक्ति प्रदान करने वाले हैं, पूज्य हैं और पूज्य पुरुषों के द्वारा पूजनीय हैं वे जिनादि देवता सत्यदेवता हैं।।६।।

सत्क्रियादेवताः पूज्या होमे शान्त्यर्थमीश्वराः।
जनन्यः श्रीजिनेन्द्राणां विश्वेश्वर्य इति स्मृताः।।७।।
विश्वेश्वर्यः पराः पूज्याः कुलस्त्रीभिर्निकेतने।
अवन्ध्या जायन्ते तासां पूजनात्तु कुलस्त्रियः।।८।।

वे प्रशंसनीय क्रियादेव होम के समय शान्ति के अर्थ अवश्य पूजने योग्य हैं, क्योंकि ये क्रियादेव इस कार्य के मुख्य स्वामी हैं। श्री जिनेन्द्रदेव की माताओं को विश्वेश्वरी कहते हैं। कुलीन स्त्रियों को चाहिए कि वे इन विश्वेश्वरी देवताओं की अपने घर में अवश्य पूजा किया करें। इनके पूजने से वे कुलीन स्त्रियाँ अपने बन्ध्यापन को छोड़कर अच्छे-अच्छे पुत्र प्रसव करने वाली हो जाती हैं।।७-८।।

राजस्थान के अमलोदा ग्राम में पाटनी परिवार की कुलदेवता अमनदेवी का मंदिर कहते हैं उनके विषय में तो जैन शास्त्रों में कोई उल्लेख मिलता नहीं है।

एक बार एक पोस्टर देवपुरी (गुजरात) का देखने में आया। जिसमें बिलेश्वरी देवी, मूलेश्वरी देवी, राखी देवी, तोतला देवी, जोगेश्वरी देवी, खेमानामा देवी, पंका देवी, मौनिका देवी आदि देवियों के नाम विभिन्न कुल-

गोत्र के साथ सचित्र प्रदर्शित किये गये हैं। इन सबके नाम भी अपने जैनशासन में नहीं आते हैं और न ही कुलदेवता के नाम से इनकी पूजा करने का कहीं विधान है।

हमें एक जैन दम्पत्ति के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि राजस्थान में रेंवासा नामक गाँव में एक 'जिनमाता' का मंदिर है वह बाकलीवाल और कासलीवाल की कुलदेवी मानी जाती हैं। जिनमाता शब्द से भगवान जिनेन्द्र की माता होना चाहिए। यदि तीर्थंकर भगवान की माता की कुलदेवी के रूप में पूजा की जावे, तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रतिष्ठा ग्रंथों में तो चौबीसों तीर्थंकर की माताओं की पूजन करने का विधान आता है।

८ अप्रैल २०१३ को हमें सौ. त्रिशला राजेन्द्र कुमार जैन पाटनी-नासिक (महा.) ने बताया कि कन्नड़-महाराष्ट्र मेरे पीहर परिवार में (घासीलाल मूलचंद गंगवाल परिवार में) लगभग ६५-७० वर्ष पूर्व जाम्बवा नाम की देवी कुलदेवता के रूप में पूजी जाती थीं। घर में उनकी दो किलो चाँदी की मूर्ति थी। वहाँ आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागर महाराज (चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के शिष्य) आए और उन्होंने कुलदेवता का पूर्ण विरोध किया, तब उनकी प्रेरणा से उस घर के श्रावक ने मूर्ति को गलवा दिया।

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा में आज विद्यमान आचार्य श्री विद्यानन्द महाराज, आचार्य श्री वर्धमानसागर महाराज एवं गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी आदि कोई भी साधु इन कुलदेवताओं का अस्तित्व नहीं मानते हैं। समाधिस्थ आचार्य श्री अभिनंदनसागर महाराज एवं गणिनी श्री सुपार्श्वमती माताजी भी शासन देवी-देवता आदि के अतिरिक्त कुलदेवताओं को अलग से नहीं मानते थे।

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की ओर से सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज एवं विद्वत्वर्ग के लिए प्रेरणा है कि आप सभी चौबीसों भगवान, पंचपरमेष्ठी भगवान एवं जिनागम में वर्णित शासन देव-देवी, जिनेन्द्र भगवान की माता, दिक्पाल-क्षेत्रपाल आदि की ही यथोचित पूजा, आदर-सम्मान आदि करें, जिनका कि दिगम्बर जैन ग्रंथों में उल्लेख है। शेष मिथ्यात्ववर्धिनी क्रियाओं को नहीं करना चाहिए अर्थात् उपर्युक्त नाम वाली (अमन आदि) कुलदेवता की पूजन करना मिथ्यात्व है अतः इनके मंदिर भी नहीं बनाना चाहिए।

क्योंकि दक्षिण भारत में आज भी पद्मावती, ज्वालामालिनी आदि देवियों के मंदिर हैं और किन्हीं कुलदेवी आदि के मंदिर सुनने में नहीं आये हैं।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद ने जनवरी २०१३ में अपनी बैठक में जो प्रस्ताव पारित किया है वह भी मात्र एकपक्षीय निर्णय होने से हमें मान्य नहीं है क्योंकि उसमें शासन देव-देवी की मान्यता का कोई उल्लेख नहीं किया है। जबकि आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा विरचित पंचामृत अभिषेक पाठ में शासन देव-देवी, दिक्पाल-क्षेत्रपाल आदि के अर्घ्य का विधान है अतः शासन देव-देवी के संदर्भ में आप सभी भक्तों को आगम के संदर्भ में अध्ययन करके अपनी विचारधारा आगमोक्त बनाना चाहिए तथा कभी किसी मंदिर से उन्हें बहिष्कृत नहीं करना चाहिए।

अध्याय-19
आओ समझें नवग्रह के बारे में

चार गतियों में से देवगति का एक भेद है-ज्योतिर्वासीदेव। ये ज्योतिषी देव मध्यलोक के आकाशमण्डल में स्थित अपने-अपने विमानों में रहकर धरती के प्राणियों पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। मनुष्य जिस समय माँ के गर्भ से उत्पन्न होता है, उसी समय उसकी जन्मतिथि के साथ-साथ समय, ग्रह, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, योग आदि को ध्यान में रखते हुए माता-पिता ज्योतिषी से संतान की जन्मकुंडली बनवाकर पूछते हैं कि इसका भविष्य शुभ है अथवा अशुभ ?

कुंडली में स्थित ग्रहचक्रों के अनुसार ज्योतिषी की भविष्यवाणी उसके शुभाशुभ की घोषणा करती है और तभी से परिवार के लोग अपनी चिन्तानिवारण हेतु तरह-तरह के उपक्रम में लग जाते हैं। कहते हैं कि बालक या बालिका आदि मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुए हैं तो पिता पर संकट आता है अतः उसकी शांति का पुरुषार्थ तुरंत करना चाहिए। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा एवं ग्रहों का संचार भी देखा जाता है कि चन्द्रमा किस राशि में था ? सूर्य किस महादशा अथवा निम्न दशा में था ?.....इत्यादि।

यद्यपि जैन सिद्धान्त में कर्मव्यवस्था को ही सर्वाधिक बलवान् मानकर उनसे लड़ने का मार्ग हमारे तीर्थंकरों ने बतलाया है, फिर भी व्यवहारिक बाह्य निमित्तों में ग्रह आदि का भी महत्वपूर्ण स्थान माना है। ये ग्रह नव माने गये हैं—सूर्य,चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। इन नव ग्रहों के अधिपति देवता पूर्व जन्म के वैर या मित्रतावश अथवा इस जन्म में मात्र क्रीड़ा आदि के निमित्त से लोगों को सुख-दुःख पहुँचाते रहते हैं अर्थात् उच्च स्थान वाले ग्रह प्राणियों को उच्चपद, यश, धन, आरोग्यता की प्राप्ति कराते हैं एवं निम्नस्थान में पड़े ग्रह अपयश, आर्थिक हानि, शारीरिक-मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न कराते हैं इसीलिए संसारी मानव इनकी शांति के उपाय करते हैं।

नवग्रह अरिष्टनिवारक पूजा, विधान एवं स्तोत्र की परम्परा काफी दिनों से हमारे समाज में चल रही है, जिसके माध्यम से भक्तगण चौबीसों तीर्थंकरों की आराधना करते हैं। पहले की जो कवि ''मनसुख'' द्वारा रचित नवग्रह की समुच्च्य पूजन है उसमें भी चौबीसों तीर्थंकर के नाम लिए हैं तथा विधान में जब अलग-अलग प्रत्येक ग्रह की पूजा करते हैं तो क्रम से सूर्यग्रह अरिष्ट निवारण हेतु पद्मप्रभ जिनेन्द्र की पूजा, चन्द्रग्रह में चन्द्रप्रभ, मंगलग्रह में वासुपूज्य, बुधग्रह में विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुंथु, अरह, नमि और वर्धमान इन आठ भगवन्तों की, गुरुग्रह में ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, सुपारस, शीतल और श्रेयांस इन आठ जिनेन्द्रों की, शुक्रग्रह में पुष्पदन्त भगवान, शनिग्रह में मुनिसुव्रत जिनेन्द्र, राहुग्रह में नेमिनाथ भगवान तथा केतुग्रह में मल्लिनाथ एवं पार्श्वनाथ भगवान् की पूजा होती है। इसी प्रकार अलग-अलग ग्रहों की जाप्य में उपर्युक्त क्रमानुसार चौबीसों तीर्थंकर समाविष्ट किये गये हैं किन्तु मैंने ''नवग्रहशांति विधान'' में नवग्रह के अरिष्ट निवारण करने

वाले मात्र नौ तीर्थंकरों की ही पूजन लिखी है। इसमें प्रमुख कारण यह है कि ६-७ वर्ष पूर्व पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने एक प्राचीन जिनवाणी संग्रह में नवग्रह शांतिकारक नव तीर्थंकरों के नाम प्राप्त किये सो उसी प्रमाणानुसार उन्होंने एक नवग्रहशांति यंत्र बनवाया जिसमें नव भगवन्तों के चरणचिन्ह हैं। पूज्य माताजी ने मुझे भी इसी प्रमाणानुसार नवग्रह का लघु विधान लिखने की प्रेरणा प्रदान की।

प्राचीन काल से ही जैन आगम में नवग्रहों की शांति हेतु नवग्रहशांति स्तोत्र-पाठ, पूजन, विधान इत्यादि करने की परम्परा रही है। इस युग के अंतिम श्रुतकेवली मुनिराज श्री भद्रबाहु के द्वारा रचित नवग्रहशांति स्तोत्र में नौ ग्रहों की शांति हेतु चौबीसों तीर्थंकरों का क्रम बताया है, उस स्तोत्र का भी मैंने हिन्दी पद्यानुवाद किया है जो कि नवग्रहशांति विधान में प्रकाशित है तथा श्री जिनसागरसूरि रचित नवग्रह स्तोत्र एवं दक्षिण भारत से प्राप्त प्रमाण एवं प्राचीन अन्य पुस्तकों के आधार पर नवग्रहों की शांति करने वाले नौ तीर्थंकरों के नाम प्राप्त होते हैं। इन नव तीर्थंकरों के क्रम से भी एक स्तोत्र की मैंने रचना की है वह भी उसी विधान में प्रकाशित है, जिसे पढ़कर ग्रहों से पीड़ित व्यक्ति अपने ग्रहों की उपशान्ति कर सकते हैं और तीर्थंकरों की भक्ति करके अपने कर्मों की निर्जरा भी कर सकते हैं।

नवग्रह के मंत्र-१. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पद्मप्रभतीर्थंकराय कुसुमयक्ष-मनोवेगायक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः आदित्यमहाग्रह! मम (.....) सर्वदुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं कुरु कुरु सर्वशांतिं कुरु कुरु सर्वसमृद्धिं कुरु कुरु इष्टसंपदां कुरु कुरु अनिष्टनिवारणं कुरु कुरु धनधान्यसमृद्धिं कुरु कुरु काममांगल्योत्सवं कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (७००० जाप्य)

अथवा— **१. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पद्मप्रभतीर्थंकराय कुसुमयक्ष-मनोवेगायक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः आदित्यमहाग्रह मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (७००० जाप्य)**

२. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते चन्द्रप्रभतीर्थंकराय विजययक्ष-ज्वालामालिनीयक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः सोममहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (११००० जाप्य)

३. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते वासुपूज्यतीर्थंकराय षण्मुखयक्ष-गांधारीयक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः कुजमहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (१०००० जाप्य)

४. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते मल्लिनाथतीर्थंकराय कुबेरयक्ष-अपराजितायक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः बुधमहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (१४००० जाप्य)।

५. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते वर्धमानतीर्थंकराय मातंगयक्ष-सिद्धायिनीयक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः गुरुमहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (१९००० जाप्य)।

६. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पुष्पदंतनाथतीर्थंकराय अजितयक्ष-महाकालीयक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः शुक्रमहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (१६००० जाप्य)

७. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते मुनिसुव्रतनाथतीर्थंकराय वरुणयक्ष-बहुरूपिणीयक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः शनिमहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (२३००० जाप्य)

८. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते नेमिनाथतीर्थंकराय सर्वाण्हयक्ष-कूष्माण्डीयक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः राहुमहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (१८००० जाप्य)

९. ॐ नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पार्श्वनाथतीर्थंकराय धरणेन्द्रयक्ष-पद्मावतीयक्षीसहिताय ॐ आं क्रौं ह्रीं ह्रः केतुमहाग्रह! मम (.....) दुष्टग्रहरोगकष्टनिवारणं सर्वशांतिं च कुरु कुरु हूँ फट् स्वाहा। (७००० जाप्य)

इनके लघु मंत्र भी इस प्रकार हैं—

१. ॐ ह्रीं अर्हं सूर्यग्रहारिष्टनिवारक-श्री पद्मप्रभजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

२. ॐ ह्रीं सोमग्रहारिष्टनिवारक-श्री चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

३. ॐ ह्रीं मंगलग्रहारिष्टनिवारक-श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

४. ॐ ह्रीं बुधग्रहारिष्टनिवारक-श्री मल्लिनाथजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

५. ॐ ह्रीं गुरुग्रहारिष्टनिवारक-श्री महावीरजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

६. ॐ ह्रीं शुक्रग्रहारिष्टनिवारक-श्री पुष्पदन्तनाथजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

७. ॐ ह्रीं शनिग्रहारिष्टनिवारक-श्री मुनिसुव्रतनाथजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

८. ॐ ह्रीं राहुग्रहारिष्टनिवारक-श्री नेमिनाथजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

९. ॐ ह्रीं केतुग्रहारिष्टनिवारक-श्री पार्श्वनाथजिनेन्द्राय नमः सर्वशांतिं कुरु कुरु स्वाहा।

णमोकार महामंत्र के एक-एक पद भी एक-एक ग्रह की शांति के लिए माने गये हैं, जो कि सूर्य, चन्द्र आदि के नंबर से दिये गये हैं—

१. ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं। (७००० जाप्य)

२. ॐ ह्रीं णमो अरिहंताणं। (११००० जाप्य)

३. ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं। (१०००० जाप्य)

४. ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं। (१४००० जाप्य)

५. ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं। (१९००० जाप्य)

६. ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं। (१०००० जाप्य)

७. ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं। (२३००० जाप्य)

८. ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं। (१८००० जाप्य)

९. ॐ ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं। (१०००० जाप्य)

विशेष नोट - नवग्रह शांति विधान के नाम से सन् १९९५ में मेरे द्वारा (आर्यिका चन्दनामती) रचित विधान जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से प्रकाशित हुआ है, पुनः उसके अनेक संस्करण आज तक भी प्रकाशित हो रहे हैं किन्तु इसके मध्य में इस विधान में किसी के द्वारा 'चन्दनामती' नाम हटाकर जगह-जगह निश्चय शब्द जोड़ दिया गया है अतः पाठकगण ध्यान दें कि इस विषय में संबंधित सन्त से वार्ता हो चुकी है कि यह निश्चय शब्द अनजान में एक बार किसी ने लिख दिया है जो कि गलत हुआ है ऐसे परिवर्तन नैतिक रूप से गलत हैं।

अथ नवग्रहशांति स्तोत्रम्

जगद्गुरुं नमस्कृत्य श्रुत्वा सद्गुरुभाषितम्।
ग्रहशांतिं प्रवक्ष्यामि लोकानां सुखहेतवे।।1।।

जिनेन्द्राः खेचरा ज्ञेयाः, पूजनीया विधिक्रमात्।
पुष्पैर्विलेपनैर्धूपैर्नैवेद्यैस्तुष्टिहेतवे।।2।।

पद्मप्रभस्य मार्तण्डश्चन्द्रः चन्द्रप्रभस्य च।
वासुपूज्यस्य भूपुत्रो बुधश्चाष्टजिनेशिनाम् ।।3।।

विमलानन्तधर्माराः-शांतिःकुंथुर्नमिस्तथा।
वर्धमानजिनेन्द्रस्य पादपद्मं बुधो नमेत् ।।4।।

ऋषभाजितसुपार्श्वाः साभिनंदनशीतलौ।
सुमतिः संभवस्वामी, श्रेयसश्च वृहस्पतिः।।5।।

सुविधिः कथितः शुक्रे, सुव्रतश्च शनिश्चरे।
नेमिनाथो भवेद् राहोः केतुश्चमल्लिपार्श्वयोः।।6।।

जन्मलग्नं च राशिश्च, यदि पीडयंति खेचराः।
तदा संपूजयेत् धीमान्, खेचरान् सह तान् जिनान् ।।7।।

आदित्यसोममंगल-बुधगुरुशुक्राः शनिः।
राहुकेतुमेरवाग्रे यो जिनपूजाविधायकः।।8।।

जिनागारे गतः कृत्वा, ग्रहाणां तुष्टिहेतवे।
नमस्कारशतं भक्त्या जपेदष्टोत्तरं शतम् ।।9।।

भद्रबाहुगुरुर्वाग्मी पंचमः श्रुतकेवली।
विद्याप्रसादतः पूर्वं ग्रहशांतिः विधिः कृता।।10।।

यः पठेत् प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः।
विपत्तितो भवेच्छांतिः क्षेमं तस्य पदे पदे।।11।।